श्रीभट्टनारायण-प्रणीतं

वेणी-संहारम्

नाटकम्

THE

VENĪ SAṀHĀRA

OF

BHAṬṬA NĀRĀYAṆA

An Exhaustive & Critical Edition
with
Sanskrit Commentary & Hindi Translation
BY

Prof. VIJAYA CHANDRA Shastri,
M.A., M.O.L. (Vyakaranacharya),
D. N. COLLEGE, ...

Publishers
SATYA PRAKASHAN
Bazar Vakilan **HOSHIARPUR**
1955
First Edition *Price Rs. 6/-*

दो शब्द

इस संस्करण को तैयार करने में हम ने श्री ए. बी. गजेन्द्र गदकर के पूना से प्रकाशित संस्करण से तथा श्री गुरुप्रसाद शास्त्री व्याकरणाचार्य के बनारस से प्रकाशित संस्करण से विशेष रूप से सहायता ली है। हम इन विद्वानों के विद्वत्ता-पूर्ण संस्करणों से प्राप्त सहायता के लिए इनके बहुत आभारी हैं।

इस संस्करण की आवश्यकता विशेष रूप से इस लिये पड़ी कि देवनागरी लिपि में इस नाटक का कोई ऐसा संस्करण उपलब्ध नहीं है जिसमें इस नाटक पर आलोचनात्मक दृष्टि से कुछ गम्भीर विचार किया गया हो। हमें आशा है कि इस संस्करण की विस्तृत भूमिका पाठकों की इस आवश्यकता को पूरा कर सकेगी। यदि यह सम्भव हो सका तो हम अपने प्रयत्न को सफल समझेंगे।

—विजयचन्द्र

CONTENTS

INTRODUCTION

संक्षेप (Abbreviations)

गु.—इस नाटक का गुरुप्रसाद-शास्त्रिकृत बनारस संस्करण।

G.—इस नाटक का श्री गजेन्द्र गदकर-कृत पूना संस्करण।

Intro.—Introduction.

पा.—पाणिनि सूत्र।

अथ

महाकविभट्टनारायणप्रणीतं

वेणीसंहारं नाम

नाटकम्

नाटकीय-पात्र

पुरुष पात्र

१. सूत्रधार—	मुख्य नट।
२. भीमसेन—	नाटक का नायक।
३. युधिष्ठिर—	पाण्डवराज।
४. अर्जुन—	भीमसेन का छोटा भाई।
५. नकुल— ६. सहदेव—	पाण्डवराज युधिष्ठिर के छोटे भाई।
७. श्रीकृष्ण—	अर्जुन के सारथि, महाभारत युद्ध के सूत्रधार।
८. पारिपार्श्विक—	सूत्रधार का सहचर।
९. जयन्धर—	पाण्डवों का कञ्चुकी।
१०. रुधिरप्रिय—	राक्षस, भीम-पत्नी हिडिम्बा का सेवक।
११. दुर्योधन—	हस्तिनापुर का राजा, कौरवराज।
१२. धृतराष्ट्र—	दुर्योधन का पिता।
१३. विनयन्धर—	दुर्योधन का कञ्चुकी।
१४. कर्ण—	दुर्योधन का घनिष्ठ मित्र, अङ्गराज।
१५. कृप—	अश्वत्थामा का मामा।
१६. अश्वत्थामा—	द्रोणाचार्य का पुत्र।
१७. चार्वाक—	दुर्योधन का मित्र एक राक्षस।
१८. अश्वसेन—	द्रोणाचार्य का सारथि।
१९. सञ्जय—	व्यास का शिष्य तथा धृतराष्ट्र का परिचारक।
२०. सुन्दरक—	अङ्गराज कर्ण का अनुचर।

भूमिका

Q. Give a brief account of the personal life of भट्टनारायण ?

Ans. एक दो अपवाद को छोड़ कर संस्कृत-साहित्य के समस्त लेखकों के विषय में यह एक बड़ी दुःखद घटना कही जा सकती है कि उनके जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में उनके ग्रन्थों से कुछ भी विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं होती। नाटकों की प्रस्तावना में कहीं-कहीं कुल तथा कुछ पूर्वजों की ओर संकेत एवं निवास-स्थान के नाम आदि को छोड़ कर कहीं पर भी किसी प्रकार का कोई ऐसा विशेष वर्णन उपलब्ध नहीं होता जिसके आधार पर कवि के जीवन का एक विस्तृत एवं स्पष्ट चित्र पाठकों के सामने प्रस्तुत किया जा सके। यही कारण है कि संस्कृत के अनेक महाकवियों की रचनाओं के विषय में या उन रचनाओं में अभिव्यक्त की गई विभिन्न विचार-धाराओं के विषय में निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि किन विशेष परिस्थितियों के कारण अमुक कवि का झुकाव अमुक विचारधारा की ओर हुआ। यह बात श्री भट्टनारायण के विषय में भी सोलह आने सही है। उनके नाटक से उनके जीवन पर किसी प्रकार का विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। केवल 'वेणीसंहार' के आधार पर कवि के व्यक्तिगत जीवन, उसके पूर्वज, वंश मूलनिवास-स्थान आदि के विषय में कुछ भी विशेष रूप से नहीं कहा जा सकता। परन्तु बंगाल के राजाओं के क्षितीश-वंशावलिचरित, वंगराजघटक, राजावलि' आदि कुछ ऐतिहासिक वर्णन ग्रन्थ (Chronicles) उपलब्ध हुए हैं जिन में भट्टनारायण के विषय में भी यत्र-तत्र कुछ संकेत मिलते हैं। इन संकेतों के आधार पर ही विद्वानों ने भट्टनारायण के व्यक्तिगत जीवन के विषय में कुछ धारणा निर्धारित

२१. सूत—	दुर्योधन का सारथि।
२२. बुधक—	युधिष्ठिर का सन्देशहर।
२३. पाञ्चालक—	युधिष्ठिर का सन्देशहर।

स्त्री पात्र

१. द्रौपदी— पाण्डववधू, नाटक की नायिका।
२. बुद्धिमतिका द्रौपदी की सखी।
३. चेटी द्रौपदी की सेविका।
४. भानुमती— दुर्योधन की पत्नी।
५. वसागन्धा— राक्षस रुधिरप्रिय की पत्नी।
६. सुवदना— भानुमती की सखी।
७. तरलिका— भानुमती की सेविका।
८. गान्धारी— दुर्योधन की माता।
९. दुःशला— दुर्योधन की बहन।
१०. माता— जयद्रथ की माता।
११. हिडिम्बा— भीम की पत्नी, एक राक्षसी।
१२. कुन्ती— पाण्डवों की माता।
१३. प्रतिहारी— दुर्योधन की द्वारपालिका।
१४. विहङ्गिका— कौरव-पक्ष की दासी।

नाटक के कुछ अन्य संकेतित पात्र

भीष्म, बलराम, अभिमन्यु, धृष्टद्युम्न, द्रोण, दुःशासन, जयद्रथ, विदुर, नकुल, शल्य आदि।

की है। यद्यपि इस प्रकार के वर्णनों को ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण तो नहीं कहा जा सकता परन्तु तथापि उन से कवि के जीवन पर कुछ प्रकाश अवश्य पड़ता है।

इन पूर्वोक्त ग्रन्थों में उपलब्ध वर्णनों के आधार पर श्री ए. बी. गजेन्द्र गदकर का कथन है कि श्री भट्टनारायण कन्नौज के मूल निवासी थे। इनका गोत्र शाण्डिल्य था। बंगाल के राजा 'आदिसूर' ने, जो कि जाति से शूद्र था, यज्ञ कराने के लिये, शूद्र होने के कारण किसी बंगाली वैदिक ब्राह्मण के उपलब्ध न होने पर, कन्नौज के राजा से इस कार्य के लिये उसके यहाँ वैदिक ब्राह्मण भेजने की प्रार्थना की और उसकी प्रार्थना पर कन्नौज के महाराज ने भट्टनारायण की अध्यक्षता में पांच ब्राह्मणों को उसके यहाँ भेजा था। भट्टनारायण की आध्यात्मिक सेवाओं के उपहार के रूप में आदिसूर ने उसे पाँच गांव दिये थे और शनैः-शनैः उसकी सम्पत्ति इतनी बढ़ गई कि उसने स्वयं राजा की पदवी प्राप्त कर ली और अन्त में, जैसा कि 'क्षितीशवंशावलिचरित' में वर्णन मिलता है, वह स्वयं किसी वंगीय राजवंश का प्रवर्तक हुआ। भट्टनारायण कलकत्ता के वर्तमान 'टैगोर' वंश का आदिप्रवर्तक कहा जाता है। परन्तु इस विश्वास की पुष्टि में कोई दृढ़ युक्ति उपलब्ध नहीं है[1]।

कुछ लोग भट्टनारायण की जाति के विषय भी सन्देह करते हैं। उनका कथन है कि वह जाति से क्षत्रिय था। अपने मत की पुष्टि के लिये वे 'क्षितीशवंशावलिचरित' में भट्टनारायण के साथ विशेषण के रूप में प्रयुक्त 'क्षितीश' शब्द को 'क्षत्रिय' जाति के अर्थ तथा 'वेणीसंहार' की भूमिका में अपने लिये स्वयं कवि द्वारा प्रयुक्त 'मृगराजलक्ष्मणः' इस विशेषण शब्द में 'मृगराज' शब्द को 'सिंह' शब्द के अर्थ में प्रयुक्त हुआ मानते हैं। उनका कथन है कि 'क्षितीश' शब्द क्षत्रियों के लिये ही प्रयुक्त होता है तथा 'सिंह' शब्द भी क्षत्रिय जाति के मनुष्यों के नाम के आगे ही प्रयुक्त होता है, जसे— हरनामसिंह, कल्याणसिंह, प्रतापसिंह इत्यादि। इसलिये भट्टनारायण जाति

---

१. तु. G.।

से क्षत्रिय ही था। परन्तु हमारे विचार से ये दोनों ही युक्तियाँ थोथी हैं। यह कोई आवश्यक नहीं है कि क्षत्रिय जाति में उत्पन्न व्यक्ति ही राजा बन सके तथा अन्य किसी जाति में उत्पन्न मनुष्य राजा न हो सके। 'वेणीसंहार' की भूमिका में भी केवल 'मृगाङ्कलक्ष्मणः' शब्द नहीं है प्रत्युत 'कविमृगाङ्क-लक्ष्मणः' शब्द है जिसका स्पष्ट अर्थ है 'कवियों में मृगराज (= सिंह) के चिह्नों से अलंकृत', अर्थात् 'कवि-केसरी, उद्भट कवि'। यह कोई नियम नहीं है कि 'सिंह' या इसका पर्यायवाची कोई अन्य 'केसरी' आदि शब्द क्षत्रियेतर जाति में उत्पन्न मनुष्य के साथ प्रयुक्त ही न हो सके। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इन थोथी और निराधार युक्तियों के आधार पर भट्टनारायण को जाति से क्षत्रिय मानना सर्वथा अनुचित है।

दूसरी बात यह है कि 'भट्टनारायण' इस शब्द में 'भट्ट' यह शब्द स्वयं इस बात का अकाट्य प्रमाण है कि भट्टनारायण जाति से क्षत्रिय नहीं था, क्योंकि समस्त संस्कृत-साहित्य में कहीं पर भी 'भट्ट' शब्द 'क्षत्रिय' के लिये प्रयुक्त नहीं हुआ प्रत्युत ब्राह्मण के लिये ही होता है। इसके अतिरिक्त, जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, ऐतिहासिक वर्णनग्रन्थों (Chronicles) के अनुसार 'आदिसूर' ने कन्नौज से याज्ञिक ब्राह्मणों को ही यज्ञ करने के लिये बुलाया था। कवियों को नहीं बुलाया था। इस पूर्वोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है 'वेणीसंहार' के कर्ता भट्टनारायण ब्राह्मण जाति में उत्पन्न एक योग्य विद्वान् था, क्षत्रिय नहीं था।

भट्टनारायण एक बड़ा भारी याज्ञिक विद्वान् था, इस बात की पुष्टि 'वेणीसंहार' के निम्नोद्धृत श्लोक से भी होती है। वह लिखता है :—

चत्वारो वयमृत्विजः स भगवान् कर्मोपदेष्टा हरिः,
संग्रामाध्वरदीक्षितो नरपतिः पत्नी गृहीतव्रता।
कौरव्याः पशवः प्रियापरिभवक्लेशोपशान्तिः फलम्,
राजन्योपनिमन्त्रणाय रसति स्फीतं यशो दुन्दुभिः ॥१, २३॥

इस श्लोक में उसने रण की यज्ञ से तुलना करते हुए यज्ञ के विभिन्न अङ्गों का बड़ा सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है।

'वेणीसंहार' के आधार पर ही यह भी निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भट्टनारायण वैष्णवधर्म का अनुयायी था। उसने अपने नाटक में नान्दी के तीन श्लोकों में से दो में तो स्पष्ट रूप से भगवान् विष्णु की स्तुति की है और तीसरे में यद्यपि भगवान् शिव की स्तुति की गई है परन्तु वहाँ भी कवि ने अपने इष्ट-देव भगवान् विष्णु का नामतः उल्लेख अवश्य किया है। इसके अतिरिक्त कवि ने अपने नाटक में जहाँ-जहाँ भगवान् कृष्ण का उल्लेख किया है वहाँ-वहाँ पर उनके विष्णु का अवतार होने का आभास बिल्कुल स्पष्ट दीख पड़ता है।

दार्शनिक दृष्टि से भट्टनारायण अद्वैत सिद्धान्त का मानने वाला था, इस बात की पुष्टि 'वेणीसंहार' के अन्त में प्रयुक्त भरतवाक्य की निम्नोद्धृत पङ्क्ति से होती है :—

भवतु च भवद्भक्तिर्द्वैतं विना पुरुषोत्तम ! ॥६, ४६॥

यहाँ पर कवि ने बड़े स्पष्ट शब्दों में भगवान् से अद्वैत भक्ति की याचना की है।

इस प्रकार पूर्वोक्त संक्षिप्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भट्टनारायण कन्नौज-निवासी, शाण्डिल्य-गोत्रोत्पन्न, अद्वैतमतावलम्बी, वैष्णवधर्मानुयायी, वैदिक एवं याज्ञिक विद्वान् था जिसे बंगाल के राजा आदिसूर की प्रार्थना पर कन्नौज के महाराज ने बंगाल भेजा था और जो अन्त में स्थायी रूप से वहीं पर रहने लगा था।

Q. 2. Discuss briefly the date of भट्टनारायण।

Ans. कारण चाहे कुछ भी हो परन्तु यह एक सर्वमान्य सत्यता है कि संस्कृत-साहित्य-क्षेत्र में भारतीय विद्वानों ने कुछ रुचि प्रदर्शित नहीं की। अपने ग्रन्थों के आदि या अन्त में अपने विषय में कुछ लिखना तो मानो

उनके लिये निषिद्ध था। यही कारण है कि संस्कृत के भास एवं कालिदास जैसे महान् कलाकारों के समय का अब तक भी कुछ निश्चयात्मक निर्णय नहीं हो सका है।

ऐसी स्थिति में आधुनिक विद्वानों ने संस्कृत के लेखकों के काल आदि के विषय में निर्णय करने के लिये निम्नलिखित दो प्रकार के साक्ष्यों (Evidences) का आश्रय लिया है :—

१. बाह्य साक्ष्य (External evidence)

२. आभ्यन्तर साक्ष्य (Internal evidence)

बाह्य साक्ष्य से तात्पर्य यह है कि किसी अन्य ग्रन्थ में किसी अन्य लेखक या उसके ग्रन्थ आदि के विषय में यदि कोई किसी प्रकार का संकेत उपलब्ध होता है तो उस ग्रन्थ के काल आदि के आधार पर उसमें संकेतित ग्रन्थ या उसके लेखक के काल का पता लगाने की चेष्टा की जाती है।

आभ्यन्तर साक्ष्य का भाव यह है कि यदि किसी ग्रन्थ में लेखक ने कुछ ऐसी बातों या घटनाओं का वर्णन किया है जो किसी काल विशेष में घटित हुई हैं तो उनके आधार पर उस ग्रन्थ एवं उसके लेखक के काल आदि का निर्णय किया जाता है।

इन दोनों प्रकार के साक्ष्यों में से किसी ग्रन्थ के विषय में तो दोनों ही मिल जाते हैं और उस ग्रन्थ के काल का निर्णय बड़ी सुगमता से कर लिया जाता है। परन्तु कुछ (ग्रन्थों) के विषय में केवल एक ही साक्ष्य पर निर्भर रहना पड़ता है।

जहाँ तक 'वेणीसंहार' का प्रश्न है, इस नाटक में लेखक ने किसी ऐसी बात, घटना या लेखक का वर्णन नहीं किया जो इसके लेखक या स्वयं इस नाटक के निर्माण के समय आदि पर किसी प्रकार का प्रकाश डाल सके। इस लिये इस नाटक के काल के विषय में हमें बाह्य साक्ष्य का ही आश्रय लेना पड़ता है। वह बाह्य साक्ष्य इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है कि

संस्कृत के अलंकारशास्त्रियों ने, अर्थात् वामन (750-800 A. D.), आनन्दवर्धन (840-870 A. D.) तथा धनंजय (950 A. D.) आदि विद्वानों ने, गुण, दोष एवं अलंकार आदि के उदाहरण देने के लिये अपने से पूर्ववर्ती कवियों के ग्रन्थों से श्लोक उद्‌धृत किये हैं। इस प्रकार भट्टनारायण के 'वेणीसंहार' से भी लगभग सभी अलंकार-शास्त्रियों ने अपने-अपने ग्रन्थों में उदाहरण उद्‌धृत किये हैं। परन्तु सभी आलंकारिकों की ओर विशेष संकेत न करते हुए हम इस सम्बन्ध में उनमें प्राचीनतम केवल आचार्य वामन की ओर ही संकेत करना पर्याप्त समझते हैं। वामनाचार्य ने अपने 'काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति' इस ग्रन्थ में 'सहोक्ति' अलंकार का उदाहरण देते हुए 'वेणीसंहार' से निम्नलिखित पङ्क्ति उद्‌धृत की है[1] :—

अस्तं भास्वान् प्रयातः सह रिपुभिरयं संह्रियन्तां बलानि ॥५·३३॥

इस उद्धरण से स्पष्ट है 'वेणीसंहार' आचार्य वामन से कुछ समय पूर्व अवश्य लिखा जा चुका था।

इसके साथ-साथ इस विषय में यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि जहाँ महाराज हर्षवर्धन के सभाकवि बाण ने अपने हर्षचरित की भूमिका में कुछ अन्य कवियों एवं लेखकों के नामों का उल्लेख किया है वहां उसने भट्टनारायण या उसके नाटक की ओर कोई किसी प्रकार का संकेत नहीं किया, जिससे स्पष्ट है कि बाण के समय भट्टनारायण या उसके नाटक का अस्तित्व नहीं था। इस प्रकार इन दोनों बाह्य साक्ष्यों के आधार पर हम कह सकते हैं कि भट्टनारायण ६५० से ७१० (A.D.) तक किसी समय हुआ होगा।

Q. 3. Write a short note on the title of the drama 'वेणी-संहार'।

Ans. यहां पर 'वेणी-संहार' यह एक विशेषण शब्द है जो कि 'नाटक' इस शब्द के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। प्रकृत सन्दर्भ में प्रयुक्त होने

१. तु. G.।

पर ही इसका अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है कि 'वह नाटक जिसमें वेणी के संहार (= केशपाश के बन्धन) का वर्णन किया गया है।'[1] इस अर्थ का बोध कराने के लिए व्याकरण की दृष्टि से इस शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जा सकती है :—

१. वेण्याः संहारः वेणीसंहारः, वेणीसंहारमधिकृत्य कृतं नाटकं वेणीसंहारं नाटकम्। यहाँ पर 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे (पा. ४, ३, ८७) इस पाणिनि-सूत्र से अण् प्रत्यय करने के बाद पुनः 'लुबाख्यायिकाभ्यो बहुलम्' इस कात्यायन-वार्तिक से उसका लोप कर देते हैं।

इस प्रकार व्युत्पत्ति करने पर इस शब्द का अर्थ यह होता है कि 'वह नाटक, जो वेणी के संहार को अपना प्रतिपाद्य विषय बना कर लिखा गया है, वेणीसंहार नाटक कहलाता है।

२. दूसरा प्रकार बहुव्रीहिसमास का है, जिसके अनुसार इसकी व्याख्या निम्न प्रकार से की जा सकती है :—

'वेण्याः संहारो (वर्ण्यते) यस्मिन् नाटके तद् वेणीसंहारं नाम नाटकम्।'

अर्थात् वह नाटक जिसमें वेणी के संहार का वर्णन किया गया है, वेणीसंहार नाटक कहलाता है।

यद्यपि पूर्वोक्त दोनों प्रकार की व्युत्पत्तियों में शब्दों का भेद अवश्य है परन्तु फलितार्थ दोनों का एक है और दोनों के अनुसार यह शब्द 'नाटक' इस शब्द का विशेषण ही बनता है।

अब दूसरा प्रश्न जो ऊपर दी गई दोनों प्रकार की व्युत्पत्तियों को ध्यान से देखने पर हमारे सामने आता है वह यह है कि वेणी के संहार से, जो कि इस नाटक के कथानक का प्रधान आधार है, लेखक का क्या तात्पर्य है और

उसका कोई साहित्यिक आधार है या वह कवि के मस्तिष्क की एक मौलिक कल्पना-मात्र है ?

जहाँ तक इस प्रश्न के प्रथम भाग, अर्थात् वेणी के संहार के तात्पर्य, का सम्बन्ध है वह लेखक ने प्रथम अङ्क के निम्नलिखित इक्कीसवें श्लोक में भीमसेन के मुख से प्रतिज्ञा कराकर स्वयं स्पष्ट कर दिया है। कौरवों द्वारा किये गए द्रौपदी के अपमान का स्मरण करके वीर भीमसेन अपनी गदा उठाकर प्रतिज्ञा करता है:—

> चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात-
> सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य ।
> स्त्यानावविद्धघनशोणितशोणपाणि-
> रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि ! भीमः ॥

अर्थात्—

"अयि पाञ्चालतनये ! फड़कती हुई भुजाओं से घुमाई गई गदा के प्रहार से चूर-चूर हुई दोनों जंघाओं वाले सुयोधन के स्तब्ध, चिकने तथा गाढ़े रुधिर से अपने हाथों को रंग कर मैं तुम्हारे इन खुले हुए बालों को सजाऊँगा ॥"

इस प्रतिज्ञा से स्पष्ट है कि दुर्योधन का वध करके उसके रुधिर से भीमसेन स्वयं द्रौपदी की वेणी को सुसज्जित करके बाँधेगा और दुर्योधन का वध होने तक उसकी वेणी खुली ही रहेगी। इस लिये इस प्रतिज्ञा को (=द्रौपदी की वेणी को बांधने की प्रतिज्ञा को) पूरा करने के लिये भीमसेन के लिये पहले दुर्योधन का वध करना परम आवश्यक है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि द्रौपदी की वेणी का संहार (=बंधन) और दुर्योधन का वध इन दोनों घटनाओं का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है और ये दोनों ही घटनाएँ इस नाटक के कथानक का प्रधान आधार हैं तथा इन दोनों घटनाओं में भी वेणी का संहार मुख्य साध्य है और दुर्योधन का वध उस साध्य का साधन-मात्र है। इसलिये वेणी के

संहार की मुख्यता को ध्यान में रखते हुए यह उचित ही जान पड़ता है कि इस नाटक का 'वेणीसंहार' यह नाम सर्वथा युक्तियुक्त ही है।

अब हम इस शीर्षक से सम्बद्ध प्रश्न के दूसरे भाग की ओर, अर्थात् द्रौपदी के वेणी-संहार के विषय में की गई भीम की पूर्व निर्दिष्ट प्रतिज्ञा का कोई साहित्यिक आधार है या नहीं—इस प्रश्न की ओर, आते हैं। इस विषय में यहा पर इतना संकेत कर देना ही पर्याप्त जान पड़ता है कि इस नाटक का कथानक महाभारत में वर्णित कौरवों एवं पाण्डवों की कथा है। परन्तु उस समस्त कथा में या महाभारत में कहीं पर भी भीमसेन की इस प्रतिज्ञा का वर्णन नहीं मिलता[1]। यह कवि भट्टनारायण के मस्तिष्क की एक ऐसी मौलिक कल्पना है जिसे उसके (=भट्टनारायण के) बाद में आने वाले अनेक कवियों ने अपनी-अपनी रचनाओं मे यत्र-तत्र स्थान दिया है और जो शनैः शनैः इतनी प्रसिद्ध हो गई कि लोग इसे भट्टनारायण के मस्तिष्क की उपज न समझ कर महाभारत मे वर्णित घटना ही समझने लगे। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि यद्यपि इस घटना का कोई साहित्यिक आधार उपलब्ध नही है तथापि कवि भट्टनारायण ने इस काल्पनिक घटना को अपने नाटक में स्थान देकर अपनी मौलिकता का बड़ा सुन्दर परिचय दिया है।

Q. 4. Give a short summary of the whole play act by act.

Ans. Summary of the first act.

नाटक के आरम्भ में प्रस्तावना में नान्दी के तीन श्लोकों के बाद, जिन में से दो में भगवान् विष्णु और एक में भगवान् शंकर की मङ्गलार्थ प्रार्थना की गई है, सूत्रधार रंगमच पर आकर महाभारतकार भगवान् वेदव्यास की स्तुति के उपरान्त दर्शकों को कवि भट्टनारायण-कृत 'वेणीसंहार' नाटक के अभिनय की सूचना देता है।

ठीक इसी समय सूत्रधार का सहायक पारिपार्श्विक पर्दे के पीछे से सूचित

१. द्रु. G.

करता है कि महात्मा विदुर ने समस्त नटों को भगवान् कृष्ण के आगमन के उपलक्ष में, जो भरत-कुल की रक्षा के निमित्त मध्यस्थ बनकर पाण्डवों की ओर से दुर्योधन के पास सन्धि का प्रस्ताव लेकर आ रहे हैं, उत्सवादि की तैयारी करने की आज्ञा दी है। सूत्रधार यह सुनकर बहुत प्रसन्न होता है और अपने सहायक पारिपार्श्विक को गीतादि आरम्भ करने की प्रेरणा करता है।

पारिपार्श्विक के रंगमंच पर आकर गीत के विषय में पूछने पर सूत्रधार उसे शरद्-ऋतु के विषय में गाने के लिये कहता है और स्वयं भी शरद्-ऋतु के विषय में एक ऐसा गीत गाता है जिसकी शब्दावली के द्व्यर्थक होने के कारण पारिपार्श्विक को उससे कौरवों के अनिष्ट का आभास होने लगता है और वह घबरा कर ईश्वर से उस अनिष्ट के शान्त होने की प्रार्थना करता है। परन्तु सूत्रधार उसे उस गीत का दूसरा अर्थ बता कर उसकी घबराहट शान्त करने की चेष्टा करता है। ठीक इसी समय कुमार भीमसेन, जो कि कौरवों द्वारा किये गए अपमान के कारण उनसे (=कौरवों से) किसी शर्त पर भी सन्धि करना नहीं चाहता और जो इसी लिये सन्धि-प्रस्ताव लेकर भगवान् कृष्ण के दुर्योधन के पास जाने के विरुद्ध है, रोषाविष्ट होकर कुमार सहदेव के साथ रंगमंच पर आता है और सूत्रधार तथा पारिपार्श्विक दोनों ही उसकी रोषारुण दृष्टि बचाकर चुपचाप वहाँ से चले जाते हैं।

कुमार सहदेव भीमसेन के क्रोध को शान्त करने का प्रयत्न करता है परन्तु वह इतने रोष में है कि वह सन्धि के पक्ष में दी गई किसी भी युक्ति को सुनने के लिये तैयार नहीं। उसका क्रोध इतना तीव्र हो चुका है कि वह महाराज युधिष्ठिर की आज्ञा या उनके अधिकार को भी चुनौती देकर अकेला ही कौरवों से लड़ने के लिये तैयार है। क्रोध में होकर वह शस्त्रागार की ओर बढ़ता है परन्तु भूल से द्रौपदी की चौशाल को ही शस्त्रागार समझ लेता है। सहदेव के भूल याद दिलाने पर वह वहीं पर कौरवों के साथ युद्ध करने के लिये जाने से पूर्व द्रौपदी से विदा लेने के लिये उसके आगमन की प्रतीक्षा करता है। इसी बीच में कुमार सहदेव उसे यह समझाने की चेष्टा करता है कि

महाराज युधिष्ठिर ने किस लिये और किस अवस्था में पाँच गांव की शर्त पर कौरवों के पास सन्धि-प्रस्ताव भेजा है। परन्तु भीमसेन पाँच गाँवों की बड़ी तुच्छ-सी शर्त पर सन्धि करने की बात सुनकर सहदेव के शब्दों को दुत्कार देता है और कौरवों के साथ सन्धि करने के प्रश्न पर युधिष्ठिर के साथ किसी प्रकार का भी सहयोग करने से निषेध कर देता है।

इसी समय द्रौपदी आँखों में आँसू भरे हुए रंगमंच पर आती है। उसकी आँखों में आँसू देखकर सहदेव इस विचार से कि द्रौपदी की अश्रु-पूर्ण दृष्टि भीमसेन के क्रोध को और भी भड़का देगी, कुछ चिन्तित हो जाता है। द्रौपदी के आँसुओं का कारण यह था कि जब वह अपनी सपत्नियों के साथ माता गान्धारी को अभिवादन करके वापिस आ रही थी तो दुर्योधन की पत्नी भानुमती ने उसके उन्मुक्त केशों को देखकर उस पर एक तीक्ष्ण असह्य व्यंग करते हुए यह कह दिया था कि "अब तो पाण्डव पाँच गाँवों की शर्त पर सन्धि करने का प्रयत्न कर रहे हैं। इस लिये अब तुम्हें अपने ये केश बांध लेने चाहिएँ।" इस अपमान से दुःखित होने के कारण द्रौपदी की आँखों में आँसू आ रहे थे। भीमसेन को द्रौपदी की दासी बुद्धिमतिका से उसके (=द्रौपदी के) उद्वेग के इस कारण का पता लगने पर उसका क्रोध और भी भड़क जाता है और वह प्रतिज्ञा करता है—'वह शीघ्र ही दुर्योधन की जंघाओं को विदीर्ण करके उसके रुधिर से लिप्त हाथों से स्वयं द्रौपदी के केशों को बांधेगा।'

इसी समय नेपथ्य में महान् कोलाहल होता है और कञ्चुकी घबराता हुआ आकर भीमसेन को सूचना देता है कि भगवान् कृष्ण अपने सन्धि-उद्देश्य में असफल होकर लौट आए हैं तथा महाराज युधिष्ठिर ने तुरन्त युद्ध की तैयारी की आज्ञा दी है। यह सुनकर भीमसेन तथा सहदेव दोनों द्रौपदी से विदा लेकर भगवान् कृष्ण एवं महाराज युधिष्ठिर से वर्तमान स्थिति के विषय में विचार-विमर्श करने के लिये चले जाते हैं।

Summary of the second act.

दुर्योधन की पत्नी भानुमती की खोज करते हुए कञ्चुकी के प्रवेश के साथ द्वितीय अंक आरम्भ होता है।

महाराज दुर्योधन, कर्ण एवं जयद्रथ आदि महारथियों को अभिमन्यु के वध पर वधाई देने के लिये जाने से पूर्व अपनी पत्नी भानुमती से मिलना चाहते हैं! इस लिये दुर्योधन का कञ्चुकी, विनयंधर भानुमती को खोजने के लिये जा रहा है। मार्ग में जाते हुए उसे राजप्रासाद में काम करने वाली एक विहङ्गिका नाम की दासी से पता चलता है कि महारानी भानुमती युद्ध में अपने पति की विजय-कामना से बालोद्यान में धार्मिक अनुष्ठान करने के लिये गई हुई है।

दासी से भानुमती के विषय में उसके धार्मिक अनुष्ठान आदि का ज्ञान होने पर विनयन्धर महाराज दुर्योधन एवं उनकी पत्नी भानुमती की परस्पर विरुद्ध प्रकृति के विषय में सोच कर बड़ा आश्चर्य करता है। महारानी भानुमती अहर्निश अपने पतिदेव की विजय के लिये चिन्तित है और उसी के लिये इस समय बालोद्यान में धार्मिक अनुष्ठान में व्यस्त है। परन्तु दुर्योधन को कौरव-सेना के कर्णधार भीष्म जैसे महारथी एवं सेनानी के वध हो जाने पर भी कोई चिन्ता नहीं है। इतना ही नहीं, वह पाण्डवों के नन्हें-से बालक अभिमन्यु के कौरव-पक्ष के अनेक महारथियों द्वारा वध किये जाने पर हर्षोत्फुल्ल है और विषय-लोलुपता में मग्न है। इन्हीं विचारों में निमग्न कञ्चुकी अपने स्वामी के भविष्य के विषय में निराश होकर उसे (=दुर्योधन को) भानुमती के बालोद्यान में होने की सूचना देने के लिये चल देता है।

इधर रानी भानुमती आज एक दुःस्वप्न से बड़ी व्यथित एवं चिन्तित है। वह दुःस्वप्नज मानसिक चिन्ता के कारण अपने पति दुर्योधन से आज्ञा लिये बिना ही प्रातःकाल माता गान्धारी के पास जाकर उन्हें दैनिक नियमानुसार अभिवादन करके अपनी सखी सुवदना तथा दासी तरलिका के साथ बालोद्यान में चली जाती है।

सखी सुवदना एवं दासी तरलिका के अनुरोध करने पर रानी भानुमती उन्हें अपना स्वप्न सुनाना आरम्भ करती है। उसने स्वप्न में एक नकुल को सौ सर्पों का वध करके उसके वक्षःस्थल से वस्त्र का अपनयन करते हुए देखा है। यह स्वप्न वस्तुतः बड़ा अनिष्ट-सूचक है। इसे सुनकर सुवदना और तरलिका दोनों भानुमती के समान व्याकुल हो उठती हैं। इस स्वप्न में उन्हें दुर्योधन के सौ भाई तथा स्वयं दुर्योधन की मृत्यु की झलक दिखाई देने लगती है। परन्तु सुवदना और तरलिका देवताओं की पूजा द्वारा तथा योग्य ब्राह्मणों को भेंट आदि देकर इस स्वप्न के अशुभ फल को शान्त करना चाहती हैं। इसी बीच में दुर्योधन कञ्चुकी से रानी भानुमती के बालोद्यान में होने का समाचार पाकर बालोद्यान की ओर जाता है और वहाँ पर भानुमती, सुवदना और तरलिका की स्वप्न-विषयक बातें सुननी आरम्भ कर देता है। इन्हीं बातों के सम्बन्ध में भानुमती के मुख से नकुल द्वारा उसके वक्षःस्थल से वस्त्रापनयन की बात सुनकर और इस नकुल को अर्जुन का छोटा भाई नकुल समझकर वह भानुमती के चरित्र पर सन्देह करने लगता है। परन्तु कुछ समय के उपरान्त उनके वार्तालाप से उसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सब स्वप्न की बातें सुना रही है।। इसी बीच मे सूर्योदय हो जाने पर भानुमती बड़ी तन्मयता के साथ भगवान् सविता की पूजा करती है और उससे अपने पति तथा उसके सौ भाइयों को स्वप्न के दुष्परिणाम से सुरक्षित रखने की प्रार्थना करती है। इसके उपरान्त जब वह अन्य देवताओं की पूजा करने के लिये तरलिका से पुष्प मांगती है तो राजा उसे (=तरलिका को) संकेत से एक तरफ हटा कर स्वयं पुष्प देने की चेष्टा करता है, परन्तु भानुमती के कर-स्पर्श से उसके शरीर में दूषित वासना का संचार हो जाने के कारण फूलों का पात्र उसके हाथों से पृथ्वी पर गिर जाता है और इस प्रकार रानी भानुमती की पूजा में विघ्न पड़ जाता है। इसके उपरान्त वह रानी भानुमती की आशंका को दूर करने की चेष्टा करता है।

इसी समय एक बड़े भारी तूफान के आ जाने के कारण उन लोगों के लिये बालोद्यान में ठहरना असम्भव हो जाता है और दुर्योधन भानुमती के साथ समीपस्थ दारुपर्वत पर चला जाता है। वहाँ पर अपनी प्रेमवासना की अभिव्यक्ति के लिये उसे उपयुक्त स्थान एवं समय मिल जाता है। परन्तु कुछ ही क्षण बाद विनयन्धर अपशकुन के भय से घबराया हुआ उसके पास आता है और उसे सूचित करता है कि उसके रथ की ध्वजा भयानक वायु से टूट गई है। इस प्रकार उसके प्रेमालाप में विघ्न पड़ जाता है। इसी समय प्रतीहार आकर दुर्योधन की बहन दुःशला तथा उसकी सास के आने की सूचना देता है। यह दोनों अर्जुन की इस प्रतिज्ञा से कि आज वह सूर्यास्त से पूर्व सिन्धुराज जयद्रथ को अवश्य मार देगा, बड़ी व्यथित एवं चिन्तित हो रही हैं। दुर्योधन पाण्डवों की प्रतिज्ञा को सर्वथा व्यर्थ एवं असत्य बताते हुए उन्हें सान्त्वना देने की चेष्टा करता है और अपने बहनोई जयद्रथ की अर्जुन से रक्षा करने के लिये युद्धभूमि की ओर चल देता है। यहीं पर द्वितीय अंक समाप्त हो जाता है।

Summary of the third act.

तृतीय अंक का आरम्भ विकृत-वेषा राक्षसी वसागन्धा के प्रवेश के साथ होता है। वह युद्ध में अतुल मानव-रुधिर-मांस एवं मज्जा को खाने तथा संगृहीत करने के सुन्दर अवसर को प्राप्त करके परम हर्षोत्फुल्ल है। उसने मानव-रुधिर-मांस तथा मज्जा के अनेक घड़े भर अपने भोजनागार को सुसमृद्ध बना लिया है। इस प्रसन्नता के अवसर पर अपने पति रुधिरप्रिय को वहां न पाकर वह बड़े आश्चर्य में पड़ जाती है और उसे उधर-तिधर खोजने का प्रयास करती है।

इसी समय रुधिरप्रिय प्रवेश करता है। वह बहुत श्रान्त एवं पिपासाकुल है। वसागन्धा अपने पति को ऐसे अवसर पर भी, जब कि युद्धक्षेत्र में चारों ओर मनुष्य, हाथी और घोड़ों के रुधिर का समुद्र बह रहा है, प्यासा देखकर

बड़ी आश्चर्य-चकित होती है। रुधिरप्रिय से उसे पता चलता है कि वह अपनी स्वामिनी हिडिम्बा के पास, जो अपने पुत्र घटोत्कच की मृत्यु के कारण बड़ी दुःखित है, गया हुआ था। इस समय उसे अभिमन्यु के वध के कारण समानदुःखा सुभद्रा एवं द्रौपदी किसी प्रकार सान्त्वना दे रही हैं। वसागन्धा प्रसन्न होकर अपने पति को युद्ध-भूमि में संचित रुधिर, मांस एवं मज्जा से पूर्ण अनेक घड़े दिखाती है। रुधिरप्रिय भी अपनी प्रेयसी वसागन्धा को सूचित करता है कि उसे उसकी स्वामिनी हिडिम्बा ने सूचना दी है कि स्वामी भीमसेन ने दुःशासन का रुधिर पीने की प्रतिज्ञा की है। इसलिये हमे युद्ध-भूमि में स्वामी भीमसेन के साथ रहना चाहिये जिससे कि दुःशासन का वध होने पर हम अदृश्य रूप में भीमसेन के शरीर मे प्रविष्ट होकर दुःशासन का रुधिर पी सकें। वसागन्धा इस सूचना को पाकर अत्यन्त प्रसन्न होती है।

इसी समय बड़ा भारी कोलाहल होता है। राक्षस रुधिरप्रिय धृष्टद्युम्न को आचार्य द्रोण के केश पकड़ कर तलवार से उनका सिर काटते हुए देखता है।

इसी समय आचार्य द्रोण का पुत्र अश्वत्थामा रंगमंच पर आता है। और उसे देखकर राक्षस एवं राक्षसी दोनों वहाँ से चले जाते हैं। द्रोणपुत्र अश्वत्थामा युद्धभूमि मे होने वाली तुमुल ध्वनि से चकित हो जाता है। यह सोचकर कि आज उसके पिता युद्धभूमि मे पूर्ण वीरता के साथ युद्ध-कौशल-प्रदर्शन कर रहे हैं वह अपने पिता की युद्ध-कला को देखने के लिये युद्धभूमि की ओर बढ़ता है। युद्धभूमि की ओर बढ़ते समय वामाक्षि-स्पन्दन के रूप में उसे कुछ अपशकुन होता है, परन्तु वह इसकी चिन्ता न करता हुआ आगे बढ़ता है। कर्ण-जैसे महारथियों को युद्ध-स्थल से भागते देखकर वह आश्चर्य-चकित हो जाता है। इसी समय द्रोण का सारथि अश्वसेन विभ्रान्त-सा होकर आता है और अश्वत्थामा को आचार्य द्रोण की दुःखद मृत्यु की सूचना देता है। अश्वत्थामा इस बात से और भी अधिक व्यथित है कि उसकी अपनी

मृत्यु की असत्य सूचना ही उसके पिता की मृत्यु का कारण बनी है। धर्मराज युधिष्ठिर द्वारा की गई 'अश्वत्थामा मर गया' इस प्रकार की घोषणा को सुनकर द्रोणाचार्य के शस्त्र-त्याग करने पर धृष्टद्युम्न द्वारा उनकी निर्मम हत्या की गई है, इस बात ने उसे बहुत विह्वल बना दिया है। परन्तु साथ ही, इस सूचना से उसकी क्रोधाग्नि भी भड़क उठती है। इसी बीच में उसका मामा कृपाचार्य आकर उसकी व्याकुलता को शान्त करने की चेष्टा करता है और द्रोणाचार्य के साथ किये गए छल एवं असद्व्यवहार का प्रतिशोध करने के लिये उसे प्रोत्साहित करता है। अश्वत्थामा इस कार्य के लिये बहुत उतावला हो उठता है। परन्तु कृपाचार्य उसे पहले अपने पिता के रिक्त स्थान को, अर्थात् सेनापति-पद को, प्राप्त करने का परामर्श देता है और कहता है कि सम्भवतः दुर्योधन उसे सेनापति बनाना सहर्ष स्वीकार कर लेगा। इस प्रकार विचार कर दोनों दुर्योधन से मिलने के लिये चले जाते है।

अब दुर्योधन और कर्ण दोनों रंगमंच पर आते हैं। दुर्योधन द्रोणाचार्य के शस्त्र-त्याग के कारण के विषय में सोच रहा है। उसे इस बात का आश्चर्य है कि द्रोण जैसे महारथी ने ऐसे भयकर समय में शस्त्र-त्याग किया। परन्तु कर्ण द्रोणाचार्य की ओर से दुर्योधन की भावना विकृत करने के लिये बड़ी चतुरता से उसे कहता है कि द्रोणाचार्य इस युद्ध में समस्त क्षत्रियों का विनाश हो जाने पर अपने पुत्र अश्वत्थामा को चक्रवर्ती बनाने का विचार कर रहे थे। परन्तु अपने पुत्र की मृत्यु की सूचना पाने पर उन्होंने अपने लक्ष्य को सफल होते न देखकर युद्ध करने को व्यर्थ समझकर शस्त्र त्याग दिये। इसी अवसर पर कृप और अश्वत्थामा दुर्योधन के पास आते है। कृपाचार्य उसे अश्वत्थामा को सेनापति बनाने का परामर्श देता है। परन्तु दुर्योधन उसे सूचित करता है कि यह पद कर्ण के लिए निश्चित हो चुका है। इसी अवसर पर कर्ण के अश्वत्थामा के लिये कुछ तिरस्कार-पूर्ण शब्दों का प्रयोग करने पर उन दोनों में एक प्रकार के वाग्-बाणों का युद्ध आरम्भ हो जाता है। कृपाचार्य और दुर्योधन के किसी प्रकार समझा कर दोनों को

शान्त करनें पर भी अश्वत्थामा कर्ण के जीवित रहने तक शस्त्र न उठाने की प्रतिज्ञा कर लेता है।

इसी समय नेपथ्य के पीछे से एक बड़ी भयानक घोषणा होती है कि भीमसेन ने दुःशासन को पकड़ लिया है और वह कौरवों को उसकी रक्षा करने के लिये ललकार रहा है। कर्ण और दुर्योधन तुरन्त उसकी रक्षा के लिये जाते हैं परन्तु अर्जुन बीच में ही उन दोनों को युद्ध में व्यस्त कर लेता है, जिससे कि भीमसेन दुःशासन के वक्षःस्थल के रुधिर-पान की अपनी प्रतिज्ञा को पूरी कर सके। अश्वत्थामा, जो कि इस समस्त दृश्य को देख रहा है, अब अधिक सहन नहीं कर सकता। वह शस्त्र धारण करके दुःशासन की रक्षा के लिये जाना चाहता है। परन्तु आकाशवाणी उसकी प्रतिज्ञा की की याद दिलाकर उसे ऐसा करने से रोक देती है। इसलिए अश्वत्थामा फिर कृपाचार्य को दुर्योधन की सहायता के लिए भेजता है और स्वयं सेना-निवेश-स्थान की ओर चला जाता है। यही पर तृतीय अंक समाप्त हो जाता है।

Summary of the forth Act.

चतुर्थ अङ्क के आरम्भ मे भीम से दुःशासन की रक्षा करने के लिये जाते हुए मार्ग में अर्जुन के साथ युद्ध में व्यस्त हो जाने के कारण उसके (=अर्जुन) बाणों से बिद्ध-शरीर दुर्योधन को अचेत अवस्था में रथ में लेकर सूत रंग-मंच पर प्रवेश करता है। वह (=सूत) इस आशा से कि वायु के ठण्डे-ठण्डे झोंकों से उसका स्वामी (=दुर्योधन) सचेत हो सकेगा, रथ को एक सरोवर के निकट वट-वृक्ष के नीचे ले जाकर खड़ा कर देता है। दुर्योधन को अभी तक इस बात का तनिक भी ज्ञान नही है कि भीमसेन ने उसके भाई दुःशासन की निर्मम हत्या कर डाली है। कुछ समय के बाद सचेत होने पर वह अपने भाई की सहायता के लिये जाने को उतावला हो उठता है। परन्तु दुःशासन की मृत्यु पता लगने पर असीम वेदना एवं मानसिक व्यथा से पीड़ित होकर वह इतना निराश हो जाता है कि वह स्वयं भी मृत्यु का स्वागत करने के लिए उत्सुक हो उठता है।

इसी समय कर्ण का भेजा हुआ एक सैनिक दुर्योधन के पास आता है। उससे दुर्योधन को दुःशासन की निर्मम हत्या के बाद होने वाले भयानक युद्ध का, जिसमें कर्ण का पुत्र वृषसेन भी मारा जा चुका है, समस्त समाचार ज्ञात होने पर उसकी निराशा और भी बढ़ जाती है। इसलिए वह निराशा के कारण आत्महत्या करने से पूर्व अपने शत्रु पाण्डवों से बदला लेने के लिये युद्धभूमि में जाने का विचार करता है। परन्तु इसी समय उसके पिता धृतराष्ट्र एवं माता गान्धारी के आने की सूचना मिलती है। वह ऐसे समय पर यद्यपि उनका स्वागत करने के लिए हृदय से इच्छुक नहीं है तथापि मर्यादा मात्र पालन करने के विचार से उनका स्वागत करता है।

Summary of the fifth Act.

धृतराष्ट्र, गान्धारी एवं संजय के रंगमंच पर प्रवेश के साथ चतुर्थ अंक समाप्त होता है और पंचम अङ्क आरम्भ होता है। बाह्य रूप से तो वे दुर्योधन को सान्त्वना देने के लिए ही युद्धभूमि में आए हैं परन्तु उनका आन्तरिक भाव दुर्योधन को युद्ध का परित्याग कर युधिष्ठिर के साथ सन्धि करने की प्रेरणा करना है। दुर्योधन उनकी सन्धि-सम्बन्धी किसी भी युक्ति की ओर ध्यान न देकर युद्धभूमि मे जाने के लिये उद्यत हो जाता है। इसी समय नेपथ्य में महान् कोलाहल होता है और उन्हें (=दुर्योधनादि को) कर्ण की मृत्यु का समाचार मिलता है जिसे सुनकर सब लोग दुःख एवं निराशा में डूब जाते हैं। परन्तु दुर्योधन तुरन्त ही सर्वप्रथम अर्जुन और तदनन्तर अन्य पाण्डवों को मारकर अपने मित्र कर्ण की मृत्यु का प्रतिशोध करना चाहता है। इसी समय नेपथ्य में महान् कोलाहल के साथ भीमसेन और अर्जुन रंगमंच पर प्रवेश करते हैं। वे दोनों दुर्योधन को खोज रहे हैं। परन्तु यह पता लगने पर कि वह अपनी माता गान्धारी और पिता धृतराष्ट्र के साथ वटवृक्ष की छाया में बैठा हुआ है, अर्जुन वापिस लौटने का विचार करता है। परन्तु भीमसेन मर्यादा का पालन करते हुए गुरुजनों को वन्दना करके ही जाने पर बल देता है। वन्दना

करते समय भीमसेन, धृतराष्ट्र एवं दुर्योधन में परस्पर कुछ कटुशब्दों का प्रयोग हो जाता है। जिसके परिणामस्वरूप दुर्योधन और भीमसेन दोनों लड़ने के लिए तैयार हो जाते हैं परन्तु अर्जुन के प्रयत्न से यह लड़ाई किसी प्रकार शान्त की जाती है। इसी समय नेपथ्य से एक आवाज़ आती है। जिसके अनुसार युधिष्ठिर ने भीम तथा अर्जुन को सायंकाल हो जाने के कारण प्रातःकाल तक के लिए युद्ध बन्द करने की आज्ञा दी है। युधिष्ठिर की आज्ञा के अनुसार भीमसेन एवं अर्जुन दोनों रंगमंच से चले जाते हैं।

उनके चले जाने के पश्चात् अश्वत्थामा पुनः रंगमञ्च पर आकर कर्ण की मृत्यु हो जाने पर शस्त्र ग्रहण करके अर्जुन को पुनः युद्ध के लिए ललकारता है। धृतराष्ट्र अश्वत्थामा के आगमन से बहुत प्रसन्न हैं और दुर्योधन से उस का स्वागत करने के लिए कहते हैं। परन्तु दुर्योधन कर्ण की मित्रता के नाते उसका स्वागत करना नहीं चाहता। ब्राह्मण वीर अश्वत्थामा दुर्योधन की इस उदासीनता से क्रुद्ध होकर तुरन्त युद्धभूमि छोड़कर चला जाता है। अश्वत्थामा जैसे वीर-पुरुष के साथ दुर्योधन के इस उदासीनता-पूर्ण व्यवहार को देखकर धृतराष्ट्र को बड़ा दुःख हुआ और उन्होने इसे भरत-कुल के भावी विनाश का सूचक समझते हुए अश्वत्थामा के पास संजय द्वारा सूचना भेजी कि उसे (=अश्वत्थामा को) दुर्योधन के साथ अपनी प्राचीन मित्रता का ध्यान रखते हुए इस संकट-काल में उसकी सहायता अवश्य करनी चाहिये। इसके उपरान्त धृतराष्ट्र और गान्धारी शल्य के पास चले जाते हैं और दुर्योधन को भी उनके पास जाने के लिये कहते हैं।

Summary of the Sixth act.

भीमसेन ने दुर्योधन का वध करने के लिये नए रूप से प्रतिज्ञा की है कि दूसरे दिन प्रातःकाल होने से पूर्व यदि वह उसे (=दुर्योधन को) न मार सका तो वह आत्महत्या कर लेगा। भीम की इस प्रतिज्ञा से चिन्तित युधिष्ठिर एवं द्रौपदी के प्रवेश के साथ षष्ठ अङ्क का आरम्भ होता है। युधिष्ठिर एक

बुधक नामक अनुचर के द्वारा सहदेव के पास सन्देश भेजता है कि वन, उपवन तथा अन्य जंगलीय प्रदेशों में तत्तत्स्थानों को अच्छी प्रकार से जानने वाले व्यक्तियों द्वारा दुर्योधन की खोज कराई जाए। बुधक सहदेव को सन्देश देने के लिये चल देता है परन्तु मार्ग में उसकी पाञ्चालक से भेंट होती है और वे दोनों ही महाराज युधिष्ठिर के पास आते हैं। पाञ्चालक महाराज युधिष्ठिर एवं रानी द्रौपदी को विस्तार-पूर्वक समस्त वृत्तान्त सुनाता है कि किस प्रकार दुर्योधन का एक सरोवर में छिप कर बैठने का पता लगा और फिर किस प्रकार कुमार भीमसेन ने उस सरोवर के जल का विलोडन करके उसे (=दुर्योधन को) बाहर आने के लिये बाधित किया तथा उसके बाहर आने पर उन दोनों का किस प्रकार भयानक युद्ध हुआ इत्यादि। अन्त में पाञ्चालक युधिष्ठिर को कृष्ण का सन्देश देता है कि अब वह अपने राज्य को निष्कण्टक हुआ ही समझें और अपने राज्याभिषेक के लिये आयोजन आरम्भ कर दें। युधिष्ठिर भगवान् कृष्ण का सन्देश पाकर कञ्चुकी को आज्ञा देते हैं कि दुर्योधन पर कुमार भीमसेन की विजय के उपलक्ष्य में उत्सव का आयोजन किया जाए। पाञ्चालक के चले जाने के उपरान्त दुर्योधन का मित्र चार्वाक-नामक एक राक्षस युधिष्ठिर को धोखा देने के लिये मुनि के वेश में प्रवेश करता है। वह युद्धभूमि से आने का बहाना बनाकर महाराज युधिष्ठिर से कहता है कि जिस समय भीम और दुर्योधन का भीषण गदा-युद्ध हो रहा था उस समय अचानक बलराम वहां आ निकले और उन्होंने अपने प्रिय शिष्य दुर्योधन का पक्षपात करके उसे युद्ध के सम्बन्ध में कुछ गुप्त संकेत किया और दुर्योधन उसके अनुसार युद्ध करते हुए भीमसेन को मारने में सफल हो गया। अपने भाई की मृत्यु के कारण निराश होकर अर्जुन ने उसके हाथ से गदा लेकर दुर्योधन से गदायुद्ध करना आरम्भ कर दिया। इसके उपरान्त बलराम अर्जुन को गदायुद्ध में सुशिक्षित न देखकर उसकी मृत्यु निश्चित समझ कर अर्जुन के पक्षपाती कृष्ण को किसी-न-किसी प्रकार रथ में बिठाकर द्वारिका की तरफ

चले गए। भीम की मृत्यु के समाचार से युधिष्ठिर एव द्रौपदी दोनों को असीम दुःख होता। द्रौपदी पागल-सी हो जाती है है। इस दुःख के परिणाम-स्वरूप दोनों अग्नि में जलकर आत्म हत्या करने का विचार करते हैं। वह अपने सेवक के द्वारा सहदेव के पास सन्देश भेजते हैं कि भीम और अर्जुन की मृत्यु से निराश होकर उनका अनुसरण न करे, अर्थात् आत्महत्या न करे और साथ ही यः अर्जुन के लिये भी सन्देश देते है कि यदि वह गदा-युद्ध मे किसी प्रकार सफल रहे तो जीवन से निराश होकर आत्महत्या करने का प्रयास न करे। इसके बाद वह अपने पिता पाण्डु तथा अभी हाल में ही मृत्यु को प्राप्त हुए भाई भीमसेन को तिलोदक देता है और द्रौपदी के साथ आत्महत्या करने के लिये उद्यत हो जाता है।

इसी समय पर्दे के पीछे से दुर्योधन के रुधिर से लिप्त हाथो के साथ भीमसेन के आने की घोषणा होती है। वह द्रौपदी के केशों को दुर्योधन के रुधिर से रग कर उन्हें बाधने की अपनी प्रतिज्ञा को पूरी करने के लिये उसे (= द्रौपदी को) खोज रहा है। रुधिर से लिप्त-शरीर होने के कारण अच्छी प्रकार न पहचान कर कञ्चुकी उसे दुर्योधन समझ कर महाराज युधिष्ठिर को सूचित करता है कि दुष्ट दुर्योधन पाञ्चाली की खोज मे इधर ही आ रहा है।

इसी समय भीमसेन रंगमञ्च पर आता है और युधिष्ठिर व्यथाभिभूतचित्त होने के कारण उसे न पहचान कर उससे लड़ने के लिये तत्पर हो जाते हैं। कुछ ही क्षणों के बाद यह भूल दूर हो जाती है और भीमसेन द्रौपदी के केशों को दुर्योधन के रुधिर से रञ्जित करके बाधता है। इस प्रकार भीम की प्रतिज्ञा पूरी होती है। इसी समय भगवान् कृष्ण और अर्जुन भी प्रवेश करते हैं। भगवान् कृष्ण युधिष्ठिर को शत्रु की विजय पर बधाई देते हैं और उन्हे बताते हैं कि वह इतनी शीघ्रता से इस लिये आए हैं कि उन्हे मार्ग मे इस बात का पता लग चुका था कि चार्वाक राक्षस ने उन्हे (= युधिष्ठिर को) भीम की मृत्यु एव अर्जुन के दुर्योधन के साथ गदा-युद्ध का असत्य समाचार देकर धोखे मे

डालने का प्रयत्न किया है। उन्होंने (=कृष्ण ने) युधिष्ठिर को यह भी बताया कि उस चार्वाक को कुमार सहदेव ने बन्दी बना लिया है।

इस प्रकार महाराज युधिष्ठिर की समस्त कामनाएँ पूरी हो जाने पर वह अन्त में भगवान् कृष्ण से प्रजा में अद्वैत भक्ति के प्रसार, मनुष्यों की पूर्ण आयु तथा गुणों के प्रति राजाओं के हृदय में आदर-भाव होने की प्रार्थना करते हैं। अन्त में भगवान् कृष्ण के आशीर्वाद के साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

5. Write an act-wise critical note on the arrangement of the plot of the drama 'वेणीसंहार'।

OR

Give an act-wise critical appreciation of the drama 'वेणीसंहार'।

Ans. वास्तविक रूप में नाटक आरम्भ होने से पूर्व रंगशाला में स्थित दर्शकों में कुछ हलचल या कोलाहल-सा रहता है। उसे शान्त करने के लिये संस्कृत में नाटक के आरम्भ में 'प्रस्तावना' की प्रथा आरम्भ की गई है। जिसमें संक्षिप्त कवि-परिचय के साथ-साथ एक-दो गीत भी किसी ऋतु-विशेष के विषय में दर्शकों के मनोरंजन के लिये रखे जाते हैं। कभी-कभी नाटककार नाटक के एक-दो प्रधान पात्र का नाम-निर्देश, कथानक की ओर संक्षिप्त संकेत या नाटक के किसी प्रधान पात्र के प्रवेश आदि के द्वारा बड़ी चतुरता से दर्शकों की उत्सुकता बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं।

इस दृष्टि से देखने पर 'वेणीसंहार' की प्रस्तावना बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमें कवि के सोपाधिक नाम-निर्देश के साथ पाण्डवों की ओर से सन्धि-प्रस्ताव लेकर भगवान् कृष्ण के दुर्योधन के पास जाने तथा सूत्रधार के शरद्ऋतु विषयक गीत से श्लेष द्वारा कौरवों के भावी पतन की सूचना बड़े कलापूर्ण ढंग से दी

गई है। इनमें सन्धि-प्रस्ताव की सूचना तो नाटक की पृष्ठ-भित्ति के परिज्ञान के लिए परम आवश्यक है। इसी सन्धि-प्रस्ताव से युद्ध के भय से निश्चिन्त होकर दोनों (=कौरव एवं पाण्डव) कुलों के लिए मङ्गल-कामना करते हुए सूत्रधार के मुख से 'स्वस्थाः भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः' इन शब्दों को सुनकर क्रोधाविष्ट भीमसेन का प्रवेश करा कर कथारम्भ करते हुए लेखक जहां दर्शकों की उत्सुकता बढ़ाने में सफल हुआ है वहां उसने अपने नाटकीय कला-कौशल का भी बहुत सुन्दर परिचय दिया है।

वास्तविक रूप में नाटक का आरम्भ सहदेव एवं कोपाविष्ट भीमसेन के रंगमंच पर प्रवेश के साथ होता है। इस अङ्क में वर्णित कथानक '१. सहदेव तथा भीमसेन का पारस्परिक सम्भाषण, २. द्रौपदी तथा चेटी का संक्षिप्त वार्तालाप और ३. क्रोधाविष्ट भीमसेन का चेटी द्वारा दुर्योधन की पत्नी भानुमती के आक्षेप से द्रौपदी के दुःखित होने का समाचार सुनकर और भी आवेश में आकर युद्ध के लिए पूर्णतः कटिबद्ध होकर कौरव-कुल-विनाश की प्रतिज्ञा करना' इन तीन प्रधान भागों में बांटा जा सकता है। इन तीनों भागों को लेखक ने बड़े सुन्दर एवं सुग्रथित नाटकीय ढंग से प्रस्तुत किया है। भीमसेन के क्रोध-पूर्ण चरित्र की अभिव्यक्ति करने के लिये उसने आरम्भ में ही उसके रंगमंच पर प्रवेश के समय उससे सूत्रधार के लिए 'दुरात्मन्! वृथामङ्गल-पाठक......' आदि शब्द कहलवा कर उसकी क्रोधमयी प्रकृति की झलक दे दी है। इसके बाद सहदेव से युधिष्ठिर के पांच गांवों की शर्त पर सन्धि के प्रस्ताव को सुनकर तो उसका क्रोध इतना भड़क उठता है कि वह युधिष्ठिर के अधिकार एवं आज्ञा को भी स्वीकार करने से निषेध कर देता है। इसी समय द्रौपदी अपनी चेटी के साथ प्रवेश करती है। इस अवसर पर लेखक ने द्रौपदी तथा चेटी के सम्भाषण के समय भीमसेन को क्रोधावेश में आकाश की ओर मुंह किये हुए तथा सहदेव को बड़ी उत्सुकता-पूर्ण दृष्टि से उसकी ओर देखते हुए रंगमंच पर प्रस्तुत करके स्वाभाविकता एवं नाटकीयता का बड़ा सुन्दर परिचय दिया है। ऐसा न करने पर द्रौपदी एवं चेटी के वार्तालाप के समय

भीम तथा सहदेव का निष्क्रिय भाव से रंगमंच पर खड़े रहना बहुत अस्वाभाविक एवं नाट्य-कला की दृष्टि से सर्वथा अनुचित होता। वार्तालाप के समाप्त हो जाने पर वे दोनों भीमसेन के विचारों को जानने के लिये जान-बूझकर शान्त भाव से एक ओर खड़ी हो जाती हैं और भीमसेन के स्वयं द्रौपदी के विषय में पूछने पर सहदेव उसे (=भीम को) उसके (=द्रौपदी के) वहां पर पर्याप्त देर से खड़े रहने की सूचना देता है। इस दृश्य के प्रस्तुत करने में भट्टनारायण ने वस्तुतः बड़ी उच्चकोटि की नाट्य कला का परिचय दिया है।

इसके उपरान्त चेटी द्वारा दुर्योधन की पत्नी भानुमती के आक्षेप से द्रौपदी के अत्यधिक दुःखित होने का समाचार पाकर भीम के क्रोध की सीमा नहीं रहती और वह द्रौपदी को सान्त्वना देने के लिये दुर्योधन का वध करके उसके रुधिर से उसकी वेणी को रञ्जित करके बांधने की प्रतिज्ञा करता है।

इस प्रकार भट्टनारायण ने प्रथम अंक के भिन्न-भिन्न भागों को बड़े सुन्दर नाटकीय एवं स्वाभाविक ढंग से सुग्रथित रूप में प्रस्तुत करके उच्चकोटि के नाट्य-कला-कौशल का परिचय दिया है।

द्वितीय अंक में दुर्योधन एवं उसकी धर्मपत्नी भानुमती के चरित्र को प्रकाश में लाना ही लेखक का प्रधान उद्देश्य प्रतीत होता है। विष्कम्भक में कञ्चुकी के आत्मसम्भाषण से सर्वप्रथम हमें सूचना मिलती है कि युद्ध प्रारम्भ हो चुका है और उसमें कौरव-पक्षपाती महारथी भीष्म पितामह वीरगति को प्राप्त हो चुके हैं। दूसरी ओर पाण्डव-पक्ष से अर्जुन के पुत्र वीर अभिमन्यु ने भी एकाकी अवस्था में कौरव सेना के अनेक धनुर्धरों से घिर जाने के कारण वीरगति प्राप्त की है। परन्तु दुर्योधन को भीष्म जैसे महारथी एव सेनापति के निधन पर इतना दुःख या चिन्ता नहीं है जितनी एक नन्हे-से बालक अभिमन्यु के वध पर प्रसन्नता है। इसके साथ-साथ वृद्ध कञ्चुकी को इस बात का और भी दुःख है कि सम्राट् दुर्योधन इस संकट-काल में 'अन्तःपुर विहार-सुख' के मोह में पड़ा हुआ है। यहां तक कि वह युद्ध-भूमि में वीरता-प्रदर्शन करने पर किसी वीर को बधाई देने के लिये जाने से पूर्व अपनी पत्नी भानुमती से मिलना आवश्यक

समझता है। परन्तु इसके विरुद्ध भानुमती स्त्री होते हुए भी बड़ी विचारशील एवं परिस्थिति को समझने वाली है। वह अपने पति, सम्राट् दुर्योधन, की विजय एवं सुरक्षा के विषय में प्रतिक्षण चिन्तित रहती है। इस प्रकार विष्कम्भक में लेखक ने युद्धारम्भ की सूचना के साथ-साथ दुर्योधन एवं भानुमती के चरित्र की एक विस्पष्ट झलक बड़े स्वाभाविक ढंग से दी है जो कि चरित्र-चित्रण एवं कथानक की शृंखला को समझने के लिये बड़ी आवश्यक है।

इस के उपरान्त भानुमती के स्वप्न का दृश्य भी नाटकीय कथावस्तु की प्रगति की दृष्टि से विशेष महत्त्व-पूर्ण नहीं है। इसमें भी दुर्योधन एवं उसकी पत्नी भानुमती की पूर्वसंकेतित विशेषताएँ ही विशेषरूप से प्रकाश में आती हैं। जहां भानुमती दुःस्वप्न से अपने पति की विजय एवं सुरक्षा के विषय में चिन्तित होकर देवताओं की आराधना करना आरम्भ कर देती है वहां सम्राट् दुर्योधन को तनिक भी चिन्ता नहीं है। इतना ही नहीं, वह प्रेम-भावना में विभोर होकर अपनी प्रेयसी की पूजा में विघ्न डालता है।

इसके बाद दुःशला (=दुर्योधन की बहन) तथा उसकी सास (=जयद्रथ की माता) के प्रवेश से भी कथानक में किसी प्रकार की प्रगति नहीं होती। यदि कुछ प्रगति कही जा सकती है तो, वह केवल इतनी ही है कि उनके प्रवेश से दर्शकों को अर्जुन की जयद्रथ-वध की प्रतिज्ञा की सूचना-मात्र मिलती है जिसे हम एक निष्क्रिय प्रगति कह सकते हैं। जहाँ तक कथानक की क्रियात्मक प्रगति का प्रश्न है वह इन दोनों पात्रों के प्रवेश से कुछ नहीं होती।

इस प्रकार ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि इस अङ्क में भट्टनारायण का प्रधान उद्देश्य, जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, दुर्योधन एवं भानुमती के चरित्र की परस्पर-विरोधी विशेषताओं को प्रकाश में लाना मात्र ही है।

तृतीय अंक नाटकीय दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसके प्रवेशक में ही लेखक ने बड़े स्वाभाविक ढंग से इस बात की ओर संकेत कर दिया है कि द्वितीय अङ्क की समाप्ति और तृतीय अङ्क के आरम्भ के बीच के समय में अर्जुन की जयद्रथ-

का वध करने की भीषण प्रतिज्ञा पूरी हो चुकी है और उस भयंकर युद्ध में दोनों पक्षों के बड़े-बड़े योद्धा मारे जा चुके हैं। धृष्टद्युम्न द्वारा द्रोणाचार्य का भी वध हो चुका है।

परन्तु इस अङ्क के प्रवेशक में इन सूचनाओं को देने के लिए लेखक ने राक्षस और राक्षसी का जो पारस्परिक वार्तालाप प्रस्तुत किया है वह बड़ा बीभत्स और घृण्य है। इस लिए इन सूचनाओं को देने के लिये लेखक को कोई और मार्ग अपनाना चाहिये था। इस बीभत्स दृश्य को प्रस्तुत करने की क्या आवश्यकता थी?

इस प्रश्न का उत्तर श्री गजेन्द्र गदकर ने बड़े सुन्दर ढंग से दिया है। उनका कथन है कि सम्भवतः भट्टनारायण ने कुछ नैतिक और नाटकीय विचारों को सामने रखकर ही इस प्रकार का दृश्य प्रस्तुत किया है। मनुष्य प्रायः सांसारिक आनन्दोपभोग में लीन होकर इस भौतिक शरीर की अस्थिरता को भूल जाता है और वह शारीरिक कामनाओं की सन्तृप्ति ही जीवन का प्रथम और चरम लक्ष्य समझने लगता है। इसलिये यहां पर कवि ने सम्भवतः दुर्योधन और भानुमती का प्रेमचित्र प्रदर्शित करने के उपरान्त बड़ी निपुणता के साथ इस प्रकार का बीभत्स दृश्य प्रस्तुत करके शरीर एवं शारीरिक सुखों के प्रति विरक्ति की भावना उत्पन्न करने की चेष्टा की है।

दार्शनिक दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि प्रेम, जो इस प्रकार के बीभत्स एवं घृणापूर्ण वातावरण में भी पनप सकता है, मानव-जीवन का चरम लक्ष्य नहीं बन सकता। इसलिये मनुष्य को जहाँ तक सम्भव हो सके उससे मुक्त रहने की ही चेष्टा करनी चाहिये।

नाटकीय दृष्टि से श्री गजेन्द्र गदकर का कथन है कि भीमसेन ने दुःशासन के वक्षःस्थल का रक्त पान करने की प्रतिज्ञा की थी और एक सच्चे क्षत्रिय होने के नाते उसे अपनी प्रतिज्ञा अक्षरशः पूर्ण करनी चाहिये। परन्तु एक आर्य होते हुए उसके लिए इस प्रकार रुधिर-पान करना असम्भव या आर्य-

आदर्श से गिरी हुई बात कही जा सकती थी। इसलिये भट्टनारायण ने इस दृश्य को प्रस्तुत करके इस समस्या को बड़े सुन्दर ढंग से सुलझाने का प्रयत्न किया है। वसागन्धा और रुधिरप्रिय के पारस्परिक वार्तालाप से स्पष्ट है। हिडिम्बा देवी की आज्ञानुसार दुःशासन-वध के समय रुधिरप्रिय को अदृश्य रूप में भीमसेन के शरीर में प्रवेश करके उसका रक्त पीना होगा।

इस प्रकार आर्य-आदर्श का पालन और भीमसेन की प्रतिज्ञा-पूर्ति दोनों का निर्वाह सुन्दर ढंग से हो गया है। इसलिए, सम्भवतः इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये ही, नाटककार ने यहां पर राक्षस और राक्षसी का वार्तालाप प्रस्तुत किया है।

इसके उपरान्त अश्वत्थामा रंगमंच पर प्रवेश करता है और कर्ण जैसे महारथियों को भी युद्धस्थल से पलायन करते देखकर आश्चर्य-चकित रह जाता है। परन्तु इसी बीच में दिवंगत द्रोणाचार्य का सारथि प्रवेश करके उनकी दुःखद मृत्यु की सूचना देता है। इसी समय कृपाचार्य आकर अश्वत्थामा के क्रोध को शान्त करने का प्रयत्न करते हुए उसे अपने पितृ-वध का प्रतिशोध करने की प्रेरणा करता है। इस अवसर पर कवि ने कृपाचार्य द्वारा कुछ समय के लिये आत्म-सम्भाषण करा कर सूत और द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा के सम्भाषण में किसी प्रकार का विघ्न नहीं होने दिया। ये दोनों बातें (=सूत-अश्वत्थामा-सम्भाषण तथा कृप का आत्मसम्भाषण) बड़े सुन्दर नाटकीय ढंग से सम्पन्न की गई हैं।

इसके बाद कृपाचार्य अश्वत्थामा को दुर्योधन के पास ले जाकर उससे उसे सेनापति बनाने को कहते हैं। परन्तु इस अवसर पर कवि ने पता नहीं किस लिए कर्ण के चरित्र को बहुत ही निम्नकोटि का दिखाने की चेष्टा की है और इसीलिये उसने दुर्योधन को द्रोण के शस्त्र-त्याग का कारण यह बताया कि द्रोण ने युद्ध में क्षत्रियों के विध्वस्त हो जाने पर अश्वत्थामा को राजा बनाने का विचार किया था, परन्तु अश्वत्थामा की मृत्यु हो जाने पर अपनी इच्छा

पूर्ण होते न देखकर उन्होंने शस्त्र स्वयं ही त्याग दिये। दूसरी ओर अश्वत्थामा के चरित्र को कवि ने बहुत कुछ बढ़ा-चढ़ाकर दिखाने की चेष्टा की है। दुर्योधन के यह कहने पर भी कि सेनापति का पद पहले ही कर्ण के लिये निश्चित हो चुका है अश्वत्थामा तनिक भी अपमान का अनुभव नहीं करता, और यदि इस अवसर पर कहे गए कर्ण और अश्वत्थामा के शब्दों को ध्यान से देखा जाए तो सेनापति-पद के विषय में उन दोनों का कोई झगड़ा ही नहीं होता। उनके झगड़े का प्रधान कारण तो यह था इस अवसर पर कर्ण ने अश्वत्थामा को 'मूर्ख ! दुःखित रोता है और कोपाविष्ट वीर पुरुष शस्त्र धारण करके संग्राम-भूमि में उतरता है, (तेरी तरह) इस प्रकार प्रलाप नहीं करता' (तृतीय अंक), यह अत्यन्त अपमान-पूर्ण शब्द कह दिये जिन्हें अश्वत्थामा जैसा वीर सहन नहीं कर सकता था।

इस प्रकार इस अङ्क में कवि ने कर्ण और अश्वत्थामा के चरित्र को प्रकाश में लाते हुए दोनों की चारित्रिक विशेषताओं को बड़े सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है। परन्तु इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि यहाँ पर कवि ने अश्वत्थामा के प्रति कुछ पक्षपात किया है और इसी लिये कर्ण के चरित्र को नैतिक दृष्टि से बहुत अवनत रूप में प्रस्तुत किया है। महाभारत में द्रोण की मृत्यु हो जाने पर अश्वत्थामा स्वयं कर्ण को सेनापति बनाने का प्रस्ताव करता है। परन्तु यहां पर कवि ने दोनों का चरित्र-चित्रण करते हुए एक दूसरा ही दृष्टिकोण सामने रखा है। कर्ण द्रोण पर अश्वत्थामा को चक्रवर्ती बनाने का आरोप करता है और स्वयं अश्वत्थामा का बड़े तिरस्कार-पूर्ण शब्दों से अपमान करता है। श्री गजेन्द्र गदकर के अनुसार कवि का अश्वत्थामा के प्रति इस प्रकार का पक्षपात-पूर्ण झुकाव सम्भवतः कुछ उसके और स्वयं कवि के ब्राह्मण जाति में उत्पन्न होने के कारण है।

अन्त में इस अंक के विषय में भी इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि दोनों योद्धाओं की चारित्रिक विशेषताओं की अभिव्यक्ति तथा युद्ध-सम्बन्धी कुछ अन्य सूचनाओं के होने पर भी क्रियात्मक प्रगति इस अङ्क में भी कुछ धीमी ही रही है।

इसके उपरान्त चतुर्थ अङ्क में भी नाटकीय क्रिया-प्रवाह की गति बहुत मन्द है। इसके आरम्भ में सूत के प्रवेश, कृपाचार्य के आत्म-सम्भाषण द्वारा कौरव-सेना के पलायन तथा सूत द्वारा प्रहार-मूर्च्छित स्वस्थ महाराज दुर्योधन के सरोवर के निकट न्यग्रोध (=वट) वृक्ष की छाया में ले जाने की सूचना-मात्र मिलती है। कृपाचार्य और सूत के आत्म-सम्भाषण भी नाटकीय रंगमंच की दृष्टि से सफल नहीं कहे जा सकते। उनकी भाषा लम्बे-लम्बे समास एवं कठिन शब्दों के प्रयोग के कारण जन-साधारण के लिए इतनी दुर्बोध हो गई है कि उसका रंगमंच पर प्रयोग सर्वथा अनुपयुक्त-सा प्रतीत होता है।

इसके बाद सुन्दरक के प्रवेश करने पर कर्ण के पुत्र वृषसेन की मृत्यु की सूचना मिलती है। परन्तु इस अवसर पर लेखक ने दुर्योधन एवं सुन्दरक के मध्य होने वाले वार्तालाप को इतना लम्बा कर दिया है कि उसे रंगमंच से सुनते-सुनते दर्शकों का तथा अध्ययन-कक्ष में पढ़ते-पढ़ते पाठकों का चित्त बहुत सीमा तक ऊब जाता है। इसके अतिरिक्त सुन्दरक के सम्भाषणों में कहीं-कहीं लम्बे समास एवं कठिन शब्दों के प्रयोग के कारण दुर्बोधता भी आ गई है जो कि नाटकीय रंगमंच की दृष्टि से एक दोष ही कहा जा सकता है और इन लम्बे-लम्बे सम्भाषणों में युद्ध के दृश्य-वर्णन के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

ऊपर के संक्षिप्त विवेचन के उपरान्त यहाँ पर स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि फिर नाट्यकला की दृष्टि से इस अङ्क की क्या उपादेयता हो सकती है। इस विषय में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि इस समस्त अङ्क में करुण-रस की प्रधानता है। अपने स्वामी को मूर्च्छित अवस्था में देखकर सूत के करुणापूर्ण उद्गार तथा वृषसेन की मृत्यु एवं तदुपरान्त कर्ण की चिन्ता-पूर्ण मानसिक स्थिति ने मिलकर एक बड़ा ही दयनीय एवं करुणा-मय दृश्य उपस्थित कर दिया है। *वृषसेन की मृत्यु तथा कर्ण की दयनीय दशा का समाचार सुनकर* [दुर्यो]धन का करुण प्रलाप वस्तुतः बड़ा ही हृदय-द्रावक है। इस अवसर पर हम [उस]की निम्नवृत्तियों को भूलकर उससे सहानुभूति करने लग जाते हैं। इस प्रकार

सम्भवतः इस अङ्क में लेखक का प्रधान उद्देश्य, जैसा कि श्री गजेन्द्र गदकर ने भी संकेत किया है, करुण रस का चित्रण एवं अपने मित्र कर्ण के प्रति दुर्योधन के हार्दिक प्रेम की अभिव्यक्ति ही प्रतीत होती है।

मन्दगति-मय चतुर्थ अङ्क के उपरान्त जब हम पञ्चम अङ्क पर आते हैं तो हमें यह अनुभव होता कि हम किसी के वर्णनात्मक व्याख्यान नहीं सुन रहे हैं प्रत्युत रङ्गशाला मे बैठे रङ्गमञ्च पर वास्तविक नाटक देख रहे हैं। इस अङ्क के पात्र चलते-फिरते दीख पड़ते हैं। उनका जीवन गति-शील दिखाई देता है। इस अङ्क मे कई नवीन पात्र क्रमशः रंगमञ्च पर प्रवेश करते हैं और कई बार पर्दे के पोछे से भी नई घोषणाएँ होती हैं जिनके कारण नाटकीय क्रिया-प्रवाह मन्द नहीं होने पाता और वह अन्त तक बड़े रोचक ढग से चलता रहता है। सर्वप्रथम दुर्योधन, उसके माता-पिता तथा सञ्जय के बीच में होने वाला वार्तालाप बड़ा रोचक, शिक्षाप्रद एव मनोहर है। यहाँ पर कवि ने माता-पिता की वात्सल्य-भावना का बड़ा सुन्दर चित्रण किया है। बड़े करुणा पूर्ण शब्दों मे उनके दुर्योधन को युद्ध से रोकने पर भी वह उनकी एक नहीं सुनता। इस अवसर पर उन पर दया भी आती है और उनके प्रति सहानुभूति की भावना भी उत्पन्न होती है। इसी अवसर पर कर्ण की मृत्यु की सूचना आ जाती है। जिससे वातावरण और भी करुणा-पूर्ण हो जाता है और कर्ण के प्रति दुर्योधन के प्रेम की सच्ची झलक यहां पर दृष्टिगोचर होती है। कर्ण की मृत्यु का समाचार सुनकर चारो ओर निराशा ही निराशा दोखने पर भी वह किसी शर्त पर पाण्डवो के साथ सन्धि करने को तैयार नहीं है। इस प्रकार इस दृश्य मे दुर्योधन के चरित्र का वीरता-पूर्ण पहलू भी प्रकाश मे आता है।

इसके उपरान्त भीम और अर्जुन प्रवेश करते हैं और भीमसेन तथा दुर्योधन में कुछ कटु-शब्दों का आदान-प्रदान भी हो जाता है। परन्तु इस अवसर पर दुर्योधन और भीम एव अर्जुन का पारस्परिक सम्मेलन करा कर कवि किस भाव को दर्शाना चाहता है, यह बात कुछ स्पष्ट नहीं है। जैसा कि श्री गजेन्द्र

गदकर का भी विचार है, यह बहुत कुछ सम्भव है कि दुर्योधन को युद्ध-भूमि में न पाकर भीम और अर्जुन को कुछ सन्देह हो गया हो कि दुर्योधन भय के कारण कहीं जाकर छिप न जाए, इसलिये सम्भवतः दोनों ने उसे खोजना आरम्भ कर दिया हो।

इसके अतिरिक्त इस दृश्य के यहा पर रखने के विषय में श्री गजेन्द्र गदकर का एक और भी विचार है और वह बहुत कुछ सम्भव भी जान पड़ता है। उनका कथन है कि भीम, जो कि नाटक का नायक है, गत तीन अङ्कों में अनुपस्थित है। इसलिए यह सम्भव है कि दर्शक तीन अङ्को में अपने प्रधान नायक को रंगमञ्च पर न देखकर उसे देखने के लिये उत्कण्ठित हो उठें। इस लिये कवि ने इस अङ्क मे किसी न किसी बहाने से उसे रंगमञ्च पर लाना उचित समझ कर यह दृश्य प्रस्तुत किया है और उसके साथ अर्जुन का रंगमंच पर लाना इसलिये उपयुक्त समझा गया कि भीम के समान अर्जुन भी महाभारत-युद्ध का एक प्रधान पात्र है, बल्कि सच तो यह है कि महाभारत का युद्ध जीतने का विशेष श्रेय अर्जुन को ही है, इसलिये ऐसे वीर को देखने की दर्शकों की स्वाभाविक उत्सुकता को शान्त करने के लिए उसे भी किसी न किसी ढग से रंगमञ्च पर लाना आवश्यक समझ कर इस दृश्य मे भीमसेन के साथ अर्जुन को भी जोड़ दिया गया है।

इसके उपरान्त अश्वत्थामा रंगमञ्च पर प्रवेश करता है। अब कर्ण की मृत्यु हो जाने के कारण वह अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार महाभारत के युद्ध में शस्त्रग्रहण करने मे स्वतन्त्र है। इसलिये वह कौरवों की ओर से युद्ध में भाग लेने के लिए दुर्योधन के पास आता है। परन्तु दुर्योधन के लिए अपने दिवगत मित्र कर्ण के विषय में अशुभ कामना करने वाले व्यक्ति का स्वागत करना असम्भव है, इसलिए दुर्योधन से किसी प्रकार का स्वागत न पा कर वह वापिस चला जाता है।

इस दृश्य में लेखक ने कर्ण के प्रति दुर्योधन की गहरी मित्रता तथा निःस्वार्थ

प्रेम की भावना को बड़े सुन्दर ढंग से स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है। अश्वत्थामा जैसे महान् वीर का ऐसे संकट-काल में स्वागत न करने पर उसे (=दुर्योधन को) अपनी हानि स्पष्ट दिखाई दे रही है, परन्तु अपने दिवंगत मित्र के प्रति अपनी मित्रता के सामने वह हानि उसे सर्वथा तुच्छ जान पड़ती है। इसलिए वह अपने पिता धृतराष्ट्र के कहने पर भी अश्वत्थामा का स्वागत करने के लिए तैयार नहीं है। इस प्रकार इस दृश्य में लेखक ने दुर्योधन की कर्ण के प्रति सच्ची मित्रता को बड़े सुन्दर नाटकीय ढंग से दर्शाने का सफल प्रयत्न किया है। इसलिए इस दृश्य को किसी प्रकार भी व्यर्थ नहीं कहा जा सकता। इसकी विशेष महत्ता दुर्योधन की कुछ चारित्रिक विशेषताओं को प्रकाश में लाना ही कहा जा सकता है।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि यद्यपि इस अङ्क में आरम्भ से ही तीव्र गति दृष्टिगोचर होती है, परन्तु इस में प्रस्तुत विभिन्न दृश्यों में कोई शृङ्खला-विशेष नहीं है। यद्यपि निजी रूप में प्रत्येक का अपना-अपना महत्त्व है, परन्तु सब दृश्य परस्पर एक दूसरे से किसी प्रकार सम्बद्ध प्रतीत नहीं होते। यही एक कमी नाट्य-कला की दृष्टि से इस अङ्क में दृष्टिगोचर होती है।

छठे अङ्क में नाटकीय-क्रिया-कलाप बड़ी शीघ्रता के साथ समाप्ति की ओर अग्रसर हो रहा है। इस अङ्क में लेखक ने चार दृश्य प्रस्तुत किए हैं। प्रथम दृश्य में युधिष्ठिर दुर्योधन का पता लगाने के लिए सहदेव को विभिन्न साधन बताता है और इसी बीच में पाञ्चालक आकर दुर्योधन की खोज का समस्त वृत्तान्त सुनाता है। द्वितीय दृश्य में चार्वाक द्वारा भीम की मृत्यु की तथा अर्जुन के दुर्योधन के साथ गदा-युद्ध में व्यस्त होने की असत्य सूचना पा कर युधिष्ठिर तथा द्रौपदी के आत्महत्या के विचार का बड़े सुन्दर एवं रोचक नाटकीय ढंग से वर्णन किया गया है। तृतीय दृश्य में युधिष्ठिर का सहदेव एवं अर्जुन को अन्तिम सन्देश देकर अपने पूर्वजों तथा भीम को तिलोदक समर्पित करके मृत्यु की तैयारी का वर्णन किया गया है। चतुर्थ दृश्य में भीमसेन के द्वारा

अचानक प्रविष्ट होकर युधिष्ठिर एवं द्रौपदी के भ्रम को दूर करके द्रौपदी की वेणी बांधे जाने का बड़ी रोचकता के साथ वर्णन किया गया है।

इस अङ्क में लेखक ने आरम्भ में ही नाट्य-कला की दृष्टि से एक त्रुटि की है। उसने युधिष्ठिर एवं द्रौपदी के अचानक प्रवेश के साथ इसका आरम्भ कर दिया है। यदि वह इसके आरम्भ में एक छोटा-सा विष्कम्भक रखकर उस में भीम की नवीन प्रतिज्ञा और दुर्योधन के सरोवर में जाकर छिप जाने की सूचना दे देता, तो वह नाटकीय दृष्टि से अधिक रोचक रहता। युधिष्ठिर के भीम की नवीन प्रतिज्ञा की ओर संकेत-मात्र कर देने से पाठकों को न तो उस के वास्तविक स्वरूप का ही ज्ञान होता है और न उसमें नाटकीय कला की दृष्टि से कुछ रोचकता ही रहती है। इस प्रकार इस अङ्क के प्रथम दृश्य को विष्कम्भक का रूप देकर दर्शकों को भीम की प्रतिज्ञा का पूर्ण परिचय कराना अधिक उपयुक्त होता।

इसके बाद भीम द्वारा दुर्योधन के सरोवर से निकाले जाने पर उसे युद्ध के लिए ललकारने के दृश्य को लेखक ने बड़े सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है। भीम की दुर्योधन को युद्ध के लिये किसी भी पाण्डु-पुत्र को चुन लेने की चुनौती से जहाँ भीम की सच्ची वीरता की अभिव्यक्ति होती है वहाँ दुर्योधन की ओर से उसका उत्तर जानने के लिये दर्शकों या पाठकों की उत्सुकता भी बहुत बढ़ जाती है, क्योंकि यह एक तथ्य है कि यदि दुर्योधन भीम को छोड़कर किसी अन्य पाण्डु-पुत्र को युद्ध के लिए चुन लेता है तो पाण्डव-कुल लगभग नष्ट ही है। इसलिए पाठक या दर्शक उसके (= दुर्योधन के) उत्तर को जानने के लिए उतावले-से हो उठते हैं। इस अवसर पर दुर्योधन से भीम को चुनवा कर लेखक ने दुर्योधन के चरित्र को बहुत ऊँचा उठा दिया है और यह स्पष्ट कर दिया कि 'सिंह सिंह से ही अटकता है शृगाल से नहीं'।

इसके बाद चार्वाक तथा तिलोदक-दृश्य में युधिष्ठिर के भ्रातृ-प्रेम तथा द्रौपदी के पति-प्रेम के साथ-साथ कवि ने करुणा का मानों एक सजीव चित्र ही प्रस्तुत कर दिया है।

ऊपर दिए गए प्रत्येक अंक के विवेचन से यह स्पष्ट है कि जहाँ भट्ट-नारायण ने महाभारत-युद्ध की विस्तृत एवं विशृङ्खल कथा एक बहुत संक्षिप्त तथा सुसम्बद्ध नाटकीय रूप में प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है वहाँ इस में नाट्यकला की दृष्टि से कहीं-कहीं विशृङ्खलता तथा कुछ अन्य निम्नताएँ (= कमियाँ) अवश्य दृष्टिगोचर होती हैं जिनकी ओर पूर्वोक्त विवेचन में यत्र-तत्र संकेत कर दिया गया है।

Q. 6. Write a short note on the source of the play 'वेणीसंहार' and also show clearly whether the poet has introduced any new changes in the original story.

Ans. संस्कृत-साहित्य में रामायण एवं महाभारत ये दो ऐसे ग्रन्थ हैं जो आरम्भ से ही अनेक साहित्यिक कलाकारों के लिए प्रेरणा तथा स्फूर्ति के स्रोत रहे हैं। इन से स्फूर्ति पाकर अनेक साहित्यकार अतीत काल से अपने अनुपम ग्रन्थ-रत्नों से संस्कृत-साहित्य के भण्डार को भरते चले आ रहे हैं। महाकवि कालिदास एवं भवभूति जैसे कवि-शिरोमणियों ने इन्हीं ऐतिहासिक महाकाव्यों से स्फूर्ति पाकर हमें 'अभिज्ञान शाकुन्तल' तथा 'उत्तररामचरित' जैसे ग्रन्थ-रत्न प्रदान किये हैं। प्रायः समस्त कलाकारों ने इन महाकाव्यों के प्रधान कथानक के किसी एक अंश को लेकर या इन में वर्णित किसी एक छोटी-मोटी कहानी को लेकर ही अपने महाकाव्यों या नाटकों की रचना है। परन्तु भट्टनारायण ने महाभारत के समस्त प्रधान कथानक को ही अपना आधार बना कर 'वेणीसंहार' की रचना की है। उसने इस छोटे-से नाटक में 'उद्योग पर्व' से लेकर 'शान्ति पर्व' तक की समस्त कथा को संक्षेप में हमारे सामने रख दिया है। परन्तु जहाँ दूसरे कवियों के लिए किसी एक छोटी-सी कहानी या कथांश को अपने ग्रन्थ का आधार बनाकर अपनी प्रतिभा एवं कल्पना की सहायता से अनेक सुन्दर-सुन्दर मौलिक उद्भावनाएँ करके उसे एक सुन्दर एवं सुसज्जित ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत करने का विशेष अवसर सुलभ था वहाँ

महाभारत के समस्त कथानक के सर्व-परिचित होने के कारण भट्टनारायण के लिये कुछ मौलिक उद्भावना* करके उसे किसी अन्य रूप में प्रस्तुत करना सुगम कार्य न था। ऐसा करने पर मूल कथानक के विकृत होने की एवं विकृत कथानक के जनता द्वारा अधिक समादृत न होने की विशेष सम्भावना थी। इस तथ्य को सामने रखते हुए और 'वेणीसंहार' की रोचकता तथा सफलता को देखते हुए भट्टनारायण महाभारत के विस्तृत एवं विश्रृंखल कथानक को सुग्रथित तथा सुव्यवस्थित रूप में रखने के लिए और अपनी मौलिक उद्भावनाओं की सहायता से उसे रोचक रूप देने के लिये अवश्य ही प्रशंसा तथा बधाई के पात्र हैं। उन्हों ने इस नाटक में एक नहीं अनेक मौलिक उद्भावनाओं (=Original Changes) की सृष्टि की है जिन से यह नाटक बड़ा रोचक तथा सफल बन सका। कोई-कोई उद्भावना तो इतनी सुन्दर, सफल तथा प्रभावपूर्ण बन पड़ी है कि उस के विषय में आज लोग प्रायः यह भूल गए हैं कि यह भट्टनारायण के मस्तिष्क की कल्पना है; प्रत्युत उनका साधारणतया यह विचार बन गया है, यह महाभारतकार की ही कल्पना है। अब हम नीचे कुछ उन प्रसिद्ध-प्रसिद्ध उद्भावनाओं की ओर, जो कि भट्टनारायण ने इस नाटक में की हैं, संक्षेप से संकेत करने का यत्न करेंगे।

सर्व-प्रथम और सब से महत्त्व-पूर्ण उद्भावना जो भट्टनारायण ने इस नाटक में की है वह है जिस पर इस नाटक का शीर्षक आधारित है। जैसा कि इस नाटक के शीर्षक की, अर्थात् 'वेणीसंहार' इस शब्द की, व्याख्या करते हुए हम पहले ही कह चुके हैं, भीम ने दुःशासन तथा दुर्योधन द्वारा द्रौपदी के अपमान से दुःखित होकर दुःशासन को मार कर उसका रुधिर पीने तथा दुर्योधन को मार कर उसके रुधिर से द्रौपदी की वेणी को रञ्जित करके स्वयं अपने हाथ से बांधने की प्रतिज्ञा की थी। परन्तु भीम की इस प्रतिज्ञा का महाभारत में कहीं पर भी वर्णन नहीं मिलता[1]। वहाँ दुर्योधन की जङ्घा विदीर्ण करने की प्रतिज्ञा

---

१. द्र. G. Intro.

का वर्णन अवश्य मिलता है। भीम की यह प्रतिज्ञा भट्टनारायण के मस्तिष्क की कल्पना-मात्र है और यह प्रतिज्ञा इतनी प्रसिद्ध हो गई है कि आज बहुत से लोग इसे महाभारत में वर्णित समझते हैं।

प्रथम अङ्क में भट्टनारायण ने एक-दो छोटी-मोटी ऐसी कल्पनाएँ की हैं जो महाभारत की मूल-कथा में उपलब्ध नहीं है। महाभारत की मूल-कथा में सन्धि का प्रस्ताव लेकर पहले सञ्जय को भेजा गया है। उसके असफल रहने पर युधिष्ठिर भगवान् कृष्ण को भेजकर दुर्योधन से सन्धि करने का अन्तिम प्रयास करते हैं। परन्तु यहाँ पर भट्टनारायण ने सञ्जय के जाने की ओर संकेत भी नहीं किया, भगवान् कृष्ण के जाने-मात्र का ही वर्णन किया है। सम्भव है, उसने सञ्जय के व्यक्तित्व को विशेष महत्त्व-पूर्ण न समझकर छोड़ दिया है और केवल कृष्ण को ही भेजकर युधिष्ठिर की शान्तिप्रियता का प्रदर्शन करने के अपने अभीष्ट को सिद्ध कर लिया है। इसके अतिरिक्त प्रथम अङ्क में दुर्योधन के भगवान् कृष्ण को बंदी बनाने के प्रयास का भगवान् कृष्ण द्वारा विश्वरूप दिखा कर विफल किया जाना भट्टनारायण द्वारा मूल कथा में किया गया एक परिवर्तन ही है। 'महाभारत' में इसका वर्णन दूसरे ही ढंग से मिलता है। वहाँ पर दुर्योधन ने षड्‌यन्त्र तो रचा है, परन्तु उसका भेद खुल जाने पर धृतराष्ट्र उसे बहुत फटकाते हैं।

द्वितीय अङ्क भट्टनारायण की कल्पना-सृष्टि का एक परिणाम ही कहा जा सकता है। महाभारत में भानुमती के दृश्य की ओर कोई संकेत नहीं किया गया। इसलिए इस समस्त अङ्क को भट्टनारायण की मौलिक उद्भावना ही कह सकते हैं जो कि उसने दुर्योधन तथा उसकी धर्मपत्नी की चारित्रिक विशेषताओं को प्रकाश में लाने के लिए ही की है।

तृतीय अङ्क का प्रवेशक भट्टनारायण की अपनी कल्पना है। इस की उद्भावना, जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, लेखक ने भीमसेन को दुःशासन के रुधिर-पान की प्रतिज्ञा के सम्बन्ध में मानव-रुधिर-पान के दोष से

युक्त करने की दृष्टि से ही की प्रतीत होती है। इसके उपरान्त इस अङ्क में लेखक ने मूल कथा में थोड़ा-सा परिवर्तन करके इसके कथानक को पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है। मूल कथा में द्रोणाचार्य की मृत्यु से पूर्व ही कर्ण के किसी अवसर पर अभिमान-पूर्ण शब्दों में पाण्डवों को मारने का दृढ विचार व्यक्त करने पर कृपाचार्य ने परिहास-पूर्ण शब्दों यह कह दिया कि पाण्डवों से लड़ने के अवसर तो बहुत आए हैं परन्तु वह (=कर्ण) कुछ कर ही नहीं सका। इन शब्दों को सुनकर कर्ण ने घोषणा की कि यदि कृप ने इस प्रकार के शब्द पुनः कहने का साहस किया तो वह उसकी जिह्वा काट डालेगा। अपने मामा के इस अपमान को देखकर अश्वत्थामा नङ्गी तलवार हाथ में लेकर कर्ण की ओर झपटे, परन्तु दुर्योधन और कृप ने किसी प्रकार दोनों को शान्त किया। यहाँ पर इस घटना को द्रोणाचार्य की मृत्यु की बाद दिखाया गया है और साथ ही कृपाचार्य का इससे किसी प्रकार का सम्बन्ध प्रदर्शित नहीं किया गया, प्रत्युत कर्ण के अश्वत्मामा के लिये कुछ अपमान-पूर्ण शब्दों के प्रयुक्त करने पर ही यह घटना उपस्थित होती है। कर्ण और अश्वत्थामा के चरित्र की अभिव्यक्ति की दृष्टि से यह उद्भावना बड़ी ही महत्त्व-पूर्ण है।

चतुर्थ अङ्क में मूल कथा का ही अनुसरण किया गया है। कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया गया।

पंचम अङ्क कवि की अद्भुत कल्पना-शक्ति का फल है जो कि धृतराष्ट्र एवं गान्धारी की वात्सल्य भावना, दुर्योधन का अपने दिवंगत मित्र कर्ण के प्रति अनुपम प्रेम तथा अश्वत्थामा के आत्माभिमान की अभिव्यक्ति की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है।

छठे अङ्क में लेखक ने लगभग मूल कथा का ही अनुसरण किया है। एक-दो स्थानों पर कुछ नवीन मौलिक कल्पनाएँ की हैं जिन से कथानक में और भी रोचकता आ गई है। सब से पहले इस अङ्क के आरम्भ में ही युधिष्ठिर द्वारा भीमसेन की इस नई प्रतिज्ञा की सूचना कि 'यदि वह (=भीम) आज ही दुर्योधन को न मार सका तो आत्म-हत्या कर लेगा', भीमसेन के

वीरता-पूर्ण चरित्र की अभिव्यक्ति के लिए बहुत महत्त्व-पूर्ण है।

इसके उपरान्त दुर्योधन के सरोवर में जाकर छिप जाने पर उसके खोजने एवं बाहर आने के वर्णन में भी मूलकथा में कुछ परिवर्तन करके लेखक ने उसे यहाँ पर प्रस्तुत किया है। मूलकथा में दुर्योधन के सरोवर में चले जाने पर कुछ शिकारियों ने कृपाचार्य, कृतवर्मा और अश्वत्थामा को उससे बात करते हुए सुना और इस बात की सूचना उन्होंने आकर भीमसेन को दी और उस ने महाराज युधिष्ठिर को समस्त वृत्तान्त सुनाया। इसके उपरान्त महाराज युधिष्ठिर ने उसे सरोवर में ललकारा और बाहर आने के लिए बाधित किया। परन्तु इस नाटक में भट्टनारायण ने यह कार्य भीमसेन से कराया है। इस स्थान पर लेखक द्वारा किया हुआ यह परिवर्तन नाटकीय दृष्टि से बड़ा रोचक एवं उपयुक्त है क्योंकि अन्त में भीमसेन के साथ ही दुर्योधन का युद्ध होने के कारण उसी के (=भीम के) द्वारा ललकार दिलवाना अधिक रुचिकर एवं युक्ति-युक्त प्रतीत होता है।

अन्त में चार्वाक का दृश्य कवि की बड़ी सुन्दर एवं युधिष्ठिर तथा द्रौपदी के चरित्र की अभिव्यक्ति के लिए बहुत महत्त्व-पूर्ण कल्पना है। यद्यपि महा-भारत की मूलकथा में भी चार्वाक आता है, परन्तु वहाँ पर वह महाराज युधिष्ठिर के एक विजयी सम्राट् के रूप में हस्तिनापुर में प्रवेश के समय अनेक ब्राह्मणों के उन्हें बधाई देने के लिए आने पर एक ब्राह्मण के रूप में प्रवेश करता है और महाराज युधिष्ठिर को अपनी वंश-परम्परा का उन्मूलक कह कर उनका अपमान करता है। इसपर समस्त ब्राह्मण बड़ा आश्चर्य करते हैं और अन्त में वहीं पर उसकी जीवन-लीला समाप्त कर देते हैं। परन्तु यहां पर वह युधिष्ठिर और द्रौपदी को ठगने की दृष्टि से एक मुनि के वेश में आता है और अन्त में कुमार सहदेव के द्वारा बन्दी बना लिया जाता है।

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, चार्वाक-दृश्य को इस प्रकार परिवर्तित रूप में प्रस्तुत करने में लेखक का उद्देश्य युधिष्ठिर के भ्रातृ-प्रेम तथा द्रौपदी के पति-प्रेम की अभिव्यक्ति करना है और यह कार्य इस दृश्य द्वारा

बड़े सुन्दर ढंग से सम्पन्न हुआ है और साथ ही करुणा-रस की अभिव्यक्ति भी बड़ी सुन्दर बन पड़ी है।

इस प्रकार ऊपर के विवेचन के आधार पर यह दृढ़ता के साथ कहा जा सकता है कि यद्यपि इस नाटक का कथानक महाभारत की सर्व-परिचित कथा पर आधारित है, परन्तु उस विशृंखल एवं बहुत विस्तृत कथा को सुन्दर, सुसम्बद्ध और संक्षिप्त रूप में यत्र-तत्र अनेक मौलिक उद्भावनाओं तथा रोचक एवं उपयुक्त परिवर्तनों के साथ प्रस्तुत करके भट्टनारायण ने अपने नाट्य-कला-कौशल तथा मौलिकता का बड़ा सुन्दर परिचय दिया है।

Q. 7. What do you consider to be the chief sentiment (=रस) in this drama.

Ans. साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के अनुसार नाटक में शृङ्गार या वीर इन दोनों रसों में से कोई एक रस ही प्रधान होता है और शेष रस अप्रधान रूप से आ सकते हैं। उन का कथन है—

> एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा।
> अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कार्यो निर्वहणेऽद्भुतः॥

अर्थात्—

"नाटक में शृङ्गार या वीर एक रस ही अङ्गी, अर्थात् प्रधान होता है। शेष सब रस अङ्ग, अर्थात् अप्रधान, होते हैं और निर्वहण सन्धि में, अर्थात् उपसंहार में, अद्भुत रस होना चाहिये, अर्थात् नाटक का उपसंहार बड़े अद्भुत ढंग से होना चाहिये।"

परन्तु इस सिद्धान्त को अन्तिम मान लेने पर उन नाटकों के विषय में, जिन में शृङ्गार या वीर रस को छोड़कर अन्य किसी रस की प्रधानता है, एक समस्या खड़ी हो जाएगी। या तो उन में भी खींच-तान करके इन्हीं दोनों रसों में से किसी एक की प्रधानता सिद्ध करनी होगी या उन्हें नाट्य-शास्त्र के नियमों के विरुद्ध मानना होगा। ऐसी स्थिति में कवि-शिरोमणि भवभूति के

'उत्तररामचरित' में भी यही समस्या होगी। या तो हमें उसमें भी शृङ्गार या वीर इन दोनों रसों में से किसी एक की किसी न किसी प्रकार प्रधानता सिद्ध करनी होगी, जो कि कवि की आत्मा के साथ अन्याय होगी और या 'उत्तरराम-चरित' को नाट्य-शास्त्र के नियमों के विरुद्ध मानना होगा। परन्तु भवभूति जैसे कवि की कृति के विषय में यह सोचना भी सम्भवतः एक बड़ी भारी भूल होगी। इसलिये हमें ऐसी स्थिति में नियम के शब्दों की ओर विशेष ध्यान न देकर उनके अन्दर निहित लेखक के भावार्थ को समझने की चेष्टा करनी चाहिये[1] और इस दृष्टि से देखने पर पूर्वोक्त नियम में आचार्य विश्वनाथ का यही तात्पर्य ज्ञात होता है कि नाटक में एक रस ही प्रधान होता है और वह प्रायः शृङ्गार या वीर होना चाहिए। दूसरा कोई रस प्रधान हो ही नहीं सकता—यह सम्भवतः यहाँ पर विश्वनाथ का तात्पर्य नहीं है। इसी लिये आनन्दवर्धना-चार्य ने ध्वन्यालोक में किसी भी एक रस की प्रधानता स्वीकार की है[2]।

इस प्रकार नाटक में किसी भी एक की प्रधानता के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने पर जब हम 'वेणीसंहार' की ओर देखते हैं तो इस में हमें वीर, शृङ्गार करुण और बीभत्स इन चारों रसों में, जिन का इस नाटक में प्रतिपादन किया गया है, करुण रस की ही प्रधानता अभिलक्षित होती है। नाटक के प्रत्येक अङ्क में इस रस की बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति की गई है। अन्य रस सब गौण हैं। वीर रस की अभिव्यक्ति विशेष रूप से प्रथम अङ्क में क्रोधाविष्ट भीमसेन के शब्दों से होती है। परन्तु वहाँ पर भी जब हम यह देखते हैं कि भीमसेन शक्ति होते हुए भी युधिष्ठिर की अनिच्छा के कारण द्रौपदी के तिरस्कार का प्रतिशोध नहीं कर सकता तो द्रौपदी की दयनीय दशा पर हमें दया आती है और इस प्रकार वहां पर करुणा की भावना और भी प्रबल हो उठती है। इस अङ्क में द्रौपदी से भीमसेन की विदाई के समय तो एक बड़ा

---

१. तु. G. Intro. P. 72.

२. 'प्रसिद्धेऽपि प्रबन्धानां नानारसनिबन्धने।
एको रसोऽङ्गी कर्तव्यस्तेषामुत्कर्षमिच्छता॥'

करुणा-पूर्ण दृश्य उपस्थित होता है। द्वितीय अंक में प्रधानता यद्यपि शृंगार की झीख पड़ती है परन्तु वहां पर भी दुःस्वप्न के कारण चिन्तित हुई भानुमती की अपने पति के प्रति बड़ी कर्तव्य-पूर्ण मनोभावना का चित्रण होने के कारण बड़ा दयनीय एवं करुणा-मय वातावरण उपस्थित हो गया है। तृतीय अंक में करुण और वीर दोनों रसों का समान रूप से चित्रण किया गया है। अश्वत्थामा को अपने पिता द्रोण की मृत्यु की सूचना मिलने पर उस के विलाप से करुण रस की सुन्दर अभिव्यक्ति होती है। इसके उपरान्त कर्ण के साथ उस का झगड़ा होने पर दोनों ओर से आवेश-मय वीरता-पूर्ण कटु शब्दों के प्रयोग से वीर रस की भी सुन्दर अभिव्यक्ति होती है। इस अङ्क के (तृतीय अंक के) प्रवेशक में वसागन्धा तथा रुधिरप्रिय के पारस्परिक सम्भाषण और युद्धक्षेत्र में मानव-रुधिर-पान आदि से बीभत्स दृश्य भी बड़े भयंकर रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसके बाद चतुर्थ अङ्क में दुर्योधन की दयनीय दशा तथा सुन्दरक द्वारा कर्ण के पुत्र वृषसेन की मृत्यु की सूचना पाकर दुर्योधन के हार्दिक उद्गार आदि से करुण रस की ही अभिव्यक्ति होती है। पञ्चम अंक के आरम्भ में ही धृतराष्ट्र तथा गान्धारी के अपने पुत्र दुर्योधन की दशा के विषय में व्यक्त किए गए हृदय-द्रावक उद्गारों को पढ़कर पाठक करुण रस में ओत-प्रोत हो जाता है। षष्ठ अंक में चार्वाक द्वारा युधिष्ठिर तथा द्रौपदी को भीम की मृत्यु, एवं अर्जुन के दुर्योधन के साथ गदा-युद्ध में व्यस्त होने की असत्य सूचना मिलने पर उन दोनों का आत्म-हत्या के लिए तत्पर होना, अपने पूर्वजों को तथा भीम को तिलोदक देना और सहदेव एवं अर्जुन के लिए कञ्चुकी को अपना अन्तिम सन्देश देना इत्यादि समस्त दृश्य अत्यन्त हृदय-द्रावक एवं करुणा-पूर्ण हैं। इन सब में करुण रस की बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है।

इस प्रकार ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि इस नाटक में करुण रस ही प्रधान या अङ्गी कहा जा सकता है। शेष शृङ्गार, वीरता या बीभत्स—इन तीन रसों का अङ्ग की तरह ही वर्णन किया गया है।

Q. 8. Write a short note on भट्टनारायण as a dramatist.

Ans. यद्यपि महाकवि कालिदास एवं भवभूति का-सा नाट्य-कला-सौन्दर्य तो भट्टनारायण में उपलब्ध नहीं है तथापि महाभारत की कथा तथा उसके पात्रों के जनता में पहले से ही पर्याप्त प्रसिद्ध होने से वह भी (=भट्टनारायण भी) अपने 'वेणीसंहार' के कारण, जो प्रधान रूप से 'महाभारत' की कथा पर ही आधारित है, संस्कृत-साहित्य में एक नाटककार के रूप में कुछ कम प्रसिद्ध नहीं है।

चरित्र-चित्रण एवं रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से भट्टनारायण ने 'वेणीसंहार' में उत्कृष्ट नाट्य-कला का परिचय दिया है। उसके पात्र सजीव एवं स्फूर्तिमय हैं। उनमें गति है। वह काष्ठवत् एक स्थान पर ही पड़े हुए या खड़े नहीं रहते। उनमें हल-चल है। जीवन में संघर्ष करने की शक्ति है। वे पाषाणवत् कठोर, निर्दय या हृदय-शून्य नहीं हैं। उनमें परिस्थिति के अनुसार कठोरता, कोमलता, प्रेम सहानुभूति एवं सहनशीलता आदि वे सभी गुण उपलब्ध हैं जो मानव को वस्तुतः मानव बनाते हैं। उसने कहीं पर भी अपने पात्रों को देवता बनाने की चेष्टा नहीं की। उसके पात्रों में मानव-सुलभ समस्त गुण-दोष उपलब्ध हैं। यहां तक कि युधिष्ठिर भी, जिन्हें हम अजातशत्रु एवं धर्मावतार कहते हैं, मानव की दुर्बलताओं से मुक्त नहीं है। मुनिवेशधारी चार्वाक राक्षस से भीम की दुर्योधन द्वारा मृत्यु एवं अर्जुन के उसके (=दुर्योधन के) साथ गदायुद्ध में व्यस्त होने के समाचार को पाकर वह भ्रातृ-वियोग-जन्य दुःख को सहन नहीं कर सकते और अपने पूर्वजों को तिलोदक देकर चिता पर आरूढ होने का दृढ विचार कर लेते हैं। इतना ही नहीं, वह शोकाकुल अवस्था में एक साधारण मनुष्य की भांति विक्षिप्तचित्त होकर भीम को ही दुर्योधन समझने लगते हैं और उस मानसिक विक्षिप्त अवस्था में भी उससे युद्ध करने केलिये उद्यत होकर सच्चे क्षत्रियत्व एवं पुरुषत्व का परिचय देते हैं।

इसी प्रकार जब हम नाटक के नायक भीमसेन के चित्र को देखते हैं तो उसमें भी जीवन केलिये संघर्ष ही संघर्ष का संदेश भरा पड़ा है। नाटक के

प्रारम्भ में ही इस बात का पता लगने पर कि महाराज युधिष्ठिर ने पांच गांवों की शर्त पर दुर्योधन के पास भगवान् कृष्ण के द्वारा सन्धि का प्रस्ताव भेजा है, वह आवेश में आकर शतानुज दुर्योधन के वध करने तक युधिष्ठिर को अपना अग्रज एवं अपने आप को उनका आज्ञाकारी अनुज मानने से निषेध कर देता है। इससे स्पष्ट है कि वह जीवन में आत्म-सम्मान की बलि देकर किसी शर्त पर भी शत्रु से सन्धि करने केलिये तत्पर नहीं है। द्रौपदी के उन्मुक्त केशपाश तथा उसके नेत्रों में छलकते हुए अश्रु-वेग को देखकर उस की क्रोध-ज्वाला और भी उद्दीप्त हो उठती है और वह दुःशासन का रक्त-पान करके तथा दुर्योधन को यमपुर पहुँचा कर ही शान्त होती है। प्रतिज्ञा पूर्ण होने तक उसे क्षण भर के लिए भी शांति नहीं होती। इस प्रकार उसके चरित्र में एक आदर्श क्षत्रियत्व की बड़ी स्पष्ट झलक दीख पड़ती है।

इसी प्रकार द्रौपदी के चरित्र में भी जहां एक ओर सच्ची आदर्श क्षत्रिय-वीराङ्गना का चरित्र झलकता है वहाँ स्त्री-स्वभाव-सुलभ कोमलता की भी उसमें कमी नहीं है। चार्वाक द्वारा अपने प्राण-प्रिय पति भीम के निधन की असत्य सूचना मिलते ही वह एक प्राचीन आदर्श नारी की भांति प्राण-त्याग करने केलिये तत्पर हो जाती है।

भानुमती के चरित्र में स्त्री-सुलभ कोमल भावनाओं की बड़ी सुन्दर झलक दीख पड़ती है। वह दुःस्वप्न दीखने पर अपने पति के लिये चिन्तित हो उठती है और उसका प्रतीकार करने के लिये तुरन्त देवताराधन में लीन हो जाती है। चिन्तित अवस्था में भी उसमें क्रियाशीलता है। वह निराशा का शिकार नहीं बनती।

दुर्योधन के चरित्र में मानव की दुर्बलताओं का चित्रण करना ही लेखक को विशेष अभीष्ट प्रतीत होता है। यहां तक कि युद्ध में वीरता प्रदर्शित करने पर महारथियों को बधाई देने के लिए जाते समय भी वह अपनी प्रियतमा भानुमती से मिले बिना नहीं रह सकता। भानुमती के दुःस्वप्न का प्रतीकार करने के लिए देवताराधन में लीन होने पर भी उसे प्रेम-विलास ही सूझता है।

परन्तु चारों ओर विपत्ति के बादल छा जाने पर भी वह निराश नहीं होता। परिस्थिति से संघर्ष करने के लिये प्रतिक्षण प्रस्तुत रहता है। अर्जुन की जयद्रथ को मारने की प्रतिज्ञा के विषय में उसकी माता से समाचार पाकर वह तुरन्त रणभूमि की ओर चल देता है। कर्ण का वध हो जाने पर अश्वत्थामा के स्वयं उसके पास युद्ध में पाण्डवों के विरुद्ध उसकी सहायता के लिए आने पर भी वह दिवंगत कर्ण के प्रति अपनी मित्रता को निभाने के लिए ही उसका स्वागत नहीं करता। मित्रता का यह आदर्श सम्भवतः और कहीं उपलब्ध न हो सके। वीरत्व की भावना भी उस में कम नहीं है। पांचों पाण्डवों में से किसी एक को युद्ध के लिए चुनने की भीम द्वारा उसे चुनौती दिये जाने पर भी वह गदा-युद्ध के लिये नकुल, सहदेव, युधिष्ठिर या अर्जुन को नहीं चुनता प्रत्युत 'सिंह सिंह से ही टक्कर लेता है' इस साधारण कहावत के अनुसार भीम पर ही उसकी दृष्टि जाती है। यद्यपि भीम को छोड़कर किसी अन्य पाण्डव को चुनने पर कौरवों की विजय निश्चित थी, परन्तु दुर्योधन एक सच्चा क्षत्रिय होने के नाते हार या जीत की अपेक्षा आदर्श क्षत्रियत्व की भावना को ही विशेष महत्व देता है। संक्षेपतः आरम्भ से अन्त तक उसके चरित्र में प्रेम, स्वाभिमान सख्यभाव तथा संघर्ष आदि की मानवीय भावनाओं का बड़ा सुन्दर सम्मिश्रण उपलब्ध है।

इस प्रकार ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि भट्टनारायण ने इस नाटक में चरित्र-चित्रण की दृष्टि से बड़ी सिद्धहस्तता एवं कला का परिचय दिया है। उसका प्रत्येक पात्र, जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, जीवन में संघर्ष एवं गतिशीलता का सन्देश लिए हुए है। इतना ही नहीं, उसका प्रत्येक पात्र किसी न किसी सांस्कृतिक आदर्श की प्रेरणा भी देता है।

रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से भी भट्टनारायण ने उच्च कोटि की नाट्य-कला का परिचय दिया है संस्कृत-साहित्य में रस को काव्य की आत्मा स्वीकार किया गया है और कवि का कौशल इस बात में माना जाता है कि काव्य या नाटक में किसी एक रस की प्रधानता होते हुए भी विभिन्न रसों का प्रतिपादन

प्रधान रस के अङ्ग के रूप में बड़े रोचक ढंग से किया जाए । इस दृष्टि से 'वेणीसंहार' की ओर देखने पर हमें स्पष्ट ही इसमें लेखक का कला-नैपुण्य दृष्टि-गोचर होता है । इस नाटक में वीर, शृङ्गार, करुण और बीभत्स इन चारों रसों में, जिनका प्रतिपादन यहां पर किया गया है, करुण रस की सुन्दर अभिव्यक्ति के साथ पूर्वोक्त तीन रसों में से कोई न कोई उस के अङ्ग, अर्थात् पोषक के रूप में बड़े सुचारु रूप में अभिव्यक्त हुआ है । प्रथम अंक में करुण रस के साथ-साथ वीररस की अभिव्यक्ति विशेष रूप से हुई है। द्रौपदी की दयनीय दशा पर जहां हमें दया आती है और हमारे हृदय में करुणा का संचार होता है वहां भीमसेन के क्रोधावेश को देख कर हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं । इसी प्रकार द्वितीय अंक में प्रधान रस करुण के साथ-साथ शृङ्गार रस की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है । वहां पर जहां दुःस्वप्न से चिन्तित भानुमती की अपने पति के प्रति कर्तव्य-पूर्ण मनो-भावना के चित्रण से बड़ा ही दयनीय एवं करुणा-मय वातावरण उपस्थित हो जाता है वहां दुर्योधन के भानुमती के प्रति प्रेम-पूर्ण उद्‌गार भी हृदय को तरंगित करने वाले हैं । तृतीय अंक में करुण एवं वीर दोनों रसों का समान रूप से सुन्दर चित्रण किया है। जहां अश्वत्थामा को अपने पिता द्रोण की मृत्यु की सूचना मिलने पर उसके विलाप से करुण रस की सुन्दर अभिव्यक्ति होती है वहां कुछ ही क्षणों के उपरान्त कर्ण के साथ उसका झगड़ा होने पर दोनों ओर से आवेशमय वीरता-पूर्ण कटु शब्दों के प्रयोग से वीर रस भी बड़े रोचक एवं सुचारु ढंग से व्यक्त किया गया है । इस अंक के प्रवेशक में वसागन्धा तथा रुधिरप्रिय के पारस्परिक सम्भाषण तथा युद्धक्षेत्र में मानव-रुधिर-पान आदि बीभत्स दृश्य भी बड़े भयंकर रूप में प्रस्तुत किया गया है । इसके उपरान्त चतुर्थ, पंचम तथा षष्ठ इन तीनों अङ्कों में करुण रस की बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है ।

इस प्रकार ऊपर के संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट है कि इस नाटक में लेखक ने प्रधान करुण रस के साथ-साथ अन्य तीन अर्थात् वीर, बीभत्स तथा शृङ्गार,

रसों की भी बड़ी सुन्दर झलक प्रस्तुत की है जिससे प्रधान रस की किसी न किसी रूप में पुष्टि ही होती है।

अब हम वस्तु-ग्रथन (Construction of the plot) की दृष्टि से भी 'वेणीसंहार' के विषय में कुछ विचार करेंगे। नाटक की सफलता के लिये जहाँ सुन्दर चरित्र-चित्रण तथा रोचक रसाभिव्यक्ति अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण है वहाँ सफल वस्तु-ग्रथन भी नाट्य-कला का एक प्रधान एवं आवश्यक पहलू है। इस दृष्टि से देखने पर यह मानना पड़ेगा कि भट्टनारायण को इस विषय में (=वस्तु-ग्रथन मे) सफलता नही मिल सकी। नाटककार को नाटक के विभिन्न दृश्यों को इस प्रकार से चित्रित करना चाहिये कि वे एक दूसरे के साथ गुथ जाये। उनमे किसी प्रकार की शिथिलता या विशृङ्खलता नही होनी चाहिये। परन्तु 'वेणीसंहार' मे यह दोष विशेष मात्रा मे उपलब्ध है। दूसरे और तीसरे अङ्क में वर्णित दृश्य यद्यपि अपने आप मे पर्याप्त रोचक हैं परन्तु उन मे परस्पर कोई सम्बन्ध प्रतीत नही होता। दुर्योधन एवं भानुमती के प्रेम का दृश्य तथा अश्वत्थामा का अपने पिता की मृत्यु पर करुण विलाप एवं कर्ण तथा अश्वत्थामा का परस्पर झगड़ा इत्यादि समस्त दृश्य एक दूसरे से असम्बद्ध है। इनका परस्पर कोई सम्बन्ध प्रतीत नही होता। इसी प्रकार चतुर्थ अङ्क मे सुन्दरक के लम्बे-लम्बे वर्णनो के अतिरिक्त और कुछ भी नही है और इन वर्णनो का प्रधान कथानक से कुछ सम्बन्ध विशेष भी लक्षित नहा होता, प्रत्युत ये वर्णन नाटकीय क्रिया-कलाप के प्रवाह मे बाधक ही हैं। पञ्चम अङ्क मे धृतराष्ट्र और गान्धारी का दुर्योधन से मिलने का दृश्य नाटकीय दृष्टि से कोई महत्त्व-पूर्ण नही है और प्रधान कथानक से उसका कोई सम्बन्ध-विशेष भी प्रतीत नहा होता। छठे अङ्क मे चार्वाक के आगमन का दृश्य भी प्रधान कथानक से सुसम्बद्ध प्रतीत नही होता। वह केवल युधिष्ठिर का भ्रातृ-प्रेम तथा द्रौपदी का पति-प्रेम व्यक्त करने के लिए ही रखा गया है।

इस प्रकार ऊपर के संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि वस्तु-ग्रथन की दृष्टि से भट्टनारायण एक सफल कलाकार नही कहा जा सकता।

इसके अतिरिक्त भट्टनारायण में कहीं-कहीं अनुपात की भी कमी दृष्टिगोचर होती है। एक सिद्धहस्त नाटककार को नायक तथा नायिका का चरित्र अन्य पात्रों के चरित्र की अपेक्षा विशेष सावधानी से चित्रित करना चाहिये। परन्तु यहाँ पर लेखक ने दुर्योधन तथा भानुमती का चरित्र नायक भीम तथा नायिका द्रौपदी के चरित्र की अपेक्षा विशेष ध्यान से चित्रित किया है। नाटक मे नायक तथा नायिका को लगातार तीन अङ्को मे अनुपस्थित करना एक बड़ा भारी दोष है जिसे अनुपात-हीनता ही कहा जा सकता है। प्रस्तुत नाटक में दूसरे अङ्क से लेकर चतुर्थ अङ्क तक भीम तथा द्रौपदी के कहीं पर भी दर्शन नही होते जो बड़ी अनुचित तथा पाठक के लिये बड़ी खटकने वाली बात है। चरित्र-चित्रण के अतिरिक्त इस नाटक मे वर्णनो मे भी कहीं-कहीं अनुपात-हीनता पाई जाती है। चतुर्थ अङ्क में सुन्दरक के प्रारम्भिक भाषण में किए गए युद्ध के विस्तृत एवं आलकारिक वर्णन को एक साधारण सैनिक से आशा नही की जा सकती। उसके मुख से युद्ध का इस प्रकार का वर्णन करा कर लेखक ने अपनी अनुपात-हीनता का ही प्रदर्शन किया है।

अन्त में रङ्ग-मञ्च-निर्देशन (Stage direction) की ओर भी कुछ संकेत करना आवश्यक जान पड़ता है। इस कला में भट्टनारायण बड़ा चतुर दीख पड़ता है। उसने रङ्ग-मञ्च पर विभिन्न दृश्यो के प्रदर्शन तथा पात्रों के आगमन एवं निर्गमन की व्यवस्था बड़े सुन्दर ढंग से की है। कभी-कभी रङ्ग-मञ्च पर इस प्रकार की स्थिति भी उत्पन्न हो गई है कि एक-दो पात्र पहले से ही वहाँ पर शान्त भाव से विचार मे लीन हुए खड़े हुये हैं और इसी बीच में एक दो पात्र और आ जाते हैं। ऐसी स्थिति मे पहले पात्रो का मञ्च पर चुपचाप गड़े रहना और वहीं पर दूसरे पात्रो का आकर वार्तालाप करने लगना और उन सब पात्रो का परस्पर एक दूसरे को बिलकुल न देखना अस्वाभाविक-सा लगता है। परन्तु भट्टनारायण ने ऐसे समय पर पहले पात्रों को भावावेश की स्थिति मे आकाश की ओर मुंह करके खड़ा किया है और फिर अन्य पात्रों का प्रवेश कराया है। इस प्रकार पहले पात्रों के भावावेश

दशा में आकाश की ओर मुँह करके खड़े रहने के कारण उनकी दृष्टि आने वाले पात्रों की ओर स्वभावतः नहीं पड़ सकती और इस तरह रङ्ग-मञ्च पर होने वाले अभिनय में अस्वाभाविकता नही आने पाती। प्रथम अङ्क सहदेव के साथ भीम के कोपाविष्ट दशा में रङ्ग-मञ्च पर खड़े हुए द्रौपदी एवं उसकी सखी के प्रवेश करने पर ऐसी ही स्थिति उत्पन्न हो जाती है। वहाँ पर भट्टनारायण ने इसी प्रकार अस्वाभाविकता को हटाने का सफल प्रयास किया है।

इस प्रकार ऊपर के संक्षिप्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भट्टनारायण ने 'वेणीसंहार' मे वस्तु-ग्रथन एवं अनुपात मे अवश्य ही यत्र-तत्र कुछ शिथिलता दिखाई है परन्तु नाटक के अन्य पहलुओं की दृष्टि से, अर्थात् चरित्र-चित्रण, रसाऽभिव्यक्ति तथा रङ्ग-मञ्च-निर्देशन आदि की दृष्टि से, वह एक सिद्ध-हस्त एवं सफल नाटककार कहा जा सकता है।

Q. 9. Write a brief note on the literary style (= रीति) of भट्टनारायण।

An. संस्कृत-साहित्य में रीति का एक विशिष्ट स्थान है। आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण मे 'रीति' की परिभाषा तथा भेद निम्न-प्रकार से प्रदर्शित किये हैं—

पदसंघटना रीतिरङ्गसंस्थानविशेषवत्।
उपकर्त्री रसादीनां सा पुनः स्याच्चतुर्विधा॥
वैदर्भी चाथ गौडी च पाञ्चाली लाटिका तथा।
माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैः रचना ललितात्मिका॥
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते।
ओजः प्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः॥
समासबहुला गौडी वर्णैः शेषैः पुनर्द्वयोः।
समस्तपञ्चषपदो बन्धः पाञ्चालिका मता॥
लाटी तु रीतिर्वैदर्भीपाञ्चाल्योरन्तरे स्थिता॥

अर्थात्—

"जिस प्रकार शरीर में भिन्न-भिन्न स्थानों में हस्त-मुखादि भिन्न भिन्न अङ्गों का सन्निवेश शरीर की शोभा को बढ़ाता है इसी प्रकार काव्य में भी विभिन्न स्थानों में विभिन्न पदों का संघटन रसादि का उत्कर्षाधायक होता है। इस विशिष्ट पद-सघटन को ही रीति कहते हैं। रीति चार प्रकार की होती है। १. वैदर्भी, २. गौडी, ३. पाञ्चाली, ४. लाटी। इन में समास-रहित या छोटे-छोटे समासों वाली रीति वैदर्भी कहलाती है। जिसमें समासों की बहुलता हो और ओजः (= Force or Vigour) प्रकाशक वर्णों का प्रयोग हो उस आडम्बर-पूर्ण रचना में गौडी रीति होती है। शेष दो रीतियों में बाकी वर्णों का प्रयोग होता है। पाँच या छः पदों के समास वाली रचना में पाञ्चालिका रीति होती है। वैदर्भी और पाञ्चाली के बीच की रीति लाटी कहलाती है, अर्थात् लाटी रीति में कुछ वैदर्भी और कुछ पाञ्चाली की विशेषताएँ होती हैं।"

रीतियों की ऊपरि निर्दिष्ट विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए अब हम वेणीसंहार' पर साधारण दृष्टि डालते हैं तो हमें स्पष्ट ही उसमें गौडी रीति का प्राधान्य दृष्टिगोचर होता है। भट्टनारायण के गौड (देश का निवासी) होने के कारण उनकी रचना में गौडी रीति का प्राधान्य होना स्वाभाविक ही है। परन्तु कोई कवि या लेखक किसी एक रीति-विशेष से नियत रूप से बंध कर नहीं रह सकता। इसलिए भट्टनारायण की रचना में कहीं-कहीं वैदर्भी रीति के भी सुन्दर उदाहरण उपलब्ध होते हैं।

'वेणीसंहार' की रचना में सर्वप्रथम विशेषता ओजःप्रकाशक वर्णों का बाहुल्य, समासों का आधिक्य तथा आडम्बर है और ये तीनों विशेषताएँ ही गौडी रीति की प्रधान विशेषताएँ हैं। इसमे गौडी रीति का इतना प्राचुर्य है कि आचार्य विश्वनाथ ने गौडी रीति का उदाहरण भी इसी से उद्धृत किया है। वही श्लोक हम भी उदाहरण के रूप में नीचे उद्धृत करते हैं जिससे पाठकों को इस रीति के स्वरूप का स्पष्ट परिज्ञान हो सके।

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात-
संचूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणि-
रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि ! भीमः ॥१, २ ॥

इस पूर्वोक्त उदाहरण में समास-बाहुल्य, भ्, म्, ड्, ण्, ग्, द् एवं घ् आदि ओजःप्रकाशक वर्ण तथा आडम्बर (=Harsh sounding) देखने योग्य है। इसी प्रकार की रचना लगभग समस्त नाटक में प्रचुरता से उपलब्ध है।

भीम के वीरता-पूर्ण भावों की अभिव्यक्ति इसी प्रकार के ओजः-पूर्ण शब्दों से सम्भव हो सकती है। इससे अग्रिम 'मन्थायस्तार्णवाम्भः' इस श्लोक में भी ओजः-प्रकाशक वर्णों का विन्यास इस ढंग से किया गया है, कि उनके पढ़ते-पढ़ते ही पाठकों एवं श्रोताओं को रोमाञ्च हो जाता है।

भट्टनारायण के इस नाटक में कहीं-कहीं प्रसाद गुण की छटा भी देखने योग्य है। एक-दो उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

निर्वाणवैरदहनाः प्रशमादरीणां,
नन्दन्तु पाण्डुतनयाः सह माधवेन। इत्यादि।
सह भृत्यगणं सबान्धवं सहमित्रं ससुतं सहानुजम्। इत्यादि
किं कण्ठे शिथिलीकृतो भुजलतापाशः प्रमादान्मया। इत्यादि

ऊपर उद्धृत पंक्तियों में शब्द-माधुर्य एवं सरलता, जो प्रसाद गुण की प्रमुख विशेषताएँ हैं, वस्तुतः दर्शनीय हैं।

भट्टनारायण जगह-जगह भिन्न-भिन्न पात्रों के शब्दों पर बल देने के लिए काकु का विशेष प्रयोग किया है। जैसे—

भीमसेनः—किं नाम कदाचित् खिद्यते गुरुः। गुरुः खेदमपि जानाति।

यहाँ पर लेखक ने काकु द्वारा इस बात पर बल दिया है कि युधिष्ठिर

कभी खेद करते ही नहीं हैं, वह खेद करना जानते ही नहीं। ऊपर उद्धृत भीमसेन के शब्दों से यह भाव काकु द्वारा ही व्यक्त किया जा सकता है।

'वेणीसंहार' में भट्टनारायण ने उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति तथा काव्यलिङ्ग आदि अर्थालंकारों का भी बड़ा सुन्दर प्रयोग किया है।

कालिदास के समान भट्टनारायण ने भी अपनी रचना में यत्र-तत्र बड़ी सुन्दर सूक्तियों का प्रयोग किया है। उनमें से बहुत सी मे तो उसने मानव जीवन का सार ही भर दिया है। कुछ मे मानव-प्रकृति तथा सास्कृतिक आदर्शों की अभिव्यक्ति बड़े सुन्दर ढंग से होती है। जैसे—

(क) आशा बलवती राजन्!

(ख) वक्तुं सुकरं दुष्करमध्यवसितुम्।

(ग) दैवायत्तं कुले जन्म।

(घ) अहो मुग्धत्वमबलानां नाम।

(ङ) अनुष्ठातव्यः सदाचारः। इत्यादि

ऊपर उद्धृत वाक्यों से साधारणतः मानव-प्रकृति, स्त्री-स्वभाव तथा भारतीय संस्कृति की सुन्दर अभिव्यक्ति होती है।

कहीं-कहीं पर इस नाटक में व्याकरण-हीनता दोष भी पाया जाता है, जैसे—

(क) 'अलमत्यर्थमात्मानं शोकानले प्रक्षेप्तुम्।'

(ख) 'अलमेवं प्रकृतिसुकुमारमात्मानं खेदयितुम्।' इत्यादि

इन वाक्यों में 'अलम्' इस निषेधवाची अव्यय के योग में 'त्वा' प्रत्यय का प्रयोग होना चाहिये। 'तुमुन्' प्रत्यय का प्रयोग व्याकरण-विरुद्ध है।

इस प्रकार ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि भट्टनारायण ने अपने नाटक में यद्यपि वैदर्भी रीति, प्रसाद गुण, विभिन्न अर्थालंकारादि का प्रयोग बड़ी सफलता के साथ किया है परन्तु विशेष रूप से वह गौडी रीति का ही कवि है जिस की अभिव्यक्ति उसके नाटक में बड़े अच्छे ढंग से हुई है।

Q. 10. Give a brief but clear picture of the society at the time of Bhatta Narayna as depicted or referred to in his drama 'वेणीसंहार'।

An. साहित्य समाज का दर्पण है। उस में समाज की स्थिति, सामाजिकों की धार्मिक और नैतिक आदि विभिन्न प्रकार की विचार-धारा तथा तत्कालीन सामाजिक विश्वास एवं परम्पराओं का प्रतिबिम्बित होना आवश्यक है। लेखक, जाने या बेजाने, अपने समय के समाज की स्थिति तथा सामाजिकों के विश्वास आदि की ओर कुछ न कुछ संकेत अपनी रचना में अवश्य कर देता है। यदि वह किसी कारण-वश ऐसा करना नहीं भी चाहता तो भी अज्ञानावस्था में ही उसकी लेखनी से इस प्रकार के संकेत स्वतः निकल जाते हैं। भट्टनारायण भी इस साधारण नियम के अपवाद नहीं रह सके। उनके 'वेणीसंहार' में जगह-जगह इस प्रकार के अनेक संकेत उपलब्ध हैं जिन से तत्कालीन समाज की स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

भट्टनारायण के अनुसार उस समय का समाज धर्म-प्रधान था। यज्ञादि करने की प्रथा साधारण रूप से प्रचलित थी। सामाजिक लोग इस बात में विश्वास रखते थे कि दुःस्वप्नादि अपशकुन तथा अन्य दैवी या भौतिक आपत्तियाँ यज्ञानुष्ठान, देवताराधन और योग्य विद्वान् ब्राह्मणों को दान आदि करने से शान्त की जा सकती हैं। 'वेणीसंहार' के द्वितीय अङ्क में भानुमती का युद्ध में अपने पति दुर्योधन के लिये मङ्गल-कामना से धार्मिक अनुष्ठान करना तथा दुःस्वप्न का प्रतीकार करने के लिये देवताराधन करना इस सामाजिक धारणा की ओर स्पष्ट संकेत हैं। उस समय समाज में विष्णु तथा शिव की विशेष रूप से पूजा होती थी। सूर्य तथा कुछ अन्य देवता भी आराध्य समझे जाते थे। द्वितीय अङ्क में भानुमती के दृश्य से यह भी स्पष्ट है कि धार्मिक अनुष्ठान अनिष्ट-निराकरण में सहायक समझे जाते थे, परन्तु यह आवश्यक नहीं था कि विपत्ति-ग्रस्त पुरुष ही स्वयं अनुष्ठान करे। आज-कल

की तरह उसके स्थान में कोई अन्य व्यक्ति भी उसके निमित्त अनुष्ठान कर सकता था। इसी लिये भानुमती अपने पति की मंगल-कामना से उसके लिये स्वयं धार्मिक अनुष्ठान में रत थी।

चार्वाक से भीमसेन के निधन का असत्य समाचार सुनकर युधिष्ठिर तथा द्रौपदी के मृत सम्बन्धियों को तिलोदक देने से स्पष्ट है उस समय समाज में मृतकों के लिए श्राद्ध आदि करने तथा स्त्रियों द्वारा भी उसमें जलाञ्जलि देने की प्रथा प्रचलित थी।

आज-कल की तरह उस समय भी समाज में 'मृताशौच' की प्रथा प्रचलित थी। किसी सम्बन्धी के दिवंगत हो जाने पर अन्य सम्बन्धियों के घर भी अशौच समझा जाता था। इसी लिये छठे अंक में चार्वाक ने युधिष्ठिर के यहाँ का पानी पीना स्वीकार नहीं किया था।

समाज में अधिकांश लोग शकुन, स्वप्न तथा अक्षि-स्फुरण आदि को भविष्य के इष्टानिष्ट का सूचक समझते थे। इसी लिये भानुमती दुःस्वप्न से बहुत चिन्तित होकर अनिष्ट-निराकरण के लिए धार्मिक अनुष्ठान में लीन हो जाती है।

उस समय कुछ अशिक्षित या अर्धशिक्षित लोग ऐसे भी थे जो ग्रहों आदि में विश्वास रखते थे। परन्तु विद्वान् लोग इन बातों की चिन्ता नहीं करते थे।

समाज में जाति-प्रथा प्रचलित अवश्य थी, परन्तु उसका बन्धन इतना दृढ नहीं था जितना आने वाले समय में हो गया। द्वितीय अङ्क में ब्राह्मणों को दान देने के संकेत से जाति-प्रथा के प्रचलन तथा छठे अङ्क में युधिष्ठिर के कञ्चुकी द्वारा लाए हुए जल को पीने के लिये मुनि-वेषधारी चार्वाक के उद्यत हो जाने से उसकी शिथिलता भी स्पष्ट भासित होती है।

स्त्रियाँ वैधव्यावस्था में या अपने पति से वियुक्त होने की अवस्था में किसी प्रकार का सजाव-शृङ्गार नहीं करती थीं। उन की वेणी खुली रहती थी। इतना ही नहीं, बहुत सी सती-साध्वी स्त्रियाँ अपने पति की मृत्यु हो जाने पर

स्वयं भी सती हो जाया करती थी। इसी लिए द्रौपदी भी भीमसेन की मृत्यु का समाचार पाते ही सती होने का निश्चय कर लेती है।

विज्ञान की दृष्टि से भी समाज पर्याप्त उन्नत था। 'वेणीसंहार' में वर्णित विभिन्न शस्त्रास्त्रों के नाम इस तथ्य की ओर स्पष्ट संकेत करते हैं कि उस समय युद्ध विज्ञान में लोग अच्छे अभिज्ञ थे। शरीर में बाण आदि के घुस जाने पर 'कङ्कवदन' आदि से उन्हें निकालने का वर्णन उस समय के शल्य-विज्ञान तथा शारीरिक-चिकित्सा-विज्ञान के समुचित रूप से उन्नत होने की ओर संकेत करता है।

इस प्रकार ऊपर के संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट है कि समाज विज्ञान की दृष्टि से उन्नत अवश्य था, परन्तु उसमें अनेक प्रकार के अन्धविश्वास तथा सती-प्रथा आदि दूषित परम्पराएँ भी प्रचलित थी जिन्हें उनके नैतिक अभ्युत्थान में एक प्रकार की बाधा ही कहा जा सकता है।

Q. 11. Whom do you consider to be the hero of the play, 'वेणीसंहार' ?

An. 'वेणीसंहार' के नायक का प्रश्न कुछ विवाद-ग्रस्त सा है। इसमें एक नहीं, दो नहीं, प्रत्युत तीन प्रधान पात्र ऐसे हैं जिन में नायक बनने की क्षमता है। दुर्योधन, युधिष्ठिर तथा भीमसेन ये तीनों पात्र ऐसे हैं जिनमें प्रत्येक में कुछ कम या अधिक मात्रा में नायक की विशेषताएँ उपलब्ध हैं। इस लिये हम नीचे नायक की प्रधान-प्रधान विशेषताओं की ओर संकेत करते हुए इन तीनों के विषय में विचार करेंगे।

नाट्य-शास्त्र के अनुसार वह उच्चकुल-प्रसूत एवं धीरोदात्त (=धीर तथा उदात्त) व्यक्ति ही नायक हो सकता है जो अन्य पात्रों की अपेक्षा विशेष संघर्ष-शील, साहसी एवं उत्साह-सम्पन्न हो तथा जो नाटक के प्रधान कथानक का केन्द्र बिन्दु हो, अर्थात् नाटक का समस्त क्रिया-कलाप जिसके इर्दगिर्द चक्कर काटता हो।

नायक की इन पूर्वोक्त विशेषताओं को ध्यान में रखकर जब हम दुर्योधन की ओर देखते हैं तो अवश्य ही वह इस पद का अधिकारी प्रतीत होता है। द्वितीय अङ्क से लेकर, जहाँ कि वह सर्वप्रथम रङ्गमञ्च पर आता है, नाटक के समाप्त होने तक वह हमारी दृष्टि से ओझल नहीं होता। छठे अङ्क में यद्यपि वह व्यक्तिगत रूप से तो रङ्गमञ्च पर नहीं आता तथापि इस अंक का आरम्भ उसके सरोवर मे छिप जाने पर उसकी खोज से होता है। इसके उपरान्त भी भीम द्वारा उसके ललकारे जाने तथा पुनः उसके साथ युद्ध करने के वर्णन में उसका नाम एवं कार्य हमारे सामने अन्त तक आते रहते हैं। इतना ही नहीं, हम तो यहां तक कह सकते हैं कि छठे अंक के कथानक से उसके नाम एवं कार्य को निकाल देने पर यह अंक सर्वथा अधूरा ही रह जायगा। उस की धीरता एवं उदात्तता भी नाटक में किसी से कम नहीं है। भीष्म, द्रोण तथा कर्ण जैसे महारथियों के वीरगति को प्राप्त हो जाने पर भी उसका धैर्य अडिग रहता है। कर्ण की मृत्यु का समाचार पाकर क्षण भर के लिए निराशा का भाव उसके मन में आता है, परन्तु वह तुरन्त ही शत्रु से प्रतिशोध लेने के लिए तत्पर हो जाता है। अश्वत्थामा के पाण्डवों के विरुद्ध उसकी सहायता के लिये आने पर भी कर्ण के प्रति उसकी मित्रता के कारण उसके द्वारा उस का (=अश्वत्थामा का) स्वागत न किये जाने से उसकी उदात्त एवं आदर्श मैत्र्य-भावना का परिचय मिलता है। इस प्रकार दुर्योधन में धीरता, उदात्तता, संघर्ष-शीलता तथा साहस आदि सभी गुणों के उपलब्ध होने के कारण वह नाटक का नायक होने का अधिकारी है, परन्तु उसमे एक ही कमी है जिसके कारण हम उसे नायक स्वीकार करने में कुछ हिचकते हैं। इस नाटक के प्रधान कार्य 'द्रौपदी के वेणी-बन्धन' से दुर्योधन का कोई सम्बन्ध नहीं है। केवल इस कमी के कारण ही हम उसे नायक स्वीकार करने मे असमर्थ हैं।

इसके उपरान्त जब हम युधिष्ठिर की ओर देखते हैं तो उसमें भी कुछ ऐसी विशेषताएँ उपलब्ध हैं जिनके आधार पर उसे इस नाटक का नायक माना जा सकता है। सर्वप्रथम विजयी पक्ष का प्रधान होने के कारण वह स्वभावतः

नायक होने का अधिकारी है। इसके अतिरिक्त नाटक के अन्त में लेखक ने उसका चित्रण इस प्रकार से किया है कि जिस से यह प्रतीत होता है कि लेखक को उसे ही नायक बनाना अभीष्ट है। संस्कृत-नाटकों के अन्त में भरत-वाक्य का उच्चारण नायक द्वारा ही किये जाने की प्रथा है। इस नाटक में भी लेखक ने युधिष्ठिर के द्वारा ही भरत-वाक्य का उच्चारण कराया है। इससे युधिष्ठिर का नायक होना अधिकांश युक्ति-युक्त जान पड़ता है। परन्तु इस विषय में कुछ गम्भीरता से विचार करने पर हम देखते हैं कि उसमें संघर्ष-शीलता का प्रायः अभाव ही है। इसके अतिरिक्त नाटक के प्रथम पाँच अंकों में उसके कहीं पर भी रङ्गमञ्च पर दर्शन नहीं होते और एक-दो स्थान पर नाम-निर्देश को छोड़कर कहीं पर भी उसकी क्रियाशीलता अभिलक्षित नहीं होती। षष्ठ अंक में ही सर्वप्रथम वह रङ्गमञ्च पर हमारे सामने आता है और वहाँ भी जीवन से निराश होकर आत्महत्या करने के लिये उद्यत हुए ही वह हमें दीख पड़ता है। इन सब बातों के अतिरिक्त दुर्योधन के समान इसका भी नाटक के प्रधान कार्य, अर्थात् 'द्रौपदी के वेणी-बन्धन' से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिये दुर्योधन के समान उसे भी इस नाटक का नायक मानना कुछ समुचित प्रतीत नहीं होता।

अन्त में इन दोनों के बाद जब हम भीमसेन पर दृष्टि डालते हैं तो उस में नायक के वे सब गुण जिनका पहले उल्लेख किया जा चुका है उपलब्ध हैं। समस्त प्रथम अंक उसके वीरता-पूर्ण उद्गारों से भरा पड़ा है। इस अंक में उसके चरित्र की बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। उसकी वह वीरता-पूर्ण प्रतिज्ञा भी, जिसके आधार पर इस नाटक का नाम 'वेणीसंहार' रखा गया है, इसी अङ्क में की गई है और जिस कमी के आधार पर दुर्योधन तथा युधिष्ठिर के इस नाटक के नायक होने के अधिकार का निराकरण किया गया है, भीमसेन उस से सर्वथा मुक्त है। 'द्रौपदी के उन्मुक्त केशपाश के बन्धन' का कार्य अन्त में भीमसेन द्वारा ही सम्पन्न होता है। इस प्रकार उसका नायक होने का अधिकार निर्विवाद सिद्ध है। इसके विरोध में केवल दो ही बातें कही

जा सकती हैं। पहली यह है कि लेखक ने भरत-वाक्य का उच्चारण उससे न करा कर युधिष्ठिर से कराया है। इसके उत्तर में आलोचकों का कथन है कि पाण्डव-कुल के प्रधान पुरुष तथा भीमसेन के बड़े भाई युधिष्ठिर के रहते हुए उससे (= भीम से) भरत-वाक्य का उच्चारण कराना सर्वथा अनुचित है। यह सम्मान महाराज युधिष्ठिर को ही मिलना चाहिये।

दूसरी युक्ति जो भीम के नायक होने के विरुद्ध दी जाती है, यह है कि दूसरे अङ्क से लेकर चतुर्थ अंक पर्यन्त भीमसेन के रङ्गमञ्च पर कहीं भी दर्शन नहीं होते और ऐसे पात्र को, जो लगातार तीन अंक तक रङ्गमञ्च से अनुपस्थित रहे, नाटक का नायक कैसे स्वीकार किया जा सकता है? इसके उत्तर में इतना कहना ही पर्याप्त है कि यद्यपि शरीर से भीमसेन इन तीनों अंकों में अनुपस्थित रहता है, परन्तु इन में उसके नाम तथा कार्य से क्षण-क्षण में उसकी सत्ता तथा शक्ति का हमे आभास मिलता रहता है। जैसे द्वितीय अंक मे भानुमती के स्वप्न से भीम द्वारा सौ कौरवो के मारने की प्रतिज्ञा किये जाने की याद आ जाने से उसकी शक्ति एव सत्ता का तुरन्त आभास होने लगता है। तृतीय अंक में भी लेखक ने अन्त मे नेपथ्य से यह घोषणा करा कर कि "जिस के वक्षःस्थल का रुधिर पीने की मै ने प्रतिज्ञा की थी वह दुःशासन मेरे भुज-पञ्जर मे आ फँसा है। हे कौरवो! (यदि तुम मे शक्ति है तो) इसे बचा लो।" हमे भीम की सत्ता का स्मरण करा दिया है। चतुर्थ अंक में इस प्रतिज्ञा की पूर्ति का आभास मिल जाने पर हमे स्वतः उसकी सत्ता का स्मरण हो जाता है। इस प्रकार नाटक के प्रथम से लेकर अन्त तक उसका तथा उसके वीरता एव साहस-पूर्ण कार्यों का जीता-जागता चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित रहता है। हम उसे कहा भी पूर्णतः भुला नहीं सकते। इसलिये उसे नायक मानने मे हमे कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

Q. 11. Give a brief character-sketch of the characters named below :—

(क) भीमसेन

(ख) दुर्योधन
(ग) कर्ण
(घ) द्रौपदी
(ङ) भानुमती

An. **भीमसेन**

भीमसेन सर्वप्रथम एक सच्चे वीर नायक के रूप में हमारे सम्मुख रङ्गमञ्च पर आता है। उसका व्यक्तित्व बड़ा भयावह एवं प्रभावशाली है। रङ्गमञ्च पर प्रथम बार ही प्रवेश करते समय वह घोषणा करता है कि—

'स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः ?' ।।१, ८।।

अर्थात्—

"मेरे जीवित रहते हुए धार्तराष्ट्र (=दुर्योधनादि कौरव) सुख से रह सकते हैं ? अर्थात् कभी नहीं।"

इन शब्दो मे एक-एक शब्द से प्रतिहिंसा की भावना टपक रही है। वह मानो स्वयं प्रतिहिंसा की मूर्ति ही बन गया है। दुर्योधन द्वारा किये गए अपमान को वह अब और अधिक समय तक सहन नहीं कर सकता। भगवान् कृष्ण द्वारा दुर्योधन के पास भेजे गए युधिष्ठिर के सन्धि-प्रस्ताव का समाचार सुनकर तो उस की क्रोधाग्नि इतनी भड़क उठती है कि वह युधिष्ठिर की आज्ञा की भी कोई परवाह न करके सहदेव से स्पष्ट शब्दो मे कह देता है कि—

'क्रुधा सन्धि भीमो विघटयति, यूयं घटयत' ।।१, १०।।

अर्थात्—

"क्रोध से भीम (उस) सन्धि को, (जो तुम लोग कौरवो से करना चाहते हो) तोड़कर फैंक देगा, चाहे तुम सन्धि कर लो।"

वह कौरवो से अपमान का प्रतिशोध लेने के लिये इतना उतावला हो रहा है कि एक-एक क्षण का विलम्ब उसके लिये असह्य है। वह क्रोध से

उन्मत्त-सा हो रहा है, परन्तु उस स्थिति में भी पूर्णतः मानसिक सन्तुलन को नहीं खोता, प्रत्युत कुछ करने से पूर्व शिष्टता के नाते सहदेव को उसकी (=स्वयं भीम की) ओर से महाराज युधिष्ठिर से यह निवेदन करने के लिए कहता है कि—

'अद्यैकं दिवसं ममासि न गुरुर्नाहं विधेयस्तव' ॥१, १२॥

अर्थात्—

"आज एक दिन के लिए न आप मेरे बड़े भाई हैं और न मैं आप का आज्ञाकारी छोटा भाई हूँ, अर्थात् आप अब तक मेरे अपराधों तथा अशिष्टता को क्षमा करते चले आ रहे हैं, अब आज एक दिन के लिये और मेरा अविनय क्षमा करें। एक दिन में मैं समस्त कौरवों को समाप्त कर दूँगा।"

इन शब्दों से जहाँ आवेश-दशा में भी उसके मानसिक सन्तुलन तथा गुरुजनों के प्रति सम्मान की स्पष्ट झलक दीख रही है वहाँ अपने कर्तव्य के प्रति जागरूकता भी टपक रही है। वीर पति होने के नाते अबला द्रौपदी के अपमान का शत्रु कौरवों से प्रतिशोध लेना उसका कर्तव्य है जिसे वह तेरह वर्ष के प्रवास-काल में भी नहीं भूल सका। इसी कर्तव्य को पूरा करने के लिये वह अब उतावला हो रहा है।

वह एक आदर्श वीर क्षत्रिय है। उसके मुख से निकला हुआ एक-एक शब्द श्रोताओं को वीरत्व की भावना से अनुप्राणित कर देता है। द्रौपदी को सान्त्वना देने के लिए कहे गए उस के निम्नलिखित शब्द सुनते या पढ़ते ही शरीर रोमाञ्चित हो उठता है—

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात-
संचूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणि-
रुत्तंसयिष्यति कचाँस्तव देवि! भीमः ॥१, २१॥

अर्थात्—

'अयि पाञ्चालतनये ! फड़कती हुई भुजाओं से घुमाई गई गदा के प्रहार से चूर-चूर हुई दोनों जङ्घाओं वाले सुयोधन के स्तब्ध, चिकने तथा गाढ़े रुधिर से अपने हाथों को रंग कर मै तुम्हारे इन खुले हुए बालों को सजाऊँगा' ॥१, २१॥

इन शब्दों से जहाँ उसकी तीव्र क्रोधाग्नि तथा अपने कर्तव्य के प्रति जागरूकता की झलक मिलती है वहाँ उसके आदर्श क्षत्रियत्व का भी परिचय मिलता है।

भीम क्रोध, प्रतिहिंसा तथा वीरता की ही प्रतिमूर्ति नही है, प्रत्युत उसमें कुछ शिष्टता एव कोमल भावनाएँ भी हैं। दुर्योधन को खोजते हुए जब वह (=भीम) अर्जुन के साथ कौरव-शिविर की ओर जा निकलता है तो वहाँ पर धृतराष्ट्र तथा गान्धारी के पहले से ही आने की सूचना पाकर अर्जुन के यह कहने पर कि "पुत्र-शोक से पीडित गुरुजनो को और अधिक पीडा देना उचित नही है। इसलिये हमे यहाँ से चलना चाहिये" भीमसेन तुरन्त बड़े सुन्दर शब्दों मे उत्तर देता है—

'मूढ ! अनुल्लङ्घनीयः सदाचारः। न युक्तमनभिवाद्य गुरून् गन्तुम्।'

अर्थात्—

"मूर्ख ! सदाचार का उल्लङ्घन नहीं करना चाहिये। गुरुजनो का अभिवादन किये बिना हम लोगों का यहाँ से जाना उचित नही।"

इन शब्दों से जहाँ आर्य-सस्कृति की एक बड़ी सुन्दर झलक मिलती है वहाँ भीमसेन की गुरुजनो के प्रति हार्दिक श्रद्धा तथा सम्मान की भावना का भी बड़ा स्पष्ट परिचय मिलता है।

इन समस्त पूर्वोक्त गुणों के साथ साथ भीमसेन एक बड़ा दृढ-प्रतिज्ञ वीर भी है। वह द्रौपदी के अपमान का बदला लेने के लिये दुःशासन के वक्षःस्थल

का रुधिर-पान करने की तथा दुर्योधन के रुधिर से उसके (= द्रौपदी के) केशों को रञ्जित करके बान्धने की प्रतिज्ञा करता है और अन्त में हम देखते हैं कि वह अपनी इन दोनों प्रतिज्ञाओं को पूरा करके द्रौपदी के उद्दीप्त एव प्रचण्ड क्रोध को शान्त करता है।

इस प्रकार भीम एक आदर्श, दृढ-प्रतिज्ञ, वीर क्षत्रिय है जिसमें क्रोध, प्रतिहिंसा तथा वीरता आदि की उत्कट भावना के साथ साथ कर्तव्य के प्रति जागरूकता, नम्रता तथा गुरुजनों के प्रति श्रद्धा एव सम्मान की उच्च सास्कृतिक भावनाएँ भी प्रचुरता से दृष्टिगोचर होती हैं जो उसे इस नाटक के नायक के पद पर आसीन कराने में सहायता देती हैं और जिनके आधार पर वह एक सफल नायक कहा जा सकता है।

दुर्योधन

कौरवराज दुर्योधन को सम्भवत इस नाटक (वेणीसहार) में उपनायक के रूप में चित्रित किया गया है। लेखक ने उसके चरित्र को नायक भीमसेन के चरित्र की अपेक्षा विशेष ध्यान से चित्रित करने की चेष्टा की है। जहा नायक भीम के चरित्र में आदि से अन्त तक वीर एव कुछ-कुछ बीभत्स भावना का प्रदर्शन किया गया है वहा दुर्योधन का चरित्र विभिन्न भावनाओं का सुन्दर सम्मिश्रण है। जहां नायक भीम के चरित्र मे कठोरता ही कठोरता दृष्टिगोचर होती है वहा दुर्योधन मे कठोर एव कोमल दोनों प्रकार की भावना बड़े सुन्दर ढग से प्रदर्शित की गई हैं।

वह सर्वप्रथम एक सहृदय प्रेमी के रूप में हमारे सामने रगमंच पर आता है। उसका प्रेम एक साधारण प्रेम नहा है। वह ऐसा अद्भुत या अलौकिक है कि जिससे मत्त होकर उसे (= दुर्योधन को) समस्त विश्व एव विश्व की समस्याएँ सर्वथा निस्तत्त्व या अस्तित्व हीन जान पड़ती हैं। यहा तक कि वह प्रेम के वशीभूत होकर अपने सिरपर मडराते हुए आपत्तियों के बादलो की भी कोई चिन्ता नहीं करता। ससार की कोई भी वस्तु उसे अलभ्य नहीं

जानता पकती। उसे यदि कोई अभिलाषा है तो केवल अपनी प्रेमिका भानुमती के साथ विहार करने तथा उसके अधर-पान करने की ही है। उसकी विजय-कामना से देवताराधन में लीन भानुमती के यह कहने पर कि वह उसी की मनोरथसिद्धि के लिए व्रतादि कर रही है वह बड़े सुन्दर शब्दों में अपनी प्रेमभावना को व्यक्त करते हुए अपना वास्तविक मनोरथ प्रकट करता है—

'अयि सुन्दरि ! एतावन्त एव मनोरथा यदहं दयितया संगतः स्वेच्छया विहरामीति। पश्य—

... ...
... ...

वक्त्रेन्दुं ते नियमुषितालक्तकाङ्काधरं वा,
पातुं वाञ्छा परमसुलभं किं नु दुर्योधनस्य ?॥१,१८॥

"हे सुन्दरि ! मेरा मनोरथ तो यही है कि मै अपनी प्रेमिका के साथ स्वेच्छया सानन्द विहार करूं। देखो—

व्रत-पालन करने के कारण यावक-चिह्न रहित अधरोष्ठ से युक्त तुम्हारे इस मुखचन्द्र का पान करने की मेरी एक-मात्र इच्छा है। इसके अतिरिक्त दुर्योधन को संसार में क्या दुर्लभ है ?"॥१,१८॥

यही नहीं, वह प्रेम-वासनाओं का इतना क्रीत दास है कि युद्धभूमि में वीरता प्रदर्शित करने पर कुछ महारथियों को बधाई देने के लिए जाने के समय भी वह भानुमती से मिलना आवश्यक समझता है।

प्रेम की कोमल भावना के साथ-साथ उसकी वीरता एवं संघर्ष-शीलता भी प्रशंसनीय है। वह भयंकर से भयंकर परिस्थिति मे भी निराश होना तो मानो जानता ही नहीं। जयद्रथ की माता तथा पत्नी से अर्जुन की जयद्रथ-वध की प्रतिज्ञा के विषय में समाचार पाकर वह तनिक भी निराश नही होता, प्रत्युत उन दोनों को बड़े धैर्य के साथ सान्त्वना देकर स्वयं युद्धभूमि में जाने के लिए अपना रथ मंगवाता है।

दुःशासन, कर्ण का पुत्र वृषसेन तथा स्वयं कर्ण की मृत्यु का समाचार पाकर एक-दो क्षण के लिए उसे निराशा अवश्य होती है, परन्तु वह तुरन्त अपने आप को संभाल कर शत्रु से प्रतिशोध लेने के लिए उद्यत हो जाता है और स्वय युद्धभूमि की ओर चल देता है।

स्वाभिमान की भावना तो मानो उसकी रग-रग में कूट-कूट कर भरी हुई है। कर्ण की मृत्यु के उपरान्त धृतराष्ट्र तथा गान्धारी के उसे युधिष्ठिर के साथ सन्धि करने के लिए बार-बार कहने पर भी वह किसी शर्त पर यह स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। सन्धि के लिए आत्माभिमान की बलि देकर अपने प्राणों की रक्षा करना उसे स्वीकार नहीं है। यही नहीं, इस प्रकार का आत्माभिमान-शून्य जीवन उसके लिए लज्जास्पद है। वह स्पष्ट शब्दों में कहता है कि—

'मम प्राणाधिके तस्मिन्नङ्गानामधिपे हते ।
उच्छ्वसन्नपि लज्जेऽहमाश्वासे तात ! का कथा?'॥५,१५॥

अर्थात्—

'अङ्गराज कर्ण की, जो मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय था, मृत्यु हो जाने पर मुझे श्वास लेते हुए भी लज्जा आती है, आश्वासन का तो कहना ही क्या ?'॥५,१५॥

ऐसी स्थिति में वह निराश होकर लज्जास्पद जीवन पसन्द नहीं करता, प्रत्युत निम्नलिखित वीरोचित शब्दों में शत्रु से प्रतिशोध लेने की प्रतिज्ञा करता है—

... ...
... ...
येनाऽतिदुःश्रवमसाधु कृतं तु कर्णे,
कर्ताऽस्मि तस्य निधनं समरे कुरुस्य ॥'५,१६॥

अर्थात्—

''... ... ... जिसने अङ्गराज कर्ण के विषय में वह दुःश्रव

तथा अनार्य कर्म किया है उसके समस्त कुल का विनाश मैं युद्ध में करूँगा।"॥५,१६॥

कुछ आलोचक उसके सरोवर में छिप जाने की घटना का उदाहरण देकर उसकी वीरता पर आक्षेप करते हैं। परन्तु हमारे विचार से यह केवल उसकी चाल है और वह भीम की इस नई प्रतिज्ञा को कि "यदि वह (=भीम) आज दुर्योधन को न मार सका तो आत्महत्या कर लेगा", सुन कर किसी न किसी प्रकार इस एक दिन के लिए उससे बचकर उसकी प्रतिज्ञा भङ्ग करना चाहता है। इस प्रकार प्रतिज्ञा-पूर्ति न होने से भीम द्वारा आत्म-हत्या कर लेने पर उसके वियोग में समस्त पाण्डव-कुल का विनाश अनायास ही सम्पन्न हो सकेगा। यही भावना उसके सरोवर में छिपने के पीछे जान पड़ती है। कुछ भी हो उस पर कायरता का आरोप सर्वथा निराधार है। यदि उस में तनिक भी कायरता होती तो वह कर्णादि महारथियों की मृत्यु हो जाने पर कौरवों से सन्धि अवश्य कर लेता अथवा भीम के यह चुनौती देने पर कि वह (=दुर्योधन) पाचों पाण्डवो मे से किसी को भी युद्ध के लिए चुन सकता है वह (=दुर्योधन) भीम को न चुनकर नकुल या सहदेव के साथ युद्ध करके बड़ी सरलता से पाण्डव-कुल को विपन्न बना सकता था।

वह केवल प्रेम, वीरता, तथा प्रतिहिंसा का ही प्रतिनिधि नही है, प्रत्युत मित्रता की मानवीय भावना भी उस मे बड़े उत्कट रूप मे दृष्टिगोचर होती है। कर्ण के वीर-गति को प्राप्त हो जाने पर उसे जीवित रहते हुए भी लज्जा आती है। इतना ही नही, वह यह जानते हुए भी कि अश्वत्थामा के कौरव-पक्ष की सहायता करने पर पाण्डवों की हार अधिकाश निश्चित है, उसकी सहायता केवल इसलिए स्वीकार नही करता कि वह उसके दिवंगत मित्र कर्ण का विरोधी है। इससे उत्तम मित्रता का आदर्श और क्या हो सकता है?

इस प्रकार ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि इस नाटक में दुर्योधन के चरित्र में प्रेम, मित्रता, वीरता, प्रतिहिंसा और संघर्ष आदि की विभिन्न भावनाओ

का बड़ा सुन्दर सम्मिश्रण प्रस्तुत किया गया है और उसकी बहुत सी भावनाएँ मानव-जीवन में वस्तुतः अनुकरणीय भी कही जा सकती हैं।

कर्ण

अङ्गराज कर्ण एक कूट राजनीतिज्ञ एवं महान् वीर सेनानी के रूप में हमारे सम्मुख रङ्गमञ्च पर आता है। द्रोणाचार्य की मृत्यु के उपरान्त दुर्योधन के द्वारा उनके शस्त्र-परित्याग का कारण पूछा जाने पर कर्ण बड़े सुन्दर तथा नीतिपूर्ण ढंग से उसे इस बात का विश्वास दिला देता है कि आचार्य द्रोण इस महान् युद्ध में क्षत्रियों के परस्पर लड़कर स्वयं निर्बल हो जाने पर अपने पुत्र अश्वत्थामा का राज्याभिषेक करना चाहते थे, परन्तु उसकी मृत्यु का समाचार पाकर उन्होंने निराश होकर शस्त्र त्याग दिए। यह शब्द ऐसे स्वाभाविक ढंग से कहे गए कि दुर्योधन उन पर तुरन्त विश्वास कर लेता है और कृपाचार्य के बार-बार कहने पर भी कि द्रोणाचार्य के स्थान पर उनके पुत्र अश्वत्थामा को ही सेनापति बनाया जाना अधिक उपयुक्त होगा दुर्योधन कर्ण को ही सेनापति-पद पर अभिषिक्त करता है। इस प्रकार कर्ण दुर्योधन को विश्वास दिला कर अपने सेनापति-पद को बड़ी चतुरता के साथ सुरक्षित बनाने में सफल-प्रयास हो जाता है।

कर्ण कूटनीतिज्ञ ही नहीं है, उसे अपने पुरुषार्थ पर पूर्ण विश्वास है। वह पौरुष एवं संघर्ष को ही मानव-जीवन का प्रथम तथा चरम लक्ष्य समझता है और यही उसके विचार से मानव एवं मानव-जीवन की उदात्तता का लक्षण है। उच्च या निम्न कुल में जन्म होने मात्र को ही वह मानव की उच्चता या निम्नता का आधायक नहीं समझता।

क्रोधाविष्ट अश्वत्थामा के उस पर "अरे रे राधागर्भभारभूत! सूतापसद!" इत्यादि आक्षेप करने पर वह बड़े सुन्दर शब्दों में जीवन-सम्बन्धी अपने पूर्वोक्त विचार व्यक्त करते हुए कहता है—

> सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम्।
> दैवायत्तं कुले जन्म मदायत्तं तु पौरुषम् ॥१, ३४॥

अर्थात्—

"मैं स्वयं सूत हूँ या, या सूत-पुत्र हूँ, (इससे क्या ?)। (उच्च या नीच) कुल में जन्म दैवाधीन है, मेरे अधीन केवल पौरुष है (और वह मुझ में है)।"

इन शब्दों से कर्ण का आत्म-पौरुष में कितना प्रबल विश्वास टपक रहा है। पौरुष-वाद के साथ-साथ वह दैव वाद मे भी दृढ़ विश्वास रखता है। दैवी शक्ति पौरुष-शक्ति से उच्च एवं प्रबल है। वह पुरुष के नियन्त्रण में नहीं है। उसका कार्य-कलाप स्वतन्त्र है। उसकी गति में बाधा डालने की किसी में सामर्थ्य नहीं है। जहाँ मानव-शक्ति की गति-विधि सीमित है वहाँ दैवी शक्ति निर्बाध गति से चलती है। ऊपर उद्धृत पद्य की अन्तिम पंक्ति 'दैवायत्तं कुले जन्म मदायत्तं तु पौरुषम्' इसी तथ्य की ओर संकेत करती है। दार्शनिक दृष्टि से देखने पर यह सिद्धान्त गीता के निम्नलिखित सिद्धान्त से सर्वथा मिलता है—

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'

अर्थात्—

"हे अर्जुन! कर्म करने मे ही तुम्हारा अधिकार है, फल के विषय मे बिल्कुल नही। (फल देना मेरे अधीन है अर्थात् दैवाधीन है)।"

गीता के इस सिद्धान्त में तथा कर्ण के ऊपर उद्धृत सिद्धान्त में वस्तुतः कोई भेद प्रतीत नही होता। इस प्रकार यदि उसे एक सच्चा कर्मयोगी भी कहे तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

उसकी वीरता भी अनुपम एवं अनुकरणीय है। युद्धभूमि में विभिन्न योद्धाओं के साथ युद्ध में प्रदर्शित वीरता के अतिरिक्त अपने नन्हे-से बालक को महारथी अर्जुन से अतुल साहस एवं वीरता के साथ युद्ध करते हुए देखकर हर्षोत्फुल्ल हृदय से भीम के प्रति कहे गए निम्नलिखित शब्दों में अपना मानसिक उल्लास व्यक्त करते हुए उसने जिस वीरत्व की अलौकिक भावना का परिचय दिया है उस का उदाहरण सरलता से कहीं अन्यत्र उपलब्ध होना कठिन है—

"भो वीर वृकोदर! असमाप्तश्चैव ममापि समरव्यापारः।

तदनुमन्यस्व मां मुहूर्तम्। प्रेक्षावहे तावत्क्षणमात्रं मम वत्सस्य तव भ्रातुश्च धनुर्वेदशिक्षाचतुरत्वम्।"

अर्थात्—

"हे वीर भीमसेन! तुम्हारा और मेरा युद्ध अभी समाप्त नहीं हुआ है। इसलिये अब तुम मुझे कुछ समय के लिये (इस युद्ध व्यापार से) अवकाश दो ताकि मैं और तुम, दोनों, पुत्र (वृषसेन) तथा तुम्हारे भाई अर्जुन के धनुर्वेद-विद्या-नैपुण्य को देख सकें।"

अपने पुत्र को इतनी भयावह स्थिति में देखकर भी उसकी सहायता के लिए न जाकर उसके युद्ध कौशल को ही देखने की इच्छा व्यक्त करना किसी साधारण व्यक्ति का काम नही है। कोई वीरत्व का पारखी क्षत्रिय ही, जो जीवन की अपेक्षा कर्तव्य को ही विशेष महत्त्व देता है, इस प्रकार के शब्द कह सकता है। कदाचित् ही कही अन्यत्र इस प्रकार की वीरत्व की भावना दृष्टिगोचर हो सके।

इस प्रकार हम कर्ण के चरित्र में कूटनीति, आत्म-पौरुष में अडिग विश्वास तथा उच्चकोटि की वीरता आदि अनेक गुणों का बड़ा सुन्दर सम्मिश्रण देखते हैं।

द्रौपदी

द्रौपदी इस नाटक की नायिका के रूप मे चित्रित की गई है। वह प्रतिहिंसा की जीती-जागती प्रतिमूर्ति है। कौरवो द्वारा किया गया अपमान उसे क्षण-क्षण में उनसे उस का प्रतिशोध लेने के लिये प्रेरणा कर रहा है। उसी से (=अपमान से, व्यथित होकर आँसू बहाती हुई वह सर्वप्रथम अपनी चेटी के साथ रङ्गमञ्च पर प्रवेश करती है। भावुकता की तो मानो वह साक्षात् मूर्ति है। सहनशीलता का उसमे लेश भी नही है। दुर्योधन की पत्नी भानुमती के परिहास-परिहास में उसे यह कह देने पर कि "हे द्रौपदी! अब तो सुनते हैं कि पाँच गाँवों की शर्त पर ही सन्धि की जा रही है। इसलिये अब तुम अपने

केश क्यों नहीं बाँधती हो।" उसकी क्रोधाग्नि की सीमा नहीं रहती। प्रतिहिंसा की भावना और भी तीव्र हो उठती है और वह अपने तिरस्कार का प्रतिकार करने के लिये बेचैन हो जाती है। ऐसी स्थिति में यदि उसे कुछ आशा है तो केवल भीमसेन से। शान्ति-प्रिय युधिष्ठिर आदि से उसे कुछ आशा नहीं है। उन्हें तो वह अपने अपमान का प्रतिशोध लेने में बाधक समझती है। चेटी के उसे सान्त्वना देने के लिये यह कहने पर कि कुमार भीमसेन आप के इस शोक को अवश्य दूर करेंगे, वह तुरन्त कहती है—

"हञ्जे बुद्धिमतिके ! भवत्येतद् यदि महाराजः प्रतिकूलो न भवेत्। तन्नाथं प्रेक्षितुं त्वरते मे हृदयम्। तदादेशय मे नाथस्य वास-भवनम्।"

अर्थात्—

"हे बुद्धिमतिके ! यदि महाराज (=युधिष्ठिर) प्रतिकूल न हों तो यह हो सकता है। इसलिए *स्वामी (=भीमसेन) से मिलने के लिये* मेरा हृदय उत्कण्ठित हो रहा है। अतः उनके निवास-स्थान का मार्ग बताइये।"

उसके इन पूर्वोक्त शब्दों से भीम के लिये उसके हृदय मे विशेष प्रेम एवं विश्वास की मात्रा स्पष्ट ही झलक रही है। इसी लिये वह उस के पास पहुँचकर उसे स्पष्ट शब्दों में कहती है—

"नाथ ! न लज्जन्ते एते। त्वमपि तावन् मा विस्मार्षीः।"

अर्थात्—

"हे स्वामिन् ! इन लोगों को तो (सभा में मेरे केश खिंचते हुए देखकर) लज्जा नहीं आती। आप भी मुझे भूल न जाना।"

क्रोधाविष्ट भीमसेन के, आवेश मे आकर, यह प्रतिज्ञा करने पर कि 'वह शीघ्र ही दुर्योधन के रुधिर से अपने हाथों को रञ्जित करके उसके केशों को सुसज्जित करेगा।' वह उसे इस प्रतिशोध-कार्य के लिए और भी प्रोत्साहन देती हुई ईश्वर से प्रार्थना करती है कि उसके दूसरे भाई भी इस कार्य मे उस

सहयोग प्रदान करें। उसके निम्नलिखित शब्दों में से प्रत्येक से कितनी प्रति-हिंसा का तथा युधिष्ठिरादि के प्रति कितना उपेक्षा का भाव टपक रहा है—

'किं नाथ! दुष्करं त्वया परिकुपितेन। सर्वथाऽनुगृह्णन्त्वेतद् व्यवसितं ते भ्रातरः।"

अर्थात्—

'हे नाथ! आप के कोप करने पर क्या कार्य दुष्कर है। ईश्वर करे कि आप के भाई भी आप के इस कार्य को स्वीकार कर लें।'

परन्तु द्रौपदी में प्रतिहिंसा ही प्रतिहिंसा नहीं है। उसमें आर्य नारी का कोमल हृदय भी है। साधारण स्त्रियों के समान उसमें भी अतिथि-सत्कार की भावना बड़ी प्रबल है। मुनि के वेश में राक्षस चार्वाक के महाराज युधिष्ठिर के पास आने पर वह उसे गरमी से कुछ क्लान्त देखकर तुरन्त अपनी चेटी बुद्धिमतिका से उसे पंखा करने के लिये कहती है।

चार्वाक से अपने प्रिय पति भीमसेन के निधन का समाचार सुनकर उस की सहज प्रचण्डता मानो वायु में विलीन हो जाती है और वह सर्वसाधारण कोमल-हृदय रमणियों की भांति उसके लिए विलाप करती हुई मूर्च्छित हो जाती है। इतना ही नहीं, मूर्च्छा खुलने पर उसका हृदय इस भौतिक शरीर को त्याग कर अपने पति के पास जाने के लिये बेचैन हो उठता है। वह महाराज युधिष्ठिर से लकड़ी इकट्ठी करके चिता बनाने की प्रार्थना करती है। उसके युधिष्ठिर से कहे गए निम्नाङ्कित शब्द कितने हृदय-द्रावक हैं—

"आर्य! कुरु दारुसंचयम्। प्रज्वाल्यतां चिता। त्वरते मे हृदयं नाथं प्रेक्षितुम्। (सर्वतोऽवलोक्य) कथं न कोऽपि नाथेन विना महाराजस्य वचनं करोति? हा नाथ भीमसेन! तदेवेदं राजकुलं त्वया विरहितं परिजनोऽपि साम्प्रतं परिहरति।"

अर्थात्—

"आर्य! लकड़ी इकट्ठी करके (शीघ्र) चिता प्रज्वलित कीजिए। मेरा

हृदय अपने प्राणनाथ को देखने के लिए उतावला हो रहा है। (चारों तरफ़ देखकर) हैं, क्या आज प्राणनाथ (भीम) की अनुपस्थिति में कोई भी नौकर आज्ञा-पालन नहीं कर रहा है। हा नाथ भीमसेन! आपके न रहने पर उसी राजकुल को आज नौकर भी छोड़ रहे हैं।"

इन शब्दों से कितनी विह्वलता, हार्दिक वेदना तथा पति-परायणता टपक रही है। छठे अङ्क की विह्वल द्रौपदी प्रथम अङ्क की प्रचण्ड-स्वभावा द्रौपदी से सर्वथा भिन्न-सी दिखाई देती है। उसकी प्रकृति में इस प्रकार की दुर्बलता या असहन-शीलता यद्यपि कुछ खटकने वाली-सी चीज़ मालूम होती है। परन्तु अबला नारी में दुर्बल प्रकृति का प्रदर्शन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सर्वथा युक्ति-युक्त एवं उचित ही है।

इस प्रकार ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि द्रौपदी प्रतिहिंसा की साक्षात् मूर्ति होने के साथ-साथ कोमल-हृदया और पति-परायणा सती साध्वी आर्य नारी भी है।

भानुमती

भानुमती सर्वप्रथम दुःस्वप्न के कारण चिन्तित एवं मानसिक अव्यवस्थित दशा में अपनी सखी तथा चेटी के साथ रंगमंच पर प्रवेश करती है। वह इस (=वेणीसंहार) नाटक की उपनायिका है। जहां नायिका द्रौपदी में प्रतिहिंसा एवं प्रेम की प्रचण्ड तथा कोमल दोनों प्रकार की भावनाओं का सुन्दर सम्मिश्रण उपलब्ध है वहां भानुमती में अपने पति के प्रति प्रेम की भावना ही दृष्टिगोचर होती है। प्रतिहिंसा की भावना का लेश भी उस में अभिलक्षित नहीं होता। साधारण स्त्रियों की भांति दुःस्वप्नादि अपशुकन तथा देवताराधन आदि से उनके निराकरण में उसका पूर्ण विश्वास है। दुःस्वप्न सुनने के उपरान्त सखी तथा चेटी के कहने पर कि "देवताओं की पूजा तथा दूर्वा आदि माङ्गलिक वस्तुओं के स्पर्श से इस अपशकुन का प्रायश्चित्त करना चाहिए" वह तुरन्त देवताओं की आराधना में लीन हो जाती है। अपने पति के लिए ही नहीं,

प्रत्युत उसके सौ भाइयों के लिए भी मङ्गल-कामना करती हुई वह निम्नाङ्कित शब्दों में बड़े सुन्दर ढंग से अपनी सद्‌भावना व्यक्त करती है—

"भगवन्........सकलभुवनैकरत्नप्रदीप ! यदत्र स्वप्ने किमप्यत्याहितं तद् भगवतः प्रणामेन सभ्रातृकस्याऽऽर्यपुत्रस्य कुशलपरिणामि भवतु।"

"अर्थात् –

"हे भगवन्! . समस्त विश्व के एक मात्र रत्न-प्रदीप ! इस स्वप्न में जो कुछ भी अमङ्गलमय है वह सब कुछ आपको (मेरे) प्रणाम के प्रताप से अपने भाइयों सहित मेरे पति के लिए शुभ फल-प्रद हो।"

इन शब्दों से उसकी हार्दिक सद्‌भावना तथा देवताओं के प्रति अगाध श्रद्धा की बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति होती है।

यही नहीं कि वह केवल अपनी सखी तथा चेटी के कहने मात्र से ही देवाराधन करने लग जाती है. प्रत्युत इस प्रकार के धार्मिक कृत्यों में उसका हार्दिक विश्वास भी जान पड़ता है। कञ्चुकी द्वारा प्रबल वायु से दुर्योधन के रथ के ध्वज के टूट जाने की सूचना मिलने पर वह दुर्योधन से निम्नलिखित शब्दों में इस दुर्निमित्त का परिहार कराने की प्रार्थना करती है—

"आर्यपुत्र ! परिहार्यतामेतदनिमित्तं प्रसन्नब्राह्मणवेदानुघोषेण होमेन च।"

अर्थात्—

"आर्यपुत्र ! प्रसन्न (चित) ब्राह्मणों के द्वारा वेद-ध्वनि एवं हवन कराकर इस अपशकुन को शान्त कराइये।"

इन शब्दों से देव-पूजन, वेद-पाठ तथा यज्ञ-हवन आदि धार्मिक अनुष्ठानों तथा जीवन में उनकी उपादेयता में उसके पूर्ण विश्वास तथा श्रद्धा की बड़ी सुन्दर झलक मिलती है।

भानुमती में धार्मिक विश्वास, प्रेमभावना या गम्भीरता ही गम्भीरता नहीं है। उसकी प्रकृति में परिहास का भी पर्याप्त पुट है। द्रौपदी के माता गान्धारी को प्रणाम करके वापस लौटते समय मार्ग में उस के द्वारा द्रौपदी को कहे गए निम्न-लिखित शब्दों से उसकी परिहास-प्रियता का बड़ा सुन्दर आभास मिलता है—

'अयि याज्ञसेनि ! पञ्च ग्रामाः प्रार्थ्यन्ते इति श्रूयते। तत्कस्मादिदानीमपि ते केशा न संयम्यन्ते ?'

'अर्थात्—

'हे द्रौपदी ! सुना है कि तुम लोगों ने (सन्धि के लिए) पांच गांवों की प्रार्थना की है। फिर, अब तुम अपने केश क्यों नहीं बाँधती ?''

इन शब्दों से उसकी विनोद-प्रियता की भी बड़ी सुन्दर झलक मिलती है।

इस प्रकार ऊपर के संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट है कि भानुमती के चरित्र में अन्धविश्वास, धार्मिक यज्ञानुष्ठानादि में अटूट श्रद्धा, प्रेम तथा गम्भीरता एवं विनोद-प्रियता का बड़ा सुन्दर सम्मिश्रण उपलब्ध है। उसके चरित्र में लेखक ने आर्य नारी की परम्परागत आदर्श भावनाओं का बड़ा सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है।

अथ वेणी-संहारम्

नाटकम्

प्रथमोऽङ्कः

निषिद्धैरप्येभिर्लुलितमकरन्दो मधुकरैः,
करैरिन्दोरन्तश्छुरित इव सम्भिन्नमुकुलः ।

अथ वेणीसंहार-दीपिका

वेण्या संहार वेणीसंहारस्तमधिकृत्य कृतं नाटकं वेणीसंहारं नाटकम्। अत्र 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' (पा ४-३-८७) इति अणि प्रत्यये ततश्च लुबाख्यायिकाभ्यो बहुलम्' इति कात्यायनवार्तिकेन लुप्। एवं चायं ताद्धित शब्द । यद्वा वेण्या संहार (वर्ण्यते) यस्मिन् नाटके तद् वेणीसंहारं नाम नाटकमिति व्यधिकरण बहुव्रीहि ।

(अन्वय निषिद्धैः अपि एभि मधुकरैः लुलितमकरन्दः, इन्दोः करैः अन्तश्छुरित इव (दृश्यमान) संभिन्नमुकुल, हरिचरणयो प्रकीर्णः अयं पुष्पाणाम् अजलि अस्य सदस नयनसुभगां न सिद्धिं विधत्ताम् ।

(व्याख्या) निषिद्धैः हस्तादिना पुन —पुनर्निवारितैरपि एभिर्मधुकरैर्भ्रमरैः लुलितो मकरन्दो यस्यासौ लुलितमकरन्दो विक्षिप्त-

(भाषा टीका) भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों में निक्षिप्त यह पुष्पाञ्जलि, जिस का मकरन्द रस बार बार हटाए जाने पर भी भ्रमरों ने इधर उधर

विचर्चा सिद्धिं नो नयनसुभगामस्य सदस,
प्रकीर्णः पुष्पाणां हरिचरणयोरञ्जलिरयम् ॥१॥

'ग्रन्थादौ ग्रन्थान्ते च मङ्गलमवश्यमाचरणीयम्' इति 'मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषकाणि भवन्ति आयुष्मत्पुरुषकाणि चाध्येतारश्च वृद्धियुक्ता यथा स्युरिति च परम्परोक्तिमनुसरन् महाकवि भट्टनारायणो द्वादशपदा नान्दा प्रस्तौति—निषिद्धैरित्यादिना।

नाटके हि कथावस्तुनो वर्णनात् प्राक् रङ्गविघ्नोपशान्तये पूर्वरङ्ग प्रयुज्यते। तथा चोक्त साहित्यदर्पणे —

यन्नाट्य-वस्तुन पूर्व रङ्गविघ्नोपशान्तये।
कुशीलवा प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्ग स उच्यते ॥

कुशीलवा सूत्रधारप्रमुखा नटा मङ्गलरूपेण यदपि नान्द्यादि प्रवन्ति तत्सव पूर्वरङ्गश ब्देनोच्यते। इ थ च नान्दी पूर्वरङ्गान्तगतति व्यज्यत। यदि

पुष्परस, इन्दोश्चन्द्रस्य करै किरणैरन्तश्छुरितो व्याप्त इव दृश्यमान इत्युत्प्रेक्षा, सभिन्न मुकलो यस्यासौ सम्भिन्नमुकुल प्रफुल्लकलिक, हरेर्भगवत श्रीकृष्णस्य चरणयो प्रकीर्णो निक्षिप्तोऽयं पुष्पाणामजलि अस्य सदस नयनयो सुभगा स्पृहणीयामानन्ददायिनीमिति यावत् नोऽस्माकं सिद्धिं रङ्गमचेऽभिनयसाफल्य विधत्ता करोतु। शिखरिणी छन्द, 'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागा शिखरिणी' तितल्लक्षणात् ॥१॥

बिखेर दिया है, जिस की कलिकाएँ विकसित हो रही हैं और जिसका अन्तर्भाग चन्द्रमा की अमृत मय किरणों से व्याप्त है हमे (इस अभिनय मे ऐसी) सफलता प्रदान करे (जो) इस सभा (मे उपस्थित सामाजिकों) के नेत्रों को आनन्द देने वाली हो ॥१॥

अपि च—

कालिन्द्याः पुलिनेषु केलिकुपितामुत्सृज्य रासे रसं,
गच्छन्तीमनुगच्छतोऽश्रुकलुषां कंसद्विषो राधिकाम् ।

च केनापि हेतुना कस्मिंश्चिन्नाटके साङ्गपूर्वरंगानुष्ठानमसम्भवं तत्र नान्दी तु अवश्यं कर्तव्या । तथा चोक्तम् —

प्रत्याहारादिकान्यङ्गान्यस्य भूयांसि यद्यपि ।
तथाप्यवश्यं कर्तव्या नान्दी विघ्नोपशान्तये ॥

नान्दी च :—

आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते,
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ।
....
पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत ॥

एवं चेह भट्टनारायणेन रंगविघ्नोपशान्तये पूर्वोक्तलक्षणा द्वादशपदा नान्दी मंगलार्थमवश्यकर्तव्यत्वेनोपस्थापिता निषिद्धैरपीति ।

इदमपि पद्यं 'निषिद्धैः' इत्यादिना आरब्धायाः द्वादशपदाया नान्द्या अवयवभूतमित्येव सूचयन्नाह—"अपि चेति ।

(अन्वयः) कालिन्द्याः पुलिनेषु केलिकुपितां रासे रसम् उत्सृज्य गच्छन्तीम्, अश्रुकलुषां राधिकाम् अनुगच्छतः तत्पादप्रतिमानिवेशित-पदस्य, उद्भूतरोमोद्गतेः, प्रसन्नदयितादृष्टस्य कंसद्विषः अक्षुण्णः अनुनयः वः पुष्णातु ।

(व्याख्या) कालिन्द्याः यमुनायाः पुलिनेषु बालुकामयप्रदेशेषु

जो (किसी कारणवश) प्रणय-कुपित एवं यमुना के बालुका-मय प्रदेश में रास-लीला के आनन्द को छोड़ कर जाती हुई अश्रु-मलिन राधिका के

तत्पाद-प्रतिमा—निवेशित—पदस्योद्भूतरोमोद्गते-
रक्षुण्णोऽनुनयः प्रसन्न-दयिता—दृष्टस्य पुष्णातु वः ॥ २ ॥

तीरेषु वा केल्यां कुपितां प्रणयकोपवतीं मानिनीमिति भावः, रासे क्रीडायां रसमानन्दम् उत्सृज्य त्यक्त्वा, गच्छन्तीं प्रयान्तीमश्रुभिः कलुषां मलिनां रुदतीमित्यर्थः, राधिकां स्वप्रेमिकामनुगच्छतोऽनुधावतः, तां प्रसादयितुमिति भावः, तस्याः पादयोः प्रतिमासु निवेशिते पदे येन तस्य तत्पादप्रतिमानिवेशितपदस्य स्वप्रेमिकायाश्चरणचिह्नेषु सन्निवेशितस्वचरणस्य तच्चरणचिह्नस्पर्शेनैव अलौकिकं सुखमनुभवतः, अतएव उद्भूता रोम्णामुद्गतिर्यस्य तस्य उद्भूतरोमोद्गतेः संजातपुलकस्य, 'मत्पादचिह्नस्पर्शेनैवाऽस्य एवं रोमोद्गम, संगमे तु किमु वक्तव्य'मिति निश्चयेन प्रसन्नया दयितया, राधिकयेत्यर्थः, दृष्टस्य कंसं द्वेष्टीति कंसद्विट् तस्य अक्षुण्णः सफलः अनुनयः स्वप्रियाप्रसादः वो युष्मान् सामाजिकान् पुष्णातु संवर्धयतु। शार्दूविक्रीडितं छन्दः, 'सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्' इति तल्लक्षणात् ॥२॥

पीछे जा रहे हैं, जिन के शरीर में उस के चरण-चिह्नों पर पैर रखने से रोमांच हो गया है और जिन्हें उस की प्रेमिका ने प्रेम-भरी दृष्टि से देखा है, ऐसे कंसारि भगवान् कृष्ण का स्वप्रियानुनय आप सामाजिकों को परिपुष्ट करे ॥२॥

अपि च—

दृष्टः सप्रेम देव्या, किमिदमिति भयात्सम्भ्रमाच्चासुरीभिः[1],
शान्तान्तस्तत्त्वसारैः सकरुणमृषिभिर्विष्णुना सस्मितञ्च[2]।

इदमपि पद्यं द्वादशपदात्मिकाया नान्द्या अवयवभूतमित्येव सूचयन्नाह—अपि चेति। किञ्चेत्यर्थः।

(अन्वय) मयपुरदहने देव्या सप्रेम दृष्टः 'किमिदम्' इति भयात् सम्भ्रमात् च आसुरीभिः (दृष्टः), शान्तान्तस्तत्त्वसारैः ऋषिभिः सकरुणं (दृष्टः), विष्णुना सस्मितं (दृष्टः), दैत्यवीरैः अस्त्रम् आकृष्य उपशमितवधूसंभ्रमैः सगर्वैः (सद्भिः दृष्टः), देवताभिः सानन्दं (दृष्टः) धूर्जटिः युष्मान् पातु।

(व्याख्या) मयेन (निमितानि) पुराणि मयपुराणि मध्यमपदलोपि-तत्पुरुषः, तेषां दहनं तस्मिन् मयपुरदहने त्रिपुरदाहावसरे देव्या पार्वत्या प्रेम्णा सहितं सप्रेम सस्नेहं यथास्यात्तथा दृष्टोऽवलोकितः 'सुधन्याऽहं वीरपत्नी यत्पतिना एवंविधो महान् दुर्दमोऽपि राक्षसराड् विनिपातित' इति प्रेमातिशयेन भगवत्या गौर्या सकटाक्षं विलोकित इत्यर्थः, असुराणामिमा आसुर्यस्ताभिरसुरस्त्रीभिः 'किमिदं' जातमापतितमित्येवं भयात् संभ्रमाद् उद्वेगाच्च दृष्टः, शान्तमन्तस्तत्त्वमन्तःकरणं तदेव सारो बलं येषां तैः ऋषिभिः करुणया सहितं सकरुणं सदयं यथा स्यात्तथा

त्रिपुर दाह के अवसर पर भगवती पार्वती से सस्नेह देखे गए, और 'अरे ! यह क्या हुआ' इस प्रकार भय एवं उद्वेग के साथ असुर-पत्नियों से देखे गए, शान्त अन्तःकरण वाले ऋषियों से सकरुण भाव से देखे गए, भगवान् विष्णु

१ 'सम्भ्रमादासुरीभिः' इति पाठान्तरम्।
२ 'सस्मितेन' इति पा।

आकृष्यास्त्रं[3] सगर्वैरुपशमितवधूसंभ्रमैर्दैत्यवीरैः,
सानन्दं देवताभिर्मयपुरदहने धूर्जटिः पातु युष्मान् ॥३॥

दृष्टः, विष्णुना भगवता नारायणेन स्मितेन सहितं सस्मितं यथा स्यात्तथा दृष्टः, दैत्याश्च ते वीरास्तैर्दैत्यवीरैः अस्त्रं धनुरादिकम् आकृष्य उद्यम्य उपशमितो वधूनां सम्भ्रम उद्वेगो यैस्तैः उपशमितवधूसम्भ्रमैः गर्वेण सहितैः सगर्वैः सद्भिः दृष्टः, 'अस्मासु सन्नद्धेषु सत्सु नायं भयाऽवसरः' इति स्वप्रियोद्वेगमुपशमयद्भिर्दैत्यैः सगर्वं दृष्ट इति भावः, देवताभिश्च आनन्देन सहितं सानन्दं सहर्षं यथा स्यात्तथा दृष्टो धूः भारभूता जटिः (=जटा) यस्य स धूर्जटिः शिवो युष्मान् सामाजिकान् पातु रक्षतु। स्रग्धरा छन्दः, 'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्' इति तल्लक्षणात्।

अयमत्र पौराणिकः संकेतोऽवधेयः। पुरा किल तारकासुरस्य तारा-क्ष-कमलाक्ष-विद्युन्मालिनस्त्रयः पुत्रा आसन्। ते च तपस्तप्त्वा भगवतो ब्रह्मणः सकाशान्नभसि, वायौ, पृथिव्यां च स्थितं क्रमशः सौवर्णं, राजतमायसं च मयनिर्मितं पुरत्रयमवापुः। ततश्च तैरितस्ततो गमनागमनेन भृशं पीडिता देवास्तेषां वधाय भगवन्तं शंकरं सम्प्रार्थयामासुः। एवं देवप्रार्थनया भगवान् शंकरस्तेषां पुरत्रयं ददाह। तस्मिंश्चावसरे शिवः पार्वत्या, विष्णुना देवैश्च सानन्दं दृष्टः (तु.G.) ॥३॥

से मुस्कराहट के साथ देखे गए, धनुष आदि अस्त्र उठा कर अपनी पत्नियों के भय एवं उद्वेग को शान्त करते हुए दैत्यवीरों से अभिमान के साथ देखे गए और इन्द्रादि देवों से सानन्द देखे गए भगवान् शंकर (रंगशाला में उपस्थित) आप सब सामाजिकों की रक्षा करें ॥३॥

३. 'आदायास्त्रम्' इति पा.।

(नान्द्यन्ते)

सूत्रधारः—अलमतिविस्तरेण[1]।

श्रवणाऽञ्जलिपुटपेयं विरचितवान् भारताख्यममृतं यः।
तमहमरागमकृष्णं[2] कृष्णद्वैपायनं वन्दे ॥४॥

नान्द्यन्त इति—द्वादशपादात्मकनान्दीपाठानन्तर रंगमञ्चनिर्देशकः सूत्रधारः रंगशाला प्रविशति। भरतोक्तनाट्यशास्त्र-नियमानुसारं प्रस्तावनातः पूर्वम् अन्येषामपि केषा चिद् ऋतुगीतादीना नाट्याङ्गाना कर्तव्यत्वस्य यद्यपि आवश्यकत्वमस्ति पर तथा कृते समयविलम्बेन सामाजिकाना रस-भङ्गो न भवेदित्याशंकया सूत्रधारः कविनामादिनिर्देशस्याऽऽवश्यकतया भगवन्त व्यासमेव पूर्वं स्तौतिः–अल मित्यादिना। ऋतुगीतादिषु अन्यकृत्येषु समययापनेनाऽलमित्यर्थः।

श्रवणेति—(अन्वयः) य श्रवणाञ्जलिपुटपेयं भारताख्यम् अमृतं विरचितवान्, तम् अरागम् अकृष्णम् कृष्णद्वैपायनं वन्दे।

(व्याख्या) यो व्यासः श्रवणमेव अञ्जलिपुटं तेन पेयं पानयोग्यं भारतमिति आख्या यस्य तद् भारताख्यं भारतनामकम् अमृतम् अमृतमिव मधुरं ऐतिहासिकं महाकाव्यं विरचितवान् कृतवान् (वि+√रच् +क्तवतु प्र.), तं नास्ति रागो यस्य तम् अरागं रागरहितं सांसारिकविषयासक्तिशून्यं न कृष्णोऽकृष्णस्तं निष्पापमित्यर्थः, कृष्णश्चासौ द्वैपा-

(नान्दी समाप्त होने पर)

सूत्रधारः—बस, रहने दो। अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है। कर्ण-पुटों से पीने योग्य महाभारत नामक अमृत (-मय ऐतिहासिक महाकाव्य) की जिन्होंने रचना की है, उन राग-शून्य एवं निष्पाप भगवान् व्यास को मैं प्रणाम करता हूँ।

१. गु 'अतिप्रसंगेन' इति पा.। २. 'अतृष्णम्' इति पा.।

(समन्तादवलोक्य)

भवन्तः[1] परिषदग्रेसराः[2] ? विज्ञाप्यं नः किञ्चिदस्ति ।

कुसुमाञ्जलिरपर इव प्रकीर्यते काव्यबन्ध एषोऽत्र ।
मधुलिह इव मधुबिन्दून् विरलानपि गुणलेशान् ॥५॥

यतः कृष्णद्वैपायनस्तं कृष्णद्वैपायनं व्यासम् अहं वन्दे । आर्या जातिः ।

व्यासविषये इदमत्र पौराणिकं वृत्तमवधेयम् :—

'न्यस्तो द्वीपे स यद् बालस्तस्माद् द्वैपायनः स्मृतः ।
यो व्यस्य वेदाँश्चतुरस्तपसा भगवानृषिः ।
लोके व्यासत्वमापेदे काष्र्ण्यात् कृष्णत्वमेव च ॥ (आदि पर्व)

द्वैपायनशब्दश्चैवं व्युत्पाद्यः—द्वीपम् अयनं न्यासस्थानं यस्य स द्वीपायनः, द्वीपायन एव द्वैपायनः (प्रज्ञादित्वात्स्वार्थे अण्) ॥४॥

सामाजिकानभिमुखीकर्तु तान् सम्बोध्याह—भवन्त इति। भवन्तो मान्याः परिषदि सभायाम् अग्रेसराः मुख्याः। नोऽस्माकं विज्ञाप्य निवेदनीय किञ्चिदस्ति। तदेवाऽऽह—कुसुमेत्यादिना।

कुसुमाञ्जलिरिति—(अन्वयः) एष काव्यबन्धः अपरः कुसुमाञ्जलिः इव प्रकीर्यते। अत्र मधुलिहः मधुबिन्दून् इव विरलान् अपि गुणलेशान् भजत।

(व्याख्या) एषोऽयं काव्यस्य बन्धः काव्यबन्धः, इदं नाटक-

(चारों ओर देख कर)

अयि मान्य सभासदो ! मैं आप से कुछ निवेदन करता हूँ :—

यह काव्यबन्ध (=नाटक) दूसरी पुष्पाञ्जलि के समान (आप के सम्मुख) प्रस्तुत किया जा रहा है। जिस प्रकार भ्रमर फूलों के थोड़े-से भी मकरन्द रस का आस्वादन करते हैं इसी प्रकार आप भी इस नाटक के स्वल्प गुणों भी ग्रहण कीजिये ॥५॥

१. गु. 'तत्र भवतः' इति पा.। २. गु. 'सरान्' इति पा.।

यदिदं[1] कवेर्मृगराजलक्ष्मणो भट्टनारायणस्य अभिनवकृतिं वेणी-संहारं नाम नाटकं प्रयोक्तुमुद्यता वयम् । तत्र[2] च कविपरिश्रमानु-रोधाद् उदात्तकथावस्तुगौरवाद् वा, नवनाटकदर्शने कुतूहलाद् वा भवद्भिरवधानं दीयमानमभ्यर्थये ।

मित्यर्थः, अपरो द्वितीयः कुसुमानाम् अञ्जलिः कुसुमाञ्जलिः पुष्पाञ्जलि-रिव प्रकीर्यते प्रस्तूयत इत्यर्थः । अयि सामाजिकाः ! अत्रास्मिन् काव्य-बन्धे विरलान् स्वल्पानपि गुणस्य लेशाः कणा स्तान् मधुलिहन्तीति ते मधुलिहो भ्रमराः मधुनो बिन्दूनिव भजत सेवध्वम्, गृह्णीत स्वीकुरुते-त्यर्थः । यथा भ्रमराः पुष्पेषु स्वल्पानपि मकरन्दबिन्दून् गृह्णन्ति तथा-ऽस्मिन् काव्येऽपि यदि स्वल्पोऽपि रसलेशः स्यात्तदा भवद्भिः सामाजि-कैरवश्यमेव स आस्वादनीयः । एतेनेह कविनाऽहंकारशून्यत्वं प्रकटी-कृतम् । आर्या जातिः ॥४॥

प्रस्तावनामवतारयन्नाह—यदिदमिति । मृगराजस्य सिंहस्य लक्ष्म चिह्नं यस्मिंस्तस्य मृगराजलक्ष्मणः कविसिंहस्य । वीररसप्रधानकाव्यकर्तृत्वेन भट्टनारायणस्य 'कविसिंह:' इत्युपाधिः शोभते एव । अभिनवां नवीना कृतिं रचनामित्यर्थः । वेण्याः संहारः संयमनं यस्मिन् नाटके तत् प्रयोक्तुं रङ्गमंचे प्रदर्शयितुमभिनेतुमित्यर्थ', वयमुद्यताः । तत्र तस्मिन् नाटके च कवेर्यः परिश्रम-स्तस्मिन् अनुरोधात् समादरभावात् , उदात्तम् औदार्यादिगुणसम्पन्नं यत्कथा-वस्तु तस्मिन् यद् गौरवम् समादरस्तस्मात् , नवं नवीनं यन्नाटक तस्य दर्शन-कुतूहलाद् वा भवद्भिः सामाजिकैः अवधानं चित्तैकाग्र्यं दीयमानम् (√दा + कर्मणि यक् + शानच्) अहं सूत्रधारः अभ्यर्थये प्रार्थये ।

हम लोग 'कविसिंह' महाकवि भट्टनारायण-कृत वेणी-संहार नामक नवीन नाटक का जो यह अभिनय करना चाहते हैं उसके विषय में हम आप से प्रार्थना करते हैं कि कवि के परिश्रम के प्रति आदरभाव, उत्कृष्ट कथावस्तु के प्रति गौरव अथवा नवीन नाटक देखने के कुतूहल से आप लोग ध्यान देकर उसका निरीक्षण करें ।

१. 'तदिदम्' इति पा. । २. 'तदत्र' इति पा. ।

(नेपथ्ये)

भाव ! त्वर्यतां त्वर्यताम् । एते खल्वार्यविदुराज्ञया पुरुषाः सकलमेव शैलूषजनं व्याहरन्ति—'प्रवर्त्त्यन्तामपरिहीयमानमातोद्यविन्यासादिका विधयः । प्रवेशकालः किल तत्र भगवतः, पाराशर्य-नारद-तुम्बुरु-जामदग्न्यप्रभृतिभिर्मुनिवृन्दारकैरनुगम्यमानस्य भरतकुलहितकाम्यया[1] स्वयं[2] प्रतिपन्नदौत्यस्य[3] देवकीसूनोर्देवस्य चक्रपाणेर्महाराज-दुर्योधनशिबिरं[4] प्रति प्रस्थातुकामस्य' इति ।

नेपथ्ये—रङ्गभूमौ । 'नेपथ्यं रङ्गभूमौ स्यान्नेपथ्यं तु प्रसाधनम्' इति विश्वः । भाव ! हे विद्वन् ! त्वर्यतां त्वरा करणीया । सम्भ्रमद्योतनार्थं द्विरावृत्तिः । एते खलु एते हि, 'खलु' इत्यव्ययं वाक्यालंकारार्थं प्रयुज्यते, पुरुषाः आर्यश्चासौ विदुर आर्यविदुरस्तस्य आज्ञया सकलमेव शैलूषजनं नटसमूहं व्याहरन्ति कथयन्ति । किमिति तदेवाऽनुवदति—प्रवर्त्त्यन्तामित्यादिना । न परिहीयमानम् अपरिहीयमानम् अपरित्यज्यमानम् यथा स्यात्तथा, अर्थाद् यस्मिन् कोऽपि दोषो न भवेदित्यर्थः । क्रियाविशेषणमेतत् । परिहीयमानमित्यत्र परि+

(नेपथ्य में)

भाई ! जल्दी करो, जल्दी करो । (देखो) आर्य विदुर की आज्ञा से ये लोग सब नटों को आज्ञा दे रहे हैं कि आप लोग अच्छी प्रकार से गाना-बजाना आरम्भ कीजिये और उस में कोई भी कमी न रहे क्योंकि अब व्यास, नारद, तुम्बरु और परशुराम आदि मुनि-श्रेष्ठों से अनुगम्यमान देवकी-पुत्र चक्रपाणि भगवान् कृष्ण का, जिन्होंने भरत-वंश के हित की कामना से स्वयं दूत-कार्य स्वीकार किया है, महाराज दुर्योधन के शिविर में आने का समय हो गया है ।

---

१. अयं पा. क्वचिन्न । २. 'काङ्क्षया' इति पा. । ३. 'दूतस्य' इति पा. । ४, 'शिबिरसन्निवेशं प्रति' इति गु. पा. ।

सूत्रधारः—(आकर्ण्य सानन्दम्) अहो नु खलु भोः ! भगवता सकलजगत्प्रभव-स्थिति-निरोध-प्रभविष्णुना विष्णुनाऽद्याऽनुगृहीत-

ह्रा (त्यागे) इत्यतः कर्मणि यक् ततः शानच्। 'आतोद्य' शब्देनेह घन-तत-सुषिर-आनद्धेति चतुष्प्रकाराणि वादनयन्त्राणि बोध्यन्ते। आतोद्यानां विन्यास आदिर्येषां ते आतोद्यविन्यासादिकाः विधयोऽनुष्ठानानि प्रवर्त्स्यन्ताम् प्रारभ्यन्तामित्यर्थः। किमर्थमित्याह—प्रवेशेति। पाराशर्यो व्यासः, नारदश्च तुम्बुरुश्च जामदग्न्यः परशुरामः, ते प्रभृतौ आदौ येषां तैः मुनिषु वृन्दारकाः मुख्यास्तैर्मुनिवृन्दारकैः अनुगम्यमानस्य (अनु + √गम् + कर्मणि यक्, ततः शानच्), भरतानां कुलं भरतकुलं तस्य यद्धितं तस्य काम्यया इच्छया स्वयमेव प्रतिपन्नं स्वीकृतं (प्रति + √पद् + क्त), दूतस्य भावः कर्म वा दौत्यं येन तस्य प्रतिपन्नदौत्यस्य अङ्गीकृतदूतकर्मणः देवक्याः सूनोः पुत्रस्य देवस्य भगवतः चक्रं पाणौ हस्ते यस्य तस्य चक्रपाणेः श्रीकृष्णचन्द्रस्य महाँश्चासौ राजा महाराजः स चाऽसौ दुर्योधनो महाराजदुर्योधनस्तस्य-शिविरं प्रति प्रस्थातुं काम इच्छा यस्य तस्य प्रस्थातुकामस्य प्रवेशकाल आगमनवेलेयम्।

नेपथ्ये जायमानं शब्दं श्रुत्वा सूत्रधारः सानन्दम्, आनन्देन सहितमित्यर्थः, स्वानुचरं पारिपार्श्विकं वदतीति शेषः। पारिपार्श्विकस्तु—

सूत्रधारस्य पार्श्वे यः प्रकरोत्यमुना सह।
काव्यार्थसूचनाऽऽलापं स भवेत्पारिपार्श्विकः॥

इति भरतवचनानुसारं नटेषु प्रधानः सूत्रधारसहचरो भवति। सूत्रधारः पारिपार्श्विकं किं ब्रूत इत्याह—'अहो नु खलु' इत्यादि।

सूत्रधारः—(सुन कर बड़े आनन्द के साथ) ओह ! वास्तव में *इस समय संसार की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय में समर्थ कंसारि भगवान्*

मिदं भरतकुलं सकलं च [1]राजकमनयोः कुरुपाण्डवराजपुत्रयोराहव-कल्पान्तानलप्र[2]शमहेतुनाऽनेन [3]स्वयं सन्धिकारिणा कंसारिणा दूतेन। तत् किमिति पारिपार्श्विक! नारम्भयसि कुशीलवैः सह [4]सङ्गीतक-मेलकम्?

सकलस्य जगत. प्रभवस्थिति-निरोधेषु प्रभविष्णुना समर्थेन, विष्णुना नारायणेन सकलमिदं भरतानां कुलं सकलं च राज्ञां समूहो राजकम् अनुगृहीतम्। कुरुश्च पाण्डवश्च कुरुपाण्डवौ तयोः राजपुत्रौ कुरुपाण्डवराजपुत्रौ तयो. आहवो युद्धमेव कल्पान्तः प्रलयस्तस्य अनलोऽग्निस्तस्य प्रशमस्य हेतुना हेतुभूतेन अनेन स्वयं सन्धिकारिणा कंसारिणा कृष्णेन दूतेन दूतरूपेण आगतेनेत्यर्थः इदं सकलं भरतकुलं राजक राजमण्डलं चाऽनुगृहीतमिति शेष.। तस्मात् हे पारिपार्श्विक? सङ्गीतकस्य मेलकं समारोहं कुशीलवैर्नटै. सह किमिति कस्माद्धतो नारम्भयसि?

कृष्ण ने इन कुरु एव पाण्डव राजपुत्रो मे युद्ध-स्वरूप प्रलयकालीन अग्नि को शान्त करने के निमित्त स्वय दौत्य-कर्म स्वीकार करके सन्धि के लिये प्रयत्नशील होकर इस भरतकुल तथा समस्त राजसमूह पर बड़ा ही अनुग्रह किया है। इस लिये, हे पारिपार्श्विक! अब तुम कुशीलवों के साथ सगीत-समारोह का समारम्भ क्यों नही करते!

१. 'राजन्यकम्' इति पा.। २. 'प्रशमन' इति पा.।
३. 'स्वय प्रति- पन्नदौत्येन' इति पा.।
४. 'सगीतकम्' इति पा.।

(प्रविश्य)

पारिपार्श्विकः—भवतु । आरम्भयामि । कतमं समयमाश्रित्य गीयताम् ?

सूत्रधारः—नन्वमुमेव तावच्चन्द्रातप-नक्षत्र-ग्रह-क्रौञ्च-हंसकुल[1]-सप्तच्छद-कुसुम-पुण्डरीक-काश-कुसुम-पराग-धवलितदिङ्मण्डलं स्वादुजल-जलाशयं शरत्समयमाश्रित्य प्रवर्त्यतां सङ्गीतकम् । तथा ह्यस्यां शरदि—

प्रविश्य पटाक्षेपेण प्रवेशं नाटयित्वा । आश्रित्य अधिकृत्य । चन्द्रातपश्च, नक्षत्राणि, ग्रहाश्च, क्रौञ्चाश्च हंसकुलानि च, सप्तच्छदाश्च, कुमुदानि च, पुण्डरीकाणि च काशकुसुमानि चेति चन्द्रातपनक्षत्र ···काशकुसुमानि तेषां परागस्तेन धवलितं श्वेतीकृतं दिङ्मण्डलं येन तं, स्वादु जलं येषु ते स्वादुजला;, स्वादुजला जलाशया यस्मिन् तं स्वादुजलजलाशयं मधुरजलसरोभिरुपशोभितं शरत्समयमाश्रित्याऽधिकृत्य सङ्गीतकमारभ्यताम् । हि यत शरदि ।

(प्रवेश करके)

पारिपार्श्विक—अच्छा, (अभी) आरम्भ करता हूँ । (कहिये) किस ऋतु के विषय मे गीत गाया जाए ?

सूत्रधार—इसी शरद् ऋतु के विषय मे, जिसने चन्द्रिका, नक्षत्र, ग्रह, क्रौञ्चपक्षी, हससमूह, सप्तच्छद पुष्प, कुमुद, श्वेतकमल, काशकुसुम आदि के पराग से समस्त दिङ्मण्डल को श्वेत बना दिया है और जिस में समस्त जलाशय मधुर जल से परिपूर्ण हैं, (आप अपना) गीत आरम्भ कीजिये । क्यो कि इस शरद् ऋतु में—

१. अय पा. G. नास्ति । २. एतस्य स्थाने गु. 'कोकनद' इति पा. ।

सत्पक्षा मधुरगिरः प्रसाधिताशा मदोद्धतारम्भाः ।
निपतन्ति धार्तराष्ट्राः कालवशान्मेदिनीपृष्ठे ॥६॥

सत्पक्षा इति । (अन्वयः) (अस्यां शरदि) सत्पक्षाः, मधुरगिरः, प्रसाधिताशाः, मदोद्धतारम्भाः धातराष्ट्राः कालवशाद् मेदिनीपृष्ठे निपतन्ति ।

(व्याख्या) अत्र 'धार्तराष्ट्र' पदस्य श्लिष्टतया पक्ष्यर्थवाचकत्वेन धृतराष्ट्रपुत्रदुर्योधनादिवाचकत्वेन चेह उभयपक्षान्वयिनः सर्वेपि विशेषण-शब्दाः बोद्धव्याः । अस्यां शरदि सन्तः पक्षाः येषां ते सत्पक्षा उत्तमपक्ष-युक्ताः, दुर्योधनादिपक्षे सशक्तसेनासंयुताश्च, मधुरा गिरो येषां ते मधुर-गिरः कलरवाः, मधुरवाचश्च, प्रसाधिता आशा यैस्ते प्रसाधिताशा अलं-कृतदिक्समूहाः, वशीकृतदिङ्मण्डलाश्च, मदेन उद्धता आरम्भा येषां ते मदोद्धतारम्भाः हर्षचंचलव्यापाराः, गर्वोद्धतव्यवहाराश्च धार्तराष्ट्राः कृष्णवर्णचञ्चुचरणयुक्ता हंसविशेषाः, दुर्योधनादयो धृतराष्ट्रपुत्राश्च काल-वशात् शरत्प्रभावाद् मृत्युवशाच्च मेदिनीपृष्ठे भूतले निपतन्ति । हंसाः शरदि मानसं परित्यज्य भूतलमायान्ति दुर्योधनादयश्च भूम्यां निपतन्ति मृत्वा नितरां पतन्तीत्यर्थः । इत्थं चेह श्लेषमुखेन कविना दुर्योधनादीनां मृत्युरूपं कथाबीजमपि सूचितम् । आर्या छन्दः ॥६॥

सुन्दर पंखों वाले (पक्ष में–सशक्त सैन्यबल सम्पन्न) मधुर कलरव करते हुए (पक्ष में-मधुर भाषी) तथा जिन्हों ने समस्त दिङ्मण्डल को अलंकृत कर दिया है (पक्ष में-सब दिशाओं को अपने वश में करने वाले) और जो प्रसन्नता के कारण चंचल व्यापारों में लीन हैं (पक्ष में–अहंकार से उद्धत कार्यों में व्यस्त) ऐसे धार्तराष्ट्र (हंस विशेष या दुर्योधनादि) काल (शरदृतु) के प्रभाव से (मानसरोवर से आकर) पृथ्वी पर गिर रहे हैं ॥६॥

पारिपार्श्विकः—(ससम्भ्रमम्) भाव ! शान्तं पापम् । प्रतिहतम-मङ्गलम् ।

सूत्रधारः—(सवैलक्ष्यस्मितम्) मारिष ! शरत्समयवर्णनाशंसया हंसा 'धार्तराष्ट्रा' इति व्यपदिश्यन्ते। [तत् 'किं शान्तं पापं, प्रतिहतममङ्गलमिति' ?]

पारिपार्श्विकः—भाव[1] ! न खलु न जाने। किन्त्वमङ्गलाशंसयाऽस्य वो वचनस्य यत्सत्यं कम्पितमिव मे हृदयम्।

पारिपार्श्विकश्च सूत्रधारकृतमिदं शरदृतुवर्णनमाकर्ण्य 'धार्तराष्ट्र' पदं च दुर्योधनादिपरकं सम्भाव्य अमङ्गलमाशङ्क्य ससम्भ्रममाह—भावेति। हे भाव ! हे विद्वन् ! एवं विधं पापमयं वाक्यं शान्तं भवतु। अमङ्गलं च प्रतिहतं विनष्टं भवतु, अर्थाद् एवं विधं पापमयम् अमङ्गलसूचकं च वाक्य भवद्भिः कदापि न वाच्यमित्यर्थः।

सवैलक्ष्येति—वैलक्ष्यं च स्मितं च वैलक्ष्यस्मिते ताभ्यां सह सवैलक्ष्य-स्मितम्, क्रियाविशेषणम्, सलज्जं सस्मितं चाहेति शेषः। हे मारिष ! हे आर्य !, 'आर्यस्तु मारिषः' इत्यमरः, शरत्समयवर्णनस्य आशंसया प्रस्तावेन हंसा एव मया 'धार्तराष्ट्रे'ति पदेन व्यपदिश्यन्ते अभिधीयन्ते। तत् किमर्थं 'शान्तं पापम्, प्रतिहतममङ्गलम्' इत्यादि वदसि ?

पारिपार्श्विक—(घबरा कर) श्रीमन् ! यह पाप-मय वाक्य शान्त हो। अमङ्गल का विनाश हो।

सूत्रधार—(कुछ लज्जित-सा होकर मुस्कराता हुआ) आर्य ! शरदृतु का वर्णन-प्रसग होने के कारण हसो को ही मैंने 'धार्तराष्ट्र' शब्द से कहा है। इसलिये आप 'पाप शान्त हो, अमङ्गल का विनाश हो' इत्यादि बातें क्यों कह रहे हैं ?

पारिपार्श्विक—श्रीमन् ! मैं (आप के हार्दिक भाव को) नहीं जानता-ऐसी बात नहीं है। किन्तु आप के वचन से अमङ्गल की आशङ्का हो जाने के कारण, सच मानिये, मेरा हृदय कपित-सा हो उठा।

१. अय पा. G. नास्ति। २. अय पा. G. नास्ति।

सूत्रधारः—मारिष ! ननु सर्वमेवेदानीं प्रतिहतममङ्गलं स्वयं प्रतिपन्नदौत्येन सन्धिकारिणा कंसारिणा। तथा हि—

निर्वाणवैरदहनाः प्रशमादरीणां,
नन्दन्तु पाण्डुतनयाः सह माधवेन।

भावेति—हे भाव ! एतत्सर्वमहं न जाने इति न खलु, अपितु जाने एव। नञ्द्वयस्य प्रकृतार्थदाढ्यबोधकत्वात्। किन्तु धार्तराष्ट्रदुर्योधनादीनां विनाशरूपस्याऽमङ्गलस्याऽनिष्टस्य आशंसया आशङ्कया। वो युष्माकं वचनस्य। यत्सत्यमिति पद 'वस्तुत' इत्यर्थे वाक्ये प्रयुज्यते (तु. G.)। अर्थाद् वस्तुत 'निपतन्ति धार्तराष्ट्रे'ति पूर्वोक्तभवद्वाक्यप्रतीताऽमङ्गलरूपस्यार्थस्य सम्भावनया मे हृदयं कम्पितमिव।

मारिषेति—हे मारिष ! इदानीं स्वयं प्रतिपन्नं दौत्य दूतकर्म येन तेन स्वय प्रतिपन्नदौत्येन स्वयमेव अङ्गीकृत-दूतकर्मणा सन्धिं कारयितुं शीलमस्य तेन सन्धिकारिणा, ताच्छील्ये णिनि प्रत्यय, कंसस्य अरि शत्रुस्तेन कंसारिणा भगवता श्रीकृष्णेन इद सर्वममङ्गलं प्रतिहतं विध्वस्तं दूरीकृतमित्यर्थ। तथा हि निश्चयेनेत्यर्थ।

निर्वाणेति—(अन्वय) अरीणां प्रशमात् निर्वाणवैरदहना पाण्डुतनया माधवेन सह नन्दन्तु। रक्तप्रसाधितभुव क्षतविग्रहा सभृत्या कुरुराजसुता स्वस्था भवन्तु।

(व्याख्या) अरीणा शत्रूणा, धार्तराष्ट्राणा दुर्योधनादीनामित्यर्थ

सूत्रधार—आर्य ! (डरो मत)। सन्धि कराने क लिये प्रयत्नशील भगवान् कृष्ण ने स्वय दूतकर्म स्वीकार कर के इस समय सब अनिष्टों को दूर कर दिया है। (इस समय अब) निश्चय ही—

(दुर्योधनादि) शत्रुओ के शान्त हो जाने से (युधिष्ठिरादि) पाण्डव लोग शत्रुता की अग्नि के बुझ जाने पर (अब) भगवान् कृष्ण के साथ

रक्तप्रसाधितभुवः　क्षतविग्रहाश्च,
　　　स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः ॥ ७ ॥

प्रशमाद् निर्वाणः शान्तिमुपगतः, (निर्√वा+क्त), वैरमेव दहनो-ऽग्निर्येषां ते तथाभूताः पाण्डुतनयाः पांडवाः, युधिष्ठिरादय इत्यर्थः, मा लक्ष्मीस्तस्या धवः पतिस्तेन माधवेन कृष्णेन सह नन्दन्तु आनन्द-मनुभवन्तु । रक्तेन रागेण, प्रेम्णेत्यर्थः, रंजेर्भावे क्तः, प्रसाधिताः स्ववशीकृता भूर्यैस्ते रक्तप्रसाधितभुवः, क्षतः समाप्तः विग्रहो युद्धं येषां ते क्षतविग्रहाः समाप्तयुद्धाः भृत्यैः सहिताः सभृत्याः सानुचराः कुरूणां राजा कुरुराजस्तस्य धृतराष्ट्रस्य पुत्रा दुर्योधनादयः स्वस्थाः सुस्थिताः सन्तः, 'सुस्थिते च मृते स्वस्थः' इति विश्वः, भवन्तु तिष्ठन्तु ।

अत्र च कविना श्लेषमुखेन कथाबीजमपि सूचितम् । तत्र च पक्षे निम्नप्रकारेणाऽयं श्लोको व्याख्येयः ।

अरीणां दुर्योधनादीनां शत्रूणां प्रशमाद् विनाशाद् निर्वाणवैर-दहनाः शान्तवैराः पाण्डवाः भगवता कृष्णेन नन्दन्तु । सानुचराः कुरुराजसुताः धृतराष्ट्रपुत्राः दुर्योधनादयश्च रक्तप्रसाधितभुवो रुधिरा-लंकृताहवभूमयः क्षता विनष्टा विग्रहाः शरीराणि येषां ते क्षतविग्रहा विनष्टशरीराः सन्तः स्वस्थाः मृता भवन्तु । वसन्ततिलका छन्दः "उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः" इति तल्लक्षणोक्तेः ॥७॥

आनन्द करें और कुरुराजपुत्र दुर्योधनादि युद्ध का भय दूर हो जाने पर प्रेम से समस्त भूमण्डल को अपने वश में करके अपने अनुचरों के साथ शान्ति से रहें ॥७॥

दूसरा अर्थ—दुर्योधनादि शत्रुओं के विनष्ट हो जाने से वैराग्नि के शान्त हो जाने पर पाण्डव लोग भगवान् कृष्ण के साथ आनन्द करें और कुरुराज-पुत्र दुर्योधनादि अपने अनुचरों के साथ क्षत-शरीर होकर समस्त पृथ्वी को रक्त से रञ्जित करते हुए स्वर्ग में विश्राम करें ॥७॥

(नेपथ्ये । साधिक्षेपम् ।)

आः पाप ! दुरात्मन् ! वृथामङ्गलपाठक ! शैलूषापसद !,

लाक्षागृहानल-विषान्न-सभाप्रवेशैः,

प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य ।

साधिक्षेपेति—अधिक्षेपो भर्त्सना तया सहितं साधिक्षेपं साक्षेपं सभर्त्सनं वा । 'आः' इति कोपेऽव्ययम् 'आस्तु स्यात्कोपपीडयोः' इत्यमरः । पापमस्याऽस्तीति पापस्तत्सम्बुद्धौ पाप ! हे पापिन् दुरात्मन् दुष्टात्मन् ! वृथामङ्गलपाठक ! व्यर्थमेव मङ्गलमन्त्रोच्चारिन् ! अप दूरं सीदतीति अपसदो नीचः, शैलूषेषु नटेषु अपसदो नीचस्तत्सम्बुद्धौ हे शैलूषापद ! हे नटाधम ! एतैः सम्बोधनपदैर्नेपथ्यतो भीमो मङ्गलश्लोकपाठकं सूत्रधारमधिक्षिपन्नाह—लाक्षेति ।

(अन्वयः)—लाक्षागृहानल-विषान्न-सभाप्रवेशैः नः प्राणेषु वित्तनिचयेषु प्रहृत्य पाण्डववधूपरिधानकेशान् आकृष्य धार्तराष्ट्राः मयि जीवति स्वस्थाः भवन्तु (किम्)

(व्याख्या) लाक्षया निर्मितं गृहं लाक्षागृहं, मध्यम पदेलोपितत्पुरुषः, तस्मिन् योऽनलः लाक्षागृहानलश्च विषान्नं विषसम्पृक्तमन्नं च सभाप्रवेशश्च तैः लाक्षागृहानलविषान्न-सभाप्रवेशैः नोऽस्माकं प्राणेषु वित्तनिचयेषु धनसमूहेषु च प्रहृत्य (प्र√हृ+क्त्वा >ल्यप्) अर्थात् लाक्षागृहं निर्माय तत्र चास्मान् आहूय रात्रौ च तस्मिन्नग्निं दत्त्वा,

(नेपथ्य में । आक्षेप के साथ ।)

अरे पापी ! दुरात्मन् ! व्यर्थ ही मङ्गल श्लोकों का पाठ करने वाले ! नटाधम !

जिन धार्तराष्ट्रों (धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधनादि) ने लाक्षागृह मे आग लगा

१. अयं पा. पु. नास्ति ।

आकृष्य पाण्डववधू-परिधानकेशान्,
स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः ? ॥ ८ ॥
(सूत्रधारपारिपार्श्विकावाकर्णयतः)

अन्यस्मिन्नवसरे भोजने विषं संमेल्य छलेनाऽस्माकं प्राणान् हर्तुं प्रयत्य सभायां कपटद्यूतेनाऽस्माकं धनेषु च प्रहारं कृत्वा, अपरं च पाण्डवानां या वधूः द्रौपदी तस्याः यत्परिधानं केशाश्च तान् पाण्डववधू-परिधानकेशान् आकृष्याऽपि मयि भीमसेने जीवति सति धार्तराष्ट्राः धृतराष्ट्रस्य पुत्रा दुर्योधनादय स्वस्था भवन्तु किमिति शेषः, अर्थाद् यत्त्वयोक्तं 'स्वस्था भवन्तु, इति तत्कदापि न भवितुं शक्यते। मयि जीवति सति ते कदापि स्वस्था न भविष्यन्तीत्यर्थः। वसन्ततिलका छन्दः, 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ ग ' इति तल्लक्षणात् ॥८॥

इद पूर्वोक्तं नेपथ्यान्तर्गतं भीमसेन वाक्यं सूत्रधार-पारिपार्श्विकौ उभावपि आकर्णयत शृणुत ।

कर तथा विष-मय भोजन खिला कर हमारे प्राणो पर प्रहार किया है, जिन्होने (धोखे से) सभा मे बुला कर (जूए मे हमारा) सब धन लूट लिया है और जिन्होने पाण्डवो की स्त्री द्रौपदी के वस्त्र तथा केश खींच कर (हमारा अपमान किया है) क्या वे (दुर्योधनादि) मेरे जीते जी सुख पूर्वक रह सकते हैं ॥८॥

(सूत्रधार और पारिपार्श्विक दोनों ध्यान से सुनते हैं)

१. अस्य स्थाने G. 'सूत्रधारः—(आकर्ण्य सभयं नेपथ्याभिमुख-मवलोक्य च)' इति पा. ।

पारिपार्श्विकः—भाव ! कुत एतत् !

सूत्रधारः—(पृष्ठतो विलोक्य सभयम्) अये ! कथमयं वासुदेव-गमनात् कुरुसन्धानममृष्यमाणः पृथुललाटतटघटितविकटभ्रुकुटिना दृष्टिपातेनाऽऽपिबन्निव नः सर्वान् सहदेवेनाऽनुगम्यमानः क्रुद्धो

भावेति। भाव ! श्रीमन् ! कुतः कस्मात् स्थानाद एतद् वाक्यम् आयातीति शेषः।

पृष्ठत इति। विलोक्य दृष्ट्वा। भयेन सहितं यथा स्यात्तथा, क्रियाविशेषणम्। अये—इति सम्भ्रमाश्चर्यद्योतको निपातः। वसुदेवस्यापत्यं वासुदेव कृष्णस्तस्याऽऽगमनात् कुरूणां सन्धानं सन्धि-ममृष्यमाणोऽसहमान, √मृषे दैवादिकात् शानच्, पृथु विशालं यत् ललाटतटं पृथुललाटतटं तस्मिन् घटिना विकटा भयंकरा भ्रुकुटि येन दृष्टिपातेन नोऽस्मान सर्वान सकलानेव नटान् आपिबन्निव सहदेवेन स्वानुजेन अनुगम्यमान, अनु+√गम्+कर्मणि यक् तत शानच्, क्रुद्धः कुपितो भीमसेन इतोऽस्मिन्नेव प्रदेशेऽभिवर्तते आगच्छतीत्यर्थ.। तत्तस्मादस्य कोपाविष्टत्वाद् अस्माकमस्य पुरतः स्थातु न युक्तम्। तद्

पारिपार्श्विक—श्रीमन् ! यह शब्द कहाँ से आ रहा है ?

सूत्रधार—(पीछे देख कर, भय पूर्वक) अरे क्या भगवान् कृष्ण के (दूत-रूप मे सन्धि के लिए) जाने के बाद कौरवो के साथ सन्धि-प्रस्ताव को सहन न करते हुए कोपाविष्ट यह भीमसेन, जिसके पीछे पीछे सहदेव भी हैं, अपने विशाल मस्तक के कोने तक फैली हुई भीषण भ्रकुटि से दृष्टिपात करके

---

१. 'आः कुत एतत्' इति पा.

२. 'विकट-कीनाश-तोरण-त्रिशूलायमान-भीषण-भ्रकुटिरापिबन्निव नः सर्वान् दृष्टिपातेन सहदेवेना०' इति G .पा.।

भीमसेन इत एवाऽभिवर्तते । तन्न युक्तमस्य पुरतः स्थातुम् ।
तदित आवामन्यत्र गच्छावः । (इति निष्क्रान्तौ)

इति प्रस्तावना

(ततः प्रविशति सहदेवेनाऽनुगम्यमानः क्रुद्धो भीमः)

आवामितोऽस्मात् स्थानादन्यत्र कुत्रचिद् गच्छावः। इत्येवमुक्त्वा तौ निष्क्रांतौ रङ्गस्थल्या निर्गतौ।

इति प्रस्तावना आमुखं समाप्तमित्यर्थ. । प्रस्तावनालक्षणं च :—

सूत्रधारेण सहिताः सलापं यत्र कुर्वते।
नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा ॥
आमुखं नाम तस्यैव सैव प्रस्तावना मता ।।इति।।

अत्र च 'स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः' इति सूत्रधारोक्तं वाक्यमादाय भीमसेनस्य रंगमञ्चे प्रवेशाद् इयं प्रस्तावना कथोद्घातरूपा। यथाऽऽह विश्वनाथो दर्पणे :—

सूत्रधारस्य वाक्यं वा समादायार्थमेव वा।
भवेत् पात्रप्रवेशश्चेत् कथोद्घातस्तदोच्यते ॥

तत इति—सहदेवेन स्वानुजेनाऽनुगम्यमानोऽनुस्रियमाणः कुपितो भीमः प्रविशति।

हम सब लोगों को मानो पीते हुए-से इधर ही आ रहे है। इसलिए अब हमारा इसके सामने ठहरना उचित नहीं है। अतः, आइये, यहाँ से कहीं दूसरी जगह चलें। (दोनों चले जाते हैं)।

इति प्रस्तावना

(तदनन्तर सहदेव के साथ कोधाविष्ट भीमसेन प्रवेश करते हैं)

भीमसेनः—आः पाप ! दुरात्मन् ! वृथा मङ्गल-पाठक ! शैलूषापसद ! ('लाक्षागृहानल–' (१–८) इत्यादि पुनः पठति) ।

सहदेवः—(सानुनयम्) आर्य ! मर्षय मर्षय । अनुमतमेव नो भरत-पुत्रस्याऽस्य वचनम् । पश्य—'निर्वाणवैरदहनाः' इति ['यथार्थमेव,

रे पापिन् ! दुष्टात्मन् ! वृथैव मङ्गल-श्लोक-पाठक ! नराधम ! 'लाक्षागृहानले'त्यादि पूर्वोक्तं श्लोकं पुनरपि पठति ।

अनुनयेन सहितं सानुनयं सविनयं, क्रियाविशेषणम् । मर्षय सहस्व, नटं प्रति क्रोधं मा कुरु, तं क्षमस्वेत्यर्थः । भरतपुत्रस्य नटस्य वचनं नोऽस्माकमनुमतमभिमतमेवाऽभीष्टमेवेत्यर्थः । पश्य विचारयतु तावद् 'निर्वाणवैरदहनाः' इत्यस्यार्थम् । भृत्यैः सहिताः सभृत्याः सानुचराः क्षतजेन रुधिरेणाऽलंकृता [विभूषिता वसुंधरा पृथ्वी यैस्ते क्षतजालंकृतवसुंधरा निजरुधिरविभूषितभूमयः क्षतानि शरीराणि येषां ते क्षतशरीरा विक्षतदेहाः सन्तः कुरवः स्वर्गस्था भवन्तु म्रियन्ताम् इति यथार्थमेव वस्तुतोऽस्माकमभीष्टमेवाऽयं ब्रवीति वदतीत्यर्थः ।

भीमसेन :—अरे पापी ! दुरात्मन् ! झूठे ही मङ्गल-श्लोकों का पाठ करने वाले ! नराधम ! (जिन कौरवों ने लाक्षागृह में आग लगाकर तथा विष-मय भोजन खिला कर हमारे प्राणों पर प्रहार किया है और छल से जूए में हमारा सब धन लूट लिया है तथा द्रौपदी के केश एवं वस्त्र खींच कर हमारा अपमान किया है, क्या वे कभी सुखपूर्वक रह सकते हैं ! ये शब्द पुनः पढ़ता है) ।

सहदेव :—(विनयपूर्वक) आर्य ! क्षमा कीजिये, क्षमा कीजिये । इस नट के वचन तो हमारे अनुकूल ही हैं । देखिये, 'निर्वाणवैरदहनाः' इसके अर्थ पर विचार कीजिये । 'कौरव लोग क्षत-विक्षत-शरीर होकर अपने

१. अस्य स्थाने मु. 'पठित्वाऽन्यथाऽभिनयति' इति पा. ।

सभृत्याः कुरवः क्षतजालंकृतवसुंधराः क्षतशरीराश्च स्वर्गस्था भवन्त्विति ब्रवीति" ।]

भीमसेनः—(सोपालम्भम्) न खलु न खल्वमङ्गलानि चिन्तयितुमर्हन्ति भवन्तः कौरवाणाम् । सन्धेयास्ते भ्रातरो युष्माकम् ।

सहदेवः—(सरोषम्) आर्य !

धृतराष्ट्रस्य तनयान् कृतवैरान् पदे पदे ।
राजा न चेन्निषेद्धा स्यात् कः क्षमेत तवानुजः ॥६॥

सोपालम्भेति—उपालम्भेन सहितं सोपालम्भं साक्षेपम् । न खलु, न खलु इति द्विरुक्तिरत्यन्तनिषेधार्था । नैव कदाचिदपीत्यर्थः । भवन्तः कौरवाणाम् अमङ्गलानि मरणाद्यनिष्टानि कदाचिदपि चिन्तयितुं नार्हन्ति, यतो हि भवन्तः कौरवाणां शुभचिन्तकाः । ते च कौरवा युष्माकं भ्रातरः सन्धेयाः सन्धानार्हाः ।

सरोषमिति—रोषेण सहितं सरोषं सक्रोधम् ।

धृतराष्ट्रेति—(हे आर्य !) यदि राजाऽस्माकं ज्येष्ठो भ्राता युधिष्ठिरो निषेद्धा निषेधको न स्यात्तदा पदे पदे कृतं वैरं यैस्तान् कृतवैरान् दर्शितशत्रुभावान् धृतराष्ट्रस्य कुरुराजस्य तनयान् पुत्रान् तव भवतोऽनुजः कनिष्ठो भ्राता कः क्षमेत सहेत, अर्थाद् यदि युधिष्ठिरोऽनुमन्येत तदा तवानुजा वयं दुष्टान् दुर्योधनादीन न कदाचिदपि सहामहे ॥६॥

अनुचरों के साथ पृथ्वी को रुधिर से अलंकृत करते हुए स्वर्ग में विश्राम करें' इस प्रकार यह नट वास्तव में हमारे अनुकूल ही बात कह रहा है ।

भीमसेन —(उलाहना देते हुए) नहीं, नहीं, आप कौरवों का अनिष्ट नहीं सोच सकते । वे आपके भाई हैं । आप लोगों को उनसे सन्धि करनी चाहिये !

सहदेव—(क्रोध के साथ) आर्य !

यदि राजा युधिष्ठिर न रोकते तो पद-पद पर दुश्मनी करने वाले धृतराष्ट्र के पुत्रों को (दुर्योधनादि को) आपका कौन छोटा भाई क्षमा कर सकता था? ॥६॥

भीमसेनः—(सरोषम्) एवमिदम् । अत एवाऽद्य प्रभृति भिन्नोऽहं भवद्भ्यः । पश्य—

प्रवृद्धं यद्वैरं मम खलु शिशोरेव कुरुभि-
र्न तत्रार्यो हेतुर्न भवति किरीटी न च युवाम् ।

सरोषमिति—रोषेण सहितं सरोषं सक्रोधम् । एवमिदं यथा त्वमाह तथैवेदमित्यर्थः । अतोऽद्य प्रभृति अद्याऽऽरभ्याऽहं भवद्भ्यो युधिष्ठिर-प्रमुखेभ्यः सर्वेभ्य एव भ्रातृभ्यो भिन्नः ।

भेदकारणं दर्शयन्नाह प्रवृद्धमिति ।

(अन्वयः) शिशोः एव मम कुरुभिः यद् वैरं प्रवृद्धं खलु तत्र आर्यः हेतुः न भवति, किरीटी (हेतुः) न (भवति), न च युवां (हेतू भवतः), जरासन्धस्य उरःस्थलमिव विरूढं सन्धि भीमः क्रुधा पुनरपि विघटयति, यूयं घटयत ।

(व्याख्या) शिशो बालस्यैव सतो मम भीमस्य कुरुभिर्दुर्योधना-दिभिः सह यद् वैरं प्रवृद्धं वृद्धिमुपगतं खलु तत्र तस्मिन् प्रवृद्धे वैरे आर्योऽस्माकं पूज्यो ज्येष्ठो भ्राता युधिष्ठिरो हेतुः कारणं न भवति नास्ति, किरीटी अर्जुनश्चाऽपि कारणं नास्ति, न च युवां द्वावपि भ्रातरौ, नकुलसहदेवावित्यर्थः, हेतू स्तः । अतो जरासन्धस्य कौरवपक्षपातिनो मगधराजस्य उरःस्थलमिव वक्षःस्थलमिव विरूढं विशेषेण रूढं दृढी-भूतं सन्धिं भीमः क्रुधा क्रोधेन पुनरपि विघटयति त्रोटयिष्यतीत्यर्थः । वर्तमानसामीप्ये भविष्यति लट्, (तु. 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा'

भीमसेन :—(क्रोध में भरकर) यह ठीक है । इसी लिये मैं आज से आप सब लोगों से अलग होता हूँ । देखिये—

कौरवों के साथ बचपन से ही जो मेरा वैर बढ़ा हुआ है—उसमें न बड़े भाई (युधिष्ठिर) कारण हैं और न अर्जुन या तुम दोनों भाई ही कारण हो ।

जरासन्धस्योरःस्थलमिव विरूढं पुनरपि,
क्रुधा सन्धिं भीमो विघटयति, यूयं घटयत ॥१०॥

सहदेवः—(सानुनयम्) एवमतिसम्भृतक्रोधेषु युष्मासु कदाचित् खिद्यते गुरुः।

भीमसेनः—(सहासम्) किं नाम मयि खिद्यते गुरुः ? (सामर्षम्) वत्स ! गुरुः खेदमपि जानाति ? पश्य—

इति पाणिनिः)। यूयं च युधिष्ठिरप्रमुखा· सर्वे कौरवैः सह सन्धि घटयत कुरुतेत्यर्थः। यूयं दुर्योधनादिभिः सह सन्धि कुरुत, परन्तु अहं तं सन्धिमनुपदमेव विघटयिष्यामीतिभावः। शिखरिणी छन्दः। रसैरुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागा शिखरिणी' इति तल्लक्षणात् ॥१०॥

सानुनयमिति—सविनयं विनयपूर्वकम्। एवं च कृते अति अत्यंतं सम्भृतो धृतः क्रोधो यैस्तेषु अतिसम्भृतक्रोधेषु युष्मासु त्वयि गुरुर्ज्येष्ठोभ्राता युधिष्ठिरः कदाचित् खिद्यते खिन्नो भवेदित्यर्थः।

कि नामेति—आक्षेपपूर्वक प्रश्न.। किं वदसि 'गुरुर्ज्येष्ठो भ्राता मयि खेदं कुर्याद्'इति ? अर्थादस्माकं ज्येष्ठो भ्राता क्रोधं कर्तुमेव न जानातीति भावः। अमर्ष. क्रोधस्तेन सहितं सामर्षं सकोपम्। वत्स ! प्रियभ्रातः !

(इस लिये) तुम लोग चाहे सन्धि कर लो, परन्तु मै जरासन्ध की छाती की तरह क्रोध से इस दृढ सन्धि को पुनः शीघ्र ही तोड दूँगा ॥१०॥

सहदेव—(विनय पूर्वक) आर्य ! आपके इस प्रकार अत्यधिक क्रोध करने पर बड़े भाई कभी खेद न करे !

भीमसेन—(हँसते हुए) क्या कहा—बड़े भाई मुझ पर क्रोध (न) करे ? (क्रोध में भरकर) प्यारे भाई ! क्या बड़े भाई क्रोध करना जानते हैं ? देखो—

तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयाम्,
वने व्याधैः सार्धं सुचिरमुषितं वल्कलधरैः।
विराटस्याऽऽवासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतं,
गुरुः खेदं, खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु ॥११॥

तथाभूतामिति—(अन्वयः) नृपसदसि पाञ्चालतनयां तथाभूतां दृष्ट्वा (किञ्च अस्माभिः) व्याधैः सार्धं सुचिरम् वने (यद्) उषितम् (तद् दृष्ट्वा), विराटस्य आवासे अनुचितारम्भनिभृतं (यत्) स्थितम् (तद् दृष्ट्वा) गुरुः अद्य अपि कुरुषु खेदं न भजति, मयि खिन्ने खेदं भजति ?

(व्याख्या) नृपसदसि राज्ञो दुर्योधनस्य सभायां पाञ्चालतनयां द्रौपदीं तथाभूतां दुष्टदुःशासनेन नग्नीक्रियमाणां रुदतीं च दृष्ट्वा, किंच वल्कलधरैः अस्माभिः सर्वैर्भ्रातृभिः व्याधैः सार्धं सुचिरं चिरकालं यावद् यद् वने उषितं तद् दृष्ट्वा, अन्यच्च विराटस्य मत्स्यदेशाधिपस्याऽऽवासे भवने अनुचिताश्च ते आरम्भा अनुचितारम्भास्तैर्निभृतं गुप्तं यथा स्यात्तथा यद् स्थितं तद् दृष्ट्वा, अर्थाद् विराटभवने नर्तन-पाचन-गोपालनादिभिरनुचितैः कृत्यैर्गुप्तरूपेणाऽस्मान् निवसतो दृष्ट्वाऽपीत्यर्थः, गुरुरस्माकं ज्येष्ठो भ्राता युधिष्ठिरोऽद्यापि कुरुषु खेदं कोपं न भजति करोति, मयि च खिन्ने, पूर्वोक्तासह्यदुःखदुःखिते सतीत्यर्थः, गुरुः खेदं भजति क्रोधं कुर्यादित्यर्थः। शिखरिणी छन्दः 'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागा शिखरिणी' इति तल्लक्षणात् ॥११॥

राजसभा में द्रौपदी को उस (दयनीय) दशा में (रोते) देखकर और वल्कल धारण किये अनन्त काल तक व्याधों के साथ हमें वन में रहते देखकर तथा राजा विराट के महल में (नर्तन-पाचनादि अनेक) अनुचित कार्य करते हुए हमें गुप्त रूप से रहते देखकर (भी) बड़े भाई को कौरवों पर आज तक खेद नहीं हुआ, परन्तु आज मुझ दुःखित पर उन्हें खेद होगा ! ॥११॥

ततसहदेव ! निवर्तस्व । एवं चाऽतिचिर-प्रवृद्धामर्षोद्दीपितस्य भीमस्य वचनाद्विज्ञापय राजानम् ।

सहदेव :—आर्य ! किमिति ।

भीमसेन :—एवं विज्ञापय'।

युष्मच्छासनलङ्घनांऽहसि मया मग्नेन नाम स्थितं,
प्राप्ता नाम विगर्हणा स्थितिमतां मध्येऽनुजानामपि ।

ततस्मात्कारणात् सहदेव ! निवर्तस्व । अतिचिरं प्रवृद्धो यः अमर्षः क्रोधस्तेन उद्दीपितस्तस्य मम भीमस्य वचनाद् राजानं युधिष्ठिर-मेव विज्ञापय ब्रूहि ।

आर्य ! ज्येष्ठ भ्रात ! किमहं विज्ञापयामीति कथय । तदेव भीमः कथयति—युष्मदित्यादिना ।

(अन्वय.) युष्मच्छासनलङ्घनांऽहसि मग्नेन मया स्थितं नाम, स्थितिमताम् अनुजानाम् मध्ये (मया) विगर्हणा अपि प्राप्ता (नाम), अद्य एकं दिवसं क्रोधोल्लासितशोणिताक्तगदस्य कौरवान् उच्छिन्दतः मम (त्वं) गुरुः न असि, अहं (च) तव विधेयः न (अस्मि)

(व्याख्या) युष्माकं यत् शासनमाज्ञा तस्य यद् उल्लङ्घनं तदेव अंहस्तस्मिन् युष्मच्छासनलङ्घनांऽहसि युष्मदाज्ञोल्लङ्घनरूपे पापे मग्नेन

इसलिये, सहदेव ! आओ और बहुत दिनों के बढ़े हुए क्रोध से उद्दीप्त हुए भीमसेन की ओर से राजा (युधिष्ठिर) से यह कह देना ।

सहदेव—आर्य ! क्या ?

भीमसेन—इस प्रकार,

मैं आपकी आज्ञा का उल्लङ्घन करके पाप में डूब रहा हूँ और मर्यादा-पालक अपने छोटे भाइयों में निन्दा का पात्र भी बन गया हूँ, परन्तु आज

---

१. अय पा. पु. नास्ति ।

क्रोधोल्लासितशोणितारुणगदस्योच्छिन्दतः कौरवा-
नद्यैकं दिवसं ममासि न गुरुर्नाहं विधेयस्तव ॥१२॥

(इत्युद्धतं परिक्रामति)

सहदेवः—(तमेवाऽनुगच्छन्, आत्मगतम्) अये कथमार्यः पाञ्चाल्याश्चतुःशालकं 'प्रति प्रस्थितः। भवतु, तावदहमत्रैव तिष्ठामि। (इति स्थितः)।

निमग्नेन, पतितेनेत्यर्थः, मया भीमेन स्थितं नाम, अर्थाद् भवदाज्ञोल्लङ्घनरूपं महापातकमहं कृतवान् इत्यर्थः, किंच स्थितिर्मर्यादा अस्त्येषां तेषां स्थितिमतां परम्परागतमर्यादापालकानामनुजानां मध्ये विगर्हणा निन्दाऽपि प्राप्ता नाम, अपरं च क्रोधेन उल्लासिता शोणितेन अरुणा च गदा यस्य तस्य क्रोधोल्लासितशोणितारुणगदस्य कौरवान् दुर्योधनादीन् उच्छिन्दतो विनाशयतो मम भीमसेनस्य त्वम् अद्य एकं दिवसं गुरुः पूज्यो भ्राता नाऽसि, अहं च तव विधेयो विनयशीलो विनम्र आज्ञापालक इत्यर्थः, कनिष्ठो भ्राता नास्मि न भवामीत्यर्थः, अर्थादद्यैकमेव दिवसं यावदावयोः कोऽपि सम्बन्धो नास्तीत्यर्थः। अद्याहं स्वेच्छाऽनुरूपं कौरवान् निहत्य पुनः पूर्ववदेव तवाऽऽज्ञां शिरोधार्यां करिष्ये इति भावः। शार्दूलविक्रीडितं छन्दः, 'सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्' इति तल्लक्षणात् ॥१२॥

इत्युक्त्वा उद्धतं यथा स्यात्तथा, मत्तवदित्यर्थः, इतस्ततः परिक्रामति। तमेवेति—तं परिक्रामन्तं भीमसेनमेव। अनु पश्चाद् गच्छन्।

(केवल) एक दिन के लिए क्रोध से तानी हुई एवं रुधिर से लिप्त इस गदा से कौरवों का विनाश करते हुए मेरे आप पूज्य बड़े भाई नहीं हैं और मैं आपका आज्ञाकारी विनयशील छोटा भाई नहीं हूँ ॥१२॥

(यह कहकर उन्मत्त की भांति इधर-उधर घूमने लगता है)

सहदेव—(भीम के पीछे जाता हुआ मन-मन में) अरे ! यह

---

१. अस्य स्थाने गु० 'प्रविष्टः' इति पा०।

भीमसेनः—(प्रतिनिवृत्याऽवलोक्य च) सहदेव ! गच्छ त्वं गुरुमनुवर्तस्व । अहमप्यायुधागारं प्रविश्याऽऽयुधसहायो भवामि ।

सहदेवः—आर्य ! नेदमायुधागारम्, पाञ्चाल्याश्चतुःशालकमिदम् ।

भीमसेनः—(सवितर्कम्) किं नाम नेदमायुधागारम् पाञ्चाल्याश्चतुः-

आत्मगतं स्वगतम् । पञ्चालानां राजा पाञ्चालस्तस्याऽपत्यं स्त्री पाञ्चाली द्रौपदी तस्याः । चतसृणां शालानां समाहारश्चतुःशालं, समाहारे द्विगुः, तदेव चतुःशालकं, (स्वार्थेकन्), प्रति प्रस्थितः । भवतु अस्तु, अहं तावदत्र बहिरेव सन्तिष्ठे । इति इत्युक्त्वेत्यर्थः ।

प्रतिनिवृत्येति—अवलोक्य दृष्ट्वा, सहदेवमिति शेषः । आयुधानामागारमायुधागारं शस्त्रागारमित्यर्थः । आयुधानि सहाया यस्य स आयुधसहायः शस्त्रद्वितीयः ।

सवितर्कमिति—वितर्केण सहितं सवितर्कं ससन्देहं सविचारं वा । आमन्त्रयितव्या आह्वातव्या । पाञ्चाली द्रौपदी । अर्थादस्मिन् विषये तया सह विचारं कर्तुं मया द्रौपदी आह्वातव्येत्यर्थः ।

सप्रणयमिति—प्रणयेन सहितं सप्रणयं सस्नेहम् ।

क्या ! आर्य भीमसेन तो द्रौपदी की चौसाल की ओर जा रहे हैं । अच्छा, मैं तब तक यहां बाहर ही ठहरता हूँ । (यह विचार कर ठहर जाता है) ।

भीमसेन—(वापिस लौट कर और देखकर) सहदेव ! तुम जाओ और आर्य युधिष्ठिर का अनुसरण करो । मैं भी शस्त्रागार में जाकर शस्त्र धारण करता हूँ ।

सहदेव—आर्य ! यह शस्त्रागार नहीं है । यह तो द्रौपदी की चौसाल है ।

भीमसेन—(कुछ सोचकर) क्या कहा ? यह शस्त्रागार नहीं है, अपितु द्रौपदी की चौसाल है ? (कुछ विचार कर, हर्षपूर्वक) द्रौपदी को

शालकमिदम् (विचिन्त्य, सहर्षम्) आमन्त्रयितव्यैव मया पाञ्चाली। (सप्रणयं सहदेवं हस्ते गृहीत्वा) आगम्यताम्।

[[1]सहदेवः—यदादिशत्यार्यः।]

भीमसेनः—वत्स ! यदार्यः कुरुभिः सन्धानमिच्छन्नस्मान् पीडयति तद्भवानपि पश्यतु।

([2]परिक्रम्य उभौ प्रवेशं नाटयतः।)

(भीमसेनः सक्रोधं भूमावुपविशति)

यदादिशतीति—यथाऽऽर्यो भवानाज्ञापयतीत्यर्थः।

वत्सेति—भ्रातः कुरुभिर्दुर्योधनादिभिः सन्धानं सन्धिमिच्छन् काङ्क्षमाणोऽस्माकं ज्येष्ठो भ्राता यथाऽस्मान् पीडयति तथा त्वमपि पाञ्चालीं दृष्ट्वा तस्या हृदयोद्गारांश्च श्रुत्वा स्वयमेव विभावय।

प्रवेशमिति—प्रवेशं नाटयतः प्रविशत इत्यर्थः।

मुझे (परामर्श करने के लिये) बुलाना ही चाहिये। (प्रेम से सहदेव का हाथ पकड़ कर) प्यारे भाई। आओ।

सहदेव—जो आपकी आज्ञा।

भीमसेन—प्यारे भाई ! आर्य युधिष्ठिर कौरवों के साथ सन्धि की इच्छा करके हमें जो पीड़ा दे रहे हैं उसे आप भी देखिये।

(घूमकर दोनों [द्रौपदी की चौसाल में] प्रवेश करते हैं)

(भीमसेन क्रोध में भरकर पृथ्वी पर बैठ जाता है)

---

१. अयं कोष्ठान्तर्गतः पा. G. नास्ति। २. अयं पा. G. नास्ति।

सहदेव —([1]ससम्भ्रमम्) आर्य ! इदमासनमास्तीर्णम् । अत्रो-पविश्य [2]मुहूर्तमार्य पालयतु कृष्णागमनम् ।

भीमसेन —(उपविश्य, स्मृत्वा) वत्स ! 'कृष्णागमनमि'त्यनेनोपोद्घा-तेन स्मृतम्[2]। अथ भगवान् कृष्ण केन पणेन[3] सन्धिं कर्तुं सुयोधनं प्रति प्रहितः ?

सहदेव —आर्य ! पञ्चभिर्ग्रामैः ।

ससम्भ्रममिति—सम्भ्रमेण सहित ससम्भ्रमम् । आस्तीर्ण विस्तीर्णम् (आ√स्तृ+क्त) । अत्राऽऽसने उपविश्य स्थित्वा । मुहूर्त क्षणमेक यावत् कृष्णाया द्रौपद्या आगमन पालयतु प्रतीक्षतामित्यर्थ ।

उपविश्येति । आसने इति शेष । कृष्णाया कृष्णस्य वा आगमनम् कृष्णागमनम । सहदेवेन यद्यपि पूर्ववाक्ये 'कृष्णागमनम' इति शब्द 'द्रौपद्यागमनम्' इत्यर्थे प्रयुक्त परं भीम 'कृष्णस्य आगमनम' इत्यर्थं मभ्युपगम्य सहदेव पृच्छति 'अथ भगवान् कृष्ण ' इत्यादि ।

सहदेव—(घबरा कर) आर्य ! यह आसन बिछा हुआ है इस पर बैठकर क्षण भर के लिये कृष्णागमन (कृष्णा [=द्रौपदी] आगमन) की प्रतीक्षा कीजिये ।

भीमसेन—(बैठ कर कुछ याद करके) वत्स 'कृष्णागमन' इस प्रसङ्ग से मुझे एक बात याद आ गई है । हाँ, (यह तो बताइए कि) भगवान् कृष्ण किस शर्त पर दुर्योधन से सन्धि करने के लिये भेजे गए हैं ।

सहदेव—आर्य ! केवल पाँच गाँव देने की शर्त पर ।

---

१ अय पा G नास्ति । २ 'कथोद्घातकेन' इति पा । ३ 'प्रकारेण' इति पा ।

भीमसेनः—(कर्णौ पिधाय) अहह ! [कथं तस्य][1] देवस्याऽजातशत्रोरप्ययमीदृशस्तेजोऽपकर्ष इति, यत्सत्यं, कम्पितमिव मे हृदयम्। (परिवृत्य स्थित्वा) तद् वत्स ! न त्वया कथितं, न च मया भीमेन श्रुतम्[2]।

यत्तदूर्जितमत्युग्रं क्षात्रं तेजोऽस्य भूपतेः ।
दीव्यताऽक्षैस्तदाऽनेन नूनं तदपि हारितम् ॥ १३ ॥

कर्णौ पिधायेति । पिधाय आच्छाद्य, अपि √धा+क्त्वा>ल्यप्, अपेः अकारस्य भागुरिमते लोपः । अहहेति खेदे आश्चर्ये वाऽव्ययम् । न जातः शत्रुर्यस्य तस्याऽजातशत्रोर्युधिष्ठिरस्य । तेजसोऽपकर्षस्तेजोऽपकर्षो बलापकर्षः ।

तद् वत्सेति । तत् सन्धिवृत्तमित्यर्थः

यत्तदूर्जितमिति । (अन्वयः) यत् तद् अस्य भूपतेः ऊर्जितम् अत्युग्रम् क्षात्रं तेज. (आसीत्), तद् अपि अनेन तदा अक्षैः दीव्यता नूनं हारितम् ।

(व्याख्या) यत्तज्जगत्प्रसिद्धम् अस्य भूपतेः राज्ञो युधिष्ठिरस्य ऊर्जितम् ऊर्जस्वदतिबलवदित्यर्थः, ऊर्जयतेः क्तः प्रत्ययः, अत्युग्रमतिभयंकरं क्षात्रं तेजो बलं, वीर्यमिति यावत्, आसीत् तदप्यनेन राज्ञा तदा

भीमसेन—(कानों पर हाथ रख कर) ओह ! उस दिव्य-शक्ति-सम्पन्न अजातशत्रु राजा युधिष्ठिर के क्षात्र तेज का इतना अपमान कैसे ? सच पूछिए, इस से मेरा हृदय काप-सा गया है। (घूमते हुए खड़े हो कर) वत्स ! (सन्धि का समस्त वृत्तान्त) न तो तुमने कहा और न मैने सुना ।

इस राजा (युधिष्ठिर) का जो वह जगत्प्रसिद्ध अत्यधिक बलशाली एवं प्रचण्ड क्षात्र तेज था वह भी उसने उस समय पाशों से जूआ खेलते हुए अवश्य ही हार दिया है ॥१३॥

१. अयं कोष्ठान्तर्गतः पा. G. नास्ति । २. इतोऽग्रे 'परिवृत्य स्थित्वा' इति पाठः क्वचित् ।

(नेपथ्ये)

समस्ससदु समस्ससदु भट्टिणी। ([1]अवणइस्सदि दे मण्णुं णिच्चाणुबद्धकुलुवेलो कुमालो भीमसेणो)।

[समाश्वसितु समाश्वसितु भट्टिनी, (अपनेष्यति[1] ते मन्युं नित्यानुबद्धकुरुवैरः कुमारो भीमसेनः।)]

सहदेवः— ([2]कर्णं [2]दत्त्वा नेपथ्याभिमुखमवलोक्यात्मगतम्)। अये ! कथं याज्ञसेनी मुहुरुपचीयमानबाष्पपटलस्थगितनयना आर्यसमीपमुपसर्पति। तत्कष्टतरमापतितम्।

सभायां द्यूतकालेऽवैदीव्यता नूनमवश्यमेव हारितम् विनाशितमित्यर्थः। अर्थाद् धनादिना सहाऽनेनाऽस्माकं भ्रात्रा युधिष्ठिरेण क्षात्रं तेजोऽपि हारितम्। यतो ह्ययमिदानीं पंचभिरेव ग्रामैर्दुर्योधनेन सह सन्धिं कर्तुमुत्सुकः किमितोऽधिकं क्षात्रस्य तेजसोऽसम्मानमित्यर्थः॥ १३॥

समाश्वसितु इति। दुःखितां द्रौपदीं सान्त्वयन्ती काचिच्चेटी कथयति—समाश्वसित्वित्यादि। भट्टिनी स्वामिनी द्रौपदीत्यर्थः। नित्यमनुबद्धं कुरुभिर्वैरं यस्य स नित्यानुबद्धकुरुवैरो भीमः। अपनेष्यति दूरीकरिष्यति। मन्युं दुःखमित्यर्थः।

कर्णं दत्त्वेति—आत्मगतं स्वगतम्। यज्ञसेनस्याऽपत्यं स्त्री याज्ञसेनी द्रौपदी। मुहुरुपचीयमानं यद् वाष्पस्याऽश्रुणः पटलं समूहस्तेन स्थगिते आवृते नयने यस्याः सा। आर्यस्य भीमस्य समीपमुपसर्पत्यागच्छति। कष्टतरमत्यधिकं कष्टप्रदमिदं संजातम्।

(नेपथ्य में)

स्वामिनी ! धैर्य रखिये, धैर्य रखिये ! कुमार भीमसेन, जो सदा से कौरवों से दृढ शत्रुता रखते हैं, तुम्हारे दुःख को (अवश्य) दूर करेंगे।

सहदेव—(कान लगाकर नेपथ्य की ओर देखते हुए मन-मन में) ओह ! यह क्या ! द्रौपदी बार-बार उमड़ती हुई आँसुओं से डबडबाई हुई आखों के साथ (शनैः-शनैः) आर्य भीमसेन के पास ही आ रही है ! यह तो बड़ी भयानक स्थिति पैदा हो गई है।

१, अयं कोष्ठान्तर्गतः पा. G. नास्ति। २. अयं पा. G. नास्ति।

यद्वैद्युतमिव ज्योतिरार्ये क्रुद्धेऽद्य सम्भृतम्।
तत्प्रावृडिव कृष्णेयं नूनं संवर्धयिष्यति ॥१४॥

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टा। द्रौपदी चेटी च।)

(द्रौपदी सास्रं निःश्वसिति।)

चेटी—समस्ससदु समस्ससदु भट्टिणी। अवणइस्सदि दे मण्णुं णिच्चाणुबद्धकुलुवेलो कुमालो भीमसेणो।

(समाश्वसितु समाश्वसितु भट्टिनी। अपनेष्यति ते मन्युं नित्यानुबद्धकुरुवैरः कुमारो भीमसेनः)।

यद्वैद्युतमिति। (अन्वयः) अद्य आर्ये क्रुद्धे यद् वैद्युतमिव ज्योतिः सम्भृतम्, तद् इयं कृष्णा प्रावृडिव नूनं संवर्धयिष्यति।

(व्याख्या) अद्येदानीम् आर्ये पूज्ये ज्येष्ठे भ्रातरि भीमसेने क्रुद्धे कुपिते सति यद् विद्युत इदं वैद्युतमिव ज्योतिस्तेजः सम्भृतं समुपचितं समुत्पन्नमुद्भूतं वेत्यर्थः, तत्तेज इयं कृष्णा द्रौपदी प्रावृडिव वर्षाकाल इव निजाश्रुभिः संवर्धयिष्यति उद्दीपयिष्यतीत्यर्थः। वर्षातो यथा वैद्युतं ज्योतिरुद्दीप्यते तथा कृष्णायाः सतताश्रुप्रवाहमवलोक्य आर्यभीमसेनस्याऽपि तेज उद्दीप्तं भविष्यतीत्यहमाशङ्क इति भावः ॥१४॥

ततः प्रविशतीति—यथापूर्वं निर्दिष्टा वर्णितेत्यर्थः। अस्रैः सहितं सास्रं साश्रु। चेटी दासी।

इस समय आर्य भीमसेन के क्रुद्ध हो जाने पर बिजली-के-से दीप्तिमान् एकत्रित तेज को यह द्रौपदी वर्षा ऋतु के समान अवश्य ही उद्दीप्त कर देगी ॥१४॥

(इस के बाद यथानिर्दिष्ट [=आँसुओं से आँखें डब-डबाए हुए] द्रौपदी और चेटी प्रवेश करती हैं)।

(द्रौपदी आँसू बहाती हुई दीर्घ निश्वास लेती है)।

चेटी—*स्वामिनी! धैर्य रखिये, धैर्य रखिये! कुमार भीमसेन, जो सदा से* कौरवों से दृढ शत्रुता रखते हैं, आप के दुःख को अवश्य दूर करेंगे।

द्रौपदी—हञ्जे बुद्धिमदिए ? होदि एदं जइ महाराओ पडिऊलो न भवे। ता णाहं पेक्खिदुं तुवरदि मे हिअअं[1]।

(हञ्जे बुद्धिमतिके ! भवत्येतद् यदि महाराजः प्रतिकूलो न भवेत्। तन्नाथं प्रेक्षितुं त्वरते मे हृदयम्)।

चेटी—(विलोक्य) एसो कुमालो चिट्ठति । ता णं उवसप्पदु भट्टिणी।

[(विलोक्य) एष कुमारस्तिष्ठति । तदेनमुपसर्पतु भट्टिनी।]

(इति परिक्रामतः)

द्रौपदी—हञ्जे ? कहेहि णाहस्स मह आगमणं।

(हञ्जे ! कथय नाथस्य ममागमनम्।)

हञ्जे इति। 'हञ्जे' इति निम्नस्त्रीपात्रं सम्बोधयितुं सम्बोधनसूचकमव्ययपदमेतत्। यदि महाराजो युधिष्ठिरोऽस्य प्रतिकूलोऽवरोधको निषेधको वा न स्यात्तदा सोऽवश्यमेव मे मन्युं दूरीकुर्यादित्यर्थः।

द्रौपदी—हञ्जे बुद्धिमतिके ! यदि महाराज युधिष्ठिर प्रतिकूल न होते तो ऐसा ही होता। इस लिये अब मेरा हृदय प्राणप्रिय (आर्य भीम) से मिलने के लिये उत्कण्ठित हो रहा है।

चेटी—(देख कर) कुमार भीमसेन यह बैठे हुए है। इस लिये स्वामिनी उनके पास चलें। (यह कह कर दोनों आगे बढ़ती हैं)।

द्रौपदी—हञ्जे ! प्राणप्रिय (आर्य भीमसेन) को मेरे आने की सूचना दो।

---

१. इतोऽग्रे 'आदेसेहि मे णाहस्स वासभवणं (तदादेशय मे नाथस्य वासभवनम्)। (इति परिक्रामतः) चेटी—एदु एदु भट्टिणी (एत्वेतु भट्टिनी)। चेटी—एदं वासभवणं। एत्थ पविसदु भट्टिणी। (एतद् वासभवनम्। अत्र प्रविशतु भट्टिनी)' इत्यधिकः पा. पु.।

चेटी—जं देवी आणवेदी (परिक्रम्योपसृत्य च) । जअदु जअदु कुमालो ।

(यद्देव्याज्ञापयति । [परिक्रम्योपसृत्य च] जयतु जयतु कुमारः ।)

(भीमसेनोऽशृण्वन् सक्रोधं[1] 'यत्तदूर्जितम्' [१-१३] इति पुनः पठति ।)

चेटी—(परिवृत्य) भट्टिणि ! पिअं दे णिवेदेमि । परिकुविदो विअ कुमालो लक्खीअदि ।

[(परिवृत्य) भट्टिनि ! प्रियं ते निवदेयामि । परिकुपित इव कुमारो लक्ष्यते]

द्रौपदी—हञ्जे ! जइ एव्वं ता अवहीरणावि एसा मं आसासअदि[2] । ता एअन्ते उवविट्ठा भविअ सुणमो[3] दाव णाहस्स ववसिदं ।

(हञ्जे ? यद्येवं तदवधीरणाप्येषा मामाश्वासयति । तदेकान्त उपविष्टा भूत्वा शृणुमस्तावन्नाथस्य व्यवसितम्) ।

(उभे तथा कुरुतः) ।

उपसृत्य उपेत्य समीपं गत्वेत्यर्थः । अशृण्वन् अनाकर्णयन् । अवधीरणाऽपमानस्तिरस्कारः । नाथस्य—भीमसेनस्येत्यर्थः । व्यवसितं संकल्पं दृढनिश्चयमित्यर्थः ।

चेटी—जैसी महारानी की आज्ञा । (घूम कर और भीमसेन के पास जाकर) कुमार की जय हो, जय हो ।

(भीमसेन चेटी की बात को न सुनते हुए 'यत्तदूर्जितम्' इस श्लोक को पुनः पढ़ता है) ।

चेटी—(लौट कर) स्वामिनि ! मैं आप को एक सुसमाचार सुनाती हूँ । कुमार भीमसेन (आज) बहुत क्रुद्ध दिखाई देते हैं ।

द्रौपदी—हञ्जे ! यदि ऐसी बात है तो यह तिरस्कार भी मुझे सान्त्वना

---

१. अयं पा. गु. नास्ति ।

२. '°अदि ह्जेव' इति गु. पा.

३. 'सुणोमि' (=शृणोमि) इति G. पा. ।

भीमसेनः—(सक्रोधं सहदेवमधिकृत्य) किं नाम पञ्चभिर्ग्रामैः सन्धिः ?

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपात्,
दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः ।
संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू,
सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन ॥१५॥

मथ्नामीति—(अन्वयः) समरे कौरवशतं कोपात् न मथ्नामि (किम् ?), दुःशासनस्य उरस्तः रुधिरं न पिबामि (किम् ?), सुयोधनोरू गदया न संचूर्णयामि (किम् ?), भवतां नृपतिः (यदि इच्छति तदा) पणेन सन्धिं करोतु ।

(व्याख्या) समरे युद्धे कौरवाणां शतं कौरवशतं धृतराष्ट्रस्य शत-संख्याकान् पुत्रान् कोपान् क्रोधान्न मथ्नामि न मथिष्यामि किम् ? नूनमेव मथिष्यामि, वर्तमानसामीप्ये भविष्यति लट् (तु. पा. वर्तमानासमीप्ये वर्तमानवद्वा') । दुःशासनस्य उरस्तो वक्षःस्थलतो रुधिरं रक्तं न पिबामि न पास्यामि किम्, अवश्यमेव पास्यामि । अत्रापि पूर्ववद् भविष्यति लट् । सुयोधनस्य ऊरू सक्थिनी न संचूर्ण-यिष्यामि किम्, अवश्यमेव संचूर्णयिष्यामि । भवतां युष्माकं नृपति-

दे रहा है। इस लिये (आओ) एकान्त में बैठ कर प्राणप्रिय (आर्य भीमसेन) का दृढ़ संकल्प सुनें।

(दोनों वैसे ही करती हैं)

भीमसेन—(क्रोध में भरकर सहदेव के प्रति) क्या कहा ? पाँच गाँवों की शर्त पर ?

क्या मैं युद्ध में सौ कौरवों को क्रोध से नहीं मारूँगा ? क्या दुःशासन की छाती से खून नहीं पीऊँगा ? क्या दुर्योधन की जंघाओं को गदा से चूर-चूर नहीं करूँगा ? (मैं यह सब कुछ करूँगा), तुम्हारे राजा युधिष्ठिर (जिस) शर्त पर (चाहें) सन्धि कर लें (मैं उसे नहीं मानूंगा) ॥१५॥

द्रौपदी—(सहर्षं जनान्तिकम्) णाह ! अस्सुदपुव्वं क्खु दे एदिसं वअणं। ता पुणोपुणो दाव भणाहि।

[(सहर्षं जनान्तिकम्) नाथ ! अश्रुतपूर्वं खलु ते ईदृश वचनम्। तत्पुनः पुनस्तावद् भण।]

(भीमसेनोऽश्रुण्वन्नेव 'मथ्नामि कौरवशतम्' [१–१५] इति पुनः पठति।)

युधिष्ठिरो यदि इच्छति तदा पणेन पंचग्रामपणेन सन्धिं करोतु नाम आर्यो युधिष्ठिरः पञ्चभिर्ग्रामैरन्येन वा केनचित्पणेन दुर्योधनादिभिः सह सन्धिं करोतु परमहं कदापि तं सन्धिं न स्वीकरिष्ये, अपितु युद्धे कुरुराजस्य पुत्राणां शतमवश्यमेव मथिष्यामि, दुःशासनस्योरस्तो रक्तमपि पास्यामि, दुर्योधनस्य जङ्घेऽपि चाऽवश्यमेव संचूर्णयिष्यामीति भावः। सर्वोऽप्ययं भावः काकाऽवबोध्यते। वसन्ततिलका छन्दः, 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति तल्लक्षणान् ॥१५॥

सहर्षमिति—हर्षेण सहितं सहर्षं सानन्दम्। जनान्तिक रङ्गमञ्चस्थान् अन्यान करेणाऽपवार्य एकेन केनचिन् सह पारस्परिकं सम्भाषणं जनान्तिकमित्युच्यते। श्रुतं पूर्वं श्रुतपूर्वं न श्रुतपूर्वमश्रुतपूर्वम् (सुप्सुपीयः समासः, ततो नञ्-तत्पुरुषः)। भण कथय।

द्रौपदी—(हर्ष-पूर्वक, एक ओर को होकर) प्राणनाथ ! वास्तव मे (आपके मुख से) ऐसे (वीरोचित) वचन मैने आज तक नहीं सुने। इस लिये बार-बार कहिये।

(भीमसेन द्रौपदी के शब्दों को सुने बिना ही 'मथ्नामि कौरवशतम्' इस श्लोक को पुनः पढ़ता है)।

सहदेवः—आर्य ! किं महाराजस्य सन्देशोऽयमार्येणाऽव्युत्पन्न इव गृहीतः ।

भीमसेनः— का पुनरत्र व्युत्पत्तिः ।

सहदेवः—आर्य ! एवं गुरुणा सन्दिष्टम् ।

भीमसेनः—कस्य ?

सहदेवः—सुयोधनस्य ।

भीमसेनः—किमिति ?

सहदेवः—**इन्द्रप्रस्थं वृकप्रस्थं जयन्तं वारणावतम् ।**

प्रयच्छ चतुरो ग्रामान् कंचिदेकं च पञ्चमम् ॥ १६॥

आर्येति—महाराजस्य युधिष्ठिरस्याऽयं संदेशः सन्धिसन्देशो भवताऽव्युत्पन्नोऽसार इव गृहीतः । व्युत्पत्तिर्गूढं तत्त्वम् ।

इन्द्रप्रस्थमिति—इन्द्रप्रस्थं, वृकप्रस्थं, जयन्तं, वारणावतम् इति ग्रामान् पञ्चमं च एकं कंचिदपि मे मह्यं प्रयच्छ । अत्र च श्रीगुरुप्रसादानुसारम् इन्द्रप्रस्थं जयपुरराज्ये खांडवप्रस्थं 'खंडेला' इति ख्यातं, वृकप्रस्थं खेतड़ीराज्ये बाघपतेति प्रसिद्धम्, जयन्तं 'जीन्द' इति 'जीर्णमाता' इति वा स्थानं, वारणावतं च मेरठ-प्रान्ते 'वरणावा' इति प्रसिद्धं वर्तते । अत्र केचित् 'पंचमशब्दं' पञ्च पञ्चमहाभूतात्मकं देहम्

सहदेव—आर्य ! क्या आपने महाराज (युधिष्ठिर) के (सन्धि) सन्देश को निस्तत्त्व सा समझा है ?

भीमसेन—इस में कौनसा गूढ़ तत्त्व (छिपा हुआ है) ।

सहदेव—महाराज युधिष्ठर ने इस प्रकार संदेश दिया है ।

भीमसेन—किस को ?

सहदेव—दुर्योधन को ।

भीमसेन—क्या ?

सहदेव—इन्द्रप्रस्थ, वृकप्रस्थ, जयन्त और वारणावत ये चार गांव तथा एक और कोई पांचवां—इस प्रकार पाँच गांव हमें दे दीजिये ॥१६॥

भीमसेनः—ततः किम् ?

सहदेवः—एवमनया प्रतिनामग्रामप्रार्थनया पञ्चमस्य चाकीर्तनाद् विषभोजन-जतुगृहदाह-द्यूतसभाद्यपकारस्थानोद्घाटनमेवेदं मन्ये।

माति विनाशयती' त्येवं व्युत्पाद्य संग्रामेत्यर्थं मन्वते। ततश्च ते एवं कथयन्ति यत् पञ्चमस्य ग्रामस्य नामाऽकथयता युधिष्ठिरेणाऽत्र पञ्चम-शब्देन श्लेष-मुखेन 'संग्रामः' एवाऽभिवाञ्छितः ॥ १६ ॥

एवमनयेति—नाम्ना नाम्नेति प्रतिनाम (वीप्सायामव्ययीभावः, तु. G) प्रतिनाम ग्रामस्य प्रार्थनेति तया प्रतिनामग्रामप्रार्थनया अर्थाद् ग्राम-नामोच्चारण-पूर्वकं ग्रामप्रार्थनया। अकीर्तनाद् नामानुच्चारणात् विष-भोजनं च जतुगृहदाहश्च द्यूतसभा चेति विषभोजन-जतुगृहदाह-द्यूतसभा अस्ता आदौ येषां ते ०द्यूतसभादयस्ते च ते अपकाराश्च ०द्यूतसभाद्यपकारा-स्तेषां यानि स्थानानि तेषामुद्घाटनं ०द्यूतसभाद्यपकारस्थानोद्घा-टनम्, अर्थात् यस्मिन्-यस्मिन् ग्रामे कौरवाः पांडवान् प्रति विषभोजना-दीन् अपकारान् कृतवन्तस्तानेव ग्रामान् तन्नामोद्घाटनपुरःसरं युधि-ष्ठिरः कौरवान् याचितवान् इत्यर्थः। परन्तु गजेन्द्रगदकरानुसारं महाभारते केवलं 'वारणावतम्' एवाऽपकारस्थानत्वेन वर्णितमुपल-भ्यते अन्यत्र न किंचिदपि अपकारस्थानं संकेतितम्। एतद् भट्टनाराय-णस्य वर्णनं निराधारं जनप्रवादानुसारं वेति!

भीमसेन—इससे क्या हुआ ?

सहदेव—मैं समझता हूँ कि इस प्रकार प्रत्येक गांव का नाम लेकर प्रार्थना करके तथा पाँचवें गाँव का नाम न लेकर महाराज युधिष्ठर ने (**कौरवों के द्वारा पांडवों को**) विष दिये जाने, लाक्षा-गृह में आग लगाने तथा जूए में उनका धन हर लेने आदि अपकारों के स्थानों का उद्घाटन किया है।

भीमसेनः—(साटोपम्) वत्स ! एवं कृते किं भवति ?

सहदेवः—आर्य ! एवं कृते लोके तावत्स्वगोत्रक्षयाशङ्कि हृदयमाविष्कृतं भवति, कुरुराजस्य तावदसन्धेयता तदैव प्रतिपादिता भवति ।

भीमसेनः—मूढ ! सर्वमप्येतदनर्थकम् । कुरुराजस्य तावदसन्धेयता तदैव प्रतिपादिता यदैवाऽस्माभिरितो वनं गच्छद्भिः सर्वैरेव कुरुकुलस्य निधनं प्रतिज्ञातम् । लोकेऽपि धार्तराष्ट्र-कुलक्षयः किं लज्जाकरो भवताम् ? अपि च रे मूर्ख !

साटोपमिति । आटोपेन सहितं साटोपं सकोपं सावेशमित्यर्थः ।

आर्येति । स्वगोत्रस्य स्ववंशस्य क्षयमाशङ्कत इति स्वगोत्रक्षयाशङ्कि स्वकुलविनाशभयातुरं हृदयम् आविष्कृतं प्रकटीकृतं भवति । कुरुराजस्य अत्र दुर्योधनस्य । असन्धेयता सन्धानानिच्छा ।

मूढेति—नास्ति अर्थः प्रयोजनं यस्य तदनर्थकं निष्प्रयोजनं व्यर्थमित्यर्थः । असन्धेयता सन्धानाऽयोग्यता । सहदेवेन यद्यपि असन्धेयताशब्दः 'सन्धानाऽनिच्छा' इत्यर्थे प्रयुक्तः, अर्थात् कुरुराजस्य सन्धेः सन्धानस्य इच्छैव नास्तीत्यर्थः, परं भीमेनाऽयं शब्दोऽन्यस्मिन्नेवार्थे, अर्थात् कुरुषु सन्धानस्य सन्धिकरणस्य योग्यतैव नास्तीर्थः । निधनं मृत्युः । धार्तराष्ट्रकुलक्षयः कौरवकुलविनाशः ।

भीमसेन—(आवेश में होकर) वत्स ! ऐसा करने से क्या होगा ?

सहदेव—ऐसा करके (महाराज युधिष्ठिर ने) संसार को यह स्पष्ट कर दिया है दिया है कि हमारा मन अपने कुल के विनाश से (बहुत) डरता है, परन्तु कुरुराज (पाँच गांव देकर भी) संधि करने को तैयार नहीं हैं।

भीमसेन—मूर्ख ! यह सब व्यर्थ है । कौरवों में सन्धि की अयोग्यता तो उसी समय प्रकट हो गई थी जब हम सब ने वन जाते समय कुरुकुल को विध्वस्त करने की प्रतिज्ञा की थी । क्या कुरुकुल का विनाश करने में तुम्हें संसार में लज्जा आती है ? और हे मूर्ख !

युष्मान् ह्रेपयति क्रोधाल्लोके शत्रुकुलक्षयः ।
न लज्जयति दाराणां सभायां केशकर्षणम् ॥१७॥

द्रौपदी—(जनान्तिकम्) णाह ! ण लज्जन्ति एदे । तुमं वि दाव मा विसुमरेहि ।

[(जनान्तिकम्) न लज्जन्त एते, त्वमपि तावन्मा विस्मार्षीः ।]

भीमसेनः—(सस्मरणम्) वत्स ! कथं चिरयति पाञ्चाली ? त्वरते मे मनः संग्रामावतरणाय ।

युष्मानिति—(अन्वयः) क्रोधात् शत्रुकुलक्षयः युष्मान् लोके ह्रेपयति (किम् ?) । दाराणां सभायां केशकर्षणं (युष्मान्) न लज्जयति (किम् ?) ।

(व्याख्या) क्रोधात् कोपात् शत्रूणां कौरवाणां कुलस्य क्षयो विनाशो युष्मान् लोके ह्रेपयति ह्रियमावहति किम् ? (√ह्री+णिच्+लट् अन्य पु० एकवचनम्)। सभायां दुर्योधन-सभायां दाराणां द्रौपद्याः केशकर्षणं न लज्जयति किम् ? अनुष्टुप् छन्दः ॥१७॥

नाथेति—एते युधिष्ठिरप्रमुखाः । मा विस्मार्षीः न विस्मर, वि√स्मृ+लुङ् (मध्यम पु० एकव०) ।

सस्मरणमिति—स्मरणेन सहितं सस्मरणं स्मरणं कृत्वेत्यर्थः । चिरयति विलम्बते । पाञ्चाली द्रौपदी ।

कोपाविष्ट होकर शत्रु-कुल का विनाश करने में तुम्हें लोक-लज्जा मालूम होती है, परन्तु सभा मे (अपनी स्त्री के केश खिंचते देखकर) तुम्हे लज्जा नही आती ? ॥१७॥

द्रौपदी—(एक तरफ़ को मुँह फेरकर) नाथ ! इन लोगों को तो लज्जा नहीं आती, आप भी कभी भूल न जाना ।

भीमसेन—(याद करके) प्रिय भाई ! द्रौपदी ने (आने में) बहुत विलम्ब कर दिया है, क्या कारण है ? मेरा मन संग्रामभूमि में उतरने के लिए चञ्चल हो रहा है ।

सहदेवः—आर्य ! का खलु वेलाऽत्र भवत्याः प्राप्तायाः । किन्तु रोषावेशवशादार्याऽऽगताऽप्यार्येण नोपलक्षिता ।

भीमसेनः—(दृष्ट्वा, सादरम्) देवि ! समुद्धतामर्षैरस्माभिरागताऽपि भवती नोपलक्षिता । अतो न मन्युमर्हसि ?

द्रौपदी—णाह ! उदासीणेसु तुम्हेसु मह मण्णु, ण उण कुविदेसु ।

(नाथ ! उदासीनेषु युष्मासु मम मन्युः, न पुनः कुपितेषु ।)

भीमसेनः—यद्येवमपगतपरिभवमात्मानं समर्थयस्व । ([1]द्रौपदी सखेदं निःश्वसिति ।)

आर्येति—अत्रभवत्याः श्रीमत्याः । प्राप्ताया आगतायाः । रोषस्य क्रोधस्याऽऽवेशवशात् । आर्येण भवता नोपलक्षिता नावलोकिता ।

दृष्ट्वेति—समुद्धतः प्रवृद्धोऽमर्षः कोधो येषां तैः समुद्धतामर्षैरस्माभिर्मया भीमेनेत्यर्थः । मन्युं दुःखं शोकं क्रोधं वेत्यर्थः ।

नाथेति—उदासीनेषु मम केशाकर्षणादेः प्रतीकारमकुर्वाणेषु । मन्युः क्रोधः । कुपितेषु क्रुद्धेषु, कोपाविष्टेषु ।

यद्येवमिति—अपगतोऽव्यपगतो दूरीभूतः परिभवस्तिरस्कारो यस्य तथाभूतमात्मानं समर्थयस्व अवगच्छ ।

सहदेव—आर्य ! श्रीमती जी को आए हुए काफ़ी देर हो चुकी है, परन्तु कोपाविष्ट होने के कारण आपने उन्हें देखा नहीं ।

भीमसेन— (देखकर, आदर के साथ) देवि ! अत्यधिक कोपाविष्ट होने के कारण हमने आपको नहीं देखा । इस लिये आप नाराज़ न हों ।

द्रौपदी—नाथ ! आपके उदासीन होने पर मुझे क्रोध होता, न कि कोपाविष्ट होने पर भी ।

भीमसेन——यदि ऐसा है, तो समझिये कि आपके तिरस्कार का बदला लिया जा चुका है । (द्रौपदी खिन्न होकर दीर्घ निःश्वास छोड़ती है ।)

१. अयं पा. G. नास्ति ।

(हस्ते गृहीत्वा, पार्श्वे समुपवेश्य, मुखमवलोक्य) किं पुनरत्र भवती-मुद्विग्नामिवोपलक्षयामि ।

द्रौपदी—णाह ! किं[1] उव्वेअकालणं तुह्मेसु सण्णिहिदेसु ?

(नाथ ! किमुद्वेगकारणं युष्मासु सन्निहितेषु ?)

भीमसेनः—किमिति नावेदयसि ? (केशानवलोक्य निःश्वस्य[2]) अथवा किमावेदितेन ।

हस्ते इति—पार्श्वे समीपे । अत्र भवतीं माननीयां श्रीमतीम् उद्विग्नां खिन्नाम् इवोपलक्षयामि पश्यामि ।

नाथेति—उद्वेगस्य कारणमुद्वेगकारणं खेदहेतुः । सन्निहितेषु समीप-स्थितेषु ।

किमितीति—नावेदयसि न कथयसि । आविदितेन कथितेन किं प्रयोजनं को लाभ इत्यर्थः ।

(द्रौपदी का हाथ पकड़ कर, पास में बैठाकर उसके मुँह की ओर देखकर) आज श्रीमती जी उद्विग्न-सी क्यों दिखाई दे रही हैं ?

द्रौपदी—आपके पास रहते हुए उद्वेग का क्या कारण हो सकता है !

भीमसेन—कहती क्यों नहीं ? (द्रौपदी के बालों को देखकर दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए) अथवा कहने से ही क्या लाभ है ?

---

१. अत्र 'किं वि' (किमपि) इति गु. पा.। २. 'निःश्वस्य'इति G. नास्ति ।

जीवत्सु पाण्डुपुत्रेषु दूरमप्रोषितेषु च।
पाञ्चालराजतनया वहते यदिमां दशाम् ॥१८॥

द्रौपदी—हञ्जे बुद्धिमदिए ! कहेहि दाव णाहस्स सव्वं [1]ववसिदं। को अण्णो मह परिहवेण खिज्जइ ?

(हञ्जे बुद्धिमतिके ! कथय तावन्नाथस्य सर्वं व्यवसितम्। कोऽन्यो मम परिभवेन खिद्यते।)

चेटी—जं देवी आणवेदि। (भीममुपसृत्य, अञ्जलिं बद्ध्वा) सुणादु कुमालो। इदो वि अहिअदरं अज्ज उव्वेअकालणं आसी देवीए।

जीवत्सु इति। (अन्वयः) यत् पाण्डुपुत्रेषु जीवत्सु दूरम् अप्रोषितेषु च पाञ्चालराजतनया इमां दशां वहते।

(व्याख्या) यद् यदा पाण्डुपुत्रेषु पाण्डवेषु जीवत्सु जीवनं प्राणान् वा धारयत्सु सत्सु दूरं विदेशमप्रोषितेषु अगतेषु, (प्र √वस् + कर्तरि क्तः प्र० ततः नञ्तत्पुरुषः), समीपमेव विद्यमानेषु इत्यर्थः, पाञ्चाल-राजस्य तनया पुत्री इमां दशां दुर्दशामित्यर्थः, वहते धत्ते तदा उद्वेग-कारणनिवेदनेन किं प्रयोजनमिति शेषः। अनुष्टुप् छन्दः ॥१८॥

हञ्जे इति। नाथस्याऽऽर्यभीमसेनस्य। व्यवसितं वृत्तम्। परिभवेण तिरस्कारेण।

भीममुपसृत्येति। उपसृत्य समीपं गत्वा। इतोऽप्यधिकतरमस्मादपि अधिकम् उद्वेगकारणम् उद्वेगहेतुः।

जब कि पाण्डवों के जीवित रहते हुए और कहीं विदेश में न जाकर पास में ही विद्यमान होते हुए भी पाञ्चाल-राज-पुत्री द्रौपदी की यह दुर्दशा हो रही है ॥१८॥

द्रौपदी—हञ्जे बुद्धिमतिके ! प्राणनाथ से समस्त वृत्तान्त कहो। और दूसरा कौन है जिसे मेरे अपमान का दुःख होता है ?

चेटी—जैसी देवी की आज्ञा। (भीमसेन के समीप जाकर हाथ

1. अयं पा. G. नास्ति।

(यद्देव्याज्ञापयति। [भीममुपसृत्य, अञ्जलिं बद्ध्वा] शृणोतु कुमारः। इतोऽप्यधिकतरमद्योद्वेगकारणमासीद्देव्याः।)

भीमसेनः—किं नामाऽस्मादप्यधिकतरम् ? बुद्धिमतिके ! तत्कथय[1], कथय[1]।

कौरव्यवंशदावेऽस्मिन् क एष शलभायते ?
मुक्तवेणीं[2] स्पृशन्नेनां कृष्णां धूमशिखामिव ॥१६॥

किं नामेति। अस्मात् केशाकर्षणादपीत्यर्थोऽधिकतरं दुःखकारणमिति भावः।

कौरव्यवंशेति। (अन्वयः) कौरव्यवंशदावे अस्मिन् (मयि) कः एषः एनां मुक्तवेणीं कृष्णां धूमशिखाम् इव स्पृशन् शलभायते।

(व्याख्या) कुरोरपत्यं कौरव्यो धृतराष्ट्रः, यद्वा कुरूणां राजा कौरव्यो धृतराष्ट्रः, तस्य वंशोऽन्वयः, स एव वंशो वेणुस्तस्य दावोऽनलस्तस्मिन् कौरव्यवंशदावे वेणुरूपकुरुवंशदाहार्थं प्रदीप्ते दावानले (श्लिष्टपरम्परितरूपकम्), अस्मिन् मयि, मम क्रोधाग्नौ इत्यर्थः क एष मुक्ता वेणी यस्यास्तां मुक्तवेणीमुन्मुक्तकेशसमूहामेनां कृष्णां द्रौपदीं, कृष्णवर्णत्वेन द्रौपदी कृष्णेत्युच्यते, धूमस्य शिखामिव स्पृशन् शलभायते शलभइवाऽऽचरतीत्यर्थः। द्रौपदीं दुःखयन् को नाम मूर्खो मम क्रोधाग्नौ पतङ्गवत् पतितुमिच्छतीत्यर्थः। अनुष्टुप् छन्दः ॥१६॥

जोड़कर) कुमार ! सुनिये। आज इस (केशाकर्षण) से भी अधिक दुःखद घटना देवी के साथ हुई है।

भीमसेन—क्या कहा, इस से भी अधिक ? बुद्धिमतिके ! तो जल्दी बताओ।

धूम-शिखा के समान खुली हुई- लटों वाली इस द्रौपदी को छेड़ कर कौरव-वंश के लिए दावाग्नि-स्वरूप मेरी क्रोधाग्नि में कौन पतङ्ग की तरह जल कर मरना चाहता है ? ॥१६॥

१. 'कथय' इति G. पा.। २. बद्धवेणीम्' इति गु. पा.।

चेटी—सुणादु कुमालो[1]। अज्ज क्खु देवी अम्बासहिदा सुभद्दाप्प मुहेण सवत्तिवग्गेण परिवुदा अज्जाए [1]गन्धालीए पादवन्दणं कादुं गदा आसी[2]।

(शृणोतु कुमारः। अद्य खलु देवी अम्बासहिता सुभद्राप्रमुखेण सपत्नीवर्गेण परिवृता आर्याया गान्धार्याः पादवन्दनं कर्तुं गता आसीत्।)

भीमसेनः—युक्तमेतत्। वन्द्याः खलु गुरवः। ततस्ततः।

चेटी—तदो पडिणिवुत्तमाणा भाणुमदीए देवी दिट्ठा।

(ततः प्रतिनिवर्तमाना भानुमत्या देवी दृष्टा।)

शृणोत्विति। अम्बया मात्रा कुन्त्या सहिता। सुभद्रा प्रमुखा मुख्या यस्मिन् तेन सुभद्राप्रमुखेन सपत्नीवर्गेण परिवृता समन्विता। आर्यायाः पूज्यायाः दुर्योधनस्य मातुर्गान्धार्याः पादयोर्वन्दनं कर्तुम्।

युक्तमिति। वन्द्या वन्दनीयाः गुरवः पितरो मातरश्चेत्यर्थः। मातृस्थानीया गान्धारी नमस्कार्या एव।

तत इति। गान्धार्याः समीपात् प्रतिनिवर्तमाना प्रत्यावर्तमाना देवी भानुमत्या दुर्योधनपत्न्या दृष्टा।

चेटी—कुमार सुनिये। आज महारानी द्रौपदी माता (कुन्ती) के साथ सुभद्रा आदि सपत्नियों को साथ लेकर पूज्य गान्धारी की चरणवन्दना करने के लिये गई थीं।

भीमसेन—ठीक है, गुरुजनों की चरणवन्दना करनी ही चाहिये। इस के बाद क्या हुआ ?

चेटी—वहां से वापिस लौटते हुए देवी को भानुमती ने देख लिया।

१. गान्धा. इति गु. पा.। २. अयं पा. G. नास्ति।

भीमसेनः— (सक्रोधम्) आः ! शत्रोर्भार्यया दृष्टा । स्थानं[1] क्रोधस्य [2]देव्याः । ततस्ततः ?

चेटी—तदो ताए देवीं पेक्खिअ सहीजणदिण्णदिट्ठिए सगव्वं ईसि विहसिअ भणिअं ।

(ततस्तया देवीं प्रेक्ष्य सखीजनदत्तदृष्ट्या सगर्वमीषद् विहस्य भणितम् ।)

भीमसेनः—न केवलं दृष्टा । उक्ता च । अहो ? किं कुर्मः ? ततस्तः ?

सक्रोधमिति—देव्या द्रौपद्याः क्रोधस्य स्थानमवसर एव खलु, तस्याः क्रोध उचित एवेत्यर्थः ।

ततस्तयेति—तया भानुमत्या । सखीजने दत्ता दृष्टिर्यया तया सखीजनदत्तदृष्ट्या स्वसखीजनं प्रति दृष्टिं निक्षिपन्त्या तया भानुमत्या गर्वेण सहितं सगर्वं साहंकारमीषत् किञ्चिद्विहस्य भणितं कथितम् ।

भीमसेन—(क्रोध से भर कर) ओह ! शत्रु की स्त्री ने देख लिया ? (तब तो) देवी का क्रोध करना उचित ही है । (अच्छा तो) फिर क्या हुआ ?

चेटी—इसके बाद उसने देवी को देख कर अपनी सखियों की ओर दृष्टि डालते हुए बड़े गर्व के साथ कुछ मुस्कराते हुए कहा ।

भीमसेन—न केवल देखा ही, प्रत्युत कुछ कहा भी । ओह ! क्या करें ? अच्छा फिर क्या हुआ ?

१. इतः पूर्वं 'हन्त !' इति गु. अधिकः पा. । २. इतः पूर्वं 'साम्प्रतम्' इति गु. अधिकः पा. ।

चेटी—अइ जण्णसेणि ! पञ्च गामा पत्थीअन्ति त्ति सुणीअदि । ता कीस दाणीं वि दे केसा ण संजमीअन्ति ?

(अयि याज्ञसेनि ! पञ्च ग्रामाः प्रार्थ्यन्त इति श्रूयते । तत् कस्मादिदानीमपि ते केशा न संयम्यन्ते ।)

भीमसेनः—सहदेव ! श्रुतम् ?

सहदेवः—आर्य ! उचितमेवैतत्तस्याः । दुर्योधनकलत्रं हि सा । पश्य—

स्त्रीणां हि साहचर्याद्भवन्ति चेतांसि भर्तृसदृशानि ।
मधुराऽपि मूर्च्छयते विषविटपिसमाश्रिता वल्ली ॥२०॥

अयि याज्ञसेनीति—याज्ञसेनि हे द्रौपदि ! प्रार्थ्यन्ते याच्यन्ते केशाः कचा न संयम्यन्ते बध्यन्ते ।

आर्येति—सा हि भानुमती दुर्योधनस्य कलत्रं भार्या । अतस्तस्या एतद् ईदृशं वाक्यमुचितमेव ।

स्त्रीणामिति—(अन्वयः) साहचर्यात् स्त्रीणां हि चेतांसि भर्तृसदृशानि भवन्ति । मधुरा अपि हि वल्ली विषविटपिसमाश्रिता (सती) मूर्च्छयते ।

(व्याख्या) साहचर्याद् निजपतीनां सहवासात् स्त्रीणामपि चेतांसि

चेटी—(उसने कहा) हे द्रौपदी ! (सुना है कि तुम लोगों ने सन्धि के लिये) पाँच गाँवों की प्रार्थना की है । फिर, अब तुम अपने केश क्यों नहीं बाँधती ?

भीमसेन—सहदेव ! सुना तुमने ?

सहदेव—आर्य ! यह उसके लिए उचित ही है, क्योंकि वह दुर्योधन की स्त्री है । देखिए—

पतियों के साहचर्य से स्त्रियों की चित्त-वृत्ति भी उन्हीं के समान हो जाती है । मधुर लता भी विष-वृक्ष का आश्रय लेने से मूर्च्छित करने वाली बन जाती है ॥२०॥

भीमसेनः—बुद्धिमतिके ! ततो देव्या किमभिहितम् ?

चेटी—कुमाल ! जइ परिजणहीणा भवे तदो देवी भणादि ।

(कुमार ! यदि परिजनहीना भवेत्तदा देवी भणति ।)

भीमसेनः—किं पुनरभिहितं भवत्या ?

चेटी—कुमाल ! मए[1] एवं भणिदं—'अइ भानुमदि ! तुम्हाणं अमुक्केसु केसहत्थेसु कधं अम्हाणं देवीए केसा संजमीअन्ति'त्ति ।

(कुमार ! मयैवं भणितम्—'अयि भानुमति ! युष्माकममुक्तेषु केशहस्तेषु कथमस्माकं देव्याः केशाः संयम्यन्त इति ।)

मनांसि भर्तृसदृशानि स्वभर्तृचेतस्तुल्यानि भवन्ति, यथा मधुरा अपि वल्ली लता विषात्मको विटपी विषविटपी (मध्यमपदलोपी तत्पुरुषः), तं समाश्रिता, विषवृक्षाश्रयं प्राप्येत्यर्थः, मूर्च्छयते मूर्च्छां कुरुते भक्षयितारं मूर्च्छितं करोतीत्यर्थस्तथैव । आर्या छन्दः ॥२०॥

कुमार इति—परिजनेन हीना परिजनहीना परिचारिकाविरहिता यदि देवी भवेत्तदैव सा उत्तरं ददाति । अद्य तु मयैवोत्तरं दत्तम् ।

कुमार मयेति—एवमित्थं भणितं कथितम् । युष्माकं केशहस्तेषु कचसमूहेषु अमुक्तेषु बद्धेषु सत्सु देव्याः केशाः कथं बध्येरन् । युष्मद्वैधव्यानन्तरं भवतीनां केशेषु मुक्तेषु सत्सु एव अस्माकं देव्याः केशाः संयम्येरन् इति भावः । पत्युर्मृत्योरनन्तरं स्त्रीणां केशाः प्रायः मुच्यन्ते ।

भीमसेन—बुद्धिमतिके ! फिर देवी ने क्या कहा ?

चेटी—यदि परिचारिका साथ न होती तो देवी उत्तर देतीं ।

भीमसेन—अच्छा, तो फिर तुमने क्या उत्तर दिया ?

चेटी—कुमार ! मैंने इस प्रकार कहा—अयि भानुमति ! तुम्हारे केशों के बंधे रहने पर हमारी स्वामिनी के केश कैसे बंध सकते हैं ?

---

१. 'तदो मए भणिअं' (ततो मया भणितम्) इति G. पा. ।

भीमसेनः—(सपरितोषम्) साधु, बुद्धिमतिके ! साधु । तदभिहितं यदस्मत्परिजनोचितम् । ([1]स्वाभरणानि बुद्धिमतिकायै प्रयच्छति) (सावष्टम्भमासनादुत्तिष्ठन्) अयि[2] पाञ्चालराजतनये ! [3]अलं विषादेन । किं बहुना, यत्करिष्ये तच्छ्रूयताम् । अचिरेणैव कालेन—

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाऽभिघात-
सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य ।
स्त्यानाऽवनद्धघनशोणितशोणपाणि-
[4]रुत्तंसयिष्यति कचाँस्तव देवि ! भीमः ॥२१॥

सपरितोषमिति—साधु युक्तम् । अस्माकं परिजनेन यादृशमुचितं वीरोचितं वाक्यमभिधातव्यं तादृशमेव त्वयाऽभिहितम् । अवष्टम्भेन क्रोधेनाऽहंकारेण वा सहितं सावष्टम्भम् । विषादेन दुःखेन शोकेन वाऽलं प्रयोजनं नास्ति । किं बहुना प्रकथनेन । अचिरेणैव कालेन स्वल्पेनैव समयेनाऽतिशीघ्रमेवेत्यर्थः ।

चञ्चद्भुजेति—(अन्वयः) हे देवि ! चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघातसञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणिः भीमः तव कचान् उत्तंसयिष्यति ।

भीमसेन—(सन्तोष के साथ) ठीक, बुद्धिमतिके ! ठीक । तुमने वही (वीरता-पूर्ण) उत्तर दिया जो हमारे सेवकों को देना चाहिए । (अपने आभूषण उतार कर बुद्धिमतिका को देता है) । (आवेश में होकर आसन से उठता हुआ) अयि पाञ्चालपुत्रि ! दुःख मत करो, ज्यादा कहने से क्या लाभ है ? मैं जो करूँगा वह सुनो । बहुत ही शीघ्र—

१. अयं पा. G. नास्ति । २. इतोऽग्रे 'भवति' इति अधिकः G. पा. । ३. इत आरभ्य 'यत्करिष्ये तद्' इत्येतत्पर्यन्तं पा. G. नास्ति । ४. 'अपविद्ध' इति गु. पा. । ५. 'उत्तम्भयिष्यति' इति. पा.

द्रौपदी—किं णाह ! दुक्करं तुए परिकुविदेण। सव्वहा अणुगेह्णन्तु एदं ववसिदं दे भादरो।

(किं नाथ ! दुष्करं त्वया परिकुपितेन। सर्वथाऽनुगृह्णन्त्वेतद् व्यवसितं ते भ्रातरः।)

(व्याख्या) हे देवि ! हे द्रौपदि ! चंचन्तौ चलन्तौ स्फुरन्तौ च तौ भुजौ चंचद्भुजौ ताभ्यां भ्रमिता या चण्डा भीषणा गदा तस्या अभिघातैः प्रहारैः संचूर्णितम् ऊरुयुगलं यस्य तस्य तथाविधस्य सुयोधनस्य दुर्योधनस्य। सुयोधनपदस्येह शोणितशब्देन सह सम्बन्धः। स्त्यानं स्तिमितं स्तब्धं च अवनद्धं लिप्तं च घनं गाढं च यत् शोणितं तेन शोणौ लोहितौ पाणी यस्यासौ, (√स्त्यै+क्त प्र., अव √नह्+क्त प्र.), भीमः तव कचान् केशान् उत्तंसयिष्यति अलंकरिष्यति भूषयिष्यति। गदया सुयोधनस्योरुयुगलं विदार्य तस्य दुर्योधनस्य गाढेन रुधिरेणाऽऽरक्तपाणिरहं भीमस्ते केशान विभूषयिष्यामीति भावः। शोणितशब्दस्य सुयोधनपदेन सह सम्बद्धत्वेन सापेक्षत्वान् सापेक्षोऽयं समासः। वसन्ततिलका छन्दः 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति तल्लक्षणात् ॥२१॥

किं नाथेति—परिकुपितेन क्रुद्धेन त्वया किं दुष्करमित्यर्थः। अनुगृह्णन्तु स्वीकुर्वन्तु समर्थयन्तां वा।

अयि पाञ्चालतनये ! फड़कती हुई भुजाओं से घुमाई गई गदा के प्रहार से चूर-चूर हुई दोनों जंघाओं वाले सुयोधन के स्तब्ध, चिकने तथा गाढ़े रुधिर से अपने हाथों को रंग कर मैं तुम्हारे इन खुले हुए बालों को सजाऊँगा ॥२१॥

द्रौपदी—नाथ ! क्रुद्ध होने पर आप के लिये कौन-सा कार्य दुष्कर है ? ईश्वर करे आपके भाई भी आपके इस दृढ संकल्प को स्वीकार करें।

सहदेवः—अनुगृहीतमेतदस्माभिः
(नेपथ्ये महान् कलकलः । सर्वे सविस्मयमाकर्णयन्ति) ।
भीमसेनः—(सानन्दम्) आर्ये ! किमेतत् ?

मन्थायस्ताऽर्णवाऽम्भःप्लुतकुहरचलन्मन्दरध्वानधीरः,
कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटाऽन्योन्यसंघट्टचण्डः ।
कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवातः,
केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताड्यतेऽयम् ॥२२॥

मन्थायस्तेति—(अन्वयः) मन्थायस्तार्णवाम्भःप्लुतकुहरचलन्मन्दरध्वानधीरः कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटाऽन्योऽन्यसंघट्टचण्डः कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवातः अस्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखः अयं दुन्दुभिः केन ताड्यते ॥२२॥

(व्याख्या) मन्थे मंथनक्रियायां मन्थेन वा आयस्तः क्षुब्धः यः अर्णवः समुद्रस्तस्य यद् अम्भो जलं तेन प्लुतानि व्याप्तानि कुहराणि छिद्राणि यस्य स तथाभूतः मन्थायस्तार्णवाऽम्भःप्लुतकुहरः, स चासौ चलन् च भ्रमन् च यः मन्दरः मन्दराचलस्तस्य ध्वनिरिव धीरो गम्भीरः, कोणस्य दण्डस्याऽऽघातेषु गर्जन्तो ये प्रलयस्य घना मेघास्तेषां घटाः समूहास्तासां यः अन्योन्यं संघट्टः संघर्षणम् स इव चण्डो भयंकरः, कृष्णाया द्रौपद्याः क्रोधस्य अग्रदूतः प्रथमसूचकः, कुरुकुलस्य

सहदेव—हम सब लोग इसे स्वीकार करते हैं ।
(नेपथ्य में भीषण कोलाहल होता है । सब लोग विस्मित होकर सुनने लगते हैं) ।
भीमसेन (आनन्द के साथ) आर्ये ! यह क्या हो रहा है ?
मन्थन-विक्षुब्ध-समुद्र-जल से व्याप्त कन्दराओं वाले और घूमते हुए मन्दराचल की ध्वनि के समान गम्भीर, दण्डाघात होने पर गर्जते हुए प्रलय-

(प्रविश्य सम्भ्रान्तः)

कञ्चुकी—'कुमार ! एष खलु भगवान् वासुदेवः'—

(सर्वे कृताञ्जलयः समुत्तिष्ठन्ति) ।

भीमसेनः—(ससम्भ्रमम्)क्वासौ क्वासौ भगवान् ?

कौरववंशस्य यद् निधनं मृत्युः तस्य उत्पातस्वरूपः यः निर्वातवातः प्रचण्डोऽनिलः, अस्माकं पाण्डवानां यः सिंहनादस्तस्य यत्प्रतिरसितं प्रतिध्वनिस्तस्य सखा मित्रम् अस्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखोऽस्माकं सिंहनादसदृशः, (तत्पुरुषे 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' इति टच् प्र.), अयं दुन्दुभिः केन ताड्यते आहन्यते । स्रग्धरा छन्दः । 'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्' इति तल्लक्षणात् ॥२२॥

सर्वे इति—कृता अञ्जलयो यैस्ते कृताञ्जलयो बद्धाञ्जलयः अञ्जलीन् बद्ध्वेत्यर्थः ।

ससम्भ्रममिति—भीमः कंचुकिनः अर्धमेव वाक्यं श्रुत्वा कथयति क्वासौ—इत्यादि ।

कालीन मेघ-समूह के पारस्परिक संघर्ष के समान प्रचण्ड, द्रौपदी के क्रोध के अग्रदूत (प्रथम सूचक), कौरव-कुल के निधन के लिये उत्पात-स्वरूप प्रचण्ड वायु के समान भीषण और पाण्डवों की सिंह-गर्जना के समान इस नगाड़े को कौन बजा रहा है ? ॥२२॥

(प्रवेश करके घबरा कर)

कञ्चुकी—कुमार ! भगवान् वासुदेव को………।

(सब लोग हाथ जोड़ कर खड़े हो जाते हैं ।)

भीमसेन—(घबरा कर) कहाँ हैं, कहाँ हैं भगवान् ?

---

१. 'ताडितः' इति. पु. पा. ।

कञ्चुकी—पाण्डवपक्षपातामर्षितेन सुयोधनेन[1]—

(सर्वे सम्भ्रमं नाटयन्ति) ।

भीमसेनः—किं संयतः ?

कञ्चुकी—नहि नहि [2]संयन्तुमारब्धः ।

भीमसेनः—किं कृतं देवेन ?

कञ्चुकी—ततः स महात्मा दर्शितविश्वरूपतेजःसम्पातमूर्च्छित-मवधूय कुरुकुलमस्मच्छिबिरसंनिवेशमनुप्राप्तः कुमारमविलम्बितं द्रष्टु-मिच्छति ।

कंचुकी स्ववाक्यं पूरयति—पाण्डवपक्षेति—पाण्डवेषु यः पक्षपातः सविशेषं प्रेम तेन अमर्षितः संजाताऽमर्षः कुपित इत्यर्थः (अमर्ष-शब्दात् तारकादित्वाद् इतच्) तेन पाण्डवपक्षपातामर्षितेन सुयो-धनेन ।

तत इति—महान् आत्मा यस्याऽसौ महात्मा वासुदेवः दर्शितं प्रकटितं यद् विश्वरूपं विराड्रूपं तस्य यत्तेजस्तस्य संपातेनाऽभिघातेन,

कञ्चुकी—पाण्डवों के प्रति पक्षपात के कारण क्रुद्ध हुए दुर्योधन ने बाँधने का प्रयत्न किया ।

(सब घबरा जाते हैं)

भीमसेन—क्या बाँध लिया ?

कञ्चुकी—नहीं, नहीं, बाधने का प्रयत्न किया ।

भीमसेन—तब भगवान् ने क्या किया ?

कञ्चुकी—इसके बाद भगवान् कृष्ण विराट्-रूप दिखा कर उसके तेजः-प्रहार से मूर्च्छित (दुर्योधनादि) कौरवों को तिरस्कृत करके अपनी छावनी में आ गए ।

१. अतः परं 'संयमितुमारब्धः' इति गु. अधिकः पा. । २. 'संयमितुम्' इति गु पा. ।

भीमसेनः— (सोपहासम्) किं नाम दुरात्मा सुयोधनो भगवन्तं संयन्तु'मिच्छति ? (आकाशे दत्तदृष्टिः) आः ! दुरात्मन् ! कुरु-कुल-पांसुल ! एवमतिक्रान्तमर्यादे त्वयि निमित्तमात्रेण पाण्डवक्रोधेन भवितव्यम् ।

सहदेवः—आर्य ! किमसौ दुरात्मा सुयोधनहतको वासुदेवमपि भगवन्तं स्वेन रूपेण न जानाति ?

प्रहारेणत्यर्थः, मूर्च्छितं कुरुकुलं कुरुवंशं, दुर्योधनप्रमुखानित्यर्थः, अवधूय परिभूय, तिरस्कृत्येति यावत्, अस्माकं शिविरसंनिवेशं सेना-निवेशभुवमनुप्राप्तः आगतः । कुमारं, त्वामित्यर्थः, न विलम्बितं विलम्बो यस्मिन् कर्मणि तद् यथा तथाऽविलम्बितं, त्वरितमित्यर्थः, द्रष्टुमिच्छति ।

कुरुकुलेति—पांसुः अस्याऽस्तीति पांसुलः, कुरुकुलाय पांसुलः कुरुकुल-पांसुलस्तत्सम्बुद्धौ हे कुरुकुलपांसुल ! अतिक्रान्ता मर्यादा येन तस्मिन् तथा-भूते अतिक्रान्तमर्यादे उल्लंघितमर्यादे त्वयि दुर्योधने पाण्डवानां क्रोधेन निमित्तमात्रेणैव भवितव्यम् । त्वं स्वकर्मभिः पूर्वमेव निहतप्रायः, अस्माकं पाण्डवानां क्रोधस्तु तव वधे निमित्तमेव स्यादित्यर्थः (तु. गीता 'मयैवैते निहताः पूर्वमेव, निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्') ।

किमसाविति—सुयोधनहतको दुष्टदुर्योधन इत्यर्थः ।

भीमसेन—(हँसते हुए) क्या दुष्ट दुर्योधन भगवान को बाँधना चाहता था । (आकाश की ओर देखकर) अरे नीच ! कौरव-कुल-कलङ्क ! इस प्रकार मर्यादा का उल्लंघन करने वाले तुझ पापी के लिये पाण्डवों का क्रोध (तो) निमित्त-मात्र ही होगा ।

सहदेव—आर्य ! क्या वह दुरात्मा दुष्ट दुर्योधन भगवान् वासुदेव के भी स्वरूप को नहीं पहचानता ?

१. 'संयमितुम्' इति. गु. पा. ।

भीमसेनः—मूढः खल्वयं दुरात्मा कथं जानातु। पश्य—

आत्मारामा विहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ,
ज्ञानोत्सेकाद् विघटिततमोग्रन्थयः सत्त्वनिष्ठाः।
यं वीक्षन्ते कमपि तमसां ज्योतिषां वा परस्ता-
त्तं मोहान्धः कथमयममुं वेत्तु देवं पुराणम् ॥२३॥

आत्मारामा इति—(अन्वयः) निर्विकल्पे समाधौ विहितरतयः ज्ञानोत्सेकाद् विघटिततमोग्रन्थयः सत्त्वनिष्ठाः आत्मारामाः (मुनयः) यं कम् अपि तमसां ज्योतिषां वा परस्ताद् (वर्तमानं) वीक्षन्ते तम् अमुम् पुराणम् देवम् मोहान्धः अयं (दुर्योधनः) कथं वेत्ति।

(व्याख्या) निर्गतो विकल्पो यस्मात्तस्मिन् निर्विकल्पे निर्गतभेदे समाधौ विहिता कृता रतिरनुरागो यैस्ते विहितरतयो ज्ञानस्य उत्सेक आधिक्यं तस्माद् विघटिताश्छिन्नास्तमसोऽज्ञानान्धकारस्य ग्रन्थयो यैस्ते विघटिततमोग्रन्थयो दूरीकृताऽज्ञानान्धकाराः सत्त्वे ब्रह्मणि निष्ठा ध्रुवा स्थितिर्येषां ते सत्त्वनिष्ठाः सात्त्विकतामादधाना आत्मनि आ समन्ताद् रमन्ते इति आत्मारामाः, आत्मा एव आरामो रमणस्थानं वनं वा आत्मारामाः परित्यक्तसांसारिकासक्तयो मुनयो मननशीलाः यं कमप्यनिर्वचनीयं तमसामन्धकाराणां मिथ्याज्ञानानां वा ज्योतिषां

भीमसेन—वह मूर्ख दुष्टात्मा कैसे जान सकता है ? देखो—

(स्थिर एवं सात्त्विक अनुराग के साथ) निर्विकल्प (भेद-भाव-शून्य) समाधि में लीन होकर और ज्ञानोद्रेक से (हार्दिक) अज्ञानान्धकार की ग्रन्थियों को छिन्न-भिन्न करके आत्मा मे रमण करने वाले सत्त्व-निष्ठ मनन-शील योगी ही अन्धकार एवं ज्योति (ज्ञान वा अज्ञान) इन दोनों से पर (अगम्य) जिस अनिर्वचनीय विभु को (तत्त्व दृष्टि से) देख सकते हैं, उस अनादि-सिद्ध शाश्वत प्रभु को मोहान्धकार में निमग्न दुरात्मा दुर्योधन कैसे समझ सकता है ॥२३॥

आर्य जयन्धर ! किमिदानीमध्यवस्यति गुरुः ?

कञ्चुकी—स्वयमेव गत्वा महाराजस्याऽध्यवसितं ज्ञास्यति कुमारः ।

(निष्क्रान्तः)

(नेपथ्ये कलकलानन्तरम्)

भो भो ! द्रुपद-विराट-वृष्ण्यन्धक-सहदेव-प्रभृतयोऽस्मदक्षौहिणी-पतयः कौरवचमूप्रधानयोधाश्च, शृण्वन्तु भवन्तः ।

प्रकाशानां तत्त्वज्ञानानां वा परस्ताद् विद्यमानं, ताभ्यामपि पर-मगम्यमित्यर्थः, वीक्षन्ते ज्ञानचक्षुषा पश्यन्तीत्यर्थः, तममुं पुराण-मनादिसिद्धं शाश्वतं देवं मोहेन सांसारिकमाययाऽन्धोऽयं दुष्टो दुर्योधनः कथं वेत्तु जानातु नाम । समाधिनिष्ठैर्मुनिभिस्तत्त्वज्ञानेन वेद्यः शाश्वतो विभुर्भगवान् मोहान्धेन दुरात्मना दुर्योधनेन कथं ज्ञातुं शक्य इति भावः । मन्दाक्रान्ता छन्दः, 'मन्दाक्रान्ताम्बुधिरसनगैर्मो भनौ तौ गयुग्मम्' इति तल्लक्षणात् ॥२३॥

आर्येति—इदानीं गुरुर्युधिष्ठिरःकिमध्यवस्यति करोतीत्यर्थः (अधि+अव √सो), अर्थात् कृष्णस्य सन्धिप्रयत्नविफलतां ज्ञात्वाऽऽर्यो युधिष्ठिरः किमिदानीं कर्तुमीहते ?

स्वयमेवेति—कुमारः स्वयमेव तत्र गत्वा महाराजस्य युधिष्ठिरस्य अध्यवसितं निर्णयं विचारं वा ज्ञास्यति ।

भो भो इति—द्रुपदश्च विराटश्च वृष्णिश्च अन्धकश्च सहदेवश्चेति द्रुपदविराटवृष्ण्यन्धकसहदेवास्ते प्रभृतौ येषां ते द्रुपदविराटवृष्ण्यन्धक-

---

आर्य जयन्धर ! अब आर्य युधिष्ठिर क्या करना चाहते हैं ?

कञ्चुकी—कुमार स्वयं वहाँ पहुंचकर महाराज के विचार को अच्छी प्रकार जान सकेंगे । (यह कहकर कञ्चुकी चला जाता है) ।

(नेपथ्य में कोलाहल के बाद)

हे द्रुपद, विराट, वृष्णि, अन्धक और सहदेव-प्रभृति ! पाण्डवों की

यत्सत्यव्रतभङ्गभीरुमनसा यत्नेन मन्दीकृतं,
यद्विस्मर्तुमपीहितं शमवता शान्तिं कुलस्येच्छता ।
तद्यूतारणिसम्भृतं नृपसुताकेशाम्बराकर्षणैः,
क्रोधज्योतिरिदं महत्कुरुवने यौधिष्ठिरं जृम्भते ॥२४॥

सहदेवप्रभृतयः !, अस्माकमक्षौहिण्याः पतयः !, कौरवचम्वाः कौरवसेनायाः प्रधानयोधाश्च ! भवन्तः शृण्वन्तु आकर्णयन्तु ।

यत्सत्यव्रतेति—(अन्वयः) यत् सत्यव्रतभङ्गभीरुमनसा (युधिष्ठिरेण) यत्नेन मन्दीकृतम्, यत् शमवता कुलस्य शान्तिम् इच्छता (तेन) विस्मर्तुम् अपि ईहितम्, तद् इदं नृपसुताकेशाम्बराकर्षणैः द्यूतारणिसंभृतं महत् यौधिष्ठिरं क्रोधज्योतिः कुरुवने जृम्भते ॥

(व्याख्या) यत् क्रोधरूपं ज्योतिः सत्यस्य यद् व्रतं तस्य यो भंगस्तस्माद् भीरु कातरं मनः यस्य तेन सत्यव्रतभङ्गभीरुमनसा सत्यव्रतलोपभयातुरमनसा युधिष्ठिरेण यत्नेन महता प्रयत्नेन मन्दीकृतं कथञ्चित् शान्तं कृतम्, शमवता शान्तचित्तेन कुलस्य स्ववंशस्य शान्तिमिच्छता कामयमानेन यत् क्रोधरूपं ज्योतिः विस्मर्तुमपि ईहितं चेष्टितम्, तदेवेदं नृपस्य द्रुपदस्य सुताया द्रौपद्याः केशानां कचानामम्बराणां वस्त्राणां च आकर्षणैः द्यूतमेव अरणी अग्न्युत्पादनसाधने अरणी दारुणी ताभ्यां सम्भृतमुद्भूतं महद् युधिष्ठिरस्येदं यौधिष्ठिरं (तस्येदमित्यर्थे अण् प्र.), क्रोधज्योतिः कुरुवो

अक्षौहिणी सेना के नायको ! तथा कौरव सेना के प्रधान वीरो ! आप सब लोग (ध्यान से) सुनें—

जिसे महाराज युधिष्ठिर ने अपने सत्य-नियमादि के भंग हो जाने के भय से बड़े प्रयत्न से शान्त कर रखा था तथा शान्तचित्त होने के कारण अपने कुल में शान्ति की कामना से जिसे उन्होंने भुलाने की भी पर्याप्त चेष्टा की थी,

भीमसेनः—(आकर्ण्य सहर्षाऽमर्षम्) जृम्भतां जृम्भतामप्रतिहतप्रसर-मार्यस्य क्रोधज्योतिः ।

द्रौपदी—(सविस्मयम्) णाह ! किं दाणीं एसो[1] पलअजलहर-त्थणिदमंसलोद्‌घोसो[2] क्खणे क्खणे समरदुन्दुही ताडीअदि ?

([सविस्मयम्] नाथ ! किमिदानीमेष प्रलयजलधरस्तनित-मांसलोद्‌घोषः क्षणे क्षणे समरदुन्दुभिस्ताड्यते ?) ।

दुर्योधनादय एव वनं तस्मिन् जृम्भते प्रवर्धते । कौरवकुलं दग्धुं युधि-ष्ठिरस्य क्रोधाग्निः प्रवर्धत इत्यर्थः । शार्दूलविक्रीडितं छन्दः, 'सूर्याश्वैर्य-दि मासजः सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' इति तल्लक्षणात् ।

आकर्ण्येति—हर्षश्चाऽमर्षश्च हर्षामर्षौ ताभ्यां सहितं यथा स्यात्तथा सहर्षामर्षं सहर्षं सक्रोधं चेत्यर्थः । अप्रतिहतोऽनिरुद्धः प्रसरो वेगो यस्य तद् अप्रतिहतप्रसरं क्रोधात्मकं ज्योतिः ।

सविस्मयमिति—प्रलयस्य ये जलधरास्तेषां स्तनितमिव मांसलः प्रबलो भीषणोवा उद्‌घोषो यस्य स प्रलयजलधरस्तनितमांसलोद्‌घोषः प्रलय-कालीनमेघध्वनिगम्भीरः समरदुन्दुभिस्ताड्यते आहन्यते ।

महाराज युधिष्ठिर की वही महान् क्रोधाग्नि द्रौपदी के केश एवं वस्त्रों के आकर्षण के कारण द्यूत-रूपी अरणि से उत्पन्न होकर कौरव-कुल (रूपी) वन को जलाने के लिये प्रचण्ड हो रही है ॥२४॥

भीमसेन—(सुनकर, हर्ष एवं क्रोध के साथ) खूब बढ़े, महाराज युधिष्ठिर की यह क्रोध-ज्योति अनवरुद्ध-गति होकर खूब बढ़े ।

द्रौपदी—(आश्चर्य में भर कर) नाथ ! भीषण-ध्वनि एवं प्रलय-कालीन मेघों के समान गम्भीर यह समर-दुन्दुभि क्षण-क्षण में क्यों बज रही है ?

---

१. 'मसलो' इति G. पा. । २. इतोऽग्रे 'चण्डघोसदालुणो' (चण्ड-घोषदारुणः) इति गु. अधिकः पा.

भीमसेनः—देवि ! किमन्यत् ? यज्ञः प्रवर्तते ।

द्रौपदी—(सविस्मयम्) को एषो जण्णो ?

(सविस्मयम्) क एष यज्ञः ?

भीमसेनः—रणयज्ञः । तथा हि—

चत्वारो वयमृत्विजः स भगवान् कर्मोपदेष्टा हरिः,
संग्रामाध्वरदीक्षितो नरपतिः पत्नी गृहीतव्रता ।
कौरव्याः पशवः, प्रियापरिभवक्लेशोपशान्तिः फलम्,
राजन्योपनिमन्त्रणाय रसति स्फीतं यशोदुन्दुभिः ॥२५॥

चत्वार इति—(अन्वयः) वयं चत्वारः ऋत्विजः, स भगवान् हरिः कर्मोपदेष्टा, नरपतिः संग्रामाध्वरदीक्षितः, पत्नी गृहीतव्रता, कौरव्याः पशवः, प्रियापरिभवक्लेशोपशान्तिः फलम् यशोदुन्दुभिः राजन्योपनिमन्त्रणाय स्फीतं रसति ।

(व्याख्या) अस्मिन् रणयज्ञे वयं चत्वारो, भीमादय इत्यर्थः, भ्रातरः होता, उद्गाता, अध्वर्युः ब्रह्मा चेत्येवं रूपेण चतुःसंख्याका ऋत्विजो होतारः, स जगत्प्रसिद्धो भगवान् वासुदेवः कर्मणामुपदेष्टा आचार्य इत्यर्थः, नरपतिर्महाराजो युधिष्ठिरः संग्राम एव अध्वरस्तस्मिन् दीक्षितः संग्रामाध्वरदीक्षितो रणयज्ञदीक्षितो यजमानः, पत्नी द्रौपदी च गृहीतं व्रतं यया सा गृहीतव्रता, कौरव्याः कुरुकुलोद्भवा दुर्योधनादयः पशवो बलिपशवः, प्रियाया परिभवस्तिरस्कारस्तेन यः क्लेशस्तस्यो-

भीमसेन—देवि ! और क्या ? यज्ञ आरम्भ हो रहा है ।

द्रौपदी—(आश्चर्य में भर कर) यह कौन-सा यज्ञ है ?

भीमसेन—(देवि !) यह रण-यज्ञ है । क्योंकि—

इस यज्ञ में हम चारों भाई (चार) होता हैं, भगवान् कृष्ण कर्मोपदेष्टा आचार्य हैं, महाराज युधिष्ठिर युद्ध-रूपी यज्ञ में दीक्षित यजमान हैं, गृहीतव्रता द्रौपदी पत्नी हैं, दुर्योधन आदि कौरव (यज्ञ-बलि के लिये) पशु हैं, प्रियतमा

सहदेवः—आर्य ! गच्छामो वयमिदानीं गुरुजनानुज्ञाता विक्रमानुरूपमाचरितुम् ।

भीमसेनः—वत्स ! एते वयमुद्यता आर्यस्याऽनुज्ञामनुष्ठातुमेव । (उत्थाय) देवि[1] ! गच्छामो वयमिदानीं कुरु-कुल-क्षयाय ।

पशान्तिः फलम्, यशसे ताड्यमाना दुन्दुभिश्च राजन्यानां क्षत्रियाणामुपनिमन्त्रणाय आह्वानाय स्फीतं गम्भीरं यथा स्यात्तथा रसति ध्वनिं कुरुते । शार्दूलविक्रीडितं छन्दः, 'सूर्याश्वैर्यदि मासजः सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' इति तल्लक्षणात् ॥२५॥

आर्येति—गुरुजनैर्युधिष्ठिरादिभिरनुज्ञाताः । विक्रमस्यानुरूपं स्वपराक्रमानुकूलम् ।

वत्सेति—आर्यस्य युधिष्ठिरस्याऽनुज्ञामाज्ञामनुष्ठातुं कर्तुं पालयितुमित्यर्थः । कुरु-कुल-क्षयाय कौरव-वंश-विनाशाय ।

के तिरस्कार-जन्य दुःख की शान्ति इसका फल है और क्षत्रियों को निमन्त्रित करने के लिये यह यशो-दुन्दुभि बड़ी गम्भीर ध्वनि के साथ बज रही है ॥२५॥

सहदेव—आर्य ! अब हमें गुरुजनों की आज्ञा से अपने-अपने पराक्रम के अनुसार (रण-क्षेत्र में) अपना-अपना कर्तव्य पूरा करने के लिये चलना चाहिये ।

भीमसेन—वत्स ! हम आर्य युधिष्ठिर की आज्ञा का पालन करने के लिये कटिबद्ध हैं (उठकर) देवि ! अब हम कौरव-कुल के विनाश के लिये जा रहे हैं ।

---

१. 'तत्पाञ्चालि !' इति गु. पा. ।

द्रौपदी—(वाष्पं धारयन्ती) णाह ! असुरसमराहिमुहस्स हरिणो विश्र मङ्गलं तुम्हाणं होदु । जं च अम्बा कुन्दी आसासदि तं तुम्हाणं होदु ।

(वाष्पंधारयन्ति) [नाथ ! असुरसमराभिमुखस्य हरेरिव मङ्गलं युष्माकं भवतु । यच्चाम्बा कुन्त्याशास्ते तद्युष्माकं भवतु ।]

उभौ—प्रतिगृहीतं मङ्गलवचनमस्माभिः ।

द्रौपदी—[1]अण्णं च णाह ! पुणो वि तुम्हेहिं समरादो आअच्छिअ समास्सासइदव्वा ।

(अन्यच्च नाथ ! पुनरपि युष्माभिः समरादागत्याऽहं समाश्वासयितव्या ।)

भीमसेनः—ननु पाञ्चालराजतनये ! किमद्याप्यलीकाश्वासनेन ?

वाष्पमिति—असुरैः समरस्तस्मिन् अभिमुखस्तस्य । हरेर्भगवतो विष्णोरिव ।

अलीकेति—अलीकं यद् आश्वासनं तेन अलीकाश्वासनेन मिथ्या-सान्त्वनाप्रदानेन ।

द्रौपदी—(आँखों में आँसू भरकर) नाथ ! राक्षसों के विरुद्ध युद्ध के लिये जाते हुए भगवान् विष्णु को जो मङ्गल हुए वे आपको भी हों और माता कुन्ती (आपके विषय में) जो आशा करती हैं वे भी (पूरी) हों।

दोनों—हम आपकी मङ्गल-मय शुभ-कामना स्वीकार करते हैं।

द्रौपदी—नाथ ! दूसरी प्रार्थना यह है कि युद्ध से लौटकर आप पुनः मुझे आश्वासन अवश्य दें।

भीमसेन—अयि पाञ्चालपुत्रि ! झूठे आश्वासन से क्या होता है ?

---

१. 'अण्णं च देवी भणादि । णाह ! तुम्हेहिं' (अन्यच्च देवी भणति । नाथ ! युष्माभिः) इति गु. चेटी-वाक्यत्वेन स्वीकृतम् ।

भूयः परिभवक्षान्तिलज्जाविधुरिताननम्।
अनिःशेषितकौरव्यं न पश्यसि वृकोदरम् ॥२६॥

द्रौपदी—णाह ! मा क्खु जण्णसेणी परिहवुद्दीविदकोवाणला अण-वेक्खिदसरीरा संचरिस्सध। जदो अप्पमत्तसञ्चरणिज्जाइं, रिउबलाइं सुणीअन्ति।

(नाथ ! मा खलु याज्ञसेनीपरिभवोद्दीपितकोपानला अनवेक्षितशरीराः सञ्चरिष्यथ। यतोऽप्रमत्तसंचरणीयानि रिपुबलानि श्रूयन्ते।)

भूयः परिभवेति—(अन्वयः) अनिःशेषितकौरव्यम्, परिभवक्षान्ति-लज्जाविधुरिताननम् वृकोदरं भूयः (त्वं) न पश्यसि।

(व्याख्या) अनिःशेषिताः कौरव्याः कौरवा येन तम् अनिःशेषित-कौरव्यम् अविनाशितकौरवम्, परिभवाणां तिरस्काराणां या क्षान्तिः सहनं तया (जनिता) या लज्जा तया विधुरितं दीनमाननं मुखं यस्य तम् वृकवद् उदरं यस्य तं वृकोदरं भीमं भूयः न पश्यसि द्रक्ष्यसि। अनुष्टुप् छन्दः।

नाथेति—याज्ञसेन्याः द्रौपद्याः परिभवेण तिरस्कारेण उद्दीपितः कोपानलः येषां ते। न अवेक्षितानि शरीराणि यैस्ते अनवेक्षितशरीराः। अप्रमत्तमप्रमादं यथास्यात्तथा संचरणीयानि रिपुबलानि शत्रुसैन्यानि भवन्तीति शेषः।

इस भीम को अब तुम कुरुकुल का विनाश किये बिना तिरस्कार-जन्य सहन-शीलता के कारण उत्पन्न लज्जा से दीन-मुख कभी भी नहीं देखोगी !

द्रौपदी—हे स्वामी ! मेरे तिरस्कार से क्रोधाग्नि के उद्दीप्त हो जाने के कारण आप अपने शरीर की उपेक्षा करके युद्ध-क्षेत्र में विचरण न करें। सुनते हैं कि शत्रु की सेना में बड़ी सावधानी से इधर-उधर घूमना चाहिये।

---

१. 'क्लान्ति'इति गु. पा.।

भीमसेनः—अयि सुक्षत्रिये[1] !

अन्योन्यास्फालभिन्नद्विपरुधिरवसामांसमस्तिष्कपङ्के,
मग्नानां स्यन्दनानामुपरिकृतपदन्यासविक्रान्तपत्तौ ।

अन्योन्येति—(अन्वयः) अन्योन्यास्फालभिन्नद्विपरुधिरवसामांस-मस्तिष्कपङ्के मग्नानां स्यन्दनानाम् उपरिकृतपदन्यासविक्रान्तपत्तौ स्फीतासृक्पानगोष्ठीरसदशिवशिवातूर्यनृत्यत्कबन्धे सङ्ग्रामैकार्णवान्तः-पयसि विचरितुं पाण्डुपुत्राः पण्डिताः (सन्ति) ॥

(व्याख्या) अन्योन्यं परस्परं ये आस्फालाः संघर्षास्तैर्भिन्ना विदीर्णा ये द्विपा हस्तिनस्तेषां रुधिरं च वसा च मांसं च मस्तिष्कं च तैर्यः पङ्कस्तस्मिन् मग्नानां स्यन्दनानां रथानाम् उपरिकृतः पदन्यासो यैस्तादृशाः विक्रान्ता वीराः पत्तयः पदातयो यस्मिन् तस्मिन्, स्फीतं विपुलं यद् असृग् रुधिरं तस्य पानाय या गोष्ठी संघस्तस्यां रसन्त्यो या अशिवा अमङ्गलाः शिवाः शृगाल्यस्ता एव तूर्याणि वाद्य-विशेषास्तैर्नृत्यन्तः कबन्धा यस्मिन तस्मिन्, संग्राम एव एकोऽर्णव-स्तस्यान्तः पयसि विचरितुं संचारं कर्तुं पाण्डुपुत्राः पाण्डवाः पण्डिताः कुशलाः सन्ति । अतस्त्वयाऽस्मद्विषये न भेतव्यमिति भावः । स्रग्धरा-

भीमसेन—अयि सुक्षत्रिये !

पारस्परिक संघर्ष से विदीर्ण-मस्तक हाथियों के रुधिर, वसा (चर्बी), मांस, मज्जा और मस्तिष्कों से उत्पन्न कीचड़ में फंसे हुए रथों पर पैर रखकर (युद्ध करते हुए) वीर पदातियों से युक्त तथा विपुल रुधिर की पान-गोष्ठियों में अमङ्गल ध्वनि करने वाली शृगाली-रूपी तुरही के साथ नृत्य करते हुए

१. समर्था वयमस्मिन् रणे परिक्रमितुम्' इति गु. अधिकः पा. ।

स्फीतासृक्पानगोष्ठीरसदशिवशिवातूर्यनृत्यत्कबन्धे
संग्रामैकार्णवान्तःपयसि विचरितुं पण्डिताः पाण्डुपुत्राः ॥२७॥

(इति निष्क्रान्ताः)

इति वेणीसंहारे प्रथमोऽङ्कः ।

छन्दः, 'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्' इति तल्लक्षणात् ॥२७॥

इति भट्टनारायण-कृते वेणीसंहारे
सरलार्थदीपिकायां
प्रथमोऽङ्कः
समाप्तः ।

कबन्धों (धड़ों) से युक्त संग्राम-रूपी समुद्र के गम्भीर जल में विचरण करने में पाण्डव लोग बड़े चतुर हैं ॥२७॥

(इस प्रकार कहकर सब चले जाते हैं)

वेणीसंहार नाटक में प्रथम अंक
समाप्त ।

अथ द्वितीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति कञ्चुकी)

कञ्चुकी—[1]आज्ञापितोऽस्मि महाराजदुर्योधनेन[2]—"विनयंधर ! सत्वरं गच्छ त्वम् । अन्विष्यतां देवी भानुमती । अपि निवृत्ता अम्बायाः पादवन्दनसमयान्न वेति ? यततां विलोक्य निहताऽभिमन्यवो द्रोण-राधेय-जयद्रथ-प्रभृतयोऽस्मत्सेनापतयः समरभूमिं गत्वा सभाजयितव्या इति । तन्मया द्रुततरं गन्तव्य" मित्यहो प्रभविष्णुता महाराजस्य, यन्मम जरसाऽभिभूतस्य मर्यादामात्रमेवाऽवरोधनिवासः[3] । अथवा

अथ वेणीसंहार-दीपिका

कञ्चुकीति—तल्लक्षणं तु यथोक्तं भरतेनः—

अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः ।
सर्वकार्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते ।
जरावैक्लव्ययुक्तेन विशेद् गात्रेण कञ्चुकी ॥

साहित्यदर्पणे विश्वनाथोऽप्याहः—

अन्तःपुरचरो राज्ञो विप्रो गुणगणान्वितः ।
उक्तिप्रत्युक्तिकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते ॥

दूसरा अङ्क

(इसके बाद कञ्चुकी प्रवेश करता है ।)

कञ्चुकी—महाराज दुर्योधन ने मुझे आज्ञा दी है कि, "हे विनयंधर ! जल्दी जाओ और पता लगाओ कि देवी भानुमती माता जी (गान्धारी) की चरण-वन्दना करके अभी तक वापिस लौटी कि नहीं, क्योंकि मुझे उनसे मिलकर रण-भूमि में जाकर द्रोणाचार्य, कर्ण और जयद्रथ आदि अपने

१. 'आदिष्टः' इति G. पा. । २. इतोऽग्रे 'यथा' इति गु. अधिकः पा. । ३. 'व्यापारः' इति गु. पा. ।

किमिति जरामुपालभेय, यतः सर्वान्तःपुरचारिणामयमेव[1] व्यावहारिको वेशश्चेष्टा च। तथा हि—

आज्ञापितोऽस्मीति—आज्ञापित आदिष्टोऽहं कौरवपतिना दुर्योधनेन यथा यत् सत्वरं त्वरितं, शीघ्रमित्यर्थः, गच्छ। देवी भानुमती, दुर्योधन-पत्नी-नामेदम्, अन्विष्यतामनुसन्धीयताम्, अपि च ज्ञायतां यत् सा अम्बायाः, दुर्योधनमातुरित्यर्थः, पादयोश्चरणयोर्वन्दनमभिवादन-मेव समयो नियमस्तस्मात्। तं सम्पाद्येत्यर्थः, ल्यब्लोपे पंचमी, निवृत्ता प्रत्यागता न वेति। तां देवीं भानुमतीं विलोक्य दृष्ट्वा निहतो मारितोऽभिमन्युर्यैस्ते द्रोणश्च राधेयश्च जयद्रथश्च प्रभृतौ आदौ येषां ते तथाभूता अस्माकं सेनापतो मया समरभूमिं संग्रामभूमिं गत्वा सभाजयितव्याः पारितोषिकवितरणादिना सम्मानयितव्या इत्यर्थः।

अहो इत्यादि—'अहो' इत्याश्चर्यार्थकमव्ययम्। महाराजस्य दुर्योधनस्य प्रभविष्णुता (प्र√भू+ताच्छील्ये इष्णुच् प्र० ततो भावे तल्।) प्रभाव-शालितेत्यर्थः। जरसा वृद्धावस्थयाऽभिभूतस्याऽऽक्रान्तस्य मेऽवरोधे-ऽन्तःपुरे व्यापारो निवासोऽन्तःपुरकार्यनिरीक्षणं वा मर्यादा एव मर्यादामात्रं कुलपरम्परापरिपालनमात्रमेवाऽस्ति। सर्वमपि अन्तः-पुरस्य कार्यं महाराजदुर्योधनस्य प्रभावेण स्वत एव निष्पद्यतेऽहं च

सेनापतियों को, जिन्होंने अभिमन्यु का वध किया है, (पुरस्कार आदि देकर) सम्मानित करना है। इसलिये मुझे बहुत शीघ्र जाना चाहिये।"

अहो! महाराज दुर्योधन का प्रभाव कितना अद्भुत है! वृद्धावस्था से आक्रान्त होने पर अब अन्तःपुर में मेरा निवास परम्परागत मर्यादा का पालन-मात्र ही रह गया है। अथवा वृद्धावस्था को ही उपालम्भ क्यों दूँ? (यहाँ तो)

१. 'पुरिकाणाम्' इति गु. पा.।

नोच्चैः सत्यपि चक्षुषीक्षितमलं श्रुत्वापि नाकर्णितं,
शक्तेनाऽप्यधिकार इत्यधिकृता यष्टिः समालम्ब्यते।
सर्वत्र स्खलितेषु दत्तमनसा यातं मया नोद्धतं,
सेवास्वीकृतजीवितस्य जरसा किं नाम यन्मे कृतम् ॥१॥

जरयाऽऽक्रान्तत्वेन वस्तुतो न किमपि कर्तुं क्षम इत्यर्थः। अथवा जरां वृद्धावस्थां किमर्थमुपालभेय उपालम्भं दद्याम् यतो हि अन्तःपुरे चरन्तीति तेषामन्तःपुरचारिणां राजपुरुषाणामयमेव व्यवहारेणाऽऽचारेण परम्परया विहितः प्राप्तो वेशो वस्त्रपरिधानं चेष्टा शारीरिकव्यापारश्च। अन्तःपुरचारिणः सर्वेऽपि राजपुरुषा इत्थमेव वस्त्रादि परिदधति व्यवहरन्ति चेत्यर्थः। इदमेवोक्तमुपन्यसन्नाह—तथा हीति। तथाहि यतो हि।

नोच्चैरिति—(अन्वयः) चक्षुषि सत्यपि उच्चैः अलं न ईक्षितम्, श्रुत्वा अपि न आकर्णितम्, शक्तेन अपि अधिकारे अधिकृता इति यष्टिः समालम्ब्यते, सर्वत्र स्खलितेषु दत्तमनसा मया उद्धतं न यातम्, सेवास्वीकृतजीवितस्य मे जरसा यत् कृतं (तत्) किं नाम।

(व्याख्या) वृद्धपुरुषस्याऽन्तःपुराधिकारिणश्च परस्परं समतां प्रदर्शयन्नाह नोच्चैरिति। चक्षुषि नेत्रे सत्यपि उच्चैरूर्ध्वमलं पर्याप्तं यथा स्यात्तथा न ईक्षितं न दृष्टम्। श्रुत्वाऽपि च नाऽऽकर्णितं न श्रुतम्। शक्तेन गन्तुं समर्थेनाऽपि मया कञ्चुकिना अधिकारे अधिकृताऽधिकार-

अन्तःपुर के सभी कर्मचारियों के व्यावहारिक वेष एवं चेष्टाएँ (मर्यादा-पालन-मात्र ही हैं) क्योंकि—

(अन्तःपुर में कार्य करते हुए) आंखें होते हुए भी कभी अच्छी प्रकार से ऊपर को दृष्टि उठाकर नहीं देखा, (दूसरों की बातें) सुनकर भी नहीं सुनी

१. गु. 'ईक्षितुम्' इति पा.। २. G. 'सेवान्धीकृत०' इति पा.।

(परिक्रम्य दृष्ट्वा आकाशे) विहङ्गिके ! अपि श्वश्रूजनपादवन्दनं कृत्वा प्रतिनिवृत्ता भानुमती ? (कर्णं दत्वा) किं कथयसि—'आर्य ! एषा भानुमती देवी पत्युः समरविजयाऽऽशंसया निर्वर्तितगुरुपादवन्दना अद्यप्रभृत्यारब्धनियमा बालोद्याने' तिष्ठती'ति ।

चिह्नत्वेन नियुक्ता इयं यष्टिः समालम्ब्यते ध्रियते । स्खलितेषु त्रुटिषु सर्वत्र दत्तं निहितं मनश्चित्तं येन तेन तथाभूतेन मया उद्धतं न यातमाचरितम् । उद्धतवन्न व्यवहृतमित्यर्थः । सेवार्थं स्वीकृतं जीवितं जीवनं येन तस्य मे जरसा वृद्धावस्थया यत् कृतं तत् किं नाम ? न किमपीत्यर्थः । अर्थाद् वृद्धावस्थया लोकानां बाधिर्यमन्धत्वादिकं यदपि क्रियते तत्सर्वमपि मम सेवयैव सम्पादितमित्यर्थः । अन्तःपुरे नियुक्ता अधिकारिणोऽपि इतस्ततो दृष्टिमनिक्षिपन्तः श्रुतमपि च वाक्यमश्रुतवत् कुर्वन्तोऽत्यन्तमेव सावधानतया व्यवहरन्तीति भावः । शार्दूलविक्रीडितं छन्दः । 'सूर्याश्वैर्यदि मासजः सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' इति तल्लक्षणात् ॥१॥

परिक्रम्येति—परिक्रम्य किंचिच्चलित्वा आकाशे दृष्ट्वेत्यर्थः । आकाशभाषितं च यथोक्तं दशरूपके:—

किं ब्रवीष्येवमादि विना पात्रं ब्रवीति यद् ।
श्रुत्वेवानुक्तमप्येकस्तत्स्यादाकाशभाषितम् ॥

और (चलने में) समर्थ होते हुए अधिकार-सूचक चिह्न के रूप में निश्चित होने के कारण यह छड़ी धारण करनी पड़ी है । त्रुटियों के विषय में सदा एवं सर्वत्र ध्यान रखते हुए मैंने कभी भी उद्धतवत् व्यवहार नहीं किया । (इसलिये) सेवार्थ जीवन स्वीकार करने पर ऐसी कौनसी नई बात है जो वृद्धावस्था ने मुझ में (विशेष रूप से) पैदा कर दी है (और वह सेवावृत्ति से नहीं होती ।) ? ॥१॥

(घूम कर आकाश की ओर देखकर, स्वगत) विहङ्गिके ! राजमाता की चरणवन्दना करके देवी भानुमती अभी तक वापिस लौटीं कि नहीं ?

१ इतः पूर्वं 'देवगृहे' इति गु. अधिकः पा. ।

तद्भद्रे ! गच्छ त्वमात्मव्यापाराय, यावदहमप्यत्रस्थां देवीं महाराजस्य निवेदयामि । (परिक्रम्य) साधु पतिव्रते ! साधु, स्त्रीभावेऽपि वर्तमाना वरं भवती, न पुनर्महाराजो, योऽयमुद्यतेषु बलवत्सु, अबलवत्सु वा वासुदेवसहायेषु पाण्डुपुत्रेष्वरिषु च अद्याप्यन्तःपुरविहारसुखमनुभवति । (विचिन्त्य) इदमप्यपरमयथातथं स्वामिनश्चेष्टितम् । कुतः ?

विहङ्गिका भानुमत्याः सख्या दास्या वा नामेदम् । अपीति प्रश्ने । श्वश्रूजनस्य पादवन्दनं कृत्वा श्वश्रूजनं प्रणम्येत्यर्थः । प्रतिनिवृत्ताऽऽगता ।

स्वयमेवोत्तरं कल्पयन्नाह किं कथयसीति—समरे युद्धे पत्युर्विजयस्याऽऽशंसयाऽऽकाङ्क्षया । निर्वर्तितं गुरुपादवन्दनं यया सा । अद्यप्रभृति अद्यारभ्येत्यर्थः । आरब्धो नियमो यया सा तथाभूता । बालं च तदुद्यानं तस्मिन् तिष्ठति विद्यत इति ।

एवं च स्वकल्पितमेव विहङ्गिकाया उत्तरमाकाशभाषितेन श्रुत्वा कञ्चुकी स्वयमेव पुनः प्राह तद्भद्र इति—हे भद्रे ! कल्याणि ! त्वमप्यात्मनः स्वस्य व्यापाराय कार्याय गच्छ । अहमपि यावत् अत्रस्थां देवमन्दिरे बालोद्यानस्थां देवीं दुर्योधनपत्नीं राजमहिषीं भानुमतीं महाराजस्य दुर्योधनस्य निवेदयामि कथयामि । परिक्रम्य किंचिद् गत्वा

(कान देकर) क्या कहा—"आर्य ! देवी भानुमती युद्ध में अपने पति की विजय-कामना से राजमाता को प्रणाम करके आज से (उपवासादि) नियम का व्रत लेकर देवमन्दिर में बालोद्यान में बैठी हुई हैं !"

अच्छा तो हे सुभगे ! (विहङ्गिके !) तुम जाओ और अपना काम करो । तब तक मैं भी जाकर महाराज को 'महारानी भानुमती देवमन्दिर में बालोद्यान में बैठी हुई हैं' यह समाचार देता हूँ । (घूम कर) ठीक, पतिव्रते ! ठीक । तुम स्त्री होते हुए भी बहुत अच्छी हो, महाराज ऐसे नहीं हैं । महाराज तो शक्तिशाली शत्रु पाण्डवों के, जिनकी सेना तो यद्यपि कुछ कम है, परन्तु

आ शस्त्रग्रहणादकुण्ठपरशोस्तस्याऽपि जेता मुने-
स्तापायाऽस्य न पाण्डुसूनुभिरयं भीष्मः शरैः शायितः ।
प्रौढानेकधनुर्धरारिविजयश्रान्तस्य चैकाकिनो
बालस्याऽयमरातिलूनधनुषः प्रीतोऽभिमन्योर्वधात् ॥२॥

पुनः स्वयमेवाह । पतिव्रते पतिपरायणे देवि भानुमति ? साधु त्वया साधु कृतमित्यर्थः । स्त्रीभावे स्त्रीत्वे वर्तमाना विद्यमानाऽपि भवती महाराजाऽपेक्षया वरं यतो हि महाराजो देवसहायेषु कृष्णसहायकेषु बलवत्सु शक्तिशालिषु अबलवत्सु स्वल्पसेनेषु चारिषु पाण्डुपुत्रेषु पुरो विद्यमानेष्वपि, अद्यापि इदानीं युद्धकालेऽपि अन्तःपुरस्य विहारसुखं विलासोपभोगसुखमनुभवति सेवते । विचिन्त्य किञ्चिद् विचार्य । स्वामिनो महाराजदुर्योधनस्येदमपरं द्वितीयं चेष्टितं चाऽयथातथं सर्वथाऽनुचितम् । कुतः कथमित्याह—

आशस्त्रेति—(अन्वयः) आ शस्त्रग्रहणाद् अकुण्ठपरशोः तस्य अपि मुनेः जेता अयं भीष्मः पाण्डुसूनुभिः शरैः शायितः अस्य तापाय न (भवति)। प्रौढानेकधनुर्धरारिविजयश्रान्तस्य एकाकिनश्च अरातिलूनधनुषः बालस्य अभिमन्योः वधाद् (अयं) प्रीतः ॥२॥

(व्याख्या) 'आ' इति मर्यादायाम् कर्मप्रवनीयः । 'पञ्चम्यपाङ्-परिभिः' (पा. २, ३, १०) इति तद्योगे पञ्चमी । आ शस्त्रग्रहणात् शस्त्रग्रहणादारभ्येत्यर्थः । अकुण्ठोऽनवरुद्धः परशुर्यस्य तस्य

जिनके सहायक भगवान् कृष्ण हैं, (सामने युद्ध के लिये) सन्नद्ध होते हुए भी अन्तःपुर के विलासोपभोग-सुख में लीन हैं । (कुछ विचार कर) महाराज की यह दूसरी बात भी (सर्वथा) अनुचित है । क्योंकि—

(जीवन में) शस्त्र-ग्रहण-समय से लेकर जिनका परशु कभी भी अव-कुण्ठित नहीं हुआ, उन जगद्विख्यात महामुनि परशुराम को भी युद्ध में जीतने

सर्वथा दैवं नः स्वस्ति करिष्यति । तद् यावदत्रस्थां देवीं महाराजस्य निवेदयामि (इति निष्क्रान्तः) ।

(इति विष्कम्भकः)

जगद्विख्यातस्य मुनेः परशुरामस्याऽपि जेता अयं भीष्मः पाण्डुसूनुभिः पाण्डुपुत्रैः शरैर्बाणैः शायितोऽधः पातितोऽप्यस्य महाराजदुर्योधनस्य तापाय न भवति सन्तापं न जनयतीत्यर्थः । प्रौढा महान्तो ये अनेके धनुर्धरास्त एवाऽरयः शत्रवस्तेषां विजयेन श्रान्तस्य एकाकिनोऽसहायस्य अरातिभिः शत्रुभिर्लूनं छिन्नं धनुर्यस्य तस्य बालस्याऽप्रौढस्य अभिमन्योर्वधादयं महाराजः प्रीतः प्रसन्नो जात इति शेषः । इदं च स्वामिनो महाराजदुर्योधनस्याऽपरमयथातथमनुचितं कृत्यमिति भावः । शार्दूलविक्रीडितं छन्दः, 'सूर्याश्वैर्यदि मासजः सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' इति तल्लक्षणात् ॥२॥

सर्वथेति—दैवं परमेश्वरो नोऽस्माकं सर्वथा पूर्णरूपेण स्वस्ति कल्याणं करिष्यति । अहं च यावद् अत्रस्था देवमन्दिरे बालोद्यानस्थां देवीं भानुमतीं महाराजस्य स्वामिनो दुर्योधनस्य निवेदयामि कथयामि । इत्युक्त्वा निष्क्रान्तो गतः ।

विष्कम्भक इति । विष्कम्भकश्च यथोक्तं दर्पणे विश्वनाथेन ।

वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः ।
संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शितः ॥

वाले भीष्मपितामह के पाण्डवों द्वारा बाणों से शर-शय्या पर सुलाए जाने पर भी इन्हें कोई दुःख नहीं हुआ, परन्तु अनेक प्रौढ धनुर्धारी शत्रुओं के जीतने से श्रान्त एवं असहाय बालक अभिमन्यु के, जिसका धनुष भी शत्रुओं ने ने छिन्न-भिन्न कर दिया था, मारे जाने से यह बड़े प्रसन्न हो रहे हैं !

अच्छा, ईश्वर सब कल्याण करेंगे । मैं भी तब तक (जाकर) महाराज

(ततः प्रविशत्यासनस्था देवी भानुमती सखी चेटी च)

सखी—सहि भाणुमदि ! कीस दाणीं तुमं सिविणअदंसणमत्तस्स किदे अहिमाणिणो महाराअदुज्जोहणस्स महिसी भविअ एव्वं विअलिअधीरभावा अतिमेत्तं संतप्पसि ?

(सखि भानुमति ! कस्मादिदानीं त्वं स्वप्नदर्शनमात्रस्य कृतेऽभिमानिनो महाराजदुर्योधनस्य महिषी भूत्वा एवं विगलितधीरभावा अतिमात्रं सन्तप्यसे ?)

चेटी—भट्टिणी सोहणं भणादि सुवअणा। [1]सविणअन्तो जणो किं ण क्खु पेक्खदि[2]।

(भट्टिनि ! शोभनं भणति सुवदना। स्वप्नन् जनः किं न खलु प्रेक्षते ?)

मध्येन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां सम्प्रयोजितः।
शुद्धः स्यात् स तु संकीर्णो नीचमध्यमकल्पितः॥

अत्र च कञ्चुकिना वृत्तस्याऽभिमन्युवधस्य वर्तिष्यमाणस्य दुर्योधनस्याऽन्तःपुरविहारस्य च सूचनाद् विष्कम्भक इति।

दुःस्वप्नेन खिन्नां देवीं भानुमतीं सान्त्वयन्ती सखी कथयति सखीति—कस्माद्धेतोस्त्वं साधारणस्य स्वप्नस्यैव कृते आत्माभिमानिनो महाराजस्य दुर्योधनस्य महिषी प्रधानपत्नी भूत्वाऽपि विगलितो धीरभावो धैर्यं यस्याः सा विनष्टधैर्या सती कथमेवमतिमात्रमत्यर्थं सन्तप्यसे सन्तापं करोषि ?

भट्टिनीति—हे भट्टिनि ! सखी सुवदना शोभनं साधु खलु भणति

को देवी भानुमती के बालोद्यान में होने की सूचना देता हूँ। (इस प्रकार कहकर चला जाता है।)

(इति विष्कम्भक)

(इसके बाद आसनस्थ देवी भानुमती, उसकी सखी तथा चेटी प्रवेश करती हैं।)

सखी—सखि भानुमति ! तुम अभिमानी महाराज दुर्योधन की महारानी होकर भी इस साधारण-से स्वप्न-दर्शन-मात्र से इस प्रकार अत्यन्त अधीर क्यों हो रही हो ?

---

१. 'सिविणअन्तो' इति गु. पा.। २. 'प्पलवदि' इति गु. पा.।

भानुमती—हञ्जे ! एव्वं ग्णेदं[1]। [किं[2] ग्णु एदं] सिविणअं अदिमेत्तं[3] अकुसलदंसणं मे पडिभादि ।

(हञ्जे ! एवं न्विदम् । किन्तु एष स्वप्नोऽतिमात्रमकुशलदर्शनो मे प्रतिभाति ।)

सखी—जइ[4] एव्वं ता कहेदु पियसही । जेण अम्हे वि पडिट्ठाव-अंतीओ प्पसंसाए देवदासंकित्तणेण अ पडिहडिस्सामो ।

(यद्येवं तत्कथयतु प्रिय सखी, येनाऽऽवामपि प्रतिष्ठापयन्त्यौ प्रशंसया देवतासंकीर्तनेन च परिहरिष्यावः ।)

कथयति । स्वपन् स्वप्नं पश्यन् जनः किं किं खलु प्रेक्षते पश्यति ? अतः स्वप्नेऽशुभदर्शनमात्रेणैव सन्तापो नोचितः ।

हञ्जे इति—हे चेटि ! एवं नु इदमर्थात् यथा सुवदना कथयति तथैव खलु भवेत्, परमेष स्वप्नो मे ममाऽतिमात्रमत्यर्थमकुशलं दर्शयतीत्यकुशलदर्शनोऽशुभसूचकः प्रतिभाति ।

यद्येवमिति—हे महिषि ! यदि वस्तुत एषोऽयं स्वप्नस्तेऽकुशल-सूचकः प्रतीयते तदाऽस्मानपि तं स्वप्नं कथयतु भवती येनाऽऽवामपि

चेटी—देवि ! सुवदना ठीक कहती है, सोता हुआ मनुष्य स्वप्न मे क्या-क्या नहीं देखता ?

भानुमती—हञ्जे ! सम्भवतः ऐसा ही हो । परन्तु मुझे तो यह स्वप्न अशुभ-सूचक ही मालूम होता है ।

सखी—प्रिय सखि ! यदि ऐसी बात है तो हमें भी वह स्वप्न बताइये

---

१. 'एदं' इति G. पा. । २. कोष्ठान्तर्गतस्य स्थाने 'मम उण' इति गु. पा. । ३. अयं पा. गु. नास्ति । ४. 'पियसहि ! जइ एव्वं ता कधेहि सिविणअं जं अम्हेवि पडिट्ठावअन्तीओ धम्मप्पसंसाए देवदाणं संकीत्तणेण दूव्वादिपडिग्गहेण अ पडिहडिस्सामो' इति गु. पा. ।

चेटी—सोहणं[1] क्खु भणादि सुवअणा ! अकुसलदंसणा वि सिवि-णआ देवदाणं पसंसाए कुसलपरिणामा होन्ति त्ति सुणीअदि।

(शोभनं खलु भणति सुवदना, 'अकुशलदर्शना अपि स्वप्ना देवतानां प्रशंसया कुशलपरिणामा भवन्तीति श्रूयते ।)

भानुमती—जइ एव्वं ता कहइस्सं अवहिदा दाव[2] होध[3]।

(यद्येवं तत्कथयिष्ये । अवहिते तावद् भवतम् ।)

प्रतिष्ठापयन्त्यौ तस्य स्वप्नस्याऽशुभफलनिवारणाय किञ्चिद् वस्तु तद्-विरोधे स्थापयन्त्यौ, प्रशंसया प्रशंसनेन, धर्मस्य देवतानां वेति शेषः, देवतानां नामसंकीर्तनेन च स्वप्नस्याऽशुभं फलं परिहरिष्यावो दूरी-करिष्यावः।

शोभनमिति—सुवदना शोभनं साधु खलु भणति कथयति। अकु-शलं दर्शनं येषां तेऽकुशलदर्शना अशुभदर्शना अपि स्वप्ना देवतानां प्रशंसया नामगुणसंकीर्तनेन च कुशलदर्शनाः शुभदर्शना भवन्ति जायन्त इति लोकपरम्परया श्रूयते।

यद्येवमिति—यदि वस्तुत एवमस्ति तदाऽवश्यमहं कथयिष्ये। अव-हिते सावधाने तावद् भवतम्।

जिससे कि हम भी उसे रोकने के लिये उसके विरुद्ध कुछ रखकर देवताओं की प्रशंसा तथा उनके नाम-संकीर्तनादि द्वारा उसका कुछ परिहार कर सकें।

चेटी—(देवि !) सुवदना ठीक कहती है। सुनते हैं कि देवताओं की प्रशंसा करने से अशुभ स्वप्न भी शुभ फल देने वाले हो जाते हैं

भानुमती—यदि ऐसी बात है तो अवश्य बताऊँगी। (तुम सुनने के लिये) सावधान हो जाओ।

---

१. अस्य स्थाने 'देवि ! एव्वं एदं' इति G. पा.। २. अयं पा. G. नास्ति। ३. 'होहि' इति गु. पा.।

सखी—[1]कहेदु पियसही ।

(कथयतु, प्रियसखी ।)

भानुमती—[2]हला ! भएण विसुमरिदह्मि, ता चिट्ठ जाव सव्वं सुमरिअ कहइस्सं । (इति चिन्तां नाटयति) ।

(सखि ! भयेन विस्मृताऽस्मि, तत्तिष्ठ यावत्सर्वं स्मृत्वा कथयिष्ये ।) [इति चिन्तां नाटयति ।]

(ततः प्रविशति दुर्योधनः कञ्चुकी च ।)

दुर्योधनः—सूक्तमिदं कस्यचित्—

गुप्त्या साक्षान्महानल्प स्वयमन्येन वा कृतः ।
करोति महतीं प्रीतिमपकारोऽपकारिणाम्[3] ॥३॥

सूक्तमिति—इदं च कस्यचित् सूक्तं केनचिदिदं साधूक्तमित्यर्थः । तदेवाऽऽह—

गुप्त्येति—(अन्वयः) महान् अल्पः वा स्वयम् अन्येन वा कृतः गुप्त्या साक्षाद् (वा कृतः) अपकारिणाम् अपकारः महतीं प्रीतिं करोति ॥

(व्याख्या) महान् अत्यधिकोऽल्पः स्वल्पो वा स्वयमात्मनाऽन्येन

सखी—प्रिय सखि ! कहिये ।

भानुमती—सखि ! भय के कारण मैं स्वप्न को कुछ भूल-सी गई हूँ। इस लिये कुछ देर ठहरो, याद करके सब कुछ अभी बताती हूँ। (यह कह कर कुछ चिन्तित-सी हो जाती है ।)

(इसके बाद दुर्योधन और कञ्चुकी प्रवेश करते हैं ।)

दुर्योधन—किसी ने बहुत अच्छी बात कही है :—

अपकारी शत्रु की हानि, वह चाहे गुप्तरूप से हो या प्रत्यक्ष, कम हो या

१. पूर्वं 'अवहिदह्मि' इति गु. अधिकः पा. । २. 'मुहुत्तअं चिट्ठ जाव सव्वं सुमरिस्सम्' इति G. पा. । ३. गु. 'अपकारिषु' इति पा. ।

येनाद्य द्रोण-कर्ण-जयद्रथादिभिर्हतमभिमन्युमुपश्रुत्य [1]समुच्छ्वसितमिव नश्चेतसा।

कञ्चुकी—देव! नेदमतिदुष्करमाचार्यशस्त्रप्रभावाणाम्। कर्ण-जयद्रथयोर्वा का [2]नामाऽत्र श्लाघा?

परेण वा केनचित् साक्षात्प्रत्यक्षरूपेण गुप्त्या गुप्तरूपेण वा कृतो विहितोऽपकारिणां शत्रूणामपकारोऽनिष्टं महतीं प्रीतिं प्रसन्नतां करोति जनयति ॥३॥

येनाऽद्येति—येन हेतुनाऽद्य द्रोणकर्णजयद्रथादिभिर्हतं मारितमभिमन्युमुपश्रुत्य श्रुत्वा नोऽस्माकं चेतसा उच्छ्वसितमिव सुखेन श्वासो गृहीत इत्यर्थः।

देवेति—हे देव! हे राजन्! द्रोणाचार्यशस्त्रप्रभावाणामिदमभिमन्युवधरूपं कार्यं नातिदुष्करम्। अतः कर्णजयद्रथयोर्भवतो वाऽत्राऽस्मिन्नल्पीयसि अभिमन्युवध-रूपे कार्ये का नाम श्लाघा प्रशंसा?

कञ्चुकिनो वाक्यमसहमानो दुर्योधनो रोषं प्रदर्शयन् तं सम्बोध्याऽऽह—

ज़्यादा, स्वयं की हो या किसी दूसरे से हुई हो, मनुष्य को बहुत ही प्रसन्नता देने वाली होती है ॥३॥

इसी लिये आज द्रोणाचार्य, कर्ण और जयद्रथ आदि महारथियों द्वारा की गई अभिमन्यु की मृत्यु के विषय में सुनकर मेरे मन ने सुख की सांस ली है ॥

कञ्चुकी—देव! द्रोणाचार्य के शस्त्रों के प्रभाव के सामने यह कार्य कुछ अधिक कठिन नहीं है। कर्ण एवं जयद्रथ की इसमें क्या प्रशंसा है?

---

१. 'उच्छ्वसितमिव' इति गु. पा.। २. 'नाम' इति पा. गु. नास्ति।

राजा—विनयंधर ! किमाह भवान् ? 'एकाकी बहुभिर्बालो लून-शरासनश्च निहत इत्यत्र का श्लाघा कुरुपुङ्गवानामिति'[2]। मूढ[3] ! पश्य—

हते जरति गाङ्गेये पुरस्कृत्य शिखण्डिनम् ।
या श्लाघा पाण्डुपुत्राणां सैवाऽस्माकं भविष्यति ॥४॥

कञ्चुकी—(सवैलक्ष्यम्) देव ! [[4]न ममायं सङ्कल्पः ।] किन्तु[5] वः पौरुषप्रतीघातोऽस्माभिर्नावलोकितपूर्व इत्यत एवं विज्ञापयामि ।

विनयन्धरेति—विनयन्धरेति कञ्चुकिनो नामधेयम् । लूनं छिन्नं शरासनं धनुर्यस्य स लूनशरासनो बालोऽभिमन्युरित्यर्थः । कुरूणां पुङ्गवास्तेषां कुरुपुङ्गवानां कुरुवीराणां का नाम श्लाघा प्रशंसा ? श्लाघामेव प्रकटयन्नाह—

हते जरतीति—(अन्वयः) शिखण्डिनं पुरस्कृत्य जरति गाङ्गेये हते पाण्डवानां या श्लाघा सा एव अस्माकमपि भविष्यति ॥

(व्याख्या) शिखण्डिनमेतन्नामानं वीरं पुरस्कृत्याऽग्रेकृत्वा जरति वृद्धे गाङ्गेये भीष्मे हते मारिते पाण्डवानां पाण्डुपुत्राणां या श्लाघा प्रशंसा जाता सैवाऽस्माकं कौरवाणामप्यभिमन्युवधे भविष्यति ॥४॥

दुर्योधन—विनयंधर क्या कहा तुमने ? असहाय बालक को, उसका धनुष टूट जाने पर, बहुत-से (महारथियों ने मिलकर) मारा है । इसमें कौरव-वीरों की क्या प्रशंसा है ! मूर्ख !

देख—

शिखण्डी को आगे करके वृद्ध भीष्म पितामह को मारने से पाण्डवों की जो प्रशंसा हुई है वही (अभिमन्यु को मारने से) हमारी भी होगी ॥४॥

कञ्चुकी—(लज्जित-सा होकर) राजन् ! मेरा यह भाव नहीं है ।

१. 'एकः' इति G. पा. । २. 'इति' इत्ययं पा. गु. नास्ति । ३. अस्य स्थाने 'तदत्र न खलु कश्चिद्दोषः' इति गु. पा. । ४. कोष्ठान्तर्गतपाठस्य स्थाने 'नैवेदं कल्पयितुमर्हसि' इति गु. पा. । ५. अस्य स्थाने 'यतस्तव' इति गु. पा. ।

राजा—एवमिदम् ।

सहभृत्यगणं सबान्धवं सहमित्रं ससुतं सहानुजम् ।
स्वबलेन निहन्ति संयुगे नचिरात् पाण्डुसुतः सुयोधनम् ॥५॥

आत्मालोचनामसहमानं दुर्योधनं विभाव्य कञ्चुकी तं प्रशंसन्नाह—देवेति—हे देव ! न ममाऽयं संकल्पो विचारः । यो युष्माकं पौरुषस्य पराक्रमस्य प्रतीघातोऽवरोधः पूर्वमवलोकितोऽवलोकितपूर्वो दृष्टपूर्वो नास्ति । अत एवाऽहमेवं विज्ञापयामि वदामि । अनवरुद्धपराक्रमस्य भवतो युद्धे विजयः स्वतः सिद्ध एवेति किमर्थं भवानेवमन्यथा कल्पयति !

सहभृत्यगणमिति—(अन्वयः) सहभृत्यगणं सबान्धवं सहमित्रं ससुतं सहानुजं सुयोधनं पाण्डुसुतः संयुगे स्वबलेन नचिराद् निहन्ति ॥

(व्याख्या) भृत्यानां गणस्तेन सहेति तं सहभृत्यगणं सभृत्यवर्गं, बान्धवैः सह सबान्धवस्तं सबान्धवं सबन्धुं, मित्रैः सहेति सहमित्रस्तं, सुतैः सह ससुतस्तं सपुत्रं सहानुजं सभ्रातृकं सुयोधनं पाण्डुसुतो भीमः संयुगे युद्धे स्वबलेन नचिरात् शीघ्रमेवेत्यर्थः, (न शब्दस्येह सुप्सुपीयः समासः). निहन्ति निहनिष्यति । वियोगिनी छन्दः, 'विषमे ससजा गुरुः समे सभरालोऽथ गुरुर्वियोगिनी' इति तल्लक्षणात् ॥५॥

किन्तु आपके पराक्रम का अवरोध आज तक हमने पहले कभी नहीं देखा। इसीलिये मैंने ऐसा कहा है (कि अभिमन्यु-जैसे बालक को मारने में आप-जैसे महारथियों की क्या प्रशंसा है ?)

राजा—ठीक है ।

भृत्यगण, बन्धु-बान्धव, मित्र, पुत्र तथा अनुजों सहित सुयोधन को युद्ध में पाण्डु-पुत्र भीम अपनी शक्ति से शीघ्र ही मारेगा ॥५॥

कञ्चुकी—(कर्णौ पिधाय सभयम्) शान्तं पापम् । प्रतिहतममङ्गलम् ।

राजा—विनयंधर ? किं मयोक्तम् ?

कञ्चुकी—

सहभृत्यगणं सबान्धवं सहमित्रं ससुतं सहानुजम् ।
स्वबलेन निहन्ति संयुगे नचिरात् पाण्डुसुतं सुयोधनः ॥६॥

एतद्विपरीतमभिहितं देवेन ।

राजा—विनयंधर ! अद्य खलु भानुमती यथा पूर्वं मामनामन्त्र्य वासभवनात् प्रातरेव निष्क्रान्तेति व्याक्षिप्तमिव[1] मे मनः तदादेशय तमुद्देशं यत्रास्था भानुमती ।

प्रतिहतमिति—अमङ्गलमनिष्टं प्रतिहतं विनष्टं, विध्वस्तमित्यर्थः, भवेत् ।

एतद्विपरीतमिति—'नचिरात्पाण्डुसुतः सुयोधनं निहन्ती' त्येतद-मङ्गलम् ।

विपरीतभाषणे कारणं प्रदर्शयन्नाह दुर्योधनः—

अद्येति—यथा पूर्वं मां पृष्ट्वा सा गच्छति स्म तथाऽद्य न गतेत्यर्थः । अतएवाऽद्य मे मनो व्याक्षिप्तं व्याकुलमिव वर्तते ।

कञ्चुकी—(कानों पर हाथ रखकर डरते हुए) ईश्वर करे यह पाप शान्त हो, अमङ्गल का विनाश हो ।

राजा—विनयंधर ! मैंने क्या कहा है ?

कञ्चुकी—'भृत्य-गण, बन्धु-बान्धव, मित्र, पुत्र और अनुजों के साथ पाण्डुसुत (भीम) को सुयोधन युद्ध में शीघ्र ही अपनी शक्ति से मारेगा'—इसके विपरीत आपने कहा है ।

राजा—विनयन्धर ! (भानुमती पहले तो मुझ से पूछ कर जाया करती थी परन्तु) आज वह पूछे बिना ही प्रातःकाल महल से कहीं बाहर चली गई

१. G, 'इव' इति पा. नास्ति ।

कञ्चुकी—इत इतो[1] देवः।

(उभौ परिक्रामतः ।)

कञ्चुकी—(पुरोऽवलोक्य, समन्ततो गन्धमाघ्राय) देव ! पश्य, पश्य, एतत्तुहिनकणशिशिरसमीरणोद्वेल्लितबन्धनच्युतशेफालिकाविरचितकुसुमप्रकरम्, ईषदालोहितवधूकपोलपाटललोध्रप्रसूनविजितश्यामलतासौभाग्यम्, उन्मीलितबकुलकुन्दकुसुमसुरभिशीतलं, प्रभातकालरमणीयम्, अग्रतस्ते बालोद्यानम्। तदवलोकयतु देवः। तथा हि—

इत इतोऽनेन मार्गेणेत्यर्थः।

तुहिनेति—तुहिनस्य हिमस्य कणैर्बिन्दुभिः शिशिरः शीतलो यः समीरणो वायुस्तेनोद्वेल्लितं प्रचालितं यद् बन्धनं वृन्तं तस्माच्च्युतः शेफालिकाभिर्विरचितः कुसुमानां प्रकरो यस्मिन् तत् तथाभूतम्, ईषत् किञ्चिदालोहिता आरक्ता मुग्धवधूनां सुन्दरीणां ये कपोलास्तद्वत् पाटलानि श्वेतरक्तवर्णानि यानि लोध्रप्रसूनानि तैर्विजितं तिरस्कृतं श्यामलताया प्रियङ्गुलतायाः सौभाग्यं सौन्दर्यं यस्मिँस्तद्, उन्मी-

है। इसलिये आज मेरा मन कुछ व्याकुल-सा हो रहा है। अतः, भानुमती जहाँ पर है वह स्थान मुझे बताओ।

कञ्चुकी—देव ! इधर से चलिये।

(दोनों कुछ घूमकर चलते हैं)

कञ्चुकी—(सामने देखकर, चारों ओर कुछ सूंघकर) राजन् ! देखिये, देखिये ! ओस के कणों से शीतल वायु के झोंकों से हिलाए गए बन्धनों से टूटकर गिरे हुए शेफालिका के पुष्प-समूह से युक्त, मुग्ध-वधुओं के कुछ-कुछ लाल-लाल कपोलों के समान पाटल (श्वेतरक्त) वर्ण के लोध्र पुष्पों से तिरस्कृत प्रियङ्गुलता के सौन्दर्य से समन्वित और खिले हुए बकुल (मौलश्री) और कुन्द के पुष्पों से सुगन्धित एवं शीतल तथा प्रातःकाल के समय

१. गु. इतोऽग्रे 'एतु' इति अधिकः पा.।

प्रालेयमिश्रमकरन्दकरालकोशैः,
पुष्पैः समं निपतिता रजनी प्रबुद्धैः ।
अर्कांशुभिन्नमुकुलोदरसान्द्रगन्ध-
संसूचितानि कमलान्यलयः पतन्ति ॥७॥

लितानि विकसितानि यानि बकुलकुन्दकुसुमानि तैः सुरभि सुगन्धितं शीतलं च तथा प्रभातकाले रमणीयं बालोद्यानं तेऽग्रतः पुरतो वर्तते ।

प्रालेयेति—(अन्वयः) रजनीप्रबुद्धैः प्रालेयमिश्रमकरन्दकरालकोशैः पुष्पैः समं निपतिताः अलयः अर्कांशुभिन्नमुकुलोदरसान्द्रगन्धसंसूचितानि कमलानि पतन्ति ।

(व्याख्या) रजन्यां रात्रौ प्रबुद्धैर्विकसितैः प्रालेयेन हिमेन मिश्रो यो मकरन्दः पुष्परसस्तेन करालाः नतोन्नताः कोशा येषां तैः पुष्पैः समं सहैव निपतिताः पतिता अलयो द्विरेफा अर्कस्य सूर्यस्यांशुभिः किरणैर्भिन्नाः विकसिताः ये मुकुलाः कलिकास्तेषामुदराणां यः सान्द्रो बहलो गन्धस्तेन संसूचितानि विज्ञापितानि विकासोन्मुखानि कमलानि पतन्ति गच्छन्तीत्यर्थः । सभ्रमराणां रात्रिविकसितानां पुष्पाणां प्रातःकाले वृक्षेभ्यः पतनसमकालमेवाऽलयस्तेभ्यः पुष्पेभ्य उत्पत्य विकासोन्मुखकमलानामुपरि तिष्ठन्तीत्यर्थः । वसन्ततिलका छन्दः, 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति तल्लक्षणात् ॥७॥

अत्यधिक रमणीय यह बालोद्यान आपके सामने है । उसे आप देखिये । क्योंकि—

रात्रि के समय खिले हुए और हिमकण-मिश्रित-पुष्परस से निम्नोन्नत कोश-युक्त पुष्पों के साथ (प्रातःकाल पृथ्वी पर) गिरे हुए भ्रमर सूर्य की किरणों से खिली हुई कलियों की मधुर गन्ध से सूचित (विकासोन्मुख) कमलों पर जाकर बैठ रहे हैं । ॥७॥

राजा—(समन्तादवलोक्य) विनयंधर ! इदमपरमपुरस्मिन्नुषसि रमणीयतरम् । पश्य—

जृम्भारम्भप्रविततदलोपान्तजालप्रविष्टै-
र्हस्तैर्भानोर्नृपतय इव स्पृश्यमाना विबुद्धाः ।
स्त्रीभिः सार्धं घनपरिमलस्तोकलक्ष्याङ्गरागा
मुञ्चन्त्येते विकचनलिनीगर्भशय्यां द्विरेफाः ॥८॥

इदमिति—(अन्वयः) जृम्भारम्भप्रविततदलोपान्तजालप्रविष्टैः भानोः हस्तैः नृपतय इव स्पृश्यमानाः (सन्तः) विबुद्धा घनपरिमल-स्तोकलक्ष्याङ्गरागाः एते द्विरेफाः स्त्रीभिः सार्धं विकचनलिनीगर्भशय्यां मुञ्चन्ति ॥

(व्याख्या) जृम्भायाः विकसनस्य, कमलानामिति शेषः, आरम्भेण प्रवितता विस्तृताः दलानां कमलपत्राणां ये उपान्तास्त एव जालानि गवाक्षास्तैः प्रविष्टैर्भानोः सूर्यस्य हस्तैः करैः, किरणैरित्यर्थः, नृपतयो राजान इव स्पृश्यमानाः सन्तो विबुद्धास्त्यक्तनिद्राः घनपरिमलेन स्तोकं यथा स्यात्तथा लक्ष्योऽङ्गरागो येषां ते तथाभूता एते द्विरेफा भ्रमराः स्त्रीभिः स्वपत्नीभिर्भ्रमरीभिरित्यर्थः सार्धं विकचाया विकसितायाः नलिन्याः कमलसमूहस्य गर्भ एव शय्या तां मुञ्चन्ति त्यजन्ति । कमल-मध्यान्निस्सरन्तीत्यर्थः । यथा राजानो देवीभिः सह शयानाः जाल-प्रविष्टसूर्यकिरणैः स्पृश्यमाना एव शय्यां त्यजन्ति तथैव भ्रमरा अपि

राजा—(चारों तरफ देखकर) विनयंधर ! इस समय प्रातःकाल यह एक दूसरा और भी सुहावना दृश्य है । देखो—

खिले हुए कमल के पत्तों के उपान्त (कोने)-रूपी झरोखों से अन्तः प्रविष्ट सूर्य के किरण-रूपी हाथों के स्पर्श से प्रबुद्ध राजाओं की तरह जगाए गए ये भ्रमर, जिन के शरीरों पर गहरी सुगन्ध से अंगराग कुछ-कुछ दिखाई दे रहे हैं,

कञ्चुकी—देव ! नन्वेषा भानुमती सुवदनया तरलिकया च पर्यु-पास्यमाना तिष्ठति । तदुपसर्पतु देव ।

राजा—(दृष्ट्वा) आर्य विनयधर ! गच्छ त्वं साङ्ग्रामिकं मे रथ-मुपकल्पयितुम् । अहमप्येष[1] देवीं दृष्ट्वाऽनुपदमागत एव ।

कञ्चुकी—एष कृतो देवादेशः । ([2]इति निष्क्रान्तः ।)

सखी—पियसहि ! अवि सुमरिदं तुए ?
(प्रियसखि ! अपि स्मृतं त्वया ?)

स्वमहचरीभिः सह पद्मकोशं त्यजन्तीत्युभयत्र समानम् । मन्दाक्रान्ता छन्दः, 'मन्दाक्रान्ताम्बुधिरसनगैर्मोभनौ तौ गयुग्मम्' इति तल्लक्षणात् ॥८॥

पर्युपास्यमानेति—पर्युपास्यमाना सेव्यमाना परि+उप+√आस्+कर्मणि यक् ततः शानच् ।

साग्रामिकमिति—सग्रामे साधु साग्रामिकः सग्रामोपयोगी रथस्तमुप-कल्पयितुं सज्जीकर्तुं गच्छ । देवीं भानुमतीं दृष्ट्वा पदस्य पश्चादनुपदं शीघ्रमेवेत्यर्थः ।

अपनी अपनी स्त्रियों के साथ खिला हुए कमलिनी के आन्तरिक भाग रूपी शय्या को छोड़ रहे हैं ॥८॥

कञ्चुकी—महाराज ! देवी भानमती सुवदना तथा तरलिका के साथ यह बैठी हुई हैं । आप पधारिये ।

राजा—(देखकर) आर्य विनयधर ! तुम जाओ और मेरे युद्ध के रथ को तैयार करो । मैं भी देवी से मिल कर अभी-अभी आ रहा हूँ ।

कञ्चुकी—महाराज की आज्ञा अभी पूरी की जाती है ।

(यह कह कर चला जाता है ।)

सखी—प्रियसखि ! क्या तुम्हें याद आया ?

१ 'एष' इति पा० गु० नास्ति । २ कोष्ठान्तर्गतं पा० G. नास्ति ।

भानुमती—**सहि ! सुमरिदम् ।**
(सखि स्मृतम् ।)

सखी—¹**कहेदु पियसही ।**
(कथयतु प्रियसखी ।)

भानुमती—**अज्ज किल पमदवणे आसीणाए मम अग्गदो एव्व केण वि अदिसइददिव्वरूवेण णवुलेण अहिसद वावादिदम् ।**

(अत्र किल प्रमदवने आसीनाया मम अग्रत एव केनाऽप्यतिशयित-दिव्यरूपेण नकुलेन अहिशत व्यापादितम ।)

उभे—(अपवार्य, आत्मगतम्) **सन्तं पावम ! पडिहदं अमङ्गलम ।** (प्रकाशम) **तदो तदो !**

(**[अपवार्य, आत्मगतम]** शान्त पापम् ! प्रतिहममङ्गलम् ! **[प्रकाशम]** **ततस्तत ?)**

अद्य किलेति—**प्रमदवने बालोद्याने आसीनाया स्थिताया, √आस्+शानच् ममाऽग्रत पुरत एव अतिशयितमतिक्रान्तं दिव्य रूप येन तेनातिशयितदिव्यरूपेण केनाऽपि नकुलेनाऽहीना सर्पाणा शतमहिशतं व्यापादितं हतम् ।**

भानुमती—सखि ! याद आ गया ।
सखी—प्रियसखि ! (फिर) कहिये ।

भानुमती—सखि ! आज प्रमदवन मे बैठे हुए मेरे सामने ही एक अत्यधिक सुन्दर एव दिव्य स्वरूप नकुल ने सौ सर्पों को मार डाला ।

सखी और चेटी दोनो—(**एक तरफ होकर अपने आप**) यह पाप शान्त हो ! अमङ्गल का विनाश हो । (**प्रकट**) अच्छा फिर क्या हुआ ।

---

१. **एतदारभ्य सखीवाक्य** G नास्ति ।

भानुमती—[1]अदिसंदावोविग्गाहिअअआए विसुमरिदं मए। [2]ता पुणोवि सुमरिअ कहइस्सम्।

(अतिसंतापोद्विग्नहृदयया विस्मृतं मया। तत्पुनरपि स्मृत्वा कथयिष्ये।)

राजा—([3]अवलोक्य) अहो! देवी भानुमती सुवदनातरलिकाभ्यां सह किमपि मन्त्रयमाणा तिष्ठति। भवतु, अनेन लताजालेनान्तरितः शृणोमि तावदासां [4]विश्रब्धालापम्। ([5]इति तथा कृत्वा स्थितः)

सखी—सहि! अलं संदावेण। कहेदु पियसही।

(सखि! अलं संतापेन। कथयतु प्रिय सखी।)

अतिसन्तापेति—अतिसन्तापेन उद्विग्नं क्षुब्धं हृदयं यस्यास्तया तथाभूतया मया।

अहो इति—मन्त्रयमाणा विचारं कुर्वाणा। √मन्त्र् + शानच्। लतानां जालेनाऽन्तरितोऽन्तर्हितस्तावदहमासां भानुमती-सुवदना-तरलिकानां विश्रम्भालापं विश्वस्तवार्तालापं शृणोमि। तथा कृत्वा लता-जालान्तरितो भूत्वा।

भानुमती—अत्यधिक सन्तप्त एवं उद्विग्नचित्त होने के कारण मैं (कुछ) भूल गई हूँ। इसलिये याद करके फिर बताऊँगी।

राजा—(देखकर) अहो! देवी भानुमती सुवदना और तरलिका के साथ बैठी हुई कुछ विचार कर रही है। अच्छा, इस लता-जाल के पीछे छिपकर इनकी विश्वस्त बातें सुनता हूँ। (ऐसा विचार कर लता-जाल के पीछे छिप कर बैठ जाता है।)

सखी—सखि! चिन्ता न करो, (आगे) बताओ।

---

१. सदावावग्गहीदहिअआए (= सन्तापावगृहीतहृदयया) इति गु. पा.। २. इत आरभ्य समस्तमपि वाक्यं गु. नास्ति। ३. अयं कोष्ठान्तर्गतः पा. G. नास्ति। ४. 'विश्रम्भा०' इति गु. पा.। ५. कोष्ठान्तर्गतपाठस्य स्थाने G. 'तथा स्थितः' इत्येव पा.।

राजा—किं नु खल्वस्याः सन्तापकारणम्? अथवाऽनामन्त्र्य मामियमद्य वासभवनान्निष्क्रान्तेति समर्थित एवाऽस्या मया कोपः। अयि भानुमति! अविषयः खलु दुर्योधनो भवत्याः कोपस्य। पश्य[1]—

किं कण्ठे शिथिलीकृतो भुजलतापाशः प्रमादान्मया,
निद्राच्छेदविवर्तनेष्वभिमुखी नाद्यासि संभाविता।
अन्यस्त्रीजनसंकथालघुरहं स्वप्ने त्वया लक्षितो?
दोषं पश्यसि कं प्रिये! परिजनोपालम्भयोग्ये मयि ॥९॥

अथवेति—मामनामन्त्र्य अपृष्ट्वा इयं भानुमती अद्य वासभवनान निवासप्रासादान्निष्क्रान्ता निर्गतेत्यतोऽस्या कोपो मया समर्थित सम्भावित।

अविषय खलु दुर्योधनस्तव कोपस्य। तदेव प्रकटयन्नाह—

किमिति। (अन्वय.) मया प्रमादात् कण्ठे भुजलतापाश शिथिलीकृत किम्?, अद्य निद्राच्छेदविवर्तनेषु मया अभिमुखी न सम्भाविता असि (किम्?), स्वप्ने त्वया अहम् अन्यस्त्रीजनसकथा-लघुः लक्षित (किम्?) हे प्रिये! परिजनोपालम्भयोग्ये मयि कं दोषं पश्यसि?

(व्याख्या) मया दुर्योधनेन प्रमादादनवधानतया तव कण्ठे भुजलताया पाश शिथिलीकृतः किम्? त्वया सह मम प्रम कि कदाचिदसावधानतया श्लथीभूतं किम्? अद्य निद्रायाश्छेदो भङ्गस्तस्मिन्

राजा—इसके दुःख का क्या कारण है? अथवा यह आ ज मुझ से पूछे बिना ही महल से आ गई है। इस से इसका मेरे प्रति कोप स्पष्ट प्रतीत होता है। अयि भानुमति! दुर्योधन तुम्हारे कोप का भाजन नहीं है। देखो .—

क्या मैने कभी प्रमादवश तुम्हारे गले मे अपने भुजलतापाश को शिथिल किया है? निद्रा-भग होने पर करवट बदलते समय तुम्ह सामने स्थित (देख

१. G. अथ पा. नास्ति।

(विचिन्त्य) अथवा—

इयमस्मदुपाश्रयैकचित्ता,
मनसा प्रेमनिबद्धमत्सरेण ।
नियतं कुपितातिवल्लभत्वात
स्वयमुत्प्रेक्ष्य ममाऽपराधलेशम् ॥१०॥

विवतनेषु पार्श्वपरिवर्तनेषु अभिमुखी अभिमुखं वर्तमाना न सम्भाविता प्रेमालापैर्न सत्कृता किम् ? स्वप्ने त्वयाऽहं दुर्योधनोऽन्येन स्त्रीजनेन या सकथा मिथ सम्भाषणं तेन लघु क्षुद्रत्वमुपगतो लक्षितो दृष्ट किम् ? हे प्रिये भानुमति ! परिजनवत् परिचारकवद् उपालम्भस्य योग्य मयि दुर्योधने कं दोषमपराध पश्यसि ? केनाऽपराधेन मयि त्वमेवं क्रुद्धाऽसीत्यर्थ । शार्दूलविक्रीडितं छन्द 'सूर्याश्वैर्यदि मासजः सततगा शार्दूलविक्रीडितम्' इति तल्लक्षणात् ॥९॥

इयमिति । (अन्वय) अस्मदुपाश्रयैकचित्ता इयम् अतिवल्लभत्वात् प्रेमनिबद्धमत्सरेण मनसा स्वय मम अपराधलेशम् उत्प्रेक्ष्य नियतं कुपिता ।

(व्याख्या) वयमुपाश्रयाऽवलम्बो यस्य तदस्मदुपाश्रयं तथाभूतमेक-मनन्याऽऽसक्तं चित्त मनो यस्यास्तथाभूता मदासक्तचित्ता देवी भानुमती अतिवल्लभत्वादतिप्रियत्वात् प्रम्णा निबद्धो जनितो मत्सरो येन तथा-भूतेन मनसा स्वयमात्मनेव ममाऽपराधस्य लेश लवमुत्प्रेक्ष्योद्भाव्य

कर) क्या मैने (आलिङ्गनादि द्वारा) तुम्हारा सत्कार नहीं किया ? क्या कभी तुमने स्वप्न मे भी मुझे पर-स्त्री से वार्तालाप करने के कारण हीन वृत्ति देखा है ? हे प्रिये ! सवक के समान उपालम्भ योग्य मुझ मे तुम्हे क्या दोष दिखाई देता है (जिस से कि तुम मुझ पर अप्रसन्न हो ?) ॥९॥

(कुछ विचार कर) अथवा

इसका चित्त मुझ पर ही अवलम्बित है और यह मुझ से अत्यधिक प्रेम

तथापि शृणुमस्तावत् किं नु[1] वक्ष्यतीति ।

भानुमती—हला[2] ! तदो अहं तस्स अदिसइदविव्वरूविणो णउलस्स दंसणेण उस्सुआ जादा हिदहिअआ अ[3] ।

(हला ! ततोऽहं तस्यातिशायितदिव्यरूपिणो नकुलस्य दर्शनेनोत्सुका जाता, हृतहृदया च ।)

नियतमवश्यं कुपिता क्रुद्धाऽस्तीत्यथः । औपच्छन्दसिकं वृत्तम्, 'पर्यन्ते यौ तथैव शेषमौपच्छन्दसिकं सुधीभिरुक्तम्' इति तल्लक्षणात् । अर्थाद् अस्मिंश्छन्दसि प्रत्येकं पादेऽन्यत् सर्वं वर्णक्रमादिकं वियोगिनीवृत्तवद् ज्ञेयं केवलं रगणयगणावेवाऽन्ते विशेषौ द्रष्टव्यावित्यर्थः । यद्वा वियोगिनीवृत्तापेक्षयाऽत्र प्रतिपादमन्ते एको गुरुवर्णः अधिको भवति (तु. G.) । वियोगिनीलक्षणं च—विषमे ससजा गुरु समे, सभरा लोऽथगुर्वियोगिनीति ॥१०॥

हलेति—अतिशय सजातोऽस्य तद् अतिशयितं, तारकादित्वाद् इतच् प्र., अतिशयितं च दिव्यं च तद् रूपमतिशयितदिव्यरूपं तदस्याऽस्तीति तस्य तथाविधस्य नकुलस्य । उत्सुका उत्कण्ठिता । हृतं हृदयं यस्या सा तथाभूताऽऽसक्तहृदया ।

करने के कारण स्नेह-जनित मत्सर-मय मन से स्वयम् मेरे अपराध की कल्पना करके अवश्य ही मुझ से अप्रसन्न हो रही है ॥१०॥

तथापि सुनता हूँ यह क्या कहती है ।

भानुमती—हे सखि ! इस के बाद मैं उस अत्यधिक सुन्दर एवं दिव्य-स्वरूप नकुल को देखने के लिये उत्कण्ठित हो गई और मेरा हृदय उस पर आसक्त हो गया ।

१. अयं पा. गु. 'तथापि' इत्यस्याऽन्ते दृश्यते । २. अयं पा. G. नास्ति । ३. इतोऽग्रे गु. 'तदो उज्झिअ तं आमणट्ठाणं लदामण्डलं पविसिदुं आरद्धा' इत्यधिकं. पा. ।

राजा—(सवैलक्ष्यम्) किं नाम 'अतिशयितदिव्यरूपिणो नकुलस्य दर्शनेनोत्सुका जाता हृतहृदया च ? तन् किमनया पापया माद्रीसुतानुरक्तया वयमेवं विप्रलब्धाः ? [(सोत्प्रेक्षम) 'इयमस्मत्' (२–१०) इत्यादि पठित्वा] मूढ दुर्योधन ? कुलटाविप्रलभ्यमानमात्मानं बहु मन्यमानोऽधुना कि वक्ष्यसि ? ['किं कण्ठे' (२–६) इत्यादि पठित्वा दिशोऽवलोक्य] अहो एतदर्थमेवाऽस्याः प्रातरेव विविक्तस्थानाऽभिलाषः, सखीजनसंकथासु च पक्षपात । दुर्योधनस्तु मोहादविज्ञातबन्धकीहृदयसारः क्वापि परिभ्रान्तः । आः पापे ! मत्परिग्रहपांसुले ?

सवेलक्ष्यमिति—वैलक्ष्येण सहितं सवैलक्ष्यं सलज्जम । नकुलस्य माद्रीसुतस्य दर्शनेन उत्सुका उत्कण्ठिता । हृतहृदया नकुलासक्तवशीकृतमानसा । पापमस्याऽस्तीति सा पापा, मत्वर्थीयोऽच् प्र०, तया पापिन्या माद्रीसुते नकुलेऽनुरक्तयाऽऽसक्तयाऽनया भानुमत्या । कुलानामटा कुलटा तया विप्रलभ्यमानं वञ्चितमात्मानं बहु धन्यं मन्यमानोऽधुनाऽस्याः विषये किं वक्ष्यसि कथयिष्यमि ? अहो इति खेदे आश्चर्ये च । एतदर्थमेव नकुलदर्शनार्थमेवेत्यर्थः । विविक्तं च तत्स्थानं तस्मिन्नभिलापः । सखीजनस्य संकथासु वार्तालापेषु पक्षपातोऽनुरागः । अहं दुर्योधनश्च मोहादज्ञानाद् अविज्ञातः बन्धक्याः पुंश्चल्याः हृदयस्य सारस्तत्त्वं येन तथाभूतः सन् क्वाऽपि इतस्ततः परिभ्रान्तो वञ्चित इत्यर्थः । मत्परिग्रहश्चाऽसौ पांसुला च तत्सम्बुद्धौ हे मत्परिग्रहपांसुले ! मद्भार्याकलङ्करूपे !

राजा—(कुछ लज्जित होकर) क्या कहा, "अत्यधिक सुन्दर एव दिव्य-स्वरूप नकुल को देखकर उत्कण्ठित होगई और उसकी ओर मेरा हृदय आकृष्ट हो गया !" क्या माद्रीसुत नकुल पर अनुरक्त इस पापिनी ने मुझे (आज तक) इस प्रकार धोखा दिया है ! [(कुछ विचार कर) 'इयमस्मत्' (२, १०) इत्यादि श्लोक पढकर] मूर्ख दुर्योधन ! इस दुराचारिणी से ठगा जाने पर भी तू अपने आपको बहुत कुछ समझता रहा । अब क्या कहेगा ? ['किं कण्ठे' (२, ६) इत्यादि श्लोक पढ़कर (चारों) दिशाओं में देखकर] अहो ! यही कारण

तद् भीरुत्वं तव मम पुरः, साहसानीदृशानि !
श्लाघा साऽस्मद्वपुषि, विनयव्युत्क्रमेऽप्येष रागः !
तच्चौदार्यं मयि जडमतौ चापले कोऽपि पन्थाः,
ख्याते तस्मिन् वितमसि कुले जन्म कौलीनमेतत् ! ॥११॥

तद्भीरुत्वमिति—(अन्वयः) मम पुरः तव तद् भीरुत्वम्, ईदृशानि साहसानि, अस्मद्-वपुषि सा श्लाघा, विनयव्युत्क्रमे अपि एष रागः' जडमतौ मयि तच्च औदार्यम्, चापले कः अपि (अयं) पन्थाः, तस्मिन् ख्याते वितमसि कुले जन्म, एतत् कौलीनम्।

(व्याख्या) मम दुर्योधनस्य पुरोऽग्रे तव भवत्या भानुमत्या तद् भीरुत्वं सा प्रसिद्धा भीरुता पुनः पुनः प्रकटिता, इदानीं च ईदृशानि साहसानि रहसि परपुरुषानुरागप्रकटनादीनि, अस्माकं वपुषि शरीरे सा श्लाघा प्रशंसा, विनयस्य शीलस्य पातिव्रत्यधर्मस्य व्युत्क्रमे भङ्गेऽपि एष रागो मम समक्षमीदृशो महान् अनुरागः, जडा मूढा मतिर्बुद्धिर्यस्य तस्मिंस्तथाभूते मयि तदौदार्यमुदारता प्रेमाधिक्यप्रदर्शनमित्यर्थः परं सम्प्रति चापले चाञ्चल्ये कोऽप्यं विलक्षणः पन्था व्यभिचारमार्गः स्वीकृतः, ख्याते प्रसिद्धे विगतं तमः पापं, कलङ्कमित्यर्थः, यस्मात्तस्मिन् वितमसि निष्कलङ्के कुले जन्मोत्पत्तिः, एतदीदृशं च कौलीनं कलङ्कमयं

है कि इसे प्रातःकाल ही एकान्त-स्थान-सेवन की इच्छा हुई और इसी कारण से अब यह सखियों के साथ घुल-मिलकर बड़े चाव से बातें कर रही है। दुर्योधन तो अज्ञानवश इस दुराचारिणी के हार्दिक भाव से अनभिज्ञ होने के कारण (आजतक मोह में इधर-उधर ही) भटकता रहा। आः पापिनि ! हे मेरी दुराचारिणी स्त्री !

कहाँ तो तू (अब तक) मेरे सामने इतनी भीरु बनी रहती थी और कहाँ अब ये तेरे इस प्रकार के साहस-पूर्ण पाप कर्म ! कहाँ तो तू मेरे शारीरिक

सखी—तदो तदो ?
(ततस्ततः ?)

भानुमती—[1]तदो उज्झिअ तं आसणट्ठाणं लदामण्डवं पविसिदुं आरद्धा। तदो[2] सोवि मं अणुसरतो एव्व लदामण्डवं पविट्ठो।

(तत उज्झित्वा तदासनस्थानं लतामण्डपं प्रवेष्टुमारब्धा। ततः सोऽपि मामनुसरन्नेव लतामण्डपं प्रविष्टः।)

दुष्कृत्यम्। कुलम्याऽपत्यं कुलीनस्तस्य भावः कर्म वा कौलीनं 'हायनान्त-युवादिभ्योऽण्' (पा. ५, १, १३०)। यद्वा 'कौ पृथिव्यां लीनं भवति कौलीनम्, अलुक् समासः' तु. G.। मन्दाक्रान्ता छन्दः, 'मन्दाक्रान्ता-म्बुधिरसनगैर्मो भनौ तौ गयुग्मम्' इति तल्लक्षणात्।

तत इति—उज्झित्वा त्यक्त्वा। प्रवेष्टुमारब्धा अहमितिशेषः। कर्तरि क्तः प्र.। सोऽपि नकुलोऽपि।

सौन्दर्य की इतनी प्रशंसा किया करती थी और कहाँ अब शिष्टाचार के उल्लंघन में तेरा इतना अनुराग ! कहाँ तो मुझ मन्दबुद्धि पर तेरी वह इतनी उदारता और कहाँ यह चञ्चल मार्ग ! कहाँ तो उस प्रसिद्ध एवं निष्कलंक कुल में जन्म और कहाँ यह निर्लज्जता ! ॥११॥

सखी—इसके बाद क्या हुआ ?

भानुमती—इसके बाद मैं उस स्थान को, जहाँ पर मै बैठी हुई थी, छोड़ कर लता-मण्डप में जाने लगी और वह नकुल भी मेरे पीछे-पीछे उस लता-मण्डप में प्रविष्ट हो गया।

---

१. अस्य समस्तवाक्यस्य स्थाने गु. 'तदो अहं तरिदं आसणट्ठाणं एदं लदामंडवं पविट्ठा' इति पा.। २. अयं पा. गु. नास्ति।

राजा—अहो ! कुलटोचितमस्याः पापाया अशालीनत्वम् ।

यस्मिंश्चिरप्रणयनिर्भरबद्धभाव-
मावेदितो रहसि मत्सुरतोपभोगः ।
तत्रैव दुश्चरितमद्य निवेदयन्ती
ह्रीणाऽसि पापहृदये ! न सखीजनेऽस्मिन् ? ॥ १२॥

अहो इति—अहो इत्याश्चर्येऽव्ययम् । कुलटाया बन्धक्या उचितं योग्यं, शेषषष्ठ्या समासः । पापायाः पापिन्याः, पापशब्दान् मत्वर्थीयोऽच् । अशालीनत्वमविनयत्वं धाष्ट्र्यमित्यर्थः । धृष्टतामेव प्रकटयन्नाह यस्मिन्निति—

(अन्वयः) हे पापहृदये ! यस्मिन् (सखीजने) मत्सुरतोपभोगः रहसि चिरप्रणयनिर्भरबद्धभावम् आवेदितः, तत्रैव अस्मिन् सखीजने दुश्चरितं निवेदयन्ती (त्वं) न ह्रीणा असि किम् ?

(व्याख्या) पापं पापमयं हृदयं यस्यास्तत्सम्बुद्धौ हे पापहृदये ! हे दुराचारिणि ! यस्मिन् सखीजने मम सुरतस्य प्रणयक्रीडाया उपभोगः रहसि एकान्ते चिरं चिरकालं यावद् यः प्रणयः स्नेहस्तेन निर्भरं भृशं यथास्यात्तथा बद्धो भावोऽनुरागो यस्मिन् कर्मणि तद् यथा तथा आवेदितः कथितः, तत्रैव तस्मिन्नेवाऽस्मिन् सखीजनेऽद्येदानीमिदं दुश्चरितं निवेदयन्ती कथयन्ती न ह्रीणाऽसि न लज्जिताऽसि किम् ? वसन्ततिलका वृत्तम् 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति तल्लक्षणात् ।

राजा—अहो ! इस दुराचारिणी की यह धृष्टता (सर्वथा) कुलटाओं के अनुरूप है !

हे पापहृदये ! जिन सखियों के सामने तू चिर काल से बढ़े हुए स्नेह तथा अनुराग के साथ मेरे प्रेम एवं विलासोपभोग की चर्चा किया करती थी उन्हीं के सामने आज अपने इस दुराचार की कथा कहते हुए क्या तुझे लज्जा नहीं आती ?

उभे—तदो तदो ?

(ततस्ततः ?)

भानुमती—तदो तेण सप्पगब्भ[1] प्पसारिअकरेण अवहरिदं मे त्थणंसुअम् ।

(ततस्तेन सर्पगर्भ (सप्रगल्भ) प्रसारितकरेणाऽपहृतं मे स्तनांशुकम् ।)

राजा—(विचिन्त्य) '[2]सप्रगल्भप्रसारितकरेणाऽपहृतं मे स्तनांशुकम् ?' (सक्रोधम्) अलमिदानीमतः परमाकर्णनेन ; भवतु, तावत्तस्य परवनितावस्कन्दनप्रगल्भस्य माद्रीसुतहतकस्य जीवितमपहरामि । (किंचिद् गत्वा, विचिन्त्य) अथवा इयमेव तावन् पापशीला प्रथममनुशासनीया । (इति निवर्तते) ।

ततस्तेनेति—सर्पः गर्भे यस्य स सर्पगर्भः, सचाऽसौ प्रसारितश्च करो यस्य तेन, सप्रगल्भं प्रसारितः करो यस्य तेनेत्येवं श्लेषमुखेनेह अर्थद्वयं बोध्यते । प्राकृतभाषायां हि सर्पगर्भ-सप्रगल्भेत्येतयोः द्वयोरपि शब्दयोः 'सप्पगब्भ' इत्येव भवति । एवं च भानुमत्या 'सर्पगर्भ' इत्याशयेन प्रयुक्तः 'सप्पगब्भ' इति शब्दो दुर्योधनेन 'सप्रगल्भ' इत्यर्थे गृहीतः । अपहृतं दूरीकृतं मे स्तनांशुकं स्तनवस्त्रम् ।

विचिन्त्येति—आकर्णनेन श्रवणेन । परस्य वनितायां भार्यायां यद् अवस्कन्दनं बलात्कारस्तत्र प्रगल्भो लम्पटस्तस्य माद्रीसुतश्चासौ हतको

सखी तथा चेटी दोनों—फिर क्या हुआ ?

भानुमती—इसके बाद उस नकुल ने सप्पगब्भ (=सर्पगर्भ, सप्रगल्भ) हाथ से मेरे स्तनांशुक को खींच लिया ।

राजा—(कुछ सोच कर) क्या कहा 'सप्रगल्भ हाथ से स्तनाशुक को खींच लिया ?' (क्रोध में भर कर) बस, अब इस से आगे नहीं सुना

१. गु. ' ०गब्भम् ' इति पा. । २. इत आरभ्य 'स्तनांशुकम्' इत्येतत्पर्यन्तं G. नास्ति ।

उभे—तदो तदो ?

(ततस्ततः ?)

भानुमती—तदो अज्ज उत्तस्स पभादमङ्गलतूररवमिस्सेण वारविलासिणीजण संगीदरवेण पडिबोधिदम्हि ।

(तत आर्यपुत्रस्य प्रभातमङ्गलतूर्यरवमिश्रेण वारविलासिनीजनसंगीतरवेण प्रतिबोधिताऽस्मि)

दुष्टस्तस्य जीवितं जीवनमपहरामि नाशयामीत्यर्थः। पापं शीलं यस्याः सा पापशीला पापिनी प्रथममनुशासनीया दण्डनीया।

तत इति। आर्यपुत्रस्य स्वामिनः। आर्यपुत्रेति पत्युः सम्बोधनम्। 'सर्वस्त्रीभिः पतिर्वाच्यः आर्यपुत्रेति यौवने' इति भरत-वचनम। प्रभाते यानि मङ्गलतूर्याणि तेषां रवेण मिश्रस्तेन वारविलासिनीनां जनः समूहस्तस्य संगीतं तस्य रवेण शब्देन प्रतिबोधिताऽस्मि जागरिताऽस्मि।

जाता। अच्छा, मैं अब शीघ्र ही उस परस्त्री-लम्पट माद्रीसुत नकुल को मारता हूँ। (कुछ चल कर, विचार कर) अथवा सब से पहले इस दुराचारिणी को ही दण्ड देना उचित है।

(ऐसा विचार-कर वापिस लौटता है।)

सखी तथा चेटी दोनों—इसके बाद क्या हुआ ?

भानुमती—इसके बाद आर्यपुत्र को जगाने के लिये प्रातःकाल के मङ्गलमय वाद्य-शब्द से मिश्रित वाराङ्गनाओं के मधुर संगीत से मैं जाग गई।

१. °सद्देण (=°शब्देन) इति गु. पा.।

राजा—(सवितर्कम्) किं नाम 'प्रतिबोधिताऽस्मी'ति ! किं नु खलु स्वप्नदर्शनमनया वर्णितम् ? (विचिन्त्य[1]) [2]अथवा सखीवचनादेव व्यक्तिर्भविष्यति ।

[उभे सविषादमन्योन्यं पश्यतः ।]

सुवदना—जं [3]किञ्चि अच्चाहिदं तं भाईरहीप्पमुहाणं णईणं सलिलेण अवहारीअदु । भअवदाणं बम्हणाणं वि आसीसाए आहुदिहुदेण पज्जलिदेण भअवदा हुदासणेण अ णस्सदु[4] ।

(यत् किञ्चिदत्याहितं तद् भागीरथी-प्रमुखानां नदीनां सलिलेनाऽपह्रियताम् । भगवतां ब्राह्मणानामप्याशिषा, आहुतिहुतेन प्रज्वलितेन भगवता हुताशनेन च नश्यतु)

सवितर्कमिति । वितर्केण सहितं सवितर्कं सतर्कं किंचिद् विचार्येत्यर्थः । सखी सुवदना तस्याः वचनाद् वाक्यादेव एतस्य सम्पूर्णस्य रहस्यस्य व्यक्तिर्ज्ञानं भविष्यति ।

यत्किंचिदिति । अत्याहितमनिष्टम् । भागीरथी गङ्गा प्रमुखा यासां तासां नदीनां सलिलेन जलेनाऽपह्रियतां दूरीक्रियताम् । आहुतिभिर्हुतम्तेन हुताशनेनाऽग्निना ।

राजा— (कुछ तर्क करते हुए) क्या कहा "मैं जाग गई ?" क्या इसने स्वप्न में देखी हुई बातों का वर्णन किया है ? (कुछ विचार कर) अच्छा, सखी की बातों से ही यह (रहस्य) स्पष्ट हो जाएगा ।

(सखी एवं चेटी दोनों दुःख के साथ परस्पर एक दूसरे की ओर देखती हैं ।)

सुवदना—जो कुछ भी अमङ्गल हुआ है वह सब गंगा आदि नदियों के

१. अयं पा. G. नास्ति। २. अस्य स्थाने गु. 'भवतु' इति पा. । ३. अस्य स्थाने 'एत्थ' इति G. पा. । ४. अस्य स्थाने 'अन्तरीअदु' इति हु. पा. ।

राजा—अलं विकल्पेन। स्वप्नदर्शनमेवैतदनया वर्णितम्। मया पुनर्मन्दधियाऽन्यथैव सम्भावितम्। (*सवैलक्ष्यस्मितम्*[1])

दिष्ट्याऽर्धश्रुतविप्रलम्भजनितक्रोधादहं नो गतो,
दिष्ट्या नो परुषं रुषाऽर्धकथने किंचिन्मया व्याहृतम्।
मां प्रत्याययितुं विमूढहृदयं दिष्ट्या कथान्तं गता,
मिथ्या दूषितयाऽनया विरहितं दिष्ट्या न जातं जगत् ॥१३॥

अलमिति—विकल्पेन सन्देहेनाऽलमित्यर्थः। मन्दा धीर्बुद्धिर्यस्य तेन मया दुर्योधनेनाऽन्यथैव माद्रीसुतलाम्पट्यमेव सम्भावितं कल्पितम्।

दिष्ट्येति—(अन्वयः) दिष्ट्या अहम् अर्धश्रुतविप्रलम्भजनितक्रोधात् (तस्याः सकाशं) नो गतः, दिष्ट्या अर्धकथने मया रुषा (तस्यै) किञ्चित् परुषं नो व्याहृतम्, दिष्ट्या विमूढहृदयं मां प्रत्याययितुम् (इव) कथाऽन्तं गता, दिष्ट्या जगत् मिथ्यादूषितया अनया विरहितं न जातम् ॥

(व्याख्या) दिष्ट्या सौभाग्येन, एतन्मम सौभाग्यमित्यर्थः, 'दिष्ट्या शमुपजोषं चेत्यानन्दे' इत्यमरः, अर्धेन श्रुतेन श्रवणेन (नपुंसके भावे क्तः), स्वप्नवृत्तान्तस्येति शेषः, यो विप्रलम्भो भ्रान्तिस्तेन जनितो यः क्रोधस्तस्मात् तं क्रोधमवलम्ब्येत्यर्थः, 'ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे चे'

पवित्र जल से दूर हो और योग्य ब्राह्मणों के आशीर्वाद तथा (यज्ञ की) आहुति से प्रज्वलित भगवान् हुताशन (=अग्नि) के प्रसाद से विनष्ट हो।

राजा—(अब इसमें) सन्देह की आवश्यकता नहीं है। इसने (निःसन्देह) स्वप्न में देखी हुई बातों का ही वर्णन किया है। परन्तु मैंने मूर्खतावश उसका कुछ दूसरा ही अर्थ समझ लिया। **(कुछ लज्जा एवं मुस्कराहट के साथ)**

सौभाग्य से मैं आधी ही बात सुनकर भ्रम-वश आवेश में आकर उसके

१. अयं पा. G. नास्ति।

भानुमती—हला ! कहेहि किं एत्थ पसत्थं किं वा असुहसूअअं त्ति ?
(हला ! कथय किमत्र प्रशस्तं किं वाऽशुभसूचकमिति ?)
(सखी चेटी चाऽन्योन्यमवलोकयतः[1])

त्यनेन कर्मणि पंचमी, तस्या भानुमत्याः सकाशं नो गतः; दिष्ट्या सौभाग्येन तस्याः कथनस्य अर्धे तस्मिन् अर्धकथने मया रुषा क्रोधेन तस्यै किञ्चित् परुषं नो व्याहृतं कथितम् (वि+आ+$\sqrt{}$हृ+क्तः प्र.); दिष्ट्या विमूढं भ्रान्तं हृदयं चित्तं यस्य तं तथाविधं मां प्रत्याययितुं विश्वासयितुमिव इयं कथा नकुलकथा अन्तं समाप्तिं गता; दिष्ट्या मम सौभाग्येन जगद् मिथ्या दूषिता तया, (सुप्सुपेति समासः), वृथैव कलङ्कितया अनया भानुमत्या विरहितं शून्यं न जातम्। मम सौभाग्येनेयं न मृतेत्यर्थः । शार्दूलविक्रीडितं छन्दः, सूर्याश्वैर्यदि मासजः सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' इति तल्लक्षणात् ॥

हलेति—अत्राऽस्मिन् स्वप्ने किं प्रशस्तं शुभं किं वाऽशुभसूचकमनिष्टद्योतकमित्यर्थः ।

सखी चेटीति—अन्योऽन्यं परस्परमवलोकयतः पश्यतः ।

पास नहीं गया; सौभाग्य से उसके आधी बात कहने पर (ही) मैंने क्रोध से उसे कठोर शब्द नहीं कहे; सौभाग्य से मुझ मूढ़-हृदय को विश्वास दिलाने के लिये (ही मानों) यह कथा शीघ्र समाप्त हो गई और यह वस्तुतः मेरा सौभाग्य है कि मिथ्या कलङ्कित होने के कारण (आत्महत्या करके) इसने संसार को सूना नहीं किया ॥ ३॥

भानुमती—सखि ! कहो इस स्वप्न में क्या शुभ और क्या अशुभ-सूचक है ?

(सखी और चेटी दोनों परस्पर एक दूसरे की ओर देखती हैं।)

१. गु. 'अवलोक्य, अपवार्य' इति पा. ।

सखी—(अपवार्य) एत्थ णत्थि त्थोअं वि सुहसूअअम् । तदो अलीअं कधअन्ती पिअसहीए अवराहिणी भविस्सम् । सो दाणीं सिणिद्धो जणो जो पुच्छिदो परुस वि हिदं भणादि । (प्रकाशम्) सव्वं एव्व एदं असुहणिवेदणम् । ता देवदाणं पणामेण [1]दुजादिजणपडिग्गहेण अ अन्तरीअदु । ण हु दाढिणो णउलस्स वा दंसणं अहिसदवहं अ सिविणए पसंसन्ति विअक्खणाओ ।

[अपवार्य] (अत्र नास्ति स्तोकमपि शुभसूचकम् । ततोऽलीकं कथयन्ती प्रियसख्या अपराधिनी भविष्यामि । स इदानीं स्निग्धो जनो य पृष्टः परुषमपि हितं भणति । [प्रकाशम्] सखि ! सर्वमेवैतदशुभनिवेदनम् । तद्देवतानां प्रणामेन द्विजातिजनप्रतिग्रहेण चाऽन्तर्यताम्[2] । न खलु दंष्ट्रिणो नकुलस्य वा दर्शनमहिशतवधं च स्वप्ने प्रशंसन्ति विचक्षणाः ।)

अपवार्येति—अपवार्य एकतो भूत्वेत्यर्थः अत्राऽस्मिन् स्वप्ने स्तोकमपि स्वल्पमपि शुभसूचकं नास्ति । अलीकमसत्यम् । स एव स्निग्धो वस्तुतः स्नेही जनोऽस्ति यः परुषं कठोरमप्रियमपि हितं वचनं भणति कथयति । सर्वमेव एतत् स्वप्नदर्शनमशुभस्याऽनिष्टस्य निवेदनं निवेदकं सूचकमित्यर्थः । द्विजातीनां जनः समूहस्तस्मै प्रतिग्रहो दानं तेनाऽन्तर्यतां दूरीक्रियतां शाम्यताम् । दंष्ट्रा अस्य सन्तीति तस्य दंष्ट्रिणो दंष्ट्रायुक्तस्य । अहीनां सर्पाणां शतस्य वधस्तं विचक्षणा विद्वांसो न प्रशंसन्ति ।

सखी—(एक तरफ़ को होकर भानुमती से छिपाकर) इसमें तो कुछ भी शुभ-सूचक नहीं है । (और यदि मैं इसे शुभ-सूचक बताती हूँ तो) झूठ बोलने के कारण मैं अपनी प्रिय सखि के प्रति अपराधिनी हूँगी । वस्तुतः सच्चा स्नेही वही है जो पूछने पर हितकर कड़वी बात को भी कह देता है । (प्रकट रूप में) सखि ! यह स्वप्न तो सर्वथा अशुभ-सूचक है । इसलिये देवताराधन से तथा ब्राह्मणों को दानादि देकर इस (के दुष्परिणाम) को दूर करने

१. गु. 'दुब्वादि पडि०' इति पा. । २. मु. 'अन्तर्धीक्रियताम्' इति पा. ।

राजा—अवितथमाह सुवदना। नकुलेन पन्नगशतवधः स्तनांशुकापहरणं [1]चेति नियतं[2]मनिष्टोदर्कं [3]मस्माकं तर्कयामि।

पर्यायेण हि दृश्यन्ते स्वप्नाः कामं शुभाशुभाः।
शतसंख्या पुनरियं सानुजं स्पृशतीव माम् ॥१४॥

अवितथमिति—विगतं तथा सत्यं यस्मात् तद् वितथमसत्यं न वितथमवितथं सत्यमाह सुवदना। नियतमवश्यं अनिष्टम् उदर्के उत्तरकाले यस्य तद् अनिष्टोदर्कं भविष्यति कालेऽशुभफलप्रदम्, 'उदर्क उत्तरे काले यत्र स्यात्फलमुत्तमम्' इति वैजयन्ती। तर्कयामि विचारयामि। स्वप्नस्याऽशुभत्वं समर्थयन्नेवाह पर्यायेति।

(अन्वयः) हि शुभाऽशुभाः स्वप्नाः पर्यायेण कामं दृश्यन्ते, इयं शतसंख्या पुनः सानुजं मां स्पृशति इव।

(व्याख्या) हि यतः शुभाश्च अशुभाश्च शुभाऽशुभाः शुभाऽशुभफलप्रदाः स्वप्नाः पर्यायेण क्रमशः कामं यद्यपि जनैर्दृश्यन्ते विलोक्यन्ते तथापि इयं शतसंख्या स्वप्नेऽहिशतवधेन निर्दिष्टा शतसंख्या अनुजैः सहितं सानुजं मामेव स्पृशतीव विषयीकरोतीव संकेतयतीवेत्यर्थः।

की चेष्टा करो। विद्वान् लोग बड़ी-बड़ी दाढ़ों वाले नकुल तथा सौ सर्पों के वध को स्वप्न में देखना अच्छा नहीं बताते।)

राजा—सुवदना ठीक कहती है। मैं भी यही समझता हूँ कि स्वप्न में नकुल द्वारा सौ सर्पों का वध तथा वक्षःस्थल से वस्त्रापहरण हमारे लिये (भविष्य में) वस्तुतः अनिष्टफल-प्रद है।

यद्यपि अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के स्वप्न समय-समय पर मनुष्यों को दीखते हैं परन्तु इस स्वप्न में 'सौ' यह संख्या मेरे सौ भाइयों की ओर संकेत करती हुई-सी मालूम होती है ॥१४॥

१. गु. 'इति' इति पा. नास्ति। २. गु. 'अरिष्टो०' इति पा.। ३. G. "" अयं पा. नास्ति।

(वामाऽक्षिस्पन्दनं सूचयित्वा) आः ! कथं ममाऽपि नाम दुर्योधनस्याऽनिमित्तानि हृदयक्षोभमावहन्ति[1] । (सावष्टम्भम्) अथवा भीरुजनहृदयप्रकम्पनेषु का गणना दुर्योधनस्यैवंविधेषु कश्मलेषु । गीतश्चाऽयमर्थोऽङ्गिरसा—

ग्रहाणां चरितं स्वप्नो[2] निमित्तान्युपयाचितम् ।
फलन्ति काकतालीयं तेभ्यः प्राज्ञा न बिभ्यति ॥१५॥

कथं ममापीति—ममाऽपि महाबलशालिनो मम दुर्योधनस्याऽपीत्यर्थः । अनिमित्तानि अपशकुनानि । हृदयस्य क्षोभं चाञ्चल्यमावेदयन्ति सूचयन्ति । भीरुजनानां हृदयानि प्रकम्पयन्तीति तेषु भीरुजनहृदयप्रकम्पनेषु कापुरुषचित्तविक्षोभकारिषु एवंविधेषु कश्मलेषु अक्षिस्पन्दनादिषु मोहेषु, 'मूर्च्छा तु कश्मलं मोहः' इत्यमरः, दुर्योधनस्य मम का गणना का चिन्ता को वा विचारः, न कोऽपीत्यर्थः । गीतः कथितश्चाऽयमेवाऽर्थोऽङ्गिरसा—ग्रहाणामित्यादिना ।

(अन्वयः) ग्रहाणां चरितं, स्वप्नः, निमित्तानि, उपयाचितं च काकतालीयं फलन्ति । प्राज्ञाः तेभ्यः न बिभ्यति ।

(व्याख्या) ग्रहाणां सूर्यचन्द्रादीनां चरितं दशादिकं, स्वप्नः, निमित्तानि अक्षिस्पन्दनादीनि शुभाशुभशकुनानि, उपयाचितमुपश्रुतिश्च, रात्रौ चतुष्पथे गत्वा यः शब्दः श्रूयते सा उपश्रुतिः, तया च शुभाशुभ-

(बाईं आँख का फड़कना सूचित करके) ओह ! क्या यह अपशकुन मुझ दुर्योधन के हृदय को भी विक्षुब्ध करना चाहते हैं ! (गर्व के साथ) अथवा भीरु पुरुषों के हृदयों को प्रकम्पित कर देने वाले इस प्रकार के अपशकुनों की मुझ दुर्योधन को क्या चिन्ता है ? अङ्गिरस ऋषि ने भी यही भाव व्यक्त किया है :—

चन्द्रादि ग्रहों की दशा, शुभाशुभ स्वप्न, अक्षिस्पन्दनादि शकुन और

१. गु. 'आवेदयन्ति' इति पा. । २. गु. 'स्वप्नोऽनिमित्तौत्पातिकं तथा' इति पा.

तद् भानुमत्याः स्त्रीस्वभावसुलभामलीकाशङ्कामपनयामि ।

भानुमती—हला सुवअणे ! पेक्ख दाव उदअगिरिसिहरन्तरविमुक्करहवरो[1] [2]विअलन्तसंझाराअप्पसण्णदुरालोअमण्डलो जादो भअवं दिवहणाहो ।

(हला सुवदने ! पश्य तावदुदयगिरिशिखरान्तरविमुक्तरथवरो विगलत्संध्यारागप्रसन्नदुरालोकमण्डलो जातो भगवान् दिवसनाथः ।)

निर्णयः क्रियते तज्ज्ञैः; काकागमनमिव तालपतनमिव काकतालम् । काकतालमिव काकतालीयमवितर्कितसम्भवमिव फलन्ति फलवन्ति भवन्ति । प्राज्ञा विद्वांसश्च तेभ्यो ग्रहादिभ्यो न बिभ्यति भयं न कुर्वन्ति । एतानि ग्रहादीनि न कदापि निश्चितरूपेण फलप्रदानि भवन्ति, अपितु अनिश्चितरूपेणैव फलवन्ति भवन्तीत्यतो विद्वाँस एतेभ्यः किञ्चिदपि भयं न कुर्वन्तीति भावः ।

तद्भानुमत्या इति—स्त्रियाः स्वभाव स्तस्मिन् सुलभाम् अलीका-चाऽसौ आशङ्का तामपनयामि दूरीकरोमि ।

हला सुवदन इति—उदयश्चाऽसौ गिरिरुदयगिरिस्तस्य यत् शिखरं शृङ्गं तेन यद् अन्तरं व्यवधानं तेन विमुक्तो निर्गतो रथवरो यस्य सः, विगलन् यः सन्ध्यारागो रक्तिमा तेन प्रसन्नं दुरालोकं दुःखेनाऽऽलोकयितुं शक्यं च मण्डलं यस्य स तथाविधो जातो दिवसनाथो भगवान् दिवाकरः ।

उपश्रुति कभी-कभी ही फलते हैं । इस लिये बुद्धिमान् लोग उनसे किसी प्रकार की आशङ्का नहीं करते ॥१५॥

इस लिये मुझे भानुमती की स्त्रीस्वभाव-सुलभ इस मिथ्या आशङ्का को शीघ्र ही दूर करना चाहिये ।

भानुमती—हे सखि सुवदने ! देख, दिवसनाथ भगवान् सूर्य का रथ उदयगिरि के उच्च शिखर की ओट से मुक्त होकर बाहर निकल आया है और

---

१. गु. इदमुत्तरेण पदेन समस्तम् । २. गु. 'विअलिअ' (= विगलित) इति पा. ।

सखी—सहि ! [1]रोसणिदकणअपत्तसरिसेण लदाजालन्तरा-पडिदकिरणणिवहेण पिञ्जरिदोज्जाणभूमिभाओ पूरिदपदिण्णो विअ रिउदुप्पेक्खणिज्जो जादो भअवं सहस्सकिरणो। ता समओ दे [2]लोहिद-कुसुमचन्दणगब्भेण अग्घेण पज्जुवट्ठादुम्।

(सखि ! रोषणितकनकपत्रसदृशेन लताजालान्तरापतितकिरणनिवहेन पिञ्जरितोद्यानभूमिभागः पूरितप्रतिज्ञ इव रिपुर्दुष्प्रेक्षणीयो जातो भगवान् सहस्र-किरणः। तत्समयस्ते लोहितकुसुमचन्दनगर्भेणाऽर्घेण पर्युपस्थातुम्।)

सखीति—रोषणितं प्रतप्तं यत्कनकपत्रं तेन सदृशेन, लताजाला-नामन्तरे आपतितो यः किरणनिवहो मयूखसमूहस्तेन पिञ्जरितः पिशङ्गीकृतः उद्यानस्य प्रमदवनस्य भूमिभागो येन सः, पूरिता प्रतिज्ञा येन स तथाविधो भगवान् सहस्रकिरणः सूर्यः रिपुः शत्रुरिव दुःखेन प्रेक्षणीयो दर्शनीयो जातः। लोहितानि कुसुमानि चन्दनं च गर्भे यस्य तेन तथाविधेन अर्घेण। पर्युपस्थातुं पूजयितुम्।

सन्ध्याकालीन लालिमा के दूर हो जाने पर सूर्य-मण्डल स्वच्छ एवं दुरालोक मालूम हो रहा है।

सखी—प्रतप्त सुवर्ण-पत्र के समान लता-जाल के अन्तर (=मध्यभाग) से आए हुए किरण-समूह से उद्यान-भूमि को पिञ्जरित करते हुए सहस्र-किरण भगवान् सूर्य पूर्णप्रतिज्ञ शत्रु के समान दुष्प्रेक्ष्य हो गए हैं। इस लिये रक्त-कुसुम एवं चन्दन-मिश्रित पूजा-सामग्री से भगवान् सूर्य की पूजा करने का समय आ गया है। अतः अब तुम भगवान् सूर्यदेव का उपस्थान करो।

१. 'रोसाविअदकवणकन्तिसरिसेण' इति गु. पा. । २. गु. अयं पा. नास्ति।

भानुमती—हञ्जे तरलिए ! उवणेहि मे अग्घभाअणं जाव भअवदो सहस्सकिरणस्स[1] सवरिअं णिव्वट्टेमि ।

(हञ्जे तरलिके ! उपनय मेऽर्घ्यभाजनं यावद् भगवतः सहस्रकिरणस्य सपर्यां निर्वर्तयामि ।)

चेटी—जं देवी आणवेदि[2] । (इति निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य ।) भट्टिणि ! एदं अग्घभाअणं, ता णिव्वट्टेदु भअवदो सहस्सरस्सिणो सवरिअम् ।

(यद् देवी आज्ञापयति [इति निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य] भट्टिनि ! इदमर्घ्यभाजनं, तन्निर्वर्तय भगवतः सहस्ररश्मेः सपर्याम् ।

राजा—अयमेव साधुतरोऽवसरः प्रियासमीपमुपगन्तुम् । (इत्युपसर्पति) ।

हञ्जे तरलिके इति—मे मह्यमर्घ्यभाजनमर्घ्यपात्रमुपनय आनय । सहस्रकिरणस्य सूर्यस्य सपर्यां पूजां निर्वर्तयामि सम्पादयामि ।

भट्टिनीति—सहस्ररश्मेः सूर्यस्य सपर्यां पूजां निर्वर्तय सम्पादय ।

भानुमती –तरलिके ! मेरा अर्घ्य-पात्र ले आ, जिससे कि मैं भगवान् सूर्यदेव की पूजा कर सकूं ।

चेटी—जो महारानी की आज्ञा । (ऐसा कहकर बाहर जाकर पुनः प्रवेश करके) स्वामिनि ! यह अर्घ्यपात्र है, (लीजिये और) भगवान् सूर्य की पूजा सम्पन्न कीजिये ।

राजा—प्रियतमा के पास जाने का मेरे लिये यही सब से अच्छा उपयुक्त समय है (ऐसा विचार कर उसके पास जाता है ।)

---

१. G. 'सहस्सरस्सिणो' (= सहस्ररश्मेः) इति पा. । २. G. इतोऽग्रे '(निष्क्रान्ता) । राजा—अयमेव साधुतरोऽवसरः समीपमुपगन्तुं देव्याः' । (प्रविश्य) चेटी—देवि !' इति पा. ।

सखी—(विलोक्यात्मगतम्) कहं महाराओ आअदो ? हन्त ! जादो से [1]पिअसहीए णिअमभङ्गो रएणा ।

([विलोक्यात्मगतम्] कथं महाराज आगतः ? हन्त ! कुतोऽस्याः प्रियसख्या नियमभङ्गो राज्ञा ।)

भानुमती—(दिनकराभिमुखीभूय[2]) भअवं ? अंबरमहासरेकसहस्सपत्त ! पुव्वदिसावहूमुहमण्डण[3]कुंकमविसेसअ ! सअल[4]भुवणेक्कअणप्पदीव ! जं एत्थ सिविणअदंसणे किं वि अश्चाहिदं, तं भअवदो पणामेण [5]सभादुअस्स अज्जउत्तस्स कुसलपरिणामि होदु । (अर्घ्यं दत्त्वा) हञ्जे तरलिए ! उवणेहि मे कुसुमाइं जाव अवराणं वि देवदाणं सवरिअं णिव्वट्टेमि । (इति हस्तौ प्रसारयति) ।

([दिनकराभिमुखीभूय] भगवन् ! अम्बरमहासरएकसहस्रपत्र ! पूर्वदिशावधूमुखमण्डनकुंकुमविशेषक ! सकलभुवनैकरत्नप्रदीप ! यदत्र स्वप्नदर्शने किमप्यत्याहितं तद् भगवतः प्रणामेन सभ्रातृकस्याऽऽर्यपुत्रस्य कुशलपरिणामि भवतु । [अर्घ्यं दत्त्वा] हञ्जे तरलिके ! उपनय मे कुसुमानि यावद् अपरामामपि देवताना सपर्यां निर्वर्तयामि । [इति हस्तौ प्रसारयति] ।)

अम्बरमेव महासरस्तस्मिन् एकं केवलं मुख्यं वा ('एके मुख्यान्यकेवलाः' इत्यमरः) सहस्रपत्रं कमलं तत्सम्बुद्धिः, पूर्वदिशा एव वधूस्तस्या यन् मुखं तस्य मण्डनाय यः कुङ्कुमविशेषकस्तत्सम्बुद्धिः, सकल-

सखी—(राजा को देखकर मन ही मन) ओह ! क्या महाराज आ गए हैं ! बड़े दुःख की बात है ! अब महाराज के द्वारा प्रियसखी का व्रत भङ्ग हुआ ही समझिये ।

भानुमती—(भगवान् सूर्य की ओर मुख करके) हे भगवन् ! आकाश-रूपी विशाल सरोवर के एकमात्र सहस्रदल कमल ! पूर्वदिशा-रूपी

१. अयं पा. गु. नास्ति । २. G. 'भूत्वा' इति पा. । ३. G. 'मण्डल' इति पा. । ४. G. 'भुवणङ्गणदीवअ' इति पा. । ५. 'ससदब्भादुअस्स' इति पा. ।

(राजा संज्ञया परिजनमुत्सार्य पुष्पाणि स्वयमुपनयति, स्पर्शसुखमभिनीय कुसुमानि भूमौ पातयति च ।)

भानुमती—(सरोषम्) अहो ! प्पमादो परिअणस्स । ([1]परिवृत्य दृष्ट्वा ससम्भ्रमम्) कधं अज्जउत्तो !

([सरोषम्] अहो ! प्रमादः परिजनस्य । [परिवृत्य दृष्ट्वा ससम्भ्रमम्] कथमार्यपुत्रः !)

भुवनस्य एकः प्रधानो रत्नप्रदीपस्तत्सम्बुद्धिः । अत्र स्वप्नदर्शने यत् किमप्यन्याहितमनिष्टं विद्यते तत्सर्वं कुशलश्चासौ परिणामः सः अस्ति अस्य तत् कुशलपरिणामि मङ्गलप्रदं भवतु । अपरासामन्यासामपि देवतानां सपर्यां पूजां निर्वर्तयामि सम्पादयामि ।

राजेति—संज्ञया संकेतेन परिजनं सेवकजनमुत्सार्य दूरीकृत्य । भानुमत्याः स्पर्शसुखम् अभिनीय अभिनयं कृत्वा ।

वधू के मुख-मण्डनार्थ कुंकुम-विशेष ! समस्त विश्व के एकमात्र रत्नप्रदीप ! इस स्वप्न में जो कुछ भी अमङ्गल-मय है वह सब कुछ आपको (मेरे) प्रणाम के प्रताप से अपने भाइयों सहित मेरे पति के लिये शुभ फल-प्रद हो । तरलिके ! मुझे (कुछ और) फूल लाओ जिस से मैं दूसरे देवताओं की भी पूजा कर सकूं ।

(यह कह कर फूल लेने के लिये दोनों हाथ पसारती है ।)

(राजा संकेत से परिजन को दूर करके स्वयं फूल लाकर देता है और भानुमती के स्पर्श-सुख का अभिनय करते हुए उन फूलों को पृथ्वी पर गिरा देता है ।)

भानुमती—(रोष के साथ) ओह ! नौकर का यह प्रमाद !

(घूम कर राजा को देख कर घबराती हुई) हैं ! क्या आर्यपुत्र हैं !

१. गु. 'परिवृत्य राजानमवलोक्य ससाध्वसं लज्जां नाटयति' इति पा. ।

राजा—देवि ! अनिपुणः परिजनोऽयमेवंविधे सेवाऽवकाशे । तत्प्रभवत्यनुशासने देवी ।

([1]भानुमती लज्जां नाटयति)

राजा—अयि प्रिये !

विकिर धवलदीर्घापाङ्गसंसर्पि चक्षुः,
परिजनपथवर्तिन्यत्र किं संभ्रमेण ।
स्मितमधुरमुदारं देवि ! मामालपोच्चैः,
प्रभवति मम पाण्योरञ्जलिः सेवितुं त्वाम् ॥१६॥

देवीति—अयं दुर्योधनाख्यस्ते परिजनः सेवक एवंविधे ईदृशे पुष्पादिप्रदानरूपे सेवावकाशे सेवावसरे अनिपुणोऽकुशलः खल्वास्ते । तद् भवती अनुशासने दण्डप्रदाने प्रभवति समर्थाऽस्ति ।

विकिरेति—(अन्वयः) परिजनपथवर्तिनि अत्र धवलदीर्घापाङ्गसंसर्पि चक्षुः विकिर । सम्भ्रमेण किम् ? हे देवि ! स्मितमधुरम् उदारम् (च) माम् उच्चैः आलप । मम पाण्योः अञ्जलिः त्वां सेवितुं प्रभवति ।

(व्याख्या) परिजनानां सेवकानां पन्थाः परिजनपथस्तस्मिन् वर्तितुं शीलमस्य तस्मिन् अत्र मयि दुर्योधने धवलं स्वच्छं दीर्घं विस्तृतं यद् अपाङ्गं तत् संसर्पितुं शीलं यस्य तत् तथाविधं चक्षुः विकिर प्रक्षिप ।

राजा—देवि ! यह सेवक इस प्रकार के सेवा-कार्य मे (पूर्णरूप से) कुशल नहीं है । इस लिये इसे दण्ड देने का आप को पूर्ण अधिकार है ।

(भानुमती कुछ लज्जा का अभिनय करती है ।)

राजा—अयि प्रिये !

अपने धवल एवं विस्तृत अपाङ्ग तक फैले हुए नेत्रों से सेवक के रूप में उपस्थित मुझ दुर्योधन की ओर देखो । घबराती क्यों हो ? हे देवि ! मधुर

१. ग. अयं पा. अत्र नास्ति ।

भानुमती—अज्जउत्त ! [1]अब्भणुजाणादु मं महाराजाओ अत्थि मे कस्सिं वि णिअमे अहिलासो।

(आर्यपुत्र ! अभ्यनुजानातु मां महाराजः, अस्ति मे कस्मिन्नपि नियमेऽभिलाषः।)

राजा—श्रुतविस्तार[2] एवाऽस्मि भवत्याः स्वप्रवृत्तान्तं प्रति। तदलमेवं[3] प्रकृतिसुकुमारमात्मानं खेदयितुम्।

संभ्रमेणोद्वेगेन किं प्रयोजनमित्यर्थः ? हे देवि ! स्मितेन मृदुहास्येन मधुरमुदारं मनोहरं च यथा स्यात्तथा मां दुर्योधनम् उच्चैः आलप भाषस्व। मम पाण्योर्हस्तयोरञ्जलिस्त्वां सेवितुं प्रभवति समर्थः। साञ्जलिरयं दुर्योधनस्ते सेवायामुपस्थितोऽतो मां स्नेहमधुरेण चक्षुषा विलोक्य ममापराधं क्षन्तुमर्हति देवीति भावः। मालिनीवृत्तं, 'ननमययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इति तल्लक्षणात्।

आर्यपुत्रेति—महाराजो मां भानुमतीमभ्यनुजानातु आज्ञापयतु। मे कस्मिँश्चिद् नियमे व्रतेऽभिलाष इच्छा वर्तते।

श्रुतविस्तार इति—श्रुतः विस्तारो येन सः। प्रकृत्या सुकुमारम्। खेदयितुमायासयितुम्। अलमिति निषेधार्थेऽव्ययम्।

हास्य तथा उदारता के साथ मुझ से अच्छी प्रकार से सम्भाषण कीजिये। मेरी यह हस्ताञ्जलि आपकी सेवा करने के लिये प्रस्तुत है।॥१६॥

भानुमती—आर्यपुत्र ! मुझे आज्ञा दीजिये। मेरी इच्छा किसी व्रत का पालन करने की है।

राजा— मैं ने आपके स्वप्न का समस्त वृत्तान्त विस्तार-पूर्वक सुन लिया है। इस लिये स्वभावतः सुकुमार इस शरीर को व्यर्थ कष्ट देने की आवश्यकता नहीं है।

१. G. 'अब्भणुण्णादाए तुए' इति पा.। २. G. 'विस्तरः' इति पा.। ३. गु. 'एवम्' इति पा.नास्ति।

भानुमती—अज्जउत्त ! अदिमेत्तं मे संका बाहेइ । ता अणुमण्णदु मं अज्जउत्तो ।

(आर्यपुत्र ! अतिमात्रं मां शङ्का बाधते । तदनुमन्यता मामार्यपुत्रः ।)

राजा—(सगर्वम्) देवि ! अलमनया शङ्कया । पश्य—

किं नो व्याप्तदिशां प्रकम्पितभुवामक्षौहिणीनां फलं !
किं द्रोणेन किमङ्गराजविशिखैरेवं यदि क्लाम्यसि !
भीरु ! भ्रातृशतस्य मे भुजवनच्छायासुखोपास्थिता,
त्वं दुर्योधनकेसरीन्द्रगृहिणी शङ्कास्पदं किन्तव ? ॥१७॥

आर्यपुत्रेति--मामतिमात्रमत्यधिकं शङ्काऽमङ्गलाशङ्केत्यथः बाधते पीडयति । अतो भवान् मां देवताराधनां कर्तुमनुमन्यतामनुजानातु ।

किं नो इति—(अन्वयः) यदि (त्वम्) एवं क्लाम्यसि (तर्हि) व्याप्तदिशां प्रकम्पितभुवां नः अक्षौहिणीनां किं फलम्, द्रोणेन किम्, अङ्गराजविशिखैः (वा) किम् ? हे भीरु ! त्वं मे भ्रातृशतस्य भुजवनछाया-सुखोपास्थिता दुर्योधनकेसरीन्द्रगृहिणी (असि) तव किं शङ्कास्पदम् ।

(व्याख्या) यदि त्वमेवं क्लाम्यसि खिद्यसे तर्हि व्याप्ता दिशो याभिस्तासां प्रकम्पिता भूर्भूतलं याभिस्तासां नोऽस्माकमक्षौहिणीनां सेनानां किं फलं, न किमपीत्यर्थः, द्रोणाचार्येण अङ्गराजस्य कर्णस्य विशिखैर्बाणैर्वा किं फलम् ? । हे भीरु ! हे कातरस्वभावे ! त्वं मे मम दुर्योधनस्य भातृणां शतस्य भुज एव वनं काननं तस्य छायायां सुखं

भानुमती—आर्यपुत्र ! मुझे अमङ्गल की बड़ी आशङ्का हो रही है । इसलिये मुझे आप (व्रत करने की) अनुमति अवश्य दीजिये ।

राजा—(गर्व के साथ) देवि ! यह आशङ्का मत करो, देखो—

यदि तुम्हें (भी) इस प्रकार क्लेश उठाना पड़े तो समस्त दिशाओं में फैली हुई तथा भूमण्डल को प्रकम्पित कर देने वाली मेरी अक्षौहिणी सेनाओं का क्या

भानुमती—अज्जउत्त ! ण हि किं वि मे सङ्काकालणं तुह्मेसु सण्णि-हिदेसु, किएणु अज्जउत्तस्स एव्व मणोरहसंपत्तिं अहिणंदामि ।

(आर्यपुत्र ! नहि किमपि मे शङ्काकारणं युष्मासु सन्निहितेषु, किन्तु आर्य-पुत्रस्यैव मनोरथसम्पत्तिमभिनन्दामि ।)

राजा—अयि सुन्दरि ! एतावन्त एव मनोरथा यदहं दयितया संगतः स्वेच्छया विहरामीति । पश्य—

यथा स्यात्तथा उपस्थिता सुखेनोपविष्टा सती दुर्योधन एव केसरीन्द्रो हरीन्द्रः सिंहाधिराज इत्यर्थस्तस्य गृहिणी पत्नी असि । तव किं शङ्काया आस्पदं स्थानं कारणमित्यर्थः, अस्तीति शेषः । न किमपीत्यर्थः । शार्दूल-विक्रीडितं छन्दः, 'सूर्याश्वैर्यदि मासजः सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' इति तल्लक्षणात् ।

आर्यपुत्रेति—युष्मासु सन्निहितेषु समीपस्थितेषु न किमपि शङ्कायाः कारणं विद्यते । अहन्तु भवतो मनोरथस्य मनःकामनायाः सम्पत्तिं सिद्धिमेव अभिनन्दामि भगवन्तं प्रार्थये । भवन्मनोरथसिद्ध्यर्थमेवा-ऽहं व्रतमनुष्ठातुमिच्छामीत्यर्थः ।

अयीति—दयितया भार्यया भवत्या संगतः सहितोऽहं विहरामि विहारं करोमि ।

फल है ? द्रोणाचार्य की शस्त्र-विद्या और कर्ण के तीक्ष्ण बाणों का क्या लाभ है ? हे भीरु ! मेरे सौ भाइयों की भुजाओं के वन की छाया मे सुख-पूर्वक स्थित तुम मुझ दुर्योधन-रूपी मृगेन्द्र की पत्नी हो । तुम्हें किसका भय है ?

भानुमती—आर्यपुत्र ! आपके पास रहते हुए मुझे कुछ भी शङ्का नहीं है । किन्तु आर्यपुत्र की मनोरथ सिद्धि के लिए ही मैं यह व्रत करना चाहती हूँ ।

राजा—हे सुन्दरि ! मेरा मनोरथ तो यही है कि मैं अपनी प्रेमिका के साथ स्वेच्छया सानन्द विहार करूँ । देखो—

प्रेमाऽऽबद्धस्तिमितनयनाऽऽपीयमानाब्जशोभं,
लज्जायोगादविशदकथं मन्दमन्दस्मितं वा ।
वक्त्रेन्दुं ते नियममुषितालक्तकाङ्काऽधरं वा,
पातुं वाञ्छा परमसुलभं किं नु दुर्योधनस्य ? ॥१८॥

प्रेमाबद्धेति—(अन्वयः) प्रेमाबद्धस्तिमितनयनापीयमानाब्जशोभं लज्जायोगाद् अविशदकथं मन्दमन्दस्मितं वा नियममुषितालक्तकाङ्काधरं वा ते वक्त्रेन्दुं पातुम् इच्छा (मे सदैव वर्तते) । (अतः) परं किं नु दुर्योधनस्य असुलभम् (अस्ति) ।

(व्याख्या) प्रेम्णा स्नेहेन आबद्धे अतएव स्तिमिते निश्चले ये नयने नेत्रे ताभ्यामापीयमाना तिरस्क्रियमाणा अब्जस्य कमलस्य शोभा येन तं तथाभूतं लज्जाया व्रीडाया योगान् सम्बन्धाद् अविशदा अविस्पष्टा कथाऽऽलापो यस्य तं मन्दमन्दं स्मितं यस्मिन् तं मन्दहास्ययुक्तं, नियमेन व्रतेन मुषितः अपहृतः अलक्ताङ्कः यावकचिह्नं यस्य तादृशः अधरः यस्मिँस्तथाभूतं ते वक्त्रेंदुं मुखचन्द्रं पातुमास्वादयितुं मे इच्छा सदैव वर्तते । अतः परं मे मम दुर्योधनस्य किं नु किं नामाऽसुलभं दुर्लभमस्ति, न किमपीत्यर्थः । ते वक्त्रेन्दुपानमेवाऽसुलभमन्यत् सर्वं सुलभमित्यर्थः । मन्दाक्रान्ता छन्दः, 'मन्दाक्रान्ताऽम्बुधिरसनगैर्मो भनौ तौ गयुग्मम्' इति तल्लक्षणात् ॥१८॥

प्रेम-पूर्ण एवं निश्चल नेत्रों से कमल की शोभा को भी तिरस्कृत करने वाले, लज्जा-वश अस्पष्ट बोलने वाले, मन्द-मन्द मुस्कारते हुए तथा व्रतपालन करने के कारण यावकचिह्न-रहित अधरोष्ठ से युक्त तुम्हारे इस मुखचन्द्र का पान करने की ही मेरी एकमात्र इच्छा है । इसके अतिरिक्त दुर्योधन को संसार में क्या दुर्लभ है ॥१८॥

(नेपथ्ये महान् कलकलः । सर्वे आकर्णयन्ति ।)

भानुमती—(सभयं राजानं परिष्वज्य) परित्ताअदु परित्ताअदु अज्जउत्तो ।

([सभयं राजानं परिष्वज्य] परित्रायतां परित्रायतामार्यपुत्रः ।)

राजा—(समन्तादवलोक्य) प्रिये ! अलं सम्भ्रमेण । पश्य—

दिक्षु व्यूढांघ्रिपाङ्गस्तृणजटिलचलत्पांसुदंडोऽन्तरिक्षे,
झाङ्कारी शर्करालः पथिषु विटपिनां स्कन्धकाषैः सधूमः ।
प्रासादानां निकुञ्जेष्वभिनवजलदोद्गारगम्भीरधीर—
श्चण्डारम्भः समीरो वहति परिदिशं भीरु ! किं सम्भ्रमेण ॥१६॥

सभयमिति । भयेन सहितं यथा स्यात्तथा सभयं सत्रासमित्यर्थः । राजानं दुर्योधनं परिष्वज्याऽऽलिङ्ग्य ।

भानुमत्यां स्वस्नेहाधिक्यं दर्शयन्नेवाह दुर्योधनः—

दिक्षु इति । (अन्वयः) दिक्षु व्यूढांघ्रिपाङ्गः, अन्तरिक्षे तृणजटिलचलत्पांशुदण्डः, पथिषु झांकारी शर्करालः विटपिनां स्कन्धकाषैः सधूमः, प्रासादानां निकुञ्जेषु अभिनवजलोद्गारगम्भीरधीरः चण्डारम्भः समीरः परिदिशं वहति । (हे) भीरु ! सम्भ्रमेण किम् !

(व्याख्या) दिक्षु दिशासु व्यूढानि इतस्ततो नीतानि, विकीर्णानीत्यर्थः, अङ्घ्रिपाणां वृक्षाणामङ्गानि येन सः, अन्तरिक्षे आकाशे तृणैर्जटिलो व्याप्तः चलंश्च पांसूनां दण्डो दण्डाकारो

(नेपथ्य में बड़ा भारी कोलाहल होता है । सब लोग बड़े ध्यान से सुनते हैं ।)

भानुमती—(भयपूर्वक राजा का आलिङ्गन कर के) आर्यपुत्र ! बचाइये, बचाइये ।

राजा—(चारों तरफ देख कर) प्रिये ! डरो मत । देखो—

जिसने वृक्षों के अङ्गों को विभिन्न दिशाओं में बखेर दिया है, जो आकाश

सखी—महाराओ[1] पविसदु एदं दारुपव्वअपासादम् । उव्वेअकारी क्खु अअं उत्थिद परुसरअकलुसीकिदणअणो उम्मूलिद[2]-तरुवर-सद्द-वित्तत्थ-मन्दुरापरिब्भट्ठवल्लहतुरङ्गमपज्जाउलीकिदजणपद्धइभीसणो [3]समीरणो ।

(महाराजः प्रविशतु एतं दारुपर्वतप्रासादम् । उद्वेगकारी खल्वयम् उत्थित-परुष-रजः-कलुषीकृतनयन उन्मूलित-तरुवर-शब्द-वित्रस्त-मन्दुरापरिभ्रष्ट-वल्लभ-तुरङ्गम-पर्याकुलीकृत-जन-पद्धतिर्भीषणः समीरणः ।)

धूलिर्यस्मिन् सः, पथिषु मार्गेषु झाङ्कारोऽव्यक्तशब्दो विद्यतेऽस्येति झाङ्कारी अव्यक्तध्वनिमयः, शर्कराः सन्त्यस्याऽसौ शर्करालः शर्करावान् प्रासादानां निकुंजेषु विटपिनां वृक्षाणां स्कन्धानां काषैरन्योन्यसंघर्षणैः सधूमो धूमेन सहितः, अभिनवो नूतनो यो जलदो मेघस्तस्य उद्गार इव गर्जितमिव गम्भीरः धोरश्च चण्डः आरम्भ उपक्रमो यस्य स तथाविधः सम्यग् ईरयति प्रेरयतीति समीरो वायुः दिशि-दिशि परिदिशं, वीप्सार्थेऽव्ययीभावः, वहति वाति, प्रचलतीत्यर्थः । हे भीरु ! कातरस्वभावे ! सम्भ्रमेण भयेन किम् ? को लाभ इत्यर्थः ॥ स्रग्धरा छन्दः, 'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुतास्रग्धरा कीर्तितेयम्' इति तल्लक्षणात् ॥१६॥

महाराज इति—दारुनिर्मितो यः पर्वतः दारुपर्वतः, मध्यमपदलोपितत्पुरुषः, तत्र स्थितं प्रासादं महाराजः प्रविशतु । उत्थितं यत्परुषं रजो

में तृण-जटिल एवं चञ्चल पांशु-दण्ड के समान दीख रहा है, जो मार्गों में झञ्झा शब्द करता हुआ बालु-कणों से व्याप्त है, जो राजप्रासादों के उद्यानों में वृक्षों के स्कन्ध-संघर्षण से उत्पन्न धूएँ से व्याप्त है तथा जो नवीन मेघों की गर्जना के समान धीर एवं गम्भीर है, ऐसा यह भीषण वायु चारों दिशाओं में चल रहा है । हे भीरु ! डरो मत ।

१. गु. 'महाराअ !' इति पा. । २. गु. 'विदलिद' इति पा. । ३. गु. '०रणासारो' इति पा. ।

राजा—(सहर्षम्) उपकारि खल्विदं वात्याचक्रं सुयोधनस्य । यस्य प्रसादादयत्नपरित्यक्तनियमया देव्या सम्पादितोऽस्मन्मनोरथः । कथमिति ?

धूलिः, तेन कलुषी कृते नयने नेत्रे येन सः, उन्मूलिता उत्क्षिप्ताः ये तरुवराः महान्तस्तरवस्तेषां शब्देन वित्रस्ता विशेषेण भीताः अत एव मन्दुरायाः वाजिशालायाः परिभ्रष्टाः वल्लभाः श्रेष्ठाः तुरंगमाः अश्वास्तैः पर्याकुलीकृता विनाशिता जनानां पद्धतिर्येनाऽसौ भीषणो भयानकः समीरणो वायुः ।

उपकारीति—वातानां समूहो वात्या, वात्यायाः चक्रं वात्याचक्रं भ्रमिवायुत्वक्रम् । यस्य वात्याचक्रस्य । अयत्नेन स्वयमेव परित्यक्तो नियमो यया तया देव्या भानुमत्या आलिङ्गनादिरूपोऽस्माकं मनोरथः सम्पादितः साधितः ।

सखी—महाराज ! दारु-निर्मित पर्वत पर स्थित प्रासाद में प्रवेश कीजिये । यह वायु बड़ा भीषण एवं उद्वेगकारी है । इसने उद्धत एवं कठोर धूलि से नेत्रों को अन्धा बना दिया है और उन्मूलित वृक्षों के (भयंकर) शब्द से भयभीत होने के कारण अश्वशाला से (निकलकर) भागे हुए सुन्दर-सुन्दर घोड़ों से मनुष्यों के मार्ग को अवरुद्ध कर दिया है ।

राजा—(हर्ष-पूर्वक) इस आँधी (=वात्याचक्र) ने मेरा बड़ा उपकार किया है । इसकी कृपा से मेरे प्रयत्न किये बिना ही रानी ने व्रत का परित्याग कर मेरा मनोरथ सिद्ध कर दिया है । क्योंकि—

न्यस्ता न भ्रुकुटिर्न वाष्पसलिलैराच्छादिते लोचने,
नीतं नाननमन्यतः सशपथं नाहं स्पृशन् वारितः ।
तन्व्या मग्नपयोधरं भयवशादाबद्धमालिङ्गितं[1],
भङ्क्ताऽस्या नियमस्य भीषणमरुन्नाऽयं वयस्यो नु मे[2] ॥२०॥

कथं केन प्रकारेण साधित इति तदेव प्रदर्शयन्नाह न्यस्तेति ।

(अन्वयः) भ्रुकुटिः न न्यस्ता, लोचने वाष्पसलिलैः न आच्छादिते, आननम् अन्यतः न नीतम्, स्पृशन् अहं सशपथं न वारितः, (किन्तु) तन्व्या भयवशाद् आलिङ्गितं मग्नपयोधरम् आबद्धम् । अस्याः नियमस्य भङ्क्ता अयं भीषणमरुत् मम वयस्यो न (किम् ?)

(व्याख्या) अनया भ्रुकुटिर्भ्रूभङ्गो न न्यस्ता न विहिता, क्रोधेन भ्रूभङ्गो न प्रदर्शितः । लोचने नेत्रे वाष्पसलिलैर्नयनजलैरश्रुभिरित्यर्थः न आच्छादिते न आच्छन्ने, आननं मुखमन्यतो न नीतम्, स्पृशन् तामालिङ्गन् अहं तया सशपथं शपथं दत्त्वेत्यर्थः न वारितो न निवारितः किन्तु तन्व्या कृशाङ्ग्या अनया भयवशात् मग्नौ पयोधरौ यस्मिन् कर्मणि तद् यथा तथा आलिङ्गितमालिङ्गनमाबद्धं कृतम् । एवं चाऽस्या भानुमत्या नियमस्य भङ्क्ता भञ्जकोऽयं भीषणो भयंकरो मरुद् वायुः मम दुर्योधनस्य वयस्यः सुहृद् नास्ति किम् ? महोपकारित्वाद् मम मित्रमेवाऽस्तीत्यर्थः । शार्दूलविक्रीडितं छन्दः, 'सूर्याश्वैर्यदि मासजः सततगा शार्दूलविक्रीडितम्' इति तल्लक्षणात् ॥२०॥

इसने न तो (क्रोध से) भ्रकुटि टेढ़ी की, न आँसुओं से आँखें भरी, न (संकोचवश) मुँह को दूसरी ओर किया और न स्पर्श करते हुए मुझे (किसी की) सौगन्ध दिला कर दूर हटाया, प्रत्युत भय-वश मेरी छाती मे मुँह छिपाकर इसने मुझसे बहुत प्रगाढ आलिङ्गन किया है । इस प्रकार इसके नियम को भङ्ग करने वाला यह भीषण वायु क्या मेरा मित्र नहीं है ?

१. गु. 'तुम्' इति पा. । २. G. 'नु मे' इत्यस्य स्थाने 'मम' इति पा. ।

तत्सम्पूर्णमनोरथस्य मे कामचारः सम्प्रति विहारेषु। तदितो दारु-पर्वतप्रासादमेव गच्छामः।

(सर्वे वात्याबाधां रूपयन्तो यत्नतः परिक्रामन्ति।)

राजा—

कुरु घनोरु ! पदानि शनैः शनै-
रयि ! विमुञ्च गतिं परिवेपिनीम्।
सुतनु ! बाहुलतो[1]परिबन्धनं
मम निपीडय गाढमुरःस्थलम् ॥२१॥

तदिति—तद् मे प्रियाया भानुमत्या व्रतस्य भग्नत्वात् सफलो मनोरथो यस्य तस्य तथाविधस्य मे विहारेषु विलासक्रीडासु कामेन स्वेच्छयाऽऽचार आचरणं भवेत्।

सर्वे इति—रूपयन्तो नाटयन्तोऽभिनयन्त इत्यर्थः। यत्नतो यत्नेन यथाकथञ्चिदित्यर्थः। परिक्रामन्ति इतस्ततो गच्छन्ति।

कुरु इति—(अन्वयः) (हे) घनोरु ! पदानि शनैः शनैः कुरु। अयि (प्रिये) परिवेपिनीं गतिं विमुञ्च। (हे) सुतनु ! मम उरःस्थलम् बाहु-लतोपरिबन्धनं गाढं निपीडय।

(व्याख्या) घनौ उरू यस्यास्तत्सम्बुद्धौ हे घनोरु ! हे पीवरजङ्घे ! पदानि शनैः-शनैः कुरु विधेहि। अयि प्रिये ! परिवेपः प्रकम्पो विद्यते अस्याः सा तां गतिं विमुञ्च त्यज, हे सुतनु ! कृशाङ्गि ! मम उरःस्थलं

इस लिये सम्पूर्ण मनोरथ सिद्ध हो जाने के कारण मैं अब विहारादि करने में स्वतन्त्र हूँ। अतः अब यहाँ से दारुपर्वत-प्रासाद पर ही चलते हैं।

(सब लोग आँधी के कष्ट का अभिनय करते हुए बड़े यत्न के साथ आगे चलते हैं।)

१. गु. '०तोपनि०' इति पा.।

(प्रवेशं रूपयित्वा) प्रिये ! अलब्धावकाशः समीरणः संवृतत्वाद् गर्भगृहस्य । विस्रब्धमुन्मीलय चक्षुरुन्मृष्टरेणुनिकरम् ।

भानुमती—(सहर्षम्) दिट्ठिआ इह[1] दाव[1] उप्पादसमीरणो[2] ण बाधेइ ।

([सहर्षम्] दिष्ट्या इह तावद् उत्पातसमीरणो न बाधते ।)

वक्षःस्थलं बाहुलते उपरिबन्धनं यस्मिन् कर्मणि तद् यथा तथा गाढं निपीडय गाढमालिङ्ग । द्रुतविलम्बितं छन्दः, 'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति तल्लक्षणात् ।।२१।।

प्रिये इति—न लब्धः अवकाशः प्रवेशो येन सः समीरणो वायुः । संवृतत्वात् कपाटादिना परिवृतत्वात् । गर्भगृहस्य गृहस्याऽऽन्तरिकभागस्येत्यर्थः । उन्मृष्टः प्रोञ्छितः रेणुनिकरो रजःसमूहो यस्मात्तच्चक्षुर्विस्रब्धं निर्भयमुन्मीलयोद्घाटय ।

दिष्ट्येति—उत्पातभूतः समीरण उत्पातसमीरण उत्पातकारको वायुरित्यर्थः ।

राजा—अयि घनोरु ! इस कम्पित गति को छोड़कर धीरे-धीरे चलो । हे तन्वङ्गि ! मेरे वक्षःस्थल पर अपनी भुज-लताओं से गाढालिङ्गन करो ।।२१।।

(दारु-पर्वत-प्रासाद में प्रवेश करके) प्रिये ! इस कमरे के चारों ओर से बन्द होने के कारण यहाँ हवा बिल्कुल नहीं आ रही है । इस लिये निश्चिन्तता के साथ धूलि पोंछकर आँखें खोलो ।

भानुमती—(हर्षपूर्वक) सौभाग्य से यहाँ उत्पातवायु मुझे (किसी प्रकार की) पीड़ा नहीं दे रहा है ।

१. गु. अयं पा. नास्ति । २. गु. '०रणासारो' इति पा. ।

सखी—महाराअ[1] ! आरोहणसंभमणिस्सहं पिअसहीए ऊरुजुअलं। ता कीस दाणीं महाराओ आसणवेदीं ण भूसेदि[2] ?

(महाराज ! आरोहणसम्भ्रमनिःसहं प्रियसख्या ऊरुयुगलम् । तत् कस्मादिदानीं महाराज आसनवेदीं न भूषयति ?)

राजा—(देवीमवलोक्य) भवति ! अनल्पमेवाऽपकृतं वात्यासम्भ्रमेण । तथाहि—

रेणुर्बाधां विधत्ते तनुरपि महतीं नेत्रयोरायतत्त्वा-
दुत्कम्पोऽल्पोऽपि पीनस्तनभरितमुरः क्षिप्तहारं दुनोति ।
ऊर्वोर्मन्देऽपि याते पृथुजघनभराद् वेपथुर्वर्धतेऽस्या
वात्याखेदं मृगाक्ष्याः सुचिरमवयवैर्दत्तहस्ताकरोति ।।२२।।

(सर्वे उपविशन्ति ।)

महाराजेति—आरोहणे यः सम्भ्रमो वेगः तेन निःसहं निश्चलं प्रियसख्या भानुमत्या ऊरुयुगलं जङ्घाद्वयं वर्तते । आसनवेदीमासन्दीं वेत्रासनं वा ।

भवतीति—वातानां समूहो वात्या तस्याः सम्भ्रमेण । न अल्पमनल्पमत्यधिकमित्यथः ।

रेणुरिति—(अन्वयः) तनुः अपि रेणुः (अस्याः) नेत्रयोः आयतत्वात् महतीं बाधां विधत्ते । अल्पः अपि उत्कम्पः पीनस्तनभरितम् उरः क्षिप्तहारं दुनोति । मन्दे अपि याते पृथुजघनभरात् अस्याः वेपथुः वर्धते । मृगाक्ष्या अवयवैः दत्तहस्ता वात्या (अस्याः) सुचिरं खेदं करोति।

सखी—महाराज ! प्रिय सखी की दोनों जंघाएँ (सीढ़ियों पर) चढ़ने में वेग के कारण अकड़ गई हैं । इस लिये अब आप आसनवेदी को अलंकृत क्यों नहीं करते ?

राजा—(महारानी भानुमती को देखकर) अयि सुवदने ! इस उत्पात-वायु ने आपकी प्रिय-सखी को बड़ा कष्ट दिया है, क्योंकि—

---

१. G. अयं पा. नास्ति । २. गु. 'अणुभूसेति' इति पा.

राजा—तत्किमित्यनास्तीर्णे कठिनशिलातलमध्यास्ते देवी ? यतः—

(व्याख्या) तनुः स्वल्पोऽपि रेणुरस्या नेत्रयोर्नयनयोरायतत्वाद् विशालत्वाद् महतीं बाधां पीडां विधत्ते। अल्पः स्वल्पोऽपि उत्कम्पः प्रकम्पः भरः भारः संजातः अस्य तद् भरितं, पीनाभ्यां परिपुष्टाभ्यां स्तनाभ्यां भरितं भृतं क्लिष्टः हारो यस्मिन् तद् उरो वक्षःस्थलं दुनोति पीडयति। किञ्च मन्देऽपि याते गमने पृथुनो महतः जघनस्य नितम्बस्य यो भरो भारस्तस्माद् अस्या भानुमत्या ऊर्वोर्जंघयोः वेपथुः कम्पनं वर्धते। अतः मृगस्य हरिणस्य अक्षिणीव अक्षिणी नेत्रे यस्यास्तस्या अवयवैर्नेत्रादिभिः दत्तः हस्तोऽवलम्बो यस्यै सा तथाभूता वात्या उत्पातवातसमूहः सुचिरं खेदं पीडां करोति। वातस्तस्या अङ्गानि च तां बहुतरं पीडयन्तीति भावः। स्रग्धरा छन्दः, 'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्' इति तल्लक्षणात् ॥२२॥

तत्किमिति—न आस्तीर्णमनास्तीर्णम् आस्तरणरहितम्। कठिनं च तत् शिलातलम्।

नेत्रों के विशाल होने के कारण थोड़ी-सी भी वायु इसे बहुत पीड़ा दे रही है, थोड़ा-सा भी शारीरिक कम्पन पीन स्तनों से भरे हुए एवं हार से अलंकृत इसके उरःस्थल को पीडित कर रहा है, थोड़ा-सा चलने पर भी स्थूल जघन-स्थल के भार से इसकी जंघाओं मे कम्पन हो रहा है, और (स्वयं) मृगाक्षी के अङ्गों से सहायता पाकर यह उत्पात-वायु इसे बहुत देर से कष्ट दे रहा है ॥२२॥

(सब लोग बैठ जाते हैं ।)

राजा—देवि ! बिना बिछाए ही आप इस कठोर शिलातल पर क्यों बैठ गई हैं ! क्योंकि—

लोलांशुकस्य पवनाकुलितांशुकान्तं-
त्वद्दृष्टिहारि मम लोचनबान्धवस्य ॥
अध्यासितुं तव चिरं जघनस्थलस्य,
पर्याप्तमेव करभोरु ! ममोरुयुग्मम् ॥२३॥

लोलांशुकस्येति—(अन्वयः) हे करभोरु ! पवनाकुलितांशुकान्तम् (अतएव) त्वद्दृष्टिहारि मम उरुयुग्मं लोलांशुकस्य (अतएव) मम लोचनबान्धवस्य तव जघनस्थलस्य चिरम् अध्यासितुम् पर्याप्तमेव ।

(व्याख्या) करभ इव ऊरू यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ हे करभोरु! 'मणिबन्धादाकनिष्ठं करस्य करभो बहिः' इत्यमरः। पवनेन वायुना आकुलितो निजस्थानाद् व्यस्तः अंशुकस्य वस्त्रस्य अन्तः यस्य तत्, अत एव तव दृष्टिं हर्तुं शीलं यस्य तत् त्वद्दृष्टिहारि त्वल्लोचनाकर्षकम् मम उरुयुग्मं जंघाद्वयं लोलं चञ्चलमंशुकं वस्त्रं यस्य तस्य अत एव मम लोचनयोर्नेत्रयोर्बान्धवस्य मित्रस्य तव जघनं स्थलमिव तस्य जघनस्थलस्य चिरम् अध्यासितुम् उपवेष्टुं पर्याप्तमेव उचितमेवेत्यर्थः। वसन्ततिलका छन्दः, 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति तल्लक्षणात् ॥२३॥

हे करभोरु! मेरा यह ऊरु-युगल, जिसका वस्त्र हवा से इधर-उधर उड़ रहा है तथा जो तुम्हारे नेत्रों को आनन्द देने वाला है, तुम्हारे इस जघन-स्थल के, जिसका वस्त्र वायु से चञ्चल हो रहा है और जो मेरे नेत्रों के लिये बन्धु-स्वरूप है, पर्याप्त समय तक बैठने के लिये उपयुक्त स्थान है ॥२३॥

(प्रविश्य पटाक्षेपेण सम्भ्रान्तः)

कञ्चुकी—देव ! भग्नं भग्नम् ।

(सर्वे [1]सातङ्कं पश्यन्ति)

राजा—केन ?

कञ्चुकी—देव[2] ! भीमेन ।

राजा—कस्य ?

कञ्चुकी—भवतः ।

राजा—आः ! किं प्रलपसि ।

भानुमती—अज्ज ! किं अणत्थं मन्तेसि ?

(आर्य ! किमनर्थं मन्त्रयसि ?)

राजा—धिक् प्रलापिन् ! वृद्धापसद ! कोऽयमद्य ते व्यामोहः ?

धिगिति—वृद्धश्चासौ अपसदो नीचः । व्यामोहश्चित्तविक्षेपः ।

(पर्दा हटाकर घबराया हुआ प्रवेश करके)

कञ्चुकी—देव ! तोड़ दिया ! तोड़ दिया !

(सब लोग भय-पूर्वक उसकी ओर देखते हैं)

राजा—किसने (तोड़ दिया) ?

कञ्चुकी—देव ! भीम ने ।

राजा—किस का ?

कञ्चुकी—आपका ।

राजा—ओह ! मूर्ख ! क्या व्यर्थ की बात कर रहा है ?

भानुमती—आर्य ! यह क्या अमङ्गलमय बातें कर रहा है ?

राजा—धिक्कार, अरे मिथ्या-प्रलापिन् ! नीच वृद्ध ! आज तुझ पर यह क्या पागलपन सवार हो गया है ?

१. G. अयं पा. नास्ति । २. गु. 'साकूतम्' इति पा. ।

कञ्चुकी—देव न कश्चिद् व्यामोहः। सत्यमेव ब्रवीमि—

भग्नं भीमेन भवतो मरुता रथकेतनम्।
पतितं किङ्किणीकाणबद्धाक्रन्दमिव क्षितौ ॥२४॥

राजा—यदि बलवत्समीरणवेगात् कम्पिते भुवने भग्नः स्यन्दनकेतुस्तत्किमित्युद्धतं प्रलपसि—'भग्नं भग्नमि'ति ?

भग्नमिति—(अन्वयः) भीमेन मरुता भवतः रथकेतनं भग्नम्। (तच्च) किङ्किणीकाणबद्धाक्रन्दम् इव क्षितौ पतितम्।

(व्याख्या) भीमेन भयानकेन भीमसेनेन च मरुता वायुना वायुपुत्रेण च, 'आत्मा वै जायते पुत्रः' इत्यभेदोपचारात्, भवतो रथस्य केतनं चिह्नं भग्नम् तच्च किङ्किणीनां क्षुद्रघण्टिकानां काणेन शब्देन बद्धः कृतः आक्रन्दः रावः येन तत्तथाभूतमिव सत् क्षितौ भूमौ पतितम्। अनुष्टुप् छन्दः, श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पंचमम्। द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोरि'ति तल्लक्षणात्।

यदीति—बलवतः प्रबलस्य समीरणस्य वायोः वेगात्। स्यन्दनकेतुः रथध्वजः। उद्धतमुद्धतवत्।

कञ्चुकी—देव! कोई भी पागलपन नहीं है। मैं सच कह रहा हूँ कि:—

भीषण वायु ने आपके रथ की ध्वजा को तोड़ दिया है और वह छोटे-छोटे घुंघरुओं के शब्द के बहाने पृथ्वी पर पड़ी रो-सी रही है ॥२४॥

राजा—(मूर्ख!) जबकि प्रबल वायु के वेग से समस्त भूमण्डल ही प्रकम्पित हो उठा है तो यदि (मेरे) रथ की ध्वजा टूट भी गई तो क्या हो गया जिससे तुम पागलों की तरह 'तोड़ दिया, तोड़ दिया' चिल्ला रहे हो!

कञ्चुकी—देव ! न किञ्चित्, किन्तु 'शमनार्थमस्याऽनिमित्तस्य विज्ञापयितव्यो देव' इति स्वामिभक्तिर्मां मुखरयति ।

भानुमती—अज्जउत्त ! पडिहरीअदु[1] एदं अणिमित्तं पसण्णबह्मण-वेआणुघोसेण, होमेण अ ।

(आर्यपुत्र ! परिहार्यतामेतदनिमित्तं प्रसन्नब्राह्मणवेदानुघोषेण होमेन च ।)

राजा—(सावज्ञम्) ननु गच्छ, पुरोहितसुमित्राय निवेदय ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः । (इति निष्क्रान्तः ।)

देवेति—अस्याऽनिमित्तस्याऽशुभशकुनस्य शमनार्थं शान्त्यर्थं देवो भवान् विज्ञापयितव्यः सूचयितव्यः । मुखरयति मुखरं करोति, वक्तुं प्रेरयतीत्यर्थः ।

आर्यपुत्रेति—प्रसन्नेन ब्राह्मणेन वेदानुघोषेण वेदपाठेन होमेन यज्ञेन च एतद् अनिमित्तमपशकुनं परिहार्यतां दूरीकार्यताम् । स्वस्ति-वाचनादिना इदं दुःस्वप्नं परिहारयेत्यर्थः ।

कञ्चुकी—देव ! हुआ तो कुछ नहीं, परन्तु स्वामि-भक्ति मुझे प्रेरणा कर रही है कि मैं इस अपशकुन की शान्ति के लिये (यथाशीघ्र) आपको सूचित कर दूँ ।

भानुमती—आर्यपुत्र ! प्रसन्न(-चित्त) ब्राह्मणों के द्वारा वेद-ध्वनि एवं हवन कराकर इस अपशकुन को शान्त कराइय ।

राजा—(अपमान-पूर्वक) जा, पुरोहित सुमित्र के पास जाकर इन सब बातों की सूचना दे दे ।

कञ्चुकी—जैसी आपकी आज्ञा । (ऐसा कहकर चला जाता है ।)

---

१. G. 'अन्तरीअदु' इति पा. ।

(प्रविश्य) प्रतिहारी—(सोद्वेगमुपसृत्य) जअदु, जअदु महाराओ । महाराअ ! [1]एसा क्खु जामादुणो सिन्धुराअस्स [2]मादा दुस्सला अ पडिहारभूमीए चिट्ठदि ।

([सोद्वेगमुपसृत्य] जयतु, जयतु महाराजः। महाराज ! एषा खलु जामातुः सिन्धुराजस्य माता दुःशला च प्रतीहारभूमौ तिष्ठति ।)

राजा—(किञ्चिद् विचिन्त्याऽऽत्मगतम्[3]) किं 'जयद्रथमाता दुःशला चे'ति ? । कच्चिदभिमन्युवधामर्षितैः पाण्डुपुत्रैर्न किंचिदत्याहितमाचेष्टितं भवेत् । (प्रकाशम्) गच्छ, प्रवेशय शीघ्रम् ।

प्रतिहारी—जं महाराओ[4] आणवेदि (इति निष्क्रान्ता) ।

(यन् महाराज आज्ञापयति ।) [इति निष्क्रान्तः]

जयतु इति—जामातुः भगिनीपतेः सिन्धुराजस्य जयद्रथस्य । दुःशला दुर्योधनभगिनीनामेदम् । प्रतीहारभूमौ द्वारभूमौ द्वारदेशे इत्यर्थः ।

किं जयद्रथेति—अभिमन्योर्वधेन अमर्षितैः क्रुद्धैः पाण्डुपुत्रैः पाण्डवैः किञ्चिद् अत्याहितमाचेष्टितं कच्चित् ? कच्चिदनर्थो विहितः किम ?

प्रतिहारी—(प्रवेश करके, घबराई हुई पास में जाकर) महाराज की जय हो, जय हो । महाराज ! जामाता सिन्धुराज जयद्रथ की माता तथा दुःशला (=जयद्रथ की पत्नी) दरवाज़े पर खड़ी हैं ।

राजा—(कुछ सोचकर, मन ही मन) क्या कहा—'जयद्रथ की माता और दुःशला (दरवाज़े पर खड़ी हैं) ? । कहीं अभिमन्यु के वध से क्रोधाविष्ट होकर पाण्डवों ने कुछ अनर्थ तो नहीं कर डाला ? (प्रकट रूप में) जा, उन्हें शीघ्र (बुलाकर) ला ।

प्रतिहारी—जो महाराज की आज्ञा । (ऐसा कहकर चली जाती है ।)

१. G. इतः पूर्वे 'महादेवी' इति पा. । २. G. अयं शब्दः पूर्वेण समस्तः । ३. गु. 'स्वगतम्' इति पा. । ४. G. 'देवो' इति पा. ।

(ततः प्रविशति सम्भ्रान्ता जयद्रथमाता दुःशला च ।)

(उभे सास्रं दुर्योधनस्य पादयोः पततः ।)

माता—**पडित्ताश्रदु, पडित्ताश्रदु कुलुणाहो**[1] ।

(परित्रायतां, परित्रायतां कुरुनाथः ।)

(दुःशला रोदिति ।)

राजा—(ससम्भ्रममुत्थाप्य) **अम्ब । समाश्वसिहि, समाश्वसिहि । किमत्याहितम् ? । अपि कुशलं समराङ्गणेष्वप्रतिरथस्य जयद्रथस्य ? ।**

माता—**जाद ! कुदो कुसलम् ?**

(जात ! कुतः कुशलम् ? ।)

राजा—**कथमिव ? ।**

अम्बेति—समाश्वसिहि धैर्यं कुरु । अविद्यमानः प्रतिरथः प्रतिद्वन्द्वी यस्य तस्य जयद्रथस्य समराङ्गणेषु युद्धभूमिषु अपि कुशलम् ? ।

(इसके बाद घबराई हुई जयद्रथ की माता तथा दुःशला प्रवेश करती हैं ।)

(दोनों रोती हुई दुर्योधन के पैरों में गिरती हैं ।)

माता—कुरुनाथ ! बचाइये, बचाइये ।

(दुःशला रोती है ।)

राजा—(हड़बड़ाता हुआ दोनों को उठाकर जयद्रथ की माता से) माता जी ! धैर्य रखिये, धैर्य रखिये । क्या अनर्थ हो गया ? अद्वितीय वीर सिन्धुराज जयद्रथ रणभूमि में सकुशल तो हैं ?

माता—पुत्र ! कुशल कहाँ ?

राजा—क्यों क्या हुआ ?

---

१. G. 'कुमालो' इति पा. ।

माता—(साशङ्कम्) अज्ज क्खु पुत्तवहामरिसुद्दीविदेण गाण्डी-विणा अणत्थमिदे दिवहणाहे तस्स वहो पडिण्णादो।

([साशङ्कम्] अद्य खलु पुत्रवधामर्षोद्दीपितेन गाण्डीविना अनस्तमिते दिवसनाथे तस्य वधः प्रतिज्ञातः।]

राजा—(सस्मितम्) इदं [2]तदश्रुकारणमम्बाया दुःशलायाश्च। पुत्र-शोकादुन्मत्तस्य[3] किरीटिनः [4]प्रलापैरेवमवस्था। अहो मुग्धत्वमबला-नाम्[3]! अम्ब! कृतं विषादेन। वत्से दुःशले! अलमश्रुपातेन। कुतश्चाऽयं तस्य धनंजयस्य प्रभावो दुर्योधनबाहुपरिघरक्षितस्य महारथ[5]-जयद्रथस्य विपत्तिमुत्पादयितुम्?

अद्येति—पुत्रस्य अभिमन्योर्वधेन यः अमर्षः क्रोधस्तेन उद्दीपितेन प्रज्वलितेन, क्रुद्धेनेत्यर्थः, गाण्डीविनाऽर्जुनेन अनस्तमितेऽनस्तंगते दिवसनाथे सूर्ये। तस्य जयद्रथस्य।

इदमिति—उन्मत्तस्य प्रमत्तस्य किरीटिनोऽर्जुनस्य। प्रलापैर्निरर्थकै-र्वचोभिः। कृतमलं विषादेन दुःखेन। दुर्योधनस्य बाहू एव परिघौ अर्गलौ ताभ्यां रक्षितस्य।

माता—(आशङ्का-पूर्वक) अपने पुत्र अभिमन्यु की मृत्यु के कारण कोपाविष्ट होकर अर्जुन ने आज सूर्यास्त से पूर्व उसे मार डालने की प्रतिज्ञा की है।

राजा—(मुस्कराते हुए) क्या आपके एवं दुःशला के रोने का यही कारण है? पुत्रशोक के कारण पागल हुए अर्जुन के उन्मत्त-प्रलापों से आपकी यह दशा! ओह! स्त्रियाँ कितनी भोली होती हैं! माता जी! दुःख न करें। बहिन दुःशला! रोओ मत। दुर्योधन की परिघ-रूपी भुजाओं से सुरक्षित महारथी जयद्रथ को किसी प्रकार का कष्ट पहुँचाने की उस अर्जुन में कहां शक्ति है?

१. क्वचित् '०मरिसिदेण' (=°धामर्षितेन इति पा.। २. गु. 'तदस्र०' इति पा.। ३. गु. 'उत्तप्तस्य' इति पा.। ४. G. इतोऽग्रे 'नाम' इति पा.। ५. G. 'महाराज०' इति पा.।

माता—जाद, जाद ! दे हि पुत्तबन्धुवहामरिसुद्दीविदकोवाणला अणपेक्खिदसरीरा वीरा परिक्कमन्ति ।

(जात, जात ! ते हि पुत्रबन्धुवधामर्षोद्दीपितकोपानला अनपेक्षितशरीरा वीरा परिक्रामन्ति ।)

राजा—(सोपहासम्) एवमेतत्, सर्वजनप्रसिद्धमेवाऽमर्षित्वं[1] पाण्डवानाम् । पश्य—

हस्ताकृष्टविलोलकेशवसना दुःशासनेनाज्ञया,
पाञ्चाली मम राजचक्रपुरतो[3] गौर्गौरिति व्याहृता ।
तस्मिन्नेव स किन्नु गाण्डिवधरो नासीत् पृथानन्दनो,
यूनः क्षत्रियवंशजस्य कृतिनः क्रोधास्पदं किं न तत् ? ॥२५॥

जातेति—पुत्रश्च बन्धवश्च तेषां वधेन यः अमर्षः क्रोधस्तेन उद्दीपितः प्रज्वलितः कोपानलो येषां ते, अनपेक्षितमुपेक्षितं शरीरं यैस्ते तथाभूताः वीराः परिक्रामन्ति इतस्ततः सञ्चरन्ति ।

एवमिति—पाण्डवानाममर्षित्वम् असहनशीलत्वं सर्वेषु जनेषु प्रसिद्धमेव ।

हस्ताकृष्टेति—(अन्वयः) मम आज्ञया दुःशासनेन हस्ताकृष्टविलोल-केशवसना पांचाली राजचक्रपुरतः 'गौः गौः' इति व्याहृता । तस्मिन् एव (समये) स गाण्डिवधरः पृथानन्दनः न आसीत् किं नु ? क्षत्रिय-वंशजस्य कृतिनः यूनः तत् क्रोधास्पदं न किम् ?

माता—पुत्र ! पाण्डव लोग, जिनकी क्रोधाग्नि अभिमन्यु तथा अपने अन्य बन्धुओं की मृत्यु के कारण उद्दीप्त हो गई है, अपने शरीर की चिन्ता न करते हुए युद्ध-भूमि में इधर-उधर घूम रहे हैं।

राजा—(उपहास करते हुए) अच्छा, ऐसी बात है ! पाण्डवों का क्रोधी (=असहनशील) होना तो सर्व-विदित है । देखो :—

१. G. '°सिद्धैवाऽमर्षिता' इति पा. । २. गु. 'प्रलपितैः' इति पा. ।
३. गु. '°क्रसमितौ' इति पा. ।

(व्याख्या) मम दुर्योधनस्य आज्ञया दुःशासनेन हस्तेन आकृष्टम् अतएव विलोलं चञ्चलं केशवसनं यस्याः सा पांचाली द्रौपदी राजचक्रस्य राजसमूहस्य पुरतः समक्षं 'गौरहं गौरहमित्यतोऽहं भवद्भिः रक्षणीया' इत्येवमतिदीनस्वरेण व्याहृता व्याहृतवती, कथितवती। कर्तरि क्तः । यद्वा अन्तर्भावितण्यर्थात्√हृ इत्यतः क्तः प्रत्ययः । मया व्याहारितेत्यर्थः (तु. गु.) । तस्मिन्नेव समये द्रौपद्याः केशवसनाकर्षणकाले एव स गाण्डिवस्य धरो गाण्डिवधरो गाण्डीवधारी पृथानन्दनः पृथासूनुरर्जुनो न आसीत् किं नु किमु नाऽऽसीत् तत्र ? अपि तु आसीदेव । तत् स्ववधूकेशवसनापकर्षणं क्षत्रियवंशजस्य क्षत्रियकुलोत्पन्नस्य कृतिनः पुरुषार्थसम्पन्नस्य कुशलस्य यूनः युवकस्यार्जुनस्य क्रोधस्य आस्पदं स्थानं न आसीत् किम् ? आसीदेवेत्यर्थः। परन्तु तदाऽपि तेन कोधो न प्रदर्शितः इत्यतः स्पष्टमेव ज्ञायते यत् पाण्डवेषु स्वात्माऽभिमानसंरक्षणसामर्थ्यं नास्त्येव। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तं, 'सूर्याश्वैर्यदि मासजः सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' इति तल्लक्षणात् ॥२५॥

द्रौपदी, जिसके वस्त्र एवं केश मेरी आज्ञा से दुःशासन के द्वारा खींचे जाने के कारण कुछ ढीले हो गए थे, (मेरी सभा में) राजसमूह के समक्ष 'मैं गौ हूँ, मैं गौ हूँ' इस प्रकार चिल्ला रही थी। क्या उस समय गाण्डीवधारी पृथा-पुत्र अर्जुन वहाँ पर उपस्थित नहीं था ? क्या क्षत्रियकुलोत्पन्न शूरवीर युवक के लिये वह बात क्रोध-जनक नहीं थी ? (अवश्य थी, परन्तु पाण्डवों में तो क्रोध एवं शक्ति है ही नहीं) ॥२५॥

माता—असमत्तपडिण्णाभरेण[1] आप्पवहो तेण[2] पडिण्णादो।
(असमाप्तप्रतिज्ञाभरेणाऽऽत्मवधस्तेन प्रतिज्ञातः।)

राजा—यद्येवमलमानन्दस्थानेऽपि ते विषादेन। ननु [3]वक्तव्य-मुत्सन्नः सानुजो युधिष्ठिर इति। अन्यच्च मातः! का शक्तिरस्ति धनंजयस्याऽन्यस्य वा कुरुशतपरिवारवर्धितमहिम्नः कृप-कर्ण-द्रोणा-श्वत्थामादिमहारथपराक्रमद्विगुणीकृतनिरावरणविक्रमस्य नामाऽपि गृहीतुं ते तनयस्य? अयि सुतपराक्रमाऽनभिज्ञे?

असमाप्तेति—असमाप्तः असम्पादितः प्रतिज्ञाया भरो भारो येन तेन तथाविधेन अर्जुनेनेत्यर्थः।

यद्येवमिति—आनन्दस्य स्थानेऽवसरे विषादेन दुःखेनाऽलम्। अनुजैः सहितः सानुजः सभ्रातृकः। उत्सन्नो विनष्टः। कुरुशतपरिवारेण वर्धितः महिमा शक्तिः यस्य तस्य। कृपश्च कर्णश्च द्रोणश्च अश्वत्थामा च कृपकर्णद्रोणाश्वत्थामानस्ते आदौ येषां ते कृपकर्णद्रोणाऽश्वत्थामादयस्ते च ते महारथास्तेषां पराक्रमेण द्विगुणीकृतः निरावरणः प्रतिद्वन्द्विरहितः विक्रमो यस्य तस्य। गृहीतुमुच्चारयितुम्। सुतपराक्रमस्य अनभिज्ञा तत्सम्बुद्धौ।

माता—और अपनी यह प्रतिज्ञा पूरी न कर सकने पर उसने आत्म-वध की प्रतिज्ञा की है।

राजा—यदि ऐसी बात है तो इस आनन्द के अवसर भी आप इतनी दुःखित क्यों हो रही हैं? अब तो निःसन्देह यह कहना चाहिये कि युधिष्ठिर अपने भाइयों के साथ विनष्ट हो चुका है। और हे माता! अर्जुन या किसी दूसरे की क्या शक्ति है कि वह कुरु-शत-समूह से परिवृत होने के कारण परि-वर्धित-शक्ति-सम्पन्न तथा कृपाचार्य, कर्ण, गुरु द्रोणाचार्य और अश्वत्थामा

१. G. '०ण्णाभारस्य' इति पा.। २. G. 'से' (= अस्य) इति पा.।
३. गु. इतःपूर्वं 'व्यक्तम्' इति पा.।

धर्मात्मजं प्रति यमौ च कथैव नास्ति,
मध्ये वृकोदरकिरीटभृतोर्बलेन ।
एकोऽपि विस्फुरितमण्डलचापचक्रं,
कः सिन्धुराजमभिषेणयितुं समर्थः ॥२६॥

धर्मात्मजमिति—(अन्वयः) धर्मात्मजं यमौ च प्रति कथा एव नास्ति। वृकोदरकिरीटभृतोः मध्ये अपि एकः विस्फुरितमण्डलचापचक्रं सिन्धुराजं बलेन अभिषेणयितुम् कः समर्थः।

(व्याख्या) धर्मात्मजं धर्मपुत्रं युधिष्ठिरं तथा यमौ माद्रीसुतौ नकुलसहदेवौ च प्रति कथा युद्धस्य कथा-प्रसङ्ग एव नास्ति। तेषामतिनिर्बलत्वादिति भावः। किरीटं बिभर्तीति किरीटभृत्, वृकोदरश्च किरीटभृच्च वृकोदरकिरीटभृतौ भीमार्जुनौ तयोर्मध्ये अपि एक एकाकी विस्फुरितं दीप्यमानं मण्डलं मण्डलाकारं चापश्चक्रमिव चापचक्रं यस्य तं सिन्धुराजं जयद्रथम् अभिषेणयितुं सेनया अभियातुमभियोद्धुमित्यर्थः, कः समर्थः ? न कोऽपीत्यर्थः। सेनया अभियातीत्यर्थे णिच् ततस्तुमुन्। वसन्ततिलका छन्दः, 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति तल्लक्षणात् ॥२६॥

आदि महारथियों के पराक्रम से द्विगुणित एवं अद्वितीय विक्रमशील तुम्हारे पुत्र जयद्रथ का नाम भी ले सके ?

हे अपने पुत्र के पराक्रम को न जानने वाली !

धर्मपुत्र युधिष्ठिर और नकुल एवं सहदेव की तो बात ही क्या है, भीम और अर्जुन—इन दोनों में से भी अकेला कौन चमकते हुए तथा मंडलाकार धनुष को धारण किये हुए तुम्हारे पुत्र सिन्धुराज जयद्रथ के साथ युद्ध कर सकता है ॥२६॥

भानुमती—अज्जउत्त ! जइ वि एव्वं तहवि, 'गुरुकिदपडिण्णाभारो धणञ्जओ'[1] त्ति ट्ठाणं क्खु सङ्काए ।

(आर्यपुत्र ! यद्यप्येवं तथाऽपि 'गुरुकृतप्रतिज्ञाभारो धनञ्जयः' इति स्थानं खलु शङ्कायाः ।)

माता—जादे[2] ? साहु, कालोइदं तुए[3] मंदिदं[4] ।

(जाते ? साधु, कालोचितं त्वया मन्त्रितम् ।)

राजा—आः ! ममाऽपि नाम दुर्योधनस्य शङ्कास्थानं पाण्डवाः । पश्य—

आर्यपुत्रेति—गुरुः कृतायाः प्रतिज्ञायाः भारः यस्याऽसौ तथाविधो धनंजयोऽर्जुनः ।

जाते इति—हे जाते ! हे पुत्रि ! कालोचितं समयानुकूलं त्वया मन्त्रितं भणितम् ।

भानुमती—आर्यपुत्र ! यद्यपि यह ठीक है, तथापि अर्जुन ने बड़ी भारी प्रतिज्ञा की है । इसलिये शङ्का होना स्वाभाविक है ।

माता—पुत्रि ! ठीक, तुमने बड़ी समयोचित बात कही है ।

राजा—ओह ! क्या मुझ दुर्योधन के लिये भी पाण्डव लोग शङ्का का कारण हो सकते हैं ! देखो—

---

१. G. अयं पा. नास्ति । २. G. अयं पा. नास्ति । ३. G. अस्य स्थाने 'भानुमत्या' इति पा. । ४. G. 'भणिअं' (=भणितम्) इति पा. ।

कोदण्डज्याकिणाङ्कैरगणितरिपुभिः कङ्कटोन्मुक्तदेहैः,
श्लिष्टाऽन्योन्याऽऽतपत्रैः सितकमलवनभ्रान्तिमुत्पादयद्भिः ।
रेणुग्रस्ताऽर्कभासां प्रचलदसिलतादन्तुराणां बलानां[1]-
माक्रान्ता भ्रातृभिर्मे दिशि दिशि समरे कोटयः संपतन्ति ॥२७॥

कोदण्डेति—(अन्वयः) रेणुग्रस्तार्कभासां प्रचलदसिलतादन्तुराणां बलानां कोटयः कोदण्डज्याकिणाङ्कैः अगणितरिपुभिः कङ्कटोन्मुक्तदेहैः श्लिष्टान्योन्यातपत्रैः सितकमलवनभ्रान्तिम् उत्पादयद्भिः मे भ्रातृभिः समरे आक्रान्ताः (सत्यः) दिशि दिशि संपतन्ति ।

(व्याख्या) रेणुभिः ग्रस्ता समाच्छादिता अर्कस्य सूर्यस्य भा यैस्तेषां प्रचलन्त्यः प्रसर्पन्त्यः या असिलतास्ताभिः दन्तुराणां करालानां, भयानकानामित्यर्थः, बलानां सैन्यानां कोटयः कोदण्डस्य धनुषः ज्याया आघातेन यः किणो व्रणस्तस्याऽङ्कश्चिह्नं येषां तैः, न गणिताः रिपवः शत्रवो यैस्तैः, कङ्कटेन कवचेन उन्मुक्तः बद्धः देहः शरीरं येषां तैः, अन्योन्येषामातपत्राणि अन्योन्यातपत्राणि श्लिष्टानि परस्पर-सम्मिलितानि च तानि अन्योन्यातपत्राणि तैः करणभूतैः सितकमलानां श्वेतकमलानां वनस्य भ्रान्तिं भ्रममुत्पादयद्भिः मे मम भ्रातृभिः समरे युद्धे आक्रान्ताः सत्यः दिशि दिशि प्रतिदिशं संपतन्ति गच्छन्ति धावन्तीत्यर्थः । स्रग्धरा वृत्तम् ,'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्' इति तल्लक्षणात् ।

अपनी उड़ती हुई धूलि से सूर्य के प्रकाश को आच्छादित करती हुई एवं चञ्चल तलवारों से विकराल दीखती हुई करोड़ों सेनाएं (=सैनिक) मेरे भाइयों के द्वारा, जिन्हें शत्रुओं की कोई चिन्ता नहीं है, जिनके शरीर पर धनुष की डोरी के आघात के चिह्न हो रहे हैं और जिन्होंने (वीरता के आवेश

१. गु. 'चमूनाम्' इति पा. ।

अपि च भानुमति ! विज्ञातपाण्डवप्रभावे ? किं त्वमप्येव-माशङ्कसे ? । पश्य—

दुःशासनस्य हृदयक्षतजाऽम्बुपाने,
दुर्योधनस्य च यथा गदयोरुभङ्गे ।
तेजस्विनां समरमूर्धनि पाण्डवानां
ज्ञेया जयद्रथवधेऽपि तथा प्रतिज्ञा ॥२८॥

अपि चे ति—विज्ञातः पाण्डवानां प्रभावो यया सा तत्सम्बुद्धौ ।

दुःशासनेति—(अन्वयः) यथा दुःशासनस्य हृदयक्षतजाम्बुपाने गदया च दुर्योधनस्य ऊरुभंगे तेजस्विनां पाण्डवानां प्रतिज्ञा तथा समर-मूर्धनि जयद्रथवधे अपि (सा) ज्ञेया ।

(व्याख्या) यथा दुःशासनस्य हृदयस्य यत् क्षतजं रुधिरं तदेव अम्बु जलं तस्य पाने गदया च दुर्योधनस्य कौरवाधिपस्य मम ऊरुभंगे तेजस्विनां तेजःशालिनां पाण्डवानां, विशेषतो भीमस्येत्यर्थः, प्रतिज्ञा निष्फला संजाता तथैव समरमूर्धनि युद्धप्रवृत्तौ जयद्रथवधे जयद्रथवध-विषयेऽपि सा प्रतिज्ञा ज्ञेया । जयद्रथवधविषयेऽपि अर्जुनस्य प्रतिज्ञा सर्वथा निष्फलैव ज्ञेयेत्यर्थः । अतो नेयमर्जुनप्रतिज्ञा भवतीनां कथ-

में आकर) कवच का भी परित्याग कर दिया है तथा जो परस्पर सटे हुए अपने सफ़ेद छत्रों से श्वेत कमलों के वन को भ्रान्ति उत्पन्न कर रहे हैं, आक्रान्त होकर युद्ध-भूमि में भिन्न-भिन्न दिशा में तितर-बितर होकर भाग रही हैं ॥२७॥

और भी, हे भानुमती ! तुम तो पाण्डवों के प्रभाव को अच्छी प्रकार से जानती हो ! क्या तुम भी इस प्रकार आशङ्का करती हो ? देखो—

जिस प्रकार दुःशासन के हृदय का रक्त पीने तथा गदा-प्रहार से दुर्योधन

कः कोऽत्र भोः ! जैत्रं मे रथमुपकल्पय[1] तावत्। यावदहमपि तस्य प्रगल्भपाण्डवस्य जयद्रथपरिरक्षणेनैव मिथ्याप्रतिज्ञावैलक्ष्य-सम्पादितमशस्त्रपूतं मरणमुपदिशामि।

क्विदपि भयकारणमिति भावः। वसन्ततिलकावृत्तम्, 'उक्ता वसन्त-तिलका तभजा जगौ गः' इति तल्लक्षणात् ॥२८॥

कः कोऽत्रेति—जयतीति जेता √जि + तृच्। जेता एव जैत्रः, प्रज्ञादित्वात् 'जेतृ' इत्यतः स्वार्थे अण्। तं जैत्रं जयनशीलं रथमुपकल्पय सज्जीकुरु। प्रगल्भस्य अभिमानिनोऽर्जुनस्य मिथ्या या प्रतिज्ञा तया जनितं यद् वैलक्ष्यं लज्जा तेन सम्पादितम्। अशस्त्रेण पूतं कृतं, निन्द्यमित्यर्थः, क्षत्रियाणां युद्धभूमौ शस्त्रकृतमृत्योः श्रेष्ठतमत्वादिति भावः। मरणं मृत्युमुपदिशामि। जयद्रथं संरक्ष्य शस्त्रं विनैव मानिनोऽर्जुनस्य मृत्युं सम्पादयामीति भावः।

की जङ्घा के तोड़ने में तेजस्वी पाण्डवों की प्रतिज्ञा (पूरी हुई) है ऐसी ही अब युद्धस्थल में जयद्रथ को मारने के विषय में भी समझिये ॥२८॥

अरे दर्वाज़े पर कौन है ! मेरा विजयी रथ शीघ्र तैयार करो जिससे मैं भी अब जयद्रथ की रक्षा करके ही (व्यर्थ की) डींग मारने वाले उस पाण्डु-पुत्र अर्जुन को उसकी प्रतिज्ञा के झूठी हो जाने के कारण लज्जा-वश स्वीकार की हुई बिना शस्त्र की जघन्य मृत्यु-मरना सिखा सकूं।

१. गु. 'उपपादय' इति पा.।

(प्रविश्य)

कञ्चुकी—देव !

उद्घातकणितविलोलहेमघण्टः,
प्रालम्बद्विगुणितचामरप्रहासः ।
सज्जोऽयं नियमितवल्गिताकुलाश्वः,
शत्रूणां क्षपितमनोरथो रथस्ते ॥२६॥

उद्घातेति—(अन्वयः) उद्घातकणितविलोलहेमघण्टः प्रालम्बद्विगुणितचामरप्रहासः नियमितवल्गिताकुलाश्वः शत्रूणां क्षपितमनोरथः अयं ते रथः सज्जः (सन्तिष्ठते) ।

(व्याख्या) उद्घातैः आघातैः क्वणिताः शब्दायमानाः विलोलाः चञ्चलाः हेम्नः सुवर्णस्य घण्टाः घण्टिकाः यस्मिन् सः, प्रालम्बस्य प्रलम्बितस्य, लम्बमानस्येत्यर्थः, द्विगुणितस्य चामरस्य प्रहासः प्रकाशो यस्मिन सः, यद्वा प्रालम्बेन मालादिना, पुष्पादीनामिति शेषः, द्विगुणितः वर्धितः चामराणां प्रहासः श्वेतकान्तिः यस्य सः (तु. G.), नियमिताः नियन्त्रिताः वल्गिताः वल्गावन्तो यद्वा वल्गितारूय (=दुलकी, सरपट इति) गतिविशेषवन्तः, अतएव आकुला अश्वा यस्मिन् सः, शत्रूणां क्षपिताः विनाशिता मनोरथा येन स तथाविधोऽयं

(प्रवेश करके)

कञ्चुकी—देव !

ठोकर लगने के कारण शब्दायमान एवं चञ्चल घण्टियों से सुसज्जित तथा लम्बे और दोनों तरफ़ ढुलाए जाते हुए चँवरों से सुशोभित आपका यह विजय-रथ, जोकि शत्रुओं के मनोरथों को नष्ट करने वाला है तथा जिसके

राजा—देवि ! प्रविश त्वमभ्यन्तरमेव । ('यावदहमपि तस्य प्रगल्भ-पाण्डवस्ये'त्यादि पठन् परिक्रामति ।)

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति श्री भट्टनारायणकृते वेणीसंहारे द्वितीयोऽङ्कः ।

ते रथः सज्जः सन्तिष्ठते इति शेषः । प्रहर्षिणी छन्दः, 'त्र्याशाभिर्मन-जरगाः प्रहर्षिणीयम्' इति तल्लक्षणात् ।

इति वेणीसंहारे सरलार्थदीपिकायां द्वितीयोऽङ्कः ।

तेज़ घोड़े लगाम से नियन्त्रित होने के कारण (आगे बढ़ने के लिये) व्याकुल हो रहे हैं, उपस्थित है ॥२६॥

राजा—देवि ! तुम अन्दर जाओ । 'मैं भी उस प्रगल्भ पाण्डु-पुत्र अर्जुन को', इत्यादि कहता हुआ चला जाता है ।

(सब चले जाते हैं)

द्वितीय अङ्क समाप्त ।

अथ तृतीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति विकृतवेशा राक्षसी)

राक्षसी—(विकृतं विहस्य सपरितोषम्)

हदमाणुशमंशशोणिदेहिं[1] कुम्भशहश्शं वशाहिं शंचिदम् ।
अणिशं अ पिबामि शोणिअं शमले बलिशशदं हुवीअदु ॥१॥

तत इति—विकृतो भयंकरो वेषो यस्याः सा तथाविधा राक्षसी ।

विकृत मिति—विकृतं भयानकमित्यर्थः । क्रियाविशेषणरूपेण प्रयुक्तम् । परितोषेण सहितं सपरितोषं सहर्षम् ।

हतमानुषेति—(अन्वयः) हतमानुषमांसशोणितैः वसाभिः (च) कुम्भसहस्रं सञ्चितम् । अनिशं च शोणितं पिबामि । (अत इदं) समरं वर्षशतं भवतु ।

(व्याख्या) हताश्च ने मानुषास्तेषां मांसशोणितैः वसाभिश्च कुम्भानां घटानां सहस्रं सञ्चितं प्रपूरितम । अहं च अनिशमहर्निशं, निरन्तरमित्यर्थः, शोणितं रक्तं पिबामि । अत इदं समरं युद्धं भगवतः कृपया वर्षाणां शतं भवतु प्रचलतु ॥१॥

तीसरा अङ्क

(इसके बाद भयानक वेष में एक राक्षसी प्रवेश करती है ।)

राक्षसी—(बुरी तरह हँसकर सन्तोष के साथ) (इस युद्ध मे) मरे हुए मनुष्यों के मांस, रुधिर एवं चर्बी से मैंने सौ घड़े भर कर एकत्रित कर लिये हैं और मैं रात-दिन रक्त पीती हूँ । ईश्वर करे यह युद्ध सौ वर्ष तक चलता रहे ॥१॥

१. G. '०मंशभोअणे' इति पा. ।

(नृत्यन्ती सपरितोषम्) जइ सिन्धुलाअवहदिवहे विअ दिवहे दिवहे शमलकम्म पडिवजइ अज्जुणे तदो पज्जत्तभलिदकोट्ठागाले मंशशोणि-देहिं मे गेहे हुवीअदि। (परिक्रम्य दिशोऽवलोक्य) अह कहिं क्खु[1] गदे मे लुहिलप्पिए हुवीअदि[2] ?। होदु, शद्दावइश्शं[3] दाव अले लुहिलप्पिआ लुहिलप्पिआ ! इदो एहि, इदो एहि।

(विकृतं विहस्य सपरितोषम्)

(हतमानुषमांसशोणितैः कुम्भसहस्रं वसाभिः सञ्चितम्।
अनिशं च पिबामि शोणितं समरं वर्षशतं भवतु ॥१॥

[नृत्यन्ती सपरितोषम्] यदि सिन्धुराजवधदिवसे इव दिवसे दिवसे समरकर्म प्रतिपद्यतेऽर्जुनस्ततः पर्याप्तभरितकोष्ठागारं मांसशोणितैर्मे गृहं भविष्यति। [परिक्रम्य दिशोऽवलोक्य] अथ क्व खलु गतो मे रुधिरप्रियो भविष्यति। भवतु, शब्दायिष्ये तावत्। अरे रुधिरप्रिय ! रुधिरप्रिय ! इत एहि, इत एहि।)

यदीति—सिन्धुराजस्य जयद्रथस्य वधदिवसे मृत्युदिवसे। प्रतिपद्यते करोति। पर्याप्तं यथा स्यात्तथा भरितः कोष्ठागारः कोष्ठगृहं यस्य तत् ? रुधिरं प्रियं यस्य स रुधिरप्रिय इति अन्वर्थनामेदम्। शब्दायिष्ये शब्दं करिष्यामीत्यर्थे शब्दशब्दात् क्यङ् (तु. पा. ३, १, १७) !

(प्रसन्न होकर नाचती हुई) यदि सिन्धुराज जयद्रथ के वध वाले दिन की तरह अर्जुन प्रतिदिन युद्ध-कर्म करे तो मेरे घर में पर्याप्त मात्रा में मास और रुधिर के कोठे भर जाएँगे। (घूमकर चारों ओर देखकर) अरे ! मेरा रुधिर प्रिय इस समय कहाँ होगा ! अच्छा, मैं अभी उसे आवाज़ देकर बुलाती हूँ। अरे रुधिरप्रिय ! रुधिरप्रिय ! इधर आओ, इधर आओ।

१. गु. 'णु' इति पा.। २. गु. इतोऽग्रे 'ता जाव इमस्सिं शमले पिअभत्तालं लुहिलप्पिअं अण्णेशामि (परिक्रम्य)' इत्यधिकः पा.। ३. G. '०इश्शं' इति पा.।

(ततः प्रविशति तथाविधो राक्षसः)

राक्षसः—(श्रमं[1] नाटयन्)

पच्चग्गहदाणं मंशए जइ उण्हे लुहिले अ लब्भइ ।
ता एशे मइ पलिश्शमे क्खणमेत्तं एव्व लहु णश्शइ ॥२॥

(श्रमं[1] नाटयन्)

[प्रत्यग्रहतानां मांसं यद्युष्णं रुधिरं च लभ्येत ।
तदेष मम परिश्रमः क्षणमात्रमेव लघु नश्येत् ॥२॥]

(राक्षसी पुनर्व्याहरति ।)

तत इति—तथाविधो विकृतबीभत्सवेषो राक्षसो रुधिरप्रियः ।

श्रममिति—श्रमं परिश्रमं नाटयन् अभिनयन ।

प्रत्यग्रहतेति—(अन्वयः) यदि प्रत्यग्रहतानाम् उष्णं मांसं रुधिरं च लभ्येत तद् एष मम परिश्रमः क्षणमात्रं लघु एव नश्येत् ॥

(व्याख्या) यदि प्रत्यग्रं सद्य एव हतानां मृत्युं प्रापितानामुष्णं मांसं रुधिरं च लभ्येत प्राप्येत तत्तदा एष मम परिश्रमः शारीरिको मानसिको वाऽपि श्रमः क्षणमात्रं लघु शीघ्रमेव नश्येत् ॥२॥

राक्षसीति—राक्षसी वशागन्धा पुनरपि रुधिरप्रियं व्याहरति आह्वयते ।

(इसके बाद उसी प्रकार [भयानक वेष धारण किये] राक्षस प्रवेश करता है ।)

राक्षस—(थकावट का अभिनय करते हुए) यदि अभी तुरन्त मरे हुए मनुष्यों का ताज़ा और गर्मागरम मांस एवं रुधिर मिल जाए तो मेरी यह थकावट क्षण भर में बहुत ही शीघ्र दूर हो जाए ॥२॥

(राक्षसी पुनः पुकारती है ।)

१. गु. 'भ्रमणम्' इति पा. ।

राक्षसः—(आकर्ण्य) अले के मं शद्दावेदि ! (विलोक्य) अले¹ कहं पिआ मे वशागन्धा । (उपसृत्य) वशागन्धे ! कीश मं शद्दावेशि ?

लुहिलाशवपाणमत्तिए लणहिण्डन्त खलन्तगत्तिए ।
शद्दाअशि कीश मं पिए ! पुलिशशहश्श हदं शुणीअदि ॥३॥

([आकर्ण्य] अरे का मा शब्दायते ? [विलोक्य] अरे ! कथं प्रिया मे वसागन्धा ! [उपसृत्य] वसागन्धे ! कस्मात् मां शब्दायसे !

रुधिरासवपानमत्ते ! रणहिण्डनस्खलद्गात्रि !
शब्दायसे कस्मात् मां प्रिये ! पुरुषसहस्रं हतं श्रूयते ॥३॥

आकर्ण्येति—आकर्ण्य श्रुत्वा । शब्दायते आकारयति । शब्दं करोतीत्यर्थे क्यङ् प्रत्ययः । विलोक्य दृष्ट्वा । 'वसागन्धा' इति रुधिरप्रियस्य पत्न्या नामधेयम् । उपसृत्य समीपं गत्वा । उप√सृ + क्त्वा > ल्यप् ।

रुधिरासवेति—रुधिरमेव आसवस्तस्य पानेन मत्ता प्रमत्ता तत्सम्बुद्धौ, रणे युद्धभूमौ हिण्डनेन परिभ्रमणेन स्खलन्ति शिथिलानि गात्राणि यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ, प्रिये ! मां कस्माद्धेतोः शब्दायसे आह्वयसि ! युद्धे समरे पुरुषाणां सहस्रं हतं श्रूयते अस्मिन् युद्धे सहस्रशः पुरुषा हता इति कर्णपरम्परया श्रूयते ॥३॥

राक्षस—(सुनकर) अरे ! मुझे कौन बुला रहा है ? (देखकर) अरे ! क्या मेरी प्रियतमा वसागन्धा है ! (पास जाकर) वसागन्धे ! मुझे किस लिये बुला रही हो ?

हे रुधिर-रूपी आसव के पान करने से मस्त हुई तथा युद्ध-भूमि में (इधर-उधर) घूमने के कारण शिथिल अङ्गों वाली प्रिये ! मुझे क्यों बुला रही हो ? सुना जाता है कि आज युद्ध-भूमि में हजारों मनुष्य मारे गए हैं ॥३॥

१. G. पा. नास्ति ।

राक्षसी—अले लुहिलप्पिआ, लुहिलप्पिआ ! एदं क्खु मए तुह कालणादो पच्चग्गहदस्स कस्सवि लाएसिणो [1]शलीलावअवप्पहुदं प्पहूदवशाशिणेहचिक्कणं[2] कोप्हं णवलुहिलं अग्गमंशं अ आणीदम्। ता पिवाहि णम्।

(अरे रुधिरप्रिय, रुधिरप्रिय ! इद खलु मया तव कारणात् प्रत्यग्रहतस्य कस्यापि राजर्षेः शरीरावयवप्रभूतं प्रभूतवसास्नेहचिक्कणं कोष्णं नवरुधिरमग्रमासं चाऽऽनीतम्। तत् पिबैतत्।)

राक्षसः—(सपरितोषम्) शाहु, वशागन्धे ! शाहु। शोहणं तुए किदम्, [3]जं कोशिणं कोशिणं लुहिलं आणीदम्। बलिअम्हि पिवाशिए। ता उवणेहि।

([सपरितोषम्] साधु, वसागन्धे ! साधु। शोभनं त्वया कृतम्, यत्कोष्णं कोष्णं रुधिरमानीतम्। बलवदस्मि पिपासितः, तदुपनय।

अरे इति—तव कारणात्त्वदर्थम्। प्रत्यग्रं सद्य एव हतस्य। शरीरस्य ये अवयवास्तेभ्यः प्रभूतमुद्भूतम्। प्रभूता विपुला या वसा तस्याः स्नेहेन चिक्कणम्। कोष्णं किंचिदुष्णम्, ईषदुष्णमित्यर्थः। अग्रमांसं बुक्कामासं, हृदयप्रदेशस्य मांसमित्यर्थः।)

राक्षसी—अरे रुधिरप्रिय ! मैं तुम्हारे लिये अभी तुरन्त मरे हुए किसी राजर्षि के शरीर का ताज़ा एवं गर्मागरम रुधिर तथा अग्रमांस (=हृदय-प्रदेश का मांस), जोकि अत्यधिक चर्बी से सुस्निग्ध है, लाई हूँ। लो, इसे पीओ।

राक्षस—(आनन्दपूर्वक) ठीक, वसागन्धे ! ठीक। तुमने बहुत अच्छा किया कि गर्मागरम रुधिर ले आई। मुझे (इस समय) प्यास भी बहुत लग रही है। इस लिये लाओ।

---

१. इदं G. नास्ति। २. गु. इतः पूर्वे 'मत्थिक्क' (=मस्तिष्क) इत्यधिकः पा.। ३. 'जं कोशिणं······आणीदम्' इति पा. G. नास्ति।

राक्षसी—अले लुहिलप्पिआ ! एदिशे वि णाम हदणलगअतुलङ्गम-शोणिअवशाशमुद्ददुश्शंचले शमलांगणे[1] पडिब्भमन्ते तुमं पिवाशि-एशि त्ति अच्चलिअम् अच्चलिअम् ।

(अरे रुधिरप्रिय ! ईदृशेऽपि नाम हतनरगजतुरंगमशोणितवसासमुद्र-दुःसंचरे समरांगणे परिभ्रमंस्त्वं पिपासितोऽसीत्याश्चर्यमाश्चर्यम् ।)

राक्षसः—(सक्रोधम्) अले वशागन्धे[2] ! णं [3]पुत्तघडुक्कअशोअ-शन्तत्तहिअअं शामिणीं हिडिम्बादेवीं पेक्खिदुं गदह्मि ।

([सक्रोधम्] अरे वसागन्धे ! ननु पुत्रघटोत्कचशोकसन्तप्तहृदयां स्वामिनीं हिडिम्बादेवीं प्रेक्षितुं गतोऽस्मि ।)

हतनरेति—नराश्च गजाश्च तुरंगमाश्चेति नरगजतुरंगमाः, हता नरगजतुरंगमा हतनरगजतुरंगमास्तेषां यत् शोणितं रक्तं वसा च तेषां समुद्र इव समुद्रस्तेन दुःसंचरे दुःखेन संचरितुं योग्ये समराङ्गणे युद्धस्थले ।

सक्रोधमिति—क्रोधेन सहितं सक्रोधं सामर्षम् । घटोत्कचस्य शोकेन सन्तप्तं हृदयं यस्यास्तां हिडिम्बादेवीं प्रेक्षितुं द्रष्टुं गतः । हिडिम्बा हि राक्षसी भीमस्य भार्याऽऽसीद् यस्या भीमेन घटोत्कचो नाम पुत्र उदपद्यत ।

राक्षसी—अरे रुधिरप्रिय ! मरे हुए मनुष्य, हाथी एवं घोड़ों के रुधिर तथा चर्बी से समुद्र की तरह भरे हुए ऐसे युद्ध-स्थल में जहाँ चलना भी कठिन हो रहा है, घूमते हुए भी तुम प्यासे हो—यह बड़े आश्चर्य की बात है ।

राक्षस—(क्रोधपूर्वक) अरी वसागन्धे ! मैं तो पुत्र घटोत्कच की मृत्यु के कारण शोक-ग्रस्त स्वामिनी हिडिम्बादेवी से मिलने गया था ।

१. G. 'शमले' इति पा. । २. G. अइ शुस्थिदे (=अयि सुस्थिते) इति पा. । ३. G. 'पुत्तशोअ०' इति पा. ।

राक्षसी—*लुहिलप्पिआ ! अज्जवि शमिणीए हिडिम्बादेवीए घडुक्कअशोए ण उपशम्मइ ?*

(रुधिरप्रिय ! अद्यापि स्वामिन्या हिडिम्बादेव्या घटोत्कचशोको नोपशाम्यति ?)

राक्षसः—वशागन्धे ! कुदो शे उवशमे। केवलं अहिमण्णुशोअशमाणदुक्खाए शुभद्दादेवीए जण्णशेणीए अ कधं कधं वि शमाश्शाशीअदि ।

(वसागन्धे ! कुतोऽस्या उपशमः ? केवलमभिमन्युशोकसमानदुःखया सुभद्रादेव्या याज्ञसेन्या च कथं कथमपि समाश्वास्यते ।)

राक्षसी—लुहिलप्पिआ ! गेण्ह एदं हत्थिशिलक्कवालशंचिअं अग्गमंशोवदंशम् । पिवाहि णवशोणिआशवम् ।

(रुधिरप्रिय ! गृहाणैतद्धस्तिशिरःकपालसंचितमग्रमांसोपदंशम् । पिब नवशोणितासवम् ।)

वसागन्ध इति—अस्या हिडिम्बादेव्या कुत उपशमः शान्तिः । केवलं परन्तु । अभिमन्योर्वधस्य शोकेन समानं दुःखं यस्यास्तया सुभद्रादेव्याऽभिमन्युमात्रा याज्ञसेन्या द्रौपद्या च कथं कथमपि केनापि प्रकारेण, महता यत्नेनेत्यर्थः, समाश्वास्यते ।

रुधिरप्रियेति—हस्तिनः शिरः-कपाले संचितम् एकत्रीकृतमित्यर्थः । अग्रमांसमेव उपदंशो रुचिकरो भोज्यपदार्थस्तम् ।

राक्षसी—रुधिरप्रिय ! क्या स्वामिनी हिडिम्बादेवी का घटोत्कच (की मृत्यु) का शोक अब तक भी शान्त नहीं हुआ ?

राक्षस—वसागन्धे ! उसे शान्ति कैसे हो सकती है ? परन्तु अभिमन्यु की मृत्यु के कारण समानरूप से दुःखित देवी सुभद्रा तथा द्रौपदी उसे किसी न किसी प्रकार सान्त्वना दे रही हैं ।

राक्षसी—रुधिरप्रिय ! लो, मैं तुम्हारे लिये हाथी के सिर के खप्पर में संचित अग्रमांस-रूपी स्वादिष्ट भोज्य लाई हूँ । इस ताज़े रक्तासव को पीओ ।

राक्षसः—(तथा कृत्वा) वशागन्धे ! अह किअ प्पहूदं तुए शंचिअं लुहिअं अग्गमंशं अ ? ।

([तथा कृत्वा] वसागन्धे ! अथ कियत्प्रभूतं त्वया संचितं रुधिरमग्र-मासं च ।)

राक्षसी—अले लुहिलप्पिआ ! पुव्वशंचिअं तुमं वि जाणाशि जेव्व । णवशंचिअं शिणु दाव । भअदत्तशोणिएहिं कुम्भं, शिन्धुलाअवशाहिं कुम्भे दुवे, दुवदमच्छाहिवभूलिश्शवशोमदत्तबह्लीअप्पमुहाणं णलिन्दाणं अण्णाणं वि पाकिदपुलिशाणं "लुहिलवशामंशस्स घटा अविणद्धमुहा सहस्सशंखा' शन्ति मे गेहे ।

(अरे रुधिरप्रिय ! पूर्वसंचितं त्वमपि जानास्येव । नवसंचितं शृणु तावत् । भगदत्तशोणितैः कुम्भः, सिन्धुराजवसाभिः कुम्भौ द्वौ, द्रुपदमत्स्याधिपभूरिश्रवः-सोमदत्तबाह्लीकप्रमुखाणां नरेन्द्राणामन्येषामपि प्राकृतपुरुषाणां रुधिरमांसस्य घटा अपिनद्धमुखाः सहस्रसंख्याः सन्ति मे गेहे ।)

अथेति—कियत्प्रभूतं कियत्परिमाणमित्यर्थः । संचितं संगृहीतम् ।

अरे इति—सिन्धुराजो जयद्रथः । द्रुपदश्च मत्स्याधिपश्च भूरिश्रवाश्च सोमदत्तश्च बाह्लीकश्चेति ते प्रमुखा मुख्या येषु तेषाम् । प्राकृताः साधारणाश्च ते पुरुषास्तेषाम् । अपिनद्धानि मुखानि येषां ते तथाविधाः । सहस्रं संख्या येषां ते ।

राक्षस—(हाथ में लेकर तथा पीकर) वसागन्धे ! तुमने कितना रुधिर तथा अग्रमांस इकट्ठा कर लिया है ?

राक्षसी—अरे रुधिरप्रिय ! पहले जो इकट्ठा किया था वह तो तुम जानते ही हो । अब जो नया इकट्ठा किया है उसे सुनो । भगदत्त के रक्त से एक घड़ा, सिन्धुराज जयद्रथ की चर्बी से दो और द्रुपद, मत्स्यदेशाधिप,

१. G, कोष्ठान्तर्गतपाठस्य स्थाने 'लुहिलमंशेहिं पुलिदाइं घडशदाइं अशंखाइं' (=रुधिर-मांसैः परितानि घटशतानि असंख्यानि) इति पा. ।

राक्षसः—(सपरितोषमालिङ्ग्य) शाहु, शुग्घलिणीए ! शाहु । इमिणा दे शुग्घलिणीत्तणेण अज्ज उण शामिणीए हिडिम्बादेवीए शंविहाणेण अ प्पणट्ठं मे जम्मदालिद्दम् ।

([सपरितोषमालिङ्ग्य] साधु, सगृहिणि ! साधु । अनेन ते सुगृहिणी-त्वेनाऽद्य पुनः स्वामिन्या हिडिम्बादेव्याः संविधानेन च प्रणष्टं मे जन्म-दारिद्रयम् ।)

राक्षसी—लुहिलप्पिआ ! केलिशे शामिणीए शंविहाणए किदे ? ।

(रुधिरप्रिय ! कीदृशं स्वामिन्या संविधानं कृतम् ? ।)

सपरितोषमिति—सपरितोषं ससन्तोषमालिङ्ग्य आलिङ्गनं कृत्वा । सुगृहिणीत्वेन चातुर्येण । संविधानेन कार्यनियोगेन । मे मम जन्मनो दारिद्र्यं प्रणष्टं विनष्टं समाप्तमित्यर्थः ।

भूरिश्रवा, सोमदत्त तथा वाह्लीक आदि बड़े-बड़े राजाओं एवं अन्य साधारण पुरुषों के रुधिर तथा मास के भरे हुए हज़ारो घडे, जिनके मुँह बाँधे हुए हैं, मेरे घर में रक्खे हुए हैं ।

राक्षस—(आनन्द के साथ आलिङ्गन करके) ठीक, सुगृहिणि ! ठीक । तुम्हारे चतुर होने के कारण तथा स्वामिनी हिडिम्बादेवी के कार्य-विधान से मेरा समस्त जन्म-दारिद्र्य नष्ट हो गया ।

राक्षसी—रुधिरप्रिय ! स्वामिनी हिडिम्बादेवी ने कैसा विधान रचा है ?

राक्षसः—वशागन्धे ! [[1]आणत्ते क्खु हग्गे शामिणीए हिडिम्बा-देवीए], जहा लुहिलप्पिआ ! अज्जप्पहुदि तुए अज्जउत्त[2] भीमशेणश्श पिट्ठदोऽणुपिट्ठं शमले आहिण्डिदव्वं त्ति। ता तश्श अणुमग्गागा-मिणो हदमाणुशशोणिअणईदंशणप्पणट्ठबुभुक्खापिवाशश्श इह एव्व मे शग्गलोओ हुवीअदि। तुमं वि विशद्धा भविअ लुहिलवशाहिं कुम्भ-शहश्शं शंचेहि।

(वसागन्धे ! [आज्ञप्तः खल्वहं स्वामिन्या हिडिम्बादेव्या], यथा—रुधिर-प्रिय ! अद्यप्रभृति त्वया आर्यपुत्रभीमसेनस्य पृष्ठतोऽनुपृष्ठं समरं आहिण्डितव्य-मिति। तत्तस्याऽनुमार्गगामिनो हतमानुषशोणितनदीदर्शनप्रणष्टबुभुक्षापिपा-सस्येहैव मे स्वर्गलोको भविष्यति। त्वमपि विस्रब्धा भूत्वा रुधिरवसाभिः कुम्भ-सहस्रं संचिनु।)

वसागन्ध इति—हिडिम्बादेव्या अहं खलु आज्ञप्त आदिष्टः। अद्य-प्रभृति अद्यारभ्येत्यर्थः। आहिण्डितव्यं परिभ्रमणीयम्। अनुमार्गं गच्छतीति अनुमार्गगामी तस्य। हता ये मानुषास्तेषां शोणितेन उत्पन्ना या नदी तस्या दर्शनेन प्रणष्टे बुभुक्षापिपासे यस्य तस्य। विस्रब्धा विश्वस्ता निश्चिन्तेत्यर्थः। कुम्भानां सहस्रं संचिनु संगृहाण।

राक्षस—वसागन्धे ! स्वामिनी हिडिम्बादेवी ने मुझे आज्ञा दी है कि आज से तुम युद्ध-भूमि मे आर्यपुत्र भीमसेन के पीछे-पीछे घूमते रहना। इस लिये उसके पीछे घूमते हुए मरे हुए मनुष्यों के रक्त की नदियों के दर्शन (मात्र) से मेरी भूख एवं प्यास के शान्त हो जाने के कारण मेरे लिये तो यहीं पर (इस मर्त्यलोक मे ही) स्वर्गलोक बन जाएगा। (अच्छा अब) तुम भी निश्चिन्त होकर रुधिर तथा चर्बी से हजारों घड़े भर कर इकट्ठे कर लो।

१. गु. कोष्ठान्तर्गतपाठस्य स्थाने 'अज्ज अहं शामिणीए हिडिम्बादेवीए शबहुमाणं शद्दाविअ आणत्ते' (=अद्याऽहं स्वामिन्या हिडिम्बादेव्या सबहु-मानमाहूयाऽऽज्ञप्तः) इति पा.। २. 'अज्जउत्तस्स' इति गु. पा.।

राक्षसी—लुहिलप्पिआ ! किंणिमित्तं कुमालभीमशेणश्श पिट्ठदो आहिण्डीअदि ।

(रुधिरप्रिय ! किं निमित्तं कुमारभीमसेनस्य पृष्ठत आहिण्ड्यते ? ।)

राक्षसः—वशागन्धे ! तेण हि शामिणा विओदलेण दुश्शाशणश्श लुहिलं पादुं पडिण्णादम् । तं च अह्मेहिं लक्खशेहिं अणुप्पविशिअ पादव्वम् ।

(वसागन्धे ! तेन हि स्वामिना वृकोदरेण दुःशासनस्य रुधिरं पातुं प्रतिज्ञातम् । तच्चास्माभिः राक्षसैरनुप्रविश्य पातव्यम् ।)

राक्षसी—(सहर्षम्) शाहु, शामिणीए ! शाहु । शुशंविहाणे मे भत्ता तुए[1] किदे ।

([सहर्षम्] साधु, स्वामिनि ! साधु । सुसंविधानो मे भर्ता त्वया कृतः ।)

(नेपथ्ये महान् कलकलः, [2]उभावाकर्णयतः)

रुधिरेति—भीमस्य पृष्ठतः पश्चात् किं निमित्तं किमर्थमाहिण्ड्यते परिभ्रम्यते ।

वसागन्धे इति—वृकोदरेण भीमेन दुःशासनस्य रुधिरं रक्तं पातुं प्रतिज्ञातं प्रतिज्ञा कृता । अनुप्रविश्य दुःशासनस्य शरीरेऽन्तः प्रविश्येत्यर्थः ।

सहर्षमिति—सहर्षं सानन्दम् । सुशोभनं संविधानं कार्यं यस्य स तथाविधः कृतः सुन्दरकार्ये विनियोजितः ।

राक्षसी—रुधिरप्रिय ! तुम कुमार भीमसेन के पीछे किस लिये घूमते हो ?

राक्षस—वसागन्धे ! उस स्वामी वृकोदर ने दुःशासन का रक्त-पान करने की प्रतिज्ञा की है और वह हम राक्षस लोग उसके शरीर के अन्दर प्रविष्ट होकर पीयेंगे ।

राक्षसी—(प्रसन्न होकर) ठीक स्वामिनि ! ठीक । आप ने मेरे पति को बड़े अच्छे कार्य में लगाया है ।

(नेपथ्य में बड़ा भारी कोलाहल होता है, दोनों सुनते हैं ।)

१. G. अयं पा. नास्ति । २. G. अयं पा. नास्ति ।

राक्षसी—(आकर्ण्य, ससंभ्रमम्) अले लुहिलप्पिआ ! किं णु क्खु एशे महन्ते कलअले शुणीअदि ।

([आकर्ण्य, ससंभ्रमम्] अरे रुधिरप्रिय ! किं नु खल्वेव महान् कलकलः श्रूयते ?)

राक्षसः—(दृष्ट्वा) वशागन्धे ! एशे क्खु धिट्ठज्जुण्णेण दोणे केशेशु आकड्ढिअ अशिवत्तेण वावादीअदि ।

([दृष्ट्वा] वसागन्धे ! एष खलु धृष्टद्युम्नेन द्रोणः केशेष्वाकृष्यासिपत्रेण व्यापाद्यते ।)

राक्षसी—(सहर्षम्) लुहिलप्पिअ ! एहि । अम्हे वि गच्छिअ दोणश्श लुहिलं पिबह्म ।

([सहर्षम्] रुधिरप्रिय ! एहि वयमपि गत्वा द्रोणस्य रुधिरं पिबावः ।)

आकर्ण्येति—आकर्ण्य श्रुत्वा । सम्भ्रमेण सहितं ससम्भ्रमं सभयम् । कलकलः कोलाहलशब्दः ।

दृष्ट्वेति—द्रोणो द्रोणाचार्यः केशेषु आकृष्य तस्य केशान् गृहीत्वेत्यर्थः । असिपत्रेण करवालेन व्यापाद्यते हन्यते ।

राक्षसी—(सुनकर भयपूर्वक) अरे रुधिरप्रिय ! यह महान् कोलाहल क्यों हो रहा है ?

राक्षस—(देखकर) वसागन्धे ! यह धृष्टद्युम्न द्रोणाचार्य को उनके बाल पकड़कर तलवार से मार रहा है ।

राक्षसी—(हर्षपूर्वक) अरे रुधिरप्रिय ! आओ हम भी चलकर द्रोण का रक्त पीएँ ।

राक्षसः—(सभयम्) वशागन्धे ! बह्मणशोणिअं क्खु एदम् । गलअं दहन्ते दहन्ते पविशादि । ता किं एदिणा ।

([सभयम्] वसागन्धे ! ब्राह्मणशोणितं ग्वल्वेतत् । गलं दहद् दहत् प्रविशति । तत् किमेतेन ? ।)

(नेपथ्ये पुनः कलकलः ।)

राक्षसी—लुहिलप्पिआ ! पुणोवि एशे महन्ते कलअले शुणीअदि ।

(रुधिरप्रिय ! पुनरप्येष महान् कलकलः श्रूयते ।)

राक्षसः—(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) वशागन्धे ! एशे क्खु अश्शत्थामे आकड्ढिदाशिवत्ते इदो एव्व आअच्छदि । कदावि दुवदशुदलोशेण अम्हे वि वावादइश्शइ । ता एहि [1] [2]शामिणीए हिडिम्बादेवीए आणत्तिं कलेम्हि ।

([नेपथ्याभिमुखमवलोक्य] वसागन्धे ! एष खलु अश्वत्थामाकृष्टासिपत्र इत एवागच्छति । कदाचिद् द्रुपदसुतरोषेणाऽऽवामपि व्यापादयिष्यति । तदेहि स्वामिन्या हिडिम्बादेव्या आज्ञप्तिं कुर्मः ।)

वसागन्ध इति—आकृष्टमसिपत्रं खड्गः येन सः । द्रुपदसुताय धृष्टद्युम्नाय रोषः कोपस्तेन । आज्ञप्तिम् आज्ञां कुर्मः पालयामः ।

राक्षस—(भयपूर्वक) वसागन्धे ! यह ब्राह्मण का रुधिर है । यह तो गले को जलाता हुआ अन्दर जाता है । इस लिये इससे क्या लाभ ?

(नेपथ्य में फिर कोलाहल होता है ।)

राक्षसी—रुधिरप्रिय ! फिर भी यह महान कोलाहल सुनाई दे रहा है ।

राक्षस—(नेपथ्य की ओर देखकर) वसागन्धे ! यह अश्वत्थामा नंगी तलवार हाथ में लिये इधर ही आ रहे हैं । कहीं द्रुपद के पुत्र धृष्टद्युम्न पर क्रोध करने के कारण हमें भी न मार डालें । इस लिये आओ यहाँ से चलें और स्वामिनी हिडिम्बादेवी की आज्ञा का पालन करें ।

---

१. G. इतोऽग्रे 'अतिक्कमम्ह' (=अतिक्रमावः) इति पा. ततश्च (निष्क्रान्तौ) इति । २. अयं पा. G. नास्ति ।

राक्षसी—एवं करेम्ह ।

(एवं कुर्वाव ।)

(इति निष्क्रान्तौ)

प्रवेशकः

(ततः प्रविशत्याकृष्टखङ्गः कलकलमाकर्णयन्नश्वत्थामा ।)

अश्वत्थामा—

महाप्रलयमारुतक्षुभितपुष्करावर्तक-
प्रचण्डघनगर्जितप्रतिरवानुकारी मुहुः ।
रवः श्रवणभैरवः स्थगितरोदसीकन्दरः,
कुतोऽद्य समरोदधेरयमभूतपूर्वः पुरः ॥४॥

तत इति—आकृष्टः खङ्गः येन स तथाविधोऽश्वत्थामा कलकलं कोलाहलमाकर्णयन् शृण्वन् प्रविशति ।

महाप्रलयेति—(अन्वयः) अद्य (मम) पुरः अयं महाप्रलयमारुतक्षुभितपुष्करावर्तकप्रचण्डघनगर्जितप्रतिरवानुकारी श्रवणभैरवः स्थगितरोदसीकन्दरः अभूतपूर्वः रवः समरोदधेः मुहुः कुतः (भवति) ।

(व्याख्या) अद्येदानीं मम पुरः पुरस्तादयं प्रलीयते संसारः अत्रेति प्रलयः, प्रलयकालीनाश्च ते मारुताः प्रलयमारुताः, मध्यमपदलोपितत्पुरुषः, महान्तश्च ते प्रलयमारुताः महाप्रलयमारुतास्तैः क्षुभिता ये पुष्करावर्तका मेघविशेषास्तेषां प्रचण्डं घनं च यद् गर्जितं तस्य यः

राक्षसी—हाँ, ऐसा ही करते हैं ।

(दोनों चले जाते हैं ।)

प्रवेशक समाप्त ।

(इसके बाद नंगी तलवार हाथ में लिये कलकल शब्द सुनते हुए अश्वत्थामा प्रवेश करते हैं ।)

(विचिन्त्य) ध्रुवं गाण्डीविना सात्यकिना वृकोदरेण वा यौवन-दर्पादतिक्रान्तमर्यादेन परिकोपितस्तातः[1] समुल्लङ्घ्य शिष्यप्रियता-मात्मप्रभावसदृशमाचेष्टते । तथाहि—

प्रतिरवः प्रतिध्वनिस्तमनुकरोति तच्छीलः, अतएव श्रवणयोः भैरवो भीषणः, स्थगितं व्याप्तं रोदस्योः द्यावापृथिव्योः कन्दरं कुहरं येन सः, पूर्वं भूतो भूतपूर्वः 'सुप्सुपे'ति समासः, न भूतपूर्वः अभूतपूर्वः अश्रुत-पूर्वो, विलक्षण इत्यर्थः, रवः शब्दो मुहुः पुनः कुतः कस्माद्धेतोर्भवती-त्यर्थः । पृथ्वीछन्दः, 'जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः' इति तल्लक्षणात् ॥४॥

ध्रुवमिति—गाण्डीविनाऽर्जुनेन । वृकोदरेण भीमेन । यौवनस्य दर्पो मदस्तस्मात् । अतिक्रान्ता समुल्लङ्घिता मर्यादा येन तेन । परिकोपितः कुपितः कृत इत्यर्थः । परि√कुप्+हेतुणिच्, ततश्च कर्मणि क्तः । शिष्याः प्रिया यस्य स शिष्यप्रियस्तस्य भावस्तां शिष्यप्रियतां शिष्य-प्रियत्वं, शिष्यप्रेम, शिष्यपक्षपातमित्यर्थः, समुल्लङ्घ्य त्यक्त्वा आत्मनः प्रभावस्तस्य सदृशं, स्वानुरूपमित्यर्थः, आचेष्टते करोति, निजविक्रमं प्रदर्शयतीत्यर्थः ।

अश्वत्थामा—आज सामने युद्ध-महासागर से प्रलयकालीन महान् वायु से विक्षुब्ध पुष्कर तथा आवर्तक नामक मेघों की प्रचण्ड एवं भयानक गर्जना के समान भीषण और सुनने में कर्ण-कुहरों को विदीर्ण कर देने वाला यह अभूतपूर्व शब्द, जिसने आकाश एवं पृथिवी के प्रत्येक अवकाश-स्थान को परिपूर्ण कर दिया है, क्यों सुनाई दे रहा है ? ॥४॥

(कुछ विचार कर) अवश्य ही (आज) अर्जुन, सात्यकि अथवा भीम के, यौवन-मद में चूर होने के कारण, शिष्टाचार की मर्यादा का उल्लङ्घन करने पर पिता जी ने अत्यन्त क्रुद्ध होकर शिष्य-प्रेम को त्याग कर आत्म-सदृश (स्वोचित) पराक्रम का प्रदर्शन किया है । क्योंकि—

१. गु. इतोऽग्रे 'यतः' इत्यधिकः पा. ।

यद् दुर्योधनपक्षपातसदृशं युक्तं यदस्त्रग्रहे,
रामाल्लब्धसमस्तहेतिगुरुणो वीर्यस्य यत् साम्प्रतम्।
लोके सर्वधनुष्मतामधिपतेर्यच्चाऽनुरूपं रुषः,
प्रारब्धं रिपुघस्मरेण नियतं तत् कर्म तातेन मे ॥५॥

यद्दुर्योधनेति—(अन्वयः) यद् दुर्योधनपक्षपातसदृशम्, यद् अस्त्रग्रहे युक्तम्, यद् रामात् लब्धसमस्तहेतिगुरुणः वीर्यस्य साम्प्रतम्, यच्च लोके सर्वधनुष्मताम् अधिपतेः रुषः अनुरूपम्, तत् कर्म रिपुघस्मरेण मे तातेन नियतं प्रारब्धम् ॥

(व्याख्या) यत् कर्म दुर्योधनस्य यः पक्षस्तस्मिन् यः पातो निवासस्तस्य सदृशम्, यच्च अस्त्राणां ग्रहे ग्रहणे युक्तमनुरूपम्, यच्च रामात् परशुरामाल्लब्धाभिः प्राप्ताभिः समस्तहेतिभिः सर्वविद्याभिर्गुरुणः महतो वीर्यस्य विक्रमस्य साम्प्रतमनुरूपं, यच्च लोके जगति सर्वधनुष्मतां सर्वधनुर्धारिणामधिपतेः स्वामिनः रुषः क्रोधस्य अनुरूपम् उचितं तदेव शत्रुसैन्यमारणादिकं कर्म रिपूणां घस्मरेण भक्षकेण मे तातेन पित्रा नियतमवश्यं प्रारब्धं कृतं स्यादिति सम्भावना। अतएवाऽयं महान् कोलाहलः श्रूयत इतिभावः। शार्दूलविक्रीडितं छन्दः, 'सूर्याश्वैर्यदि मासजः सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' इति तल्लक्षणात् ॥५॥

जो कार्य महाराज दुर्योधन के पक्ष मे रहकर करने के अनुरूप है, शस्त्र-ग्रहण करने पर जो उन्हें शोभा देता है, जो परशुराम जी से समस्त विद्या प्राप्त करने के कारण (उनके) महान् पराक्रम के योग्य है और जो समस्त धनुर्धारियों के अधिपति के क्रोध के अनुरूप है, वही कार्य शत्रुओं के लिये काल-स्वरूप मेरे पिता जी ने (आज युद्ध-भूमि में) अवश्य ही आरम्भ कर दिया प्रतीत होता है ॥५॥

(पृष्ठतो विलोक्य) तत् कोऽत्र ?, रथमुपनयतु । अथवाऽलमिदानीं मम रथप्रतीक्षया[1] । सशस्त्र एवाऽस्मि, सजलजलधरप्रभाभासुरेण सुप्रग्रहविमलकलधौतत्सरुणाऽमुना खड्गेन । यावत्समरभुवमवतरामि । (परिक्रम्य वामाक्षिस्पन्दनं सूचयित्वा)

आः ! कथं ममाऽपि नामाऽश्वत्थाम्नः समरमहोत्सवप्रमोदनिर्भरस्य तातविक्रमदर्शनलालसस्याऽनिमित्तानि समरगमनविघ्नमुत्पादयन्ति ! । भवतु, गच्छामि । (सावष्टम्भं परिक्रम्याऽग्रतो विलोक्य) कथमवधीरितक्षात्रधर्माणामुज्झितसत्पुरुषोचितलज्जावगुण्ठनानां विस्मृतस्वामिसत्कारलघुचेतसां द्विरदतुरङ्गमचरणचारिणामगणितकुलयशःसदृशपराक्रमव्रतानां रणभूमेः समन्तादपक्रामतामयं महान्नादो बलानाम् ! ।

तत्कोऽत्रेति—जलेन सहितः सजलः, स चाऽसौ जलधरः तस्य प्रभया कान्त्या भासुरेण, सुप्रग्रहः सुग्राह्यः, सुखेन ग्राह्य इत्यर्थः. विमलकलधौतस्य स्वच्छसुवर्णस्य त्सरुः खड्गमुष्टिर्यस्य तेन तथाविधेन खड्गेनाऽहं सशस्त्र एवाऽस्मीति वाक्यसमन्वयः ।

आः ! इति—समरः युद्धमेव महोत्सवस्तस्य प्रमोदस्तेन निर्भरस्तस्य, तातस्य यः विक्रमस्तस्य दर्शने लालसः लालसायुक्तः, यद्वा तातविक्रमदर्शने लालसा इच्छा यस्य तस्य महापराक्रमशालिनो ममाऽश्वत्थाम्नोऽपि एवंविधानि वामाक्षिस्पन्दनादीनि अनिमित्तानि अमङ्गलानि

(पीछे की ओर देखकर) यहाँ कौन है ? मेरा रथ लाओ । अथवा अब रथ की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं । मैं जल से भरे हुए बादलों की काली-काली कान्ति के समान चमकते हुए तथा सुन्दर सुवर्ण की बनी हुई हाथ में लेने योग्य मूठ वाले इस खड्ग से सुसज्जित ही हूँ । इस लिये अब मुझे युद्ध-भूमि की ओर चलना चाहिये । (घूमकर, बाईं आँख के फड़कने की सूचना देते हुए)

१. गु. इतोऽग्रे 'अनया' इत्यधिकः पा. ।

(निरूप्य) हा, हा, धिक्कष्टम् ! कथमेते महारथाः कर्णादयोऽपि समरात्पराङ्मुखा भवन्ति ! ! (साशङ्कम्) कथं नु ताताऽधिष्ठितानामपि बलानामियमवस्था भवेत् ! भवतु, संस्तम्भयामि ।

भो भोः कौरवसेनासमुद्रवेलापरिपालनमहामहीधरा नरपतयः ! कृतं कृतममुना समरपरित्यागसाहसेन ।

समरगमने विघ्नमुत्पादयन्तीत्यन्वयः । अवष्टम्भेन सहितं सावष्टम्भं सगर्वमित्यर्थः । अवधीरितस्तिरस्कृतः क्षात्रधर्मो यैस्तेषाम्, उज्झितं त्यक्तं सत्पुरुषोचितं लज्जा एव अवगुण्ठनं यैस्तेषाम्, विस्मृतः स्वामिकृतः (तु. G.) सत्कारः यैस्ते तथाभूताश्च अतएव लघु क्षुद्रं चेतो मनः येषां ते तथाभूताश्च तेषाम्, यद्वा विस्मृतोऽगणितः स्वामिनः सत्कारस्तेन लघु चेतः येषां तेषाम्, द्विरदाश्च तुरङ्गमाश्च चरणचारिणः पदातयश्च तेषाम्, अगणितमनाचरितं कुलयशःसदृशं पराक्रमव्रतं यैस्तेषां रणभूमेर्युद्धभूमेः समन्तात् सर्वतोऽपक्रामतां धावतां बलानामयं महान्नादः कथं श्रूयत इति शेषः ।

निरूप्येति—निरूप्य दृष्ट्वा । कथं कर्णः आदौ येषां ते तथाभूता अपि महारथाः समराद् युद्धस्थलात् पराङ्मुखा विमुखाः भवन्तीत्यन्वयः ।

ओह ! क्या युद्ध महोत्सव के आनन्द से भरे हुए तथा अपने पिता के पराक्रम को देखने के लिये लालायित मुझ अश्वत्थामा के लिये भी यह अपशकुन युद्ध-भूमि में जाने के लिये विघ्न डाल रहे हैं ! अच्छा ! (देखा जायेगा,) चलता हूँ । (गर्व के साथ घूमकर सामने देखकर) आः यह क्या ! समस्त क्षात्रधर्मों को भुलाकर, सत्पुरुषोचित लज्जा की मर्यादा को त्यागकर, अपने स्वामी के सत्कार को भुला देने के कारण क्षुद्र-चित्त होकर, हाथी, घोड़े तथा पदातियों से युक्त, अपने कुल एवं यश के अनुरूप पराक्रम-व्रत का विचार न करती हुई युद्धस्थल को छोड़कर तितर-बितर होकर चारों ओर भागती हुई सेना का यह महान् कोलाहल क्यों सुनाई दे रहा है ?

यदि समरमपास्य नास्ति मृत्यो-
र्भयमिति युक्तमितोऽन्यतः प्रयातुम् ।
अथ मरणमवश्यमेव जन्तोः
किमिति मुधा मलिनं यशः कुरुध्वे ? ॥६॥

आशङ्कया सहितं साशङ्कं सभयम् । तातेन पित्रा, द्रोणेनेत्यर्थः, अधिष्ठितानामधिकृतानामपि बलानां सेनानामियमवस्था दशा। संस्तम्भयामि धावतः सैनिकान् अवरुणध्मीत्यर्थः । कौरवाणां सेना एव समुद्रस्तस्य या वेला सीमा 'वेला काले च सीमायाम्' इति मेदिनी, तस्याः परिपालने संरक्षणे महान्तो महीधराः पर्वता इव अविचलशक्तिशालिनो नरपतयः राजानः। समरस्य युद्धस्थलस्य परित्यागसाहसेन कृतमलमित्यर्थः । भो भो राजानः ! पलायनं परित्यज्य मे वचः शृण्वन्तु इति भावः ।

यदि समरमिति—(अन्वयः) यदि समरम् अपास्य मृत्योः भयं नास्ति इति इतः अन्यतः प्रयातुं युक्तम् । अथ जन्तोः मरणम् अवश्यम् एव, किमिति यशः मुधा मलिनं कुरुध्वे ? ॥

(व्याख्या) यदि समरं युद्धम् अपास्य परित्यज्य, अप √ अस् (क्षेपणे) + क्त्वा > ल्यप् , मृत्योर्मरणाद् भयं नास्ति इत्येतस्माद्धेतोः इतोऽन्यतः अन्यत्र प्रयातुं गन्तुं युक्तं समुचितं स्यादिति शेषः। अथ

(ध्यानपूर्वक देखकर) हाय ! बड़े कष्ट की बात है ! ये कर्णादि महारथी भी युद्ध छोड़कर भाग रहे हैं ! (आशङ्का के साथ) क्या (मेरे) पिता से अधिकृत सेना की भी यह दशा ? अच्छा, मैं इन्हें रोकता हूँ ।

हे कौरव-सेना-रूपी समुद्र के तट की रक्षा करने में पर्वतों के समान अविचल वीर राजाओ ! ठहरो, ठहरो ! (इस प्रकार) युद्ध-भूमि को छोड़कर भागने का साहस मत करो । (देखो—)

अपि च—

अस्त्रज्वालाऽवलीढप्रतिबलजलधेरन्तरौर्वायमाणे
सेनानाथे स्थितेऽस्मिन् मम पितरि गुरौ सर्वधन्वीश्वराणाम् ।
कर्णाऽलं सम्भ्रमेण, व्रज कृप समरं, मुञ्च हार्दिक्य ! शङ्कां,
ताते चापद्वितीये वहति रणधुरं को भयस्याऽवकाशः ? ॥७॥

यदि जन्तोः प्राणिनः मरणं मृत्युरवश्यमनिवार्यमेव तदा किमिति कस्माद्धेतोर्मुधा व्यर्थमेव यशः मलिनं कलुषितं कुरुध्वे कुरुथ । पुष्पिताग्रा छन्दः, 'अयुजि नयुगरेफतो यकारो, युजि तु नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' इति तल्लक्षणात् ॥६॥

अपि च अन्यच्च ।

अस्त्रज्वालेति—(अन्वयः) अस्त्रज्वालावलीढप्रतिबलजलधेः अन्तः और्वायमाणे सर्वधन्वीश्वराणां गुरौ मम पितरि अस्मिन् (युद्धस्थले) सेनानाथे स्थिते (सति) कर्ण ! सम्भ्रमेण अलम्, कृप ! समरं व्रज, हार्दिक्य ! शङ्कां मुञ्च । चापद्वितीये ताते रणधुरं वहति (सति) भयस्य कः अवकाशः ? ।

(व्याख्या) अस्त्राणि एव ज्वालास्ताभिः अवलीढः, (अव√लिह् + क्तः)व्याप्तः यः प्रतिबलजलधिः शत्रुसमुद्रस्तस्याऽन्तर्मध्ये और्वः वडवानल इव आचरतीत्यर्थे क्यङ् ततः शानच्, तस्मिन् गुरौ पूज्ये मम

यदि युद्ध-स्थल को छोड़कर कहीं दूसरी जगह मृत्यु का भय न हो तब तो यहाँ से भागकर कहीं अन्यत्र जाना उचित भी है, परन्तु जब प्राणी की मृत्यु अवश्यंभावी है (और वह कहीं पर भी मृत्यु से बच नहीं सकता) (तो हे वीरो ! इस प्रकार भाग कर) अपने यश को क्यों कलङ्कित कर रहे हो ? ॥६॥

और भी—

अस्त्र-रूपी ज्वालाओं से व्याप्त शत्रुओं की सेना के समुद्र के बीच में वडवानल के समान, जलाने वाले एवं समस्त धनुर्धारियों के गुरु मेरे पिता के युद्ध-स्थल

(नेपथ्ये)

कुतोऽद्यापि ते तातः ? ।

अश्वत्थामा—(श्रुत्वा) किं ब्रूथ—'कुतोऽद्यापि ते तातः' इति ! । (सरोषम्) आः क्षुद्राः समरभीरवः ! कथमेवं प्रलपतां वः सहस्रधा न दीर्णमनया जिह्वया ! ।

पितरि द्रोणे सेनानाथे सेनापतौ अस्मिन् युद्धस्थले स्थिते सति हे कर्ण ! सम्भ्रमेण भयेन अलं कृतम्, हे कृप ! समरं युद्धस्थलं व्रज गच्छ, हे हार्दिक्य कृतवर्मन् ! शङ्कां भयं मुञ्च । चापमेव द्वितीयं सहायः यस्य तस्मिन् ताते मम पितरि द्रोणे रणधुरं युद्धभारं वहति धारयति सति भयस्य शङ्काया भीतेर्वा कः अवकाशः स्थानं, न कोऽपीत्यर्थः । स्रग्धरा छन्दः, 'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्' इति तल्लक्षणात् ॥७॥

सरोषमिति—रोषेण सहितं सरोषं सक्रोधम् । 'आः' इति क्रोधस्य निन्दायाश्च सूचकमव्ययम् । समरभीरवो युद्धभीरवः एवमित्थं प्रलपतां निरर्थकं प्रलापं कुर्वतां वो युष्माकं जिह्वया सहस्रधा कथं न दीर्णं विदीर्णम् ? । भावे क्तः प्रत्ययः । जिह्वा कथं न विदीर्णेत्यर्थः ।

में सेनापति के रूप में विद्यमान होने पर हे कर्ण ! भय मत करो, हे कृपाचार्य ! पुनः युद्ध-भूमि मे जाओ और हे कृतवर्मन् ! (किसी प्रकार की) शका मत करो ! धनुष धारण कर मेरे पिता के युद्ध-संचालन करते हुए भय करने का क्या कारण है ! ।

(नेपथ्य में)

अब तुम्हारे पिता कहाँ है ? ।

अश्वत्थामा—(सुनकर) क्या कहा 'तुम्हारे पिता अब कहाँ है !' । (क्रोध में भरकर) अरे क्षुद्रो ! युद्ध-भीरुओ ! इस प्रकार कहते हुए तुम्हारी जिह्वा के हजार टुकड़े क्यों नहीं हो गए ! ।

दग्धुं विश्वं दहनकिरणैर्नोदिता द्वादशार्काः,
वाता वाता दिशि दिशि न वा सप्तधा सप्त भिन्नाः।
छन्नं मेघैर्न गगनतलं पुष्करावर्तकाद्यैः,
पापं पापाः! कथयत कथं? शौर्यराशेः पितुर्मे ॥८॥

दग्धुमिति—(अन्वयः) द्वादश अर्काः दहनकिरणैः विश्वं दग्धुं न उदिताः। न वा सप्तधा भिन्नाः सप्त वाताः दिशि दिशि वाताः। गगनतलं पुष्करावर्तकाद्यैः मेघैः न छन्नम्। (हे) पापाः! शौर्यराशेः मे पितुः पापं कथं कथयत?

(व्याख्या) द्वादश द्वादशसंख्याकाः—

'धाता मित्रोऽर्यमा रुद्रो वरुणः सूर्य एव च।
भगो विवस्वान् पूषा च सविता दशमः स्मृतः।
एकादशस्तथा त्वष्टा विष्णुर्द्वादश उच्यते' ॥

इत्येते अर्काः सूर्याः, ये च प्रलयकाले संसारं दग्धुमेकदैवोद्यन्ति, दहनकिरणैः विश्वं समस्तं जगद् दग्धुं भस्मीकर्तुं न उदिताः, न वा सप्तधा भिन्नाः गुणिताः सप्त अर्थात् एकोनपञ्चाशत्-संख्याका वाताः दिशि दिशि प्रतिदिशं वाता प्रचलिताः। पुष्करावर्तक-संवर्त्त-द्रोण संज्ञकैः प्रलयकालीनैर्मेघैर्गगनतलमाकाशमण्डलं च न छन्नमाच्छादितम्। तत् हे पापाः! शौर्यस्य राशेः मे मम पितुः पापमनिष्टं कथं कथयत ब्रूत? अर्थात् प्रलयात् प्राग् न कोऽपि वीरः मम तातं हन्तुं शक्नोति। मन्दाक्रान्ता छन्दः, 'मन्दाक्रान्ताम्बुधिरसनगैर्मोभनौ तौ गयुग्मम्' इति तल्लक्षणात् ॥८॥

अपनी अग्निमय किरणों से समस्त विश्व को भस्मसात् करने के लिये बारह सूर्य तो (अभी एक साथ) उदित नहीं हुए, न ४६ प्रकार की भिन्न-भिन्न हवाएँ (अभी एक साथ) प्रत्येक दिशा में चलीं और न पुष्कर एवं आवर्तक

(प्रविश्य सम्भ्रान्तः सप्रहारः)

सूतः—परित्रायतां, परित्रायतां कुमारः।

(इति पादयोः पतति।)

अश्वत्थामा—(विलोक्य) अये ! कथं तातस्य सारथिरश्वसेनः !। आर्य ! [1]आर्य !! ननु त्रैलोक्यत्राणक्षमस्य सारथिरसि। किं मत्तः शिशुजनात् परित्राणमिच्छसि ?

सूतः—(उत्थाय, सकरुणम्) कुतोऽद्यापि ते तातः ?

अश्वत्थामा—(सावेगम्) किं तातो नामाऽस्तमुपगतः ?

प्रविश्येति—प्रहारेण शस्त्रघातेन सहितः।

अये ! इति—तातस्य पितुर्द्रोणस्येत्यर्थः। त्रैलोक्यस्य त्राणे परिरक्षणे क्षमस्य समर्थस्य।

सावेगमिति—आवेगेन सहितम्। अस्तं मृत्युमुपगतः प्राप्तः। मोहं मूर्च्छामुपगम्य प्राप्य।

आदि (प्रलयकालीन) बादलों से आकाश (अभी) आच्छादित ही हुआ, तो फिर हे पापियो ! शौर्यराशि मेरे पिता के सम्बन्ध में तुम इस प्रकार की अनिष्ट बातें कैसे कर रहे हो ? ॥८॥

(शस्त्र-प्रहार से घबराया हुआ प्रवेश करके)

सूत—कुमार ! रक्षा करो, रक्षा करो !

(इस प्रकार कहकर उसके चरणों में गिर जाता है।)

अश्वत्थामा—(देखकर) अरे ! क्या मेरे पिता का सारथि अश्वसेन है ! आर्य ! आर्य !! आप तो त्रिलोकी की (भी) रक्षा करने में समर्थ मेरे पिता के सारथि हो। मुझ बालक से आप क्या रक्षा चाहते हो ?

सूत—(उठकर दीनता के साथ) कुमार ! अब तुम्हारे पिता कहाँ हैं ?

अश्वत्थामा—(आवेग के साथ) क्या पिता जी का सूर्य अस्त हो चुका !

१. G. द्विरावृत्तिर्नास्ति।

सूतः—अथ किम् !

अश्वत्थामा—हा तात ! हा तात[1] !! (इति मोहमुपगम्य[2] पतितः ।)

सूतः—कुमार ! समाश्वसिहि, समाश्वसिहि ।

अश्वत्थामा—(लब्धसंज्ञः[3] सास्रम्) हा तात ! हा सुतवत्सल ! हा लोकत्रयैकधनुर्धर ! हा जामदग्न्यास्त्रसर्वस्वप्रतिग्रहप्रणयिन् ! क्वाऽसि ! प्रयच्छ मे प्रतिवचनम् ।

लब्धसंज्ञ इति—लब्धा प्राप्ता संज्ञा चेतना येन सः । अस्रैरश्रुभिः सहितं यथा स्यात्तथा । लोकत्रये एकः प्रधानो धनुर्धरस्तत्सम्बुद्धौ । जामदग्न्यस्य परशुरामस्य अस्त्राणि एव सर्वस्वं तस्य प्रतिग्रहो ग्रहणं तस्मिन् प्रणयः प्रेम सोऽस्यास्तीति तत्सम्बुद्धौ । मे मह्यं प्रतिवचनमुत्तरं प्रयच्छ देहि ।

कुमारेति—वीरपुरुषाणामुचितां योग्यां विपत्तिं मृत्युमुपगते सति । तदनुरूपेण स्वपितृसदृशेन वीर्येण पराक्रमेण । तादृग् जगद्विख्यातं यद् भुजयोर्वीर्यं पराक्रमस्तस्य सागरः समुद्रस्तातः मे पिताऽपि अस्तमुपगतो मृत्युं प्राप्तः । नामेति प्रश्नार्थेऽव्ययम् ।

सूत—और क्या !

अश्वत्थामा—हा तात, हा तात !! (इस प्रकार विलाप करते हुए मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है ।)

सूत—कुमार ! धैर्य रखिये, धैर्य रखिये ।

अश्वत्थामा—(होश में आकर उठकर आँसू बहाते हुए) हा तात ! हा पुत्रवत्सल ! हा तीनों लोकों के एकमात्र धनुर्धर ! हा परशुराम के अस्त्र-विद्या-सर्वस्व को ग्रहण करने में तत्पर ! तुम कहाँ हो ! मुझे उत्तर दो ।

---

१. G. द्विरावृत्तिर्नास्ति २. G. 'मोहमुपगतः' इति पा. ।

३. गु. इतोऽग्रे 'उत्थाय' इत्यधिकः पा. ।

सूतः—कुमार[1] ! अलमत्यन्तशोकावेगेन। वीरपुरुषोचितां विपत्ति-मुपगते पितरि त्वमपि तदनुरूपेणैव वीर्येण शोकसागरमुत्तीर्य सुखी भव।

अश्वत्थामा—(अश्रूणि प्रमृज्य) आर्य ! कथय, कथय, कथं तादृग्भुज-वीर्यसागरस्तातोऽपि नामास्तमुपगतः ?

किं भीमाद्[2] गुरुदक्षिणां गुरुगदां भीमप्रियः प्राप्तवान् ?

सूतः—शान्तं पापं, शान्तं पापम्।

अश्वत्थामा—

अन्तेवासिदयालुरुज्झितनयेनाऽऽसादितो जिष्णुना ?

किं भीमादिति—(अन्वयः) भीमप्रियः (मम तातः) भीमाद् गुरु-दक्षिणां प्राप्तवान् किम् ? । अन्तेवासिदयालुः (स मम तातः) उज्झि-तनयेन जिष्णुना आसादितः (किम् ?)। गोविन्देन सुदर्शनस्य निशितं धारापथं प्रापितः (किम् ?)। एभ्यः अन्यतः चतुर्थात् गुरोः आपदम् अहं न शङ्के खलु ॥

(व्याख्या) भीमः प्रियो यस्य सः, भीमस्य वा प्रियः मम तातः

सूत—कुमार ! इस प्रकार अत्यधिक शोक मत करो। तुम्हारे पिता जी ने (युद्धभूमि में) वीर पुरुषों के अनुरूप (ही) मृत्यु प्राप्त की है। अब तुम भी उनके समान ही (अपने) पराक्रम से इस शोक-सागर को पार करके सुख एवं शान्ति प्राप्त करो।

अश्वत्थामा—(आँसू पोंछ कर) आर्य ! बताइये, बताइये ! जगत्प्रसिद्ध भुज-बल-सागर पिता जी की मृत्यु किस प्रकार हुई ?

क्या उन्होंने अपने प्रिय शिष्य भीम से गुरुदक्षिणा के रूप में बड़ी भारी गदा प्राप्त की है ?

सूत—(ऐसे) अमङ्गल का विनाश हो, अमङ्गल का विनाश हो !

अश्वत्थामा—तो क्या विनय का परित्याग कर जयशील अर्जुन ने शिष्यों के प्रति दयालु अपने गुरु पर प्रहार किया है ?

१. गु. 'आयुष्मन्' इति पा.। २. गु. 'शिष्यात्' इति पा.।

सूतः—कथमेवं भविष्यति ?

अश्वत्थामा—

गोविन्देन सुदर्शनस्य निशितं धारापथं प्रापितः ?

सूतः—एतदपि नास्ति ।

अश्वत्थामा—

शङ्के नापदमन्यतः खलु गुरोरेभ्यश्चतुर्थादहम् ॥६॥

भीमात् स्वशिष्याद् गुर्वी महतीं गदां गुरवे देया दक्षिणा गुरुदक्षिणा ताम्, मध्यमलोपितत्पुरुषः, गुरुदक्षिणारूपेण गदां प्राप्तवान् किम् ? किं स भीमेन गदया हत इत्यर्थः । अन्तेवसतीति अन्तेवासी तस्मिन् अर्जुने दयालुः दयाशीलः स मम तातः उज्झितः परित्यक्तः नयो विनयः येन तेन जिष्णुना जयशीलेन अर्जुनेन आसादितो हतः किम् ?। गोविन्देन भगवता कृष्णेन सुदर्शनस्य स्वसुदर्शनचक्रस्य निशितं तीक्ष्णं धारापथं धारामार्गं प्रापितः गमितः, नीत इत्यर्थः, किम् ? किं स भगवता कृष्णेन सुदर्शनेन हत इत्यर्थः । एभ्य उपरिकथितेभ्यस्त्रिभ्यः कारणेभ्योऽन्यतः अन्यस्मात् कस्माच्चिन् चतुर्थान् कारणादहं गुरोः स्वपितुः आपदं मृत्युं न शङ्के न सम्भावये खलु इत्यर्थः ॥ शार्दूलविक्रीडितं छन्दः, 'सूर्याश्वैर्यदि मासजः सततगाः शार्दूलविक्रीडितम् ॥६॥

सूत—ऐसा कैसे हो सकता है ?

अश्वत्थामा—तो क्या फिर भगवान् कृष्ण ने उन्हें अपने सुदर्शन चक्र की तेज़ धार का निशाना बनाया है ?

सूत—यह बात भी नहीं है ।

अश्वत्थामा—तो इन तीनों को छोड़कर अन्य किसी चौथे व्यक्ति के द्वारा मुझे अपने पिता की मृत्यु की आशङ्का नहीं है ॥६॥

सूतः—कुमार !

एतेऽपि तस्य कुपितस्य महास्त्रपाणेः,
किं धूर्जटेरिव तुलामुपयान्ति संख्ये ।
शोकोपरुद्धहृदयेन यदा तु शस्त्रं
त्यक्तं तदाऽस्य विहितं रिपुणाऽतिघोरम् ॥१०॥

अश्वत्थामा—किं पुनः कारणं शोकस्याऽस्त्रपरित्यागस्य वा ?

एतेऽपीति—(अन्वयः) एते अपि महास्त्रपाणेः कुपितस्य तस्य धूर्जटेः इव संख्ये तुलाम् उपयान्ति किम् ? यदा तु शोकोपरुद्धहृदयेन (तेन) शस्त्रं न्यस्तं तदा रिपुणा अस्य अति घोरं विहितम् ।

(व्याख्या) एते भीमार्जुनादयः महदस्त्रं ब्रह्मास्त्रं पाणौ यस्य तस्य कुपितस्य कोपाविष्टस्य तस्य मम तातस्य धूर्जटेः शङ्करस्येव संख्ये युद्धे तुलां समताम् उपयान्ति गच्छन्ति, प्राप्नुवन्तीत्यर्थः, किम् ? । यदा तु शोकेन उपरुद्धं हृदयं यस्य तेन शोकाभिभूतचेतसा तव तातेन अस्त्रं न्यस्तं परित्यक्तं तदा रिपुणा, धृष्टद्युम्नेनेत्यर्थः, अस्य तव पितुः अतिघोरं शिरः-कर्तनरूपमत्यन्तं दारुणं कर्म विहितं कृतम् । त्यक्तशस्त्रस्य तव पितुः शत्रुणा शिरश्चिच्छिदे इत्यर्थः । वसन्ततिलका छन्दः, 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति तल्लक्षणात् ॥१०॥

सूत—कुमार !

ये सब लोग भी क्या युद्ध-भूमि में कोपाविष्ट, महाशस्त्रधारी तथा भगवान् शंकर के समान पराक्रमी आपके पिता जी की तुलना कर सकते हैं ? परन्तु शोकाभिभूतचित्त होकर जिस समय उन्होंने (युद्ध-क्षेत्र में) शस्त्र त्याग दिये उस समय शत्रु ने (अवसर पाकर) उनपर अत्यन्त दारुण प्रहार किया ॥१०॥

अश्वत्थामा—(आर्य !) तो फिर पिता जी के शोक या शस्त्र-परित्याग का क्या कारण था ?

सूतः—ननु कुमार एव कारणम् ।

अश्वत्थामा—कथमहमेव नाम ?

सूतः—(अश्रूणि विमुच्य) श्रूयताम् ।

'अश्वत्थामा हत' इति पृथासूनुना स्पष्टमुक्त्वा,
स्वैरं शेषे 'गज' इति किल व्याहृतं सत्यवाचा ।
तच्छ्रुत्वाऽसौ दयिततनयः प्रत्ययात्तस्य राज्ञः,
शस्त्राण्याजौ नयनसलिलं चापि तुल्यं मुमोच ॥११॥

अश्वत्थामेति—(अन्वयः) सत्यवाचा पृथासूनुना 'अश्वत्थामा हतः' इति स्पष्टम् उक्त्वा शेषे 'गजः' इति स्वैरं व्याहृतं किल । दयिततनयः असौ तत् श्रुत्वा तस्य राज्ञः प्रत्ययात् आजौ शस्त्राणि नयनसलिलम् अपि च तुल्यं मुमोच ॥

(व्याख्या) सत्या वाग् वाणी यस्य तेन पृथायाः कुन्त्याः सूनुना पुत्रेण युधिष्ठिरेण 'अश्वत्थामा हतः' इत्येवं स्पष्टं व्यक्तमुच्चैः स्वरेणेत्यर्थः, उक्त्वा शेषेऽवशिष्टे च वाक्ये 'गजः' इति स्वैरं मन्दं व्याहृतमुक्तम् । किलेति निश्चये वाक्यपूर्तौ वा । दयितः प्रियः तनयः पुत्रो यस्य सोऽसौ तव तातस्तच्छ्रुत्वा तस्य राज्ञो युधिष्ठिरस्य प्रत्ययाद् विश्वासाद् आजौ समरे शस्त्राणि आयुधानि नयनसलिलं नेत्रजलं चाऽपि तुल्यं, समकालमेवेत्यर्थः, मुमोच तत्याज । मन्दाक्रान्ता छन्दः, 'मन्दाक्रान्ताम्बुधिरसनगैर्मो भनौ तौ गयुग्मम्' इति तल्लक्षणात् ॥११॥

सूत—आप ही कारण थे ।

अश्वत्थामा—मैं कैसे ?

सूत—(आँसू पोंछ कर) सुनिये—

जिस समय युद्ध-क्षेत्र में सत्यवादी कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर ने 'अश्वत्थामा मारा गया' यह शब्द स्पष्ट स्वर में कहकर शेष 'गज' यह बहुत धीरे से कहा तो उस समय पुत्रवत्सल आपके पिता जी ने राजा युधिष्ठिर का विश्वास करके आँखों से आँसू बहाते हुए शस्त्र त्याग दिये ॥११॥

अश्वत्थामा—हा तात ! हा सुतवत्सल ! हा वृथा मदर्थपरित्यक्त-जीवित ! हा शौर्यराशे ! हा शिष्यप्रिय ! हा युधिष्ठिरपक्षपातिन् ! (इति रोदिति ।)

सूतः—कुमार ! अलमत्यन्तपरिदेवनकार्पण्येन ।

अश्वत्थामा—

श्रुत्वा वधं मम मृषा सुतवत्सलेन,
तात ! त्वया सह शरैरसवो विमुक्ताः ।

हा तातेति—मदर्थे परित्यक्तं जीवितं येन स तत्सम्बुद्धौ । शौर्यस्य शक्तेः राशिस्तत्सम्बुद्धौ । अत्यन्तं यत् परिदेवनं विलापस्तदेव कार्पण्यं तेनाऽलमित्यर्थः ।

श्रुत्वेति—(अन्वयः) (हे) तात ! मम मृषा वधं श्रुत्वा सुतवत्सलेन त्वया शरैः सह असवः विमुक्ताः । अहो ! अहं पुनः भवता विना अपि जीवामि । तत् क्रूरे अपि मयि तव मुधा पक्षपातः (आसीत्) ॥

(व्याख्या) हे तात ! हे पितः ! मम अश्वत्थाम्नो मृषा मिथ्यैव वधं श्रुत्वा, सुते वत्सलस्तेन सुतवत्सलेन पुत्रप्रियेण त्वया शरैर्बाणैः सह युद्धभूमौ मत्कृते असवः प्राणा अपि विमुक्तास्त्यक्ताः । अहो इत्याश्चर्ये खेदे च । अहं पुनर्भवता विना त्वया विरहितः सन् इदानीमपि जीवामि प्राणान् धारयामि । तत्तस्मात् क्रूरे दारुणे निर्दये मयि अश्वत्थाम्नि तव मुधा व्यर्थमेव पक्षपातः प्रेम वात्सल्यमित्यर्थः, आसीत् ।

अश्वत्थामा—हा तात ! हा पुत्रवत्सल ! हा मेरे लिये व्यर्थ जीवन का परित्याग करने वाले ! हा शिष्यों को प्रेम करने वाले ! हा युधिष्ठिर पर विशेष कृपा दृष्टि रखने वाले ! (ऐसा कहकर रोने लगता है ।)

सूत—कुमार ! इस अत्यधिक विलाप एवं दीनता को छोड़ो ।

अश्वत्थामा—हे तात ! आपने मेरी मृत्यु के झूठे ही समाचार को सुनकर पुत्र-वात्सल्य के कारण युद्धक्षेत्र में बाणों के साथ प्राण भी छोड़ दिये। परन्तु

जीवाम्यहं पुनरहो भवता विनाऽपि,
क्रूरेऽपि तन्मयि मुधा तव पक्षपातः ॥१२॥
(इति मोहमुपगतः)

सूतः[1]—समाश्वसितु समाश्वसितु कुमारः ।
(ततः प्रविशति कृपः ।)

कृपः—(सोद्वेगं निःश्वस्य)

धिक् सानुजं कुरुपतिं धिगजातशत्रुं,
धिग् भूपतीन् विफलशस्त्रभृतो धिगस्मान् ।

त्वयि दिवंगते सति जीवन्नहमत्यन्तमेव दारुणमाचरामीति भावः । वसन्ततिलका छन्दः, 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति तल्लक्षणात् ॥१२॥

धिगिति—(अन्वयः) सानुजं कुरुपतिं धिक्, अजातशत्रुं धिक्, भूपतीन् धिक्, विफलशस्त्रभृतः अस्मान् धिक्, यैः तदा लिखितैः इव द्रुपदात्मजायाः केशग्रहः वीक्षितः खलु, अद्य च द्रोणस्य (केशग्रहः वीक्षितः) ।

(व्याख्या) अनुजैर्दुःशासनादिभिः सहितं सानुजं कुरुपतिं दुर्योधनं धिक्, न जात उत्पन्नः शत्रुर्यस्य तमजातशत्रुं युधिष्ठिरं धिक्, भूपतीन्

आश्चर्य है कि मैं आपके बिना अभी भी जीवित हूं। इस लिये मुझ निर्दय पर आपका (इतना) प्रेम व्यर्थ ही था ॥१२॥

(यह कहकर मूर्च्छित हो जाता है।)

सूत—कुमार ! धैर्य रखिये, धैर्य रखिये ।

(इसके बाद कृपाचार्य प्रवेश करते हैं।)

कृप—(बड़े उद्वेग के साथ दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए)

अपने भाइयों सहित कुरुराज दुर्योधन को, अजातशत्रु युधिष्ठिर को, अन्य

१. गु. अस्यस्थाने 'नेपथ्ये' इति पा. ।

केशग्रहः खलु तदा द्रुपदात्मजाया,
द्रोणस्य चाद्य लिखितैरिव वीक्षितो यैः ॥१३॥

तत्कथं नु खलु वत्समद्य द्रक्ष्याम्यश्वत्थामानम् । अथवा हिमवत्सार—गुरुचेतसि ज्ञातलोकस्थितौ तस्मिन्न खलु शोकावेगमहमाशङ्के । किन्त्व-सदृशं पितुः पराभवमुपश्रुत्य न जाने किं व्यवस्यतीति । अथवा—

अन्यान् राज्ञश्च धिक्, तथा विफलमेव शस्त्राणि बिभ्रतीति तान् तथा-विधान् अस्मान् धिग् यैस्तदा द्यूतसमये लिखितैश्चित्रलिखितैरिवा-ऽस्माभिः सर्वैरेव द्रुपदस्य राज्ञ आत्मजा पुत्री द्रौपदी तस्याः केशग्रहो दुःशासनेन केशाकर्षणं वीक्षित इति पूर्वतः सम्बध्यते । वसन्ततिलका छन्दः, 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति तल्लक्षणात् ॥१३॥

तत्कथमिति—कथं केन प्रकारेण । हिमवतो हिमाचलस्य यः सारो बलं गाम्भीर्यं वा तद्वद् गुरु गभीरं चेतश्चित्तं यस्य तस्मिन्, ज्ञाता विदिता लोकस्थितिः यस्य तस्मिन् तथाभूते अश्वत्थाम्नि शोकस्य आवेग-मावेशमहं न आशङ्के न सम्भावयामीत्यर्थः । परमीदृशमसदृशं धृष्ट-द्युम्नेन केशाकर्षणरूपमनुचितं पराभवं तिरस्कारमुपश्रुत्य आकर्ण्य न जाने स किं व्यवस्यति विधास्यति ।

राजाओं तथा व्यर्थ शस्त्र धारण करने वाले हम सब लोगों को धिक्कार है, जिन्होंने (जूए के समय दुर्योधन की भरी सभा में) चित्रलिखित की तरह (बैठे हुए दुःशासन के द्वारा) द्रौपदी के तथा आज (युद्धस्थल में धृष्टद्युम्न के द्वारा) गुरु द्रोणाचार्य के केशों को खिंचते देखा ॥१३॥

आज मैं वत्स अश्वत्थामा से किस मुंह से मिलूंगा । अथवा हिमालय के समान गम्भीरचित्त तथा लोक स्थिति को जानने वाले अश्वत्थामा के विषय में मुझे किसी प्रकार के शोकोद्वेग की सम्भावना नहीं है । परन्तु अपने पिता के (युद्ध-क्षेत्र में हुए) अनुचित तिरस्कार को सुनकर, पता नहीं, वह क्या कर बैठे । अथवा—

एकस्य तावत् पाकोऽयं दारुणो भुवि वर्तते ।
केशग्रहे द्वितीयेऽस्मिन्नूनं निःशेषिताः प्रजाः ॥१४॥

(विभाव्य) तदयं वत्सस्तिष्ठति । यावदुपसर्पामि (उपसृत्य ससम्भ्रमम्) वत्स ! समाश्वसिहि, समाश्वसिहि ।

अश्वत्थामा—(संज्ञां लब्ध्वा, सास्रम्) हा तात ! सकलभुवनैक-गुरो !! (आकाशे) युधिष्ठिर ! युधिष्ठिर !

एकस्येति—(अन्वयः) एकस्य तावत् अयं दारुणः पाकः भुवि वर्तते, द्वितीये अस्मिन् केशग्रहे नूनं प्रजाः निःशेषिताः (भविष्यन्ति)।

(व्याख्या) एकस्य द्रौपद्याः केशग्रहस्य तावद् अयं महाभारत-युद्धरूपो दारुणो भयंकरः पाकः परिणामो भुवि पृथिव्यां वर्तते, द्वितीये अस्मिन् केशग्रहे द्रोणस्य केशाकर्षणे समस्ता अपि प्रजाः निःशेषिताः सर्वथा विनष्टा एव भविष्यन्तीति शेषः ॥१४॥

विभाव्येति—विभाव्य सम्यङ् निरूप्य विलोक्येत्यर्थः । उपसृत्य समीपं गत्वेत्यर्थः उप√सृ+क्त्वा>ल्यप् ।

संज्ञामिति—संज्ञां चेतनां लब्ध्वा प्राप्येत्यर्थः । सकलस्य भुवनस्य एकः प्रधानः, श्रेष्ठ इत्यर्थः, गुरुस्तत्सम्बुद्धौ ।

एक के (=द्रौपदी के) केशग्रह का भीषण परिणाम तो संसार मे महाभारत के भयानक युद्ध के रूप में उपस्थित ही है, दूसरे (द्रोणाचार्य) के केशग्रह से तो सम्भवतः समस्त प्रजा विनष्ट हो जाएगी (और संसार में बिल्कुल प्रलय हो जाएगी) ॥१४॥

(अच्छी प्रकार देखकर) वत्स द्रोणाचार्य तो यह खड़ा हुआ है । इसके पास चलता हूँ । (पास जाकर घबराए हुए) वत्स ! धैर्य रक्खो, धैर्य रक्खो ।

अश्वत्थामा—(होश में आकर आँसू बहाते हुए) हा तात ! हे समस्त संसार के प्रधान आचार्य ! (आकाश की ओर देखकर) युधिष्ठिर ! युधिष्ठिर !

आजन्मनो न वितथं भवता किलोक्तं,
न द्वेक्षि यज्जनमतस्त्वमजातशत्रुः।
ताते गुरौ द्विजवरे मम भाग्यदोषात्,
सर्वं तदेकपद एव कथं निरस्तम् ? ॥१५॥

आजन्मन इति—(अन्वयः) आजन्मनः भवता वितथं न उक्तं किल। यत् त्वम् जनं न द्वेक्षि अतः अजातशत्रुः (इति जनैः कथ्यते)। मम भाग्यदोषात् गुरौ द्विजवरे (मम) ताते सर्वं तत् एकपदे एव कथं निरस्तम् ?

(व्याख्या) आजन्मनो जन्मतः आरभ्य, 'आ' इति मर्यादायां कर्मप्रवचनीयस्तद्योगे पंचमी (तु. पा. 'आङ् मर्यादाभिविध्योः'), भवता वितथमसत्यं न उक्तं न भाषितम् किलेति निश्चयेऽव्ययम्। यद् यतस्त्वं जनं कमपि पुरुषं न द्वेक्षि न विरुणत्सि कस्मै अपि द्वेषं न करोषि, अतएव त्वं न जातः शत्रुर्यस्य सोऽजातशत्रुः 'अनुत्पन्नरिपुः' इत्येवं जनैः कथ्यते। मम भाग्यदोषाद् दौर्भाग्याद् गुरौ आचार्ये द्विजवरे ताते मम पितरि, विषयसप्तमी, तव सत्यप्रियत्वाजातशत्रुत्वादिकं च एकपद एव सहसैव भवता कथं निरस्तं परित्यक्तम् ? मम पितुर्विषये एव भवता कथमकस्माद् असत्यभाषणं कृतमित्यर्थः। वसन्ततिलका छन्दः, 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति तल्लक्षणात् ॥१५॥

जन्म से लेकर (आपने आज तक कभी भी) असत्य भाषण नहीं किया। किसी से द्वेष न करने के कारण आप 'अजात शत्रु' कहलाते हैं। परन्तु मेरे दुर्भाग्य से मेरे पिता के विषय में, जो (जाति से) ब्राह्मण तथा (कर्म से समस्त धनुर्धारियों के) आचार्य थे, आपने अपनी सत्यप्रियता एवं अजातशत्रुता आदि सभी गुण अकस्मात् कैसे छोड़ दिये ॥१५॥

सूतः— कुमार ! एष ते मातुलः पार्श्वे शारद्वतस्तिष्ठति ।

अश्वत्थामा—(पार्श्वे विलोक्य, सबाष्पम्) मातुल ! मातुल !

गतो येनाऽद्य त्वं सह रणभुवं सैन्यपतिना,
य एकः शूराणां गुरुसमरकण्डूनिकषणः ।
परीहासाश्चित्राः सततमभवन् येन भवतः,
स्वसुः श्लाघ्यो भर्ता क नु खलु स ते मातुल ! गतः ॥१६॥

गतो येनेति—(अनन्वयः) हे मातुल ! येन सैन्यपतिना अद्य त्वं रणभुवं गतः, य एक एव शूराणां गुरुसमरकण्डूनिकषणः (आसीत्), येन भवतः चित्राः परीहासाः सततम् अभवन्, स ते स्वसुः श्लाघ्यः भर्ता क नु खलु गतः ? ॥

(व्याख्या) हे मातुल ! येन सैन्यपतिना सेनापतिना सह अद्य त्वं रणभुवं गतः समरभुवं प्राप्तः, य एक एकाकी एव शूराणां वीर-सैनिकानां गुर्वी महती या समरकण्डूस्तस्या निकषणो घर्षण आसीत्, येन भवतस्तव चित्रा अनेकप्रकाराः परीहासा हास्यालापाः सततं निरन्तरं अभवन्, स ते स्वसुः भगिन्याः श्लाघ्यः प्रशंसनीयः भर्ता पतिः क नु

सूत—कुमार ! (देखिये,) यह आपके मामा कृपाचार्य आपके पास खड़े हुए हैं ।

अश्वत्थामा—(बराबर में देखकर आँसुओं के साथ) मामा जी ! मामा जी !!

जिन सेनापति के साथ आज आप रणभूमि में गए थे, जो अकेले ही वीरों की युद्ध की खुजली को दूर करने के लिये पर्याप्त थे और जिनके साथ

कृपः—वत्स ! परिगतपरिगन्तव्य एव भवान् तदलमत्यन्तशोकावेगेन ।

अश्वत्थामा—मातुल ! परित्यक्तमेव मया परिदेवनम् । एषोऽहं सुतवत्सलं तातमेवाऽनुगच्छामि ।

कृपः—वत्स ! अनुपपन्नमीदृशं व्यवसितं भवद्विधानाम् ।

सूतः—कुमार ! अलमतिसाहसेन ।

खलु गतः कुत्र गतः ? । शिखरिणी छन्दः, 'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागा शिखरिणी' इति तल्लक्षणात् ॥१६॥

वत्सेति—परिगतं ज्ञातं परिगन्तव्यं ज्ञातव्यं येन सः । अत्यन्तशोकस्य अत्यधिकदुःखस्य आवेगेन आवेशेन अलं कृतमित्यर्थः ।

मातुलेति—परिदेवनं विलापः । सुते वत्सलः सुतवत्सलः पुत्रप्रियस्तं पितरमनुगच्छामि अनुसरामि ।

वत्सेति—भवद्विधानां त्वादृशानां वीराणाम् ईदृशमेवंविधं व्यवसितं निश्चयः अनुपपन्नमनुचितमित्यर्थः ।

आपकी सदा अनेक प्रकार की हंसी-मजाक हुआ करती थी, वह आपके प्रशंसनीय भगिनी-पति कहाँ चले गए ? ॥१६॥

कृप—वत्स ! तुम्हें सब ज्ञातव्य बातें मालूम हो ही गई है । इसलिये अब अधिक शोक न करो ।

अश्वत्थामा—मामा जी ! मैंने अब विलाप करना छोड़ दिया । अब तो मैं अपने सुतवत्सल पिता का अनुसरण ही करता हूं ।

कृप—वत्स ! तुम्हारे जैसे वीरों के लिये ऐसा विचार शोभा नहीं देता ।

सूत—कुमार ! ऐसा दुःसाहस न करो ।

अश्वत्थामा—आर्य शारद्वत ! किमुच्यते[1] ?

मद्वियोगभयात्तातः परलोकमितो गतः ।
सहिष्ये विरहं तस्य वत्सलस्य कथं पितुः ॥१७॥

कृपः—वत्स ! यावदयं संसारस्तावत् प्रसिद्धैवेयं लोकयात्रा यत् पुत्रैः पितरो लोकद्वयेऽप्यनुवर्तनीया इति । पश्य—

मद्वियोगेति—(अन्वयः) मद्वियोगभयात् तातः इतः परलोकं गतः । तस्य वत्सलस्य विरहम् अहं कथं सहिष्ये ।

(व्याख्या) मम वियोगाद् यद् भयं त्रासस्तस्मादेव हेतोः मे तातः पिता इतोऽस्माल्लोकात् परलोकं दिवं गतः । तस्य एवंविधस्य वत्सलस्य पुत्रप्रियस्य विरहं वियोगमहं कथं केन प्रकारेण सहिष्ये सोढुं शक्ष्यामीत्यर्थः । अनुष्टुप् छन्दः ॥१७॥

वत्सेति—यावत्कालमयं संसारो जगद् वर्तते तावत्कालपर्यन्तमेव लोकद्वये इहलोके परलोके च पुत्रैः पितरः अनुवर्तनीया सेवनीया इत्यर्थः । इह लोके आज्ञापरिपालनादिना सेवनीयाः । परलोके च पितरः कथं सेवनीया इति तत्प्रकारमेवाऽऽह निवापेत्यादिना ।

अश्वत्थामा—आर्य शारद्वत ! आप क्या कह रहे हैं ! ·

मेरे वियोग के कारण पिता जी इस संसार को त्याग कर परलोक चले गये । भला, मैं ऐसे सुतवत्सल पिता जी का वियोग कैसे सहन कर सकता हूँ ? ॥१७॥

कृप—वत्स ! जब तक यह संसार है तब तक यह लोक-व्यवहार भी रहेगा कि पुत्र को दोनों लोकों में अपने पिता की सेवा करनी चाहिये । देखो—

१. G. अयं पा. नास्ति ।

निवापाऽञ्जलिदानेन केतनैः श्राद्धकर्मभिः ।
तस्योपकारे शक्तस्त्वं किं जीवन् किमुतान्यथा ? ॥१८॥

सूतः—आयुष्मन् ! यथैव मातुलस्ते शारद्वतः कथयति तत्तथा ।

अश्वत्थामा—आर्य ? सत्यमेवेदम् । किन्त्वतिदुर्वहत्वाच्छोकभारस्य न शक्नोमि तातविरहितः क्षणमपि प्राणान् धारयितुम् । तद्

निवापेति—(अन्वयः) निवापाञ्जलिदानेन केतनैः श्राद्धकर्मभिः तस्य उपकारे त्वं किं जीवन् शक्तः, उत अन्यथा (शक्तः) किम् ॥

(व्याख्या) न्युप्यते पितृभ्यो दीयते इति निवापः, 'पितृदानं निवापः स्यात्' इत्यमरः, निवाप एव अञ्जलिः निवापाञ्जलिः जलाञ्जलिस्तस्य दानेन, पितृतर्पणेनेत्यर्थः, केतनैः गृहैः पितॄणां स्मृतौ तेषां स्मारकरूपेण गृहनिर्माणैः श्राद्धानि एव कर्माणि श्राद्धकर्माणि तैः तस्य पितुः उपकारे त्वं किं जीवन् शक्तः समर्थः उत अन्यथा, मृत्वेत्यर्थः, शक्तः किम् ? त्वं जीवन् स्वपितरमधिकमुपकर्तुं समर्थः, मृत्वा वेत्यर्थः । यतो हि जीवन्नेव त्वं तस्याधिकमुपकारं कर्तुं क्षमः, अतस्त्वयाऽवश्यं जीवितव्यमिति भावः ॥१८॥

आर्येति—शोकस्य भारस्तस्य अतिदुर्वहत्वात् वोढुं सोढुं वाऽशक्यत्वात् तातेन पित्रा विरहितोऽहं क्षणमपि प्राणान् धारयितुं जीवितुं न शक्नोमि । तथाविधमपि मृतमपि । शस्त्रग्रहणमेव बिडम्बनाऽऽत्म-

---

संसार मे जीवित रहते हुए जलाञ्जलि देकर, (उनकी स्मृति में) गृह-निर्माण करा कर तथा श्राद्ध कर्मादि द्वारा तुम उनके प्रति उपकार कर सकते हो या मर कर ? ॥१८॥

सूत—आयुष्मन् ! जो तुम्हारे मामा शारद्वत कह रहे हैं वह वास्तव में ठीक है ।

अश्वत्थामा—आर्य ! यह वास्तव में सब कुछ ठीक है, परन्तु इस शोक-भार के असह्य होने के कारण पिता के वियोग में मैं अब क्षण भर भी जीवित नहीं रह सकता । इस लिये अब मैं वहीं जाना चाहता हूँ, जहाँ मैं अपने

गच्छामि तमेवोद्देशं यत्र तथाविधमपि पितरं द्रक्ष्यामि। (इत्युत्तिष्ठन् खड्गमालोक्य, विचिन्त्य) कृतमद्याऽपि शस्त्रग्रहणविडम्बनया। (साञ्जलिं बद्ध्वा) भगवन् शस्त्र!

गृहीतं येनासीः परिभवभयान्नोचितमपि,
प्रभावाद् यस्याऽभून्[1] खलु तव कश्चिन्नविषयः।

वञ्चनं तया इदानीं कृतमलमित्यर्थः। मम शस्त्रग्रहणेऽपि तातः शत्रुभिः मृत्युं प्रापित इत्यत इदानीं मम शस्त्रग्रहणं सर्वथाऽऽत्मप्रवञ्चनैव स्यादिति भावः।

गृहीतमिति—(अन्वयः) नोचितम् अपि परिभवभयात् येन (त्वं) गृहीतम् आसीः, यस्य प्रभावात् तव कश्चिद् नविषयः न खलु अभूत्, यतः तेन त्वं सुतशोकात्, नतु भयात्, परित्यक्तम् असि, (अतः) अहम् अपि त्वां विमोक्ष्ये। भवते स्वस्ति (अस्तु)।

(व्याख्या) न उचितं नोचितमनुचितमपि, इह 'न' इत्यस्य उचित शब्देन सुप्सुपीयः समासो नतु नञ् तत्पुरुषः, परिभवस्तिरस्कारस्तस्य भयात् द्रुपदकृततिरस्कारखेदात् येन मम पित्रा त्वं गृहीतं स्वीकृतमासीः, यस्य मम पितुः प्रभावात् तव कश्चिदपि नविषयः अविषयः, अत्र 'न' इत्यस्य 'विषय' शब्देन सुप्सुपीयः समासो नतु नञ्-तत्पुरुषः, न खलु अभूद् नैव आसीत्, गुरोः प्रभावात् सर्वत्रैव तव अनव-

पिता के शव को देख सकूं। (ऐसा कहकर उठते हुए तलवार को देखकर, कुछ सोच कर) अब मेरे लिये शस्त्र ग्रहण करना व्यर्थ है। (आँसू बहाते हुए हाथ जोड़ कर) भगवन् शस्त्र!

(पांचालराज द्रुपद द्वारा किए गए) तिरस्कार के कारण जिसने तुम्हें अनुचित होते हुए भी ग्रहण किया था और जिसके प्रभाव से तुम्हारी गति (आज तक) सर्वत्र अप्रतिरुद्ध रही, क्योंकि आज उसने ही, भय से नहीं, प्रत्युत

[1]. गु. 'त्युक्तम्०' इति पा.।

परित्यक्तं तेन त्वमसि सुतशोकान्नतु भयात्,
विमोक्ष्ये शस्त्र त्वामहमपि यतः स्वस्ति भवते ॥१६॥

(इति [2]परित्यक्तुमिच्छति)

(नेपथ्ये)

भो भो राजानः ! [3]कथमिह भवन्तस्तत्रभवतः[2] [3]क्षत्रियगुरो-र्भारद्वाजस्याऽसदृशं[2] परिभवममुना नृशंसेन प्रयुक्तमुपेक्षन्ते !

कुण्ठिता गतिरासीदित्यर्थः यतो यस्मात् कारणात् तेन मम पित्रा, आचार्यद्रोणेनेत्यर्थः, त्वं सुतस्य पुत्रस्य शोकात्, नतु कस्माचिदपि भयात्, परित्यक्तं विमुक्तम्, अतोऽहमपि त्वां विमोक्ष्ये परित्यक्ष्यामि। भवते स्वस्ति कल्याणमस्तु भवतु। शिखरिणी छन्दः, 'रसैः रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागा शिखरिणी' इति तल्लक्षणात् ॥१६॥

भो भो इति—क्षत्रियाणां गुरोः आचार्यस्य भारद्वाजस्य द्रोणस्य असदृशमनुचितं परिभवं पराभवममुना नृशंसेन निर्दयेन धृष्टद्युम्नेन प्रयुक्तं कृतं भवतः कथमुपेक्षन्ते इत्यन्वयः।

पुत्र-शोक के कारण, तुम्हें त्याग दिया है, इस लिए मैं भी तुम्हें छोड़ता हूँ। तुम्हारा कल्याण हो ॥१६॥

(यह कहकर छोड़ना चाहता है।)

(नेपथ्य में)

हे राजाओ ! श्रद्धेय एवं क्षत्रिय-गुरु आचार्य द्रोण के इस दुष्ट द्वारा किए गए तिरस्कार को आप कैसे सहन कर रहे हो ?

---

२. अयं पा. G. नास्ति। ३. G. 'गुरोः' इत्येव पा.।
४. गु. 'आसीत्' इति पा.।

अश्वत्थामा—(आकर्ण्य सक्रोधं शनैः-शनैः शस्त्रं स्पृशन्) किं गुरोर्भारद्वाजस्य परिभवः ?

(पुनर्नेपथ्ये)

आचार्यस्य त्रिभुवनगुरोर्न्यस्तशस्त्रस्य शोकाद्,
द्रोणस्याऽऽजौ नयनसलिलक्षालिताऽऽर्द्राननस्य ।
मौलौ पाणिं पलितधवले न्यस्य कृत्वा नृशंसं,
धृष्टद्युम्नः स्वशिविरमयं याति सर्वे सहध्वम् ॥२०॥

आचार्यस्येति—(अन्वयः) आजौ आचार्यस्य त्रिभुवनगुरोः शोकात् न्यस्तशस्त्रस्य नयनसलिलक्षालितार्द्राननस्य द्रोणस्य पलितधवले मौलौ पाणिं न्यस्य नृशंसं कृत्वा अयं धृष्टद्युम्नः स्वशिविरं याति । सर्वे सहध्वम् ।

(व्याख्या) आजौ युद्धे आचार्यस्य धनुर्विद्याचार्यस्य त्रयाणां भुवनानां समाहारस्त्रिभुवनं तस्य गुरोः शोकात् न्यस्तानि त्यक्तानि शस्त्राणि येन तस्य नयनसलिलेन अश्रुभिः क्षालितं धौतम् अत एव आर्द्रं क्लिन्नमाननं यस्य तस्य एवंविधस्य द्रोणस्य पलितेन वृद्धावस्थाकृतशौक्ल्येन धवले श्वेतीभूते मौलौ शिरसि पाणिं हस्तं न्यस्य निधाय नृशंसं शिरश्छेदनरूपं निर्दयं कर्म कृत्वा, द्रोणं सतिरस्कारं निहत्येत्यर्थः, अयं धृष्टद्युम्नः स्वशिविरं याति गच्छति । सर्वेऽपि यूयमिदानीं

अश्वत्थामा—(सुन कर क्रोध के साथ शनैः-शनैः शस्त्र को छूते हुए) क्या कहा ! आचार्य द्रोण का तिरस्कार ?

(नेपथ्य में पुनः शब्द होता है)

(धनुर्विद्या के) आचार्य एवं तीनों लोकों के गुरु द्रोण के पुत्र-शोक के कारण शस्त्र त्याग देने पर, जब कि नेत्रों से निरन्तर बहती हुई अश्रुधारा से धुल कर उनका मुख गीला हो रहा था, यह दुष्ट धृष्टद्युम्न युद्धभूमि में वृद्धावस्था

अश्वत्थामा—(सक्रोधं सकम्पं च कृपसूतौ दृष्ट्वा) किं नामेदम् !

प्रत्यक्षमात्तधनुषां मनुजेश्वराणां,
प्रायोपवेशसदृशं व्रतमास्थितस्य ।
तातस्य मे पलितमौलिनिरस्तकाशे,
व्यापारितं शिरसि शस्त्रमशस्त्रपाणेः ! ॥२१॥

स्वगुरुतिरस्कारं सहध्वम् । अयं धृष्टद्युम्नः सतिरस्कारं गुरुं द्रोणं निहत्य युष्मान् सर्वानपि वीरान् तिरस्कृत्य स्वशिबिरसन्निवेशं गच्छतीति तं गृह्णीतेति भावः । मन्दाक्रान्ता छन्दः, 'मन्दाक्रान्ताम्बुधिरसनगैर्मो भनौ तौ गयुग्मम्' इति तल्लक्षणात् ॥२०॥

प्रत्यक्षमिति—(अन्वयः) आत्तधनुषां मनुजेश्वराणां प्रत्यक्षं प्रायोपवेशसदृशं व्रतम् आस्थितस्य अशस्त्रपाणेः मे तातस्य पलितमौलिनिरस्तकाशे शिरसि शस्त्रं व्यापारितम् (किम् ?) ॥२१॥

(व्याख्या) आत्तं गृहीतं धनुर्यैस्तेषां मनुजेश्वराणां राज्ञां प्रत्यक्षं समक्षं, पुरस्तादित्यर्थः, 'प्रायो मरणानशने (मरणार्थमनशने इत्यर्थः) मृत्यौ बाहुल्यतुल्ययोः' इति मेदनी, प्रायेण मरणार्थमनशनेन उपवेशस्तेन सदृशं व्रतमास्थितस्य धारयतः (तु. G.) नास्ति शस्त्रं पाणौ यस्य तस्य अशस्त्रपाणेः अगृहीतास्त्रकरस्य मे मम तातस्य पितुः पलितेन जराकृतशौक्ल्येन युक्तो यः मौलिः, मध्यमपदलोपितत्पुरुषः, तेन

के कारण उनके सफ़ेद बालों पर हाथ रखकर निर्दयता के साथ उनका सिर काट कर अपने शिविर की ओर जा रहा है । आप सब लोग (गुरु के इस असह्य अपमान को) सहन करें ॥२०॥

अश्वत्थामा—(क्रोध के साथ कांपते हुए कृपाचार्य तथा सूत को देखकर) क्या यह सच है कि—

सब धनुर्धारी राजाओं के सामने अशस्त्र एवं मरणार्थ अनशन के समान

कृपः—वत्स ! एवं किल जनः कथयति ।

अश्वत्थामा—(सूतं प्रति) किं तातस्य दुरात्मना परिमृष्टमभूच्छिरः ?

सूतः—(सभयम्) कुमार ! आसीदयं तस्य तेजोराशेर्देवस्य नवः परिभवावतारः ।

अश्वत्थामा—हा तात ! हा पुत्रप्रिय ! मम मन्दभागधेयस्य कृते शस्त्र-परित्यागात्तथाविधेन क्षुद्रेणाऽऽत्मा परिभावितः (विचिन्त्य) अथवा—

निरस्तं तिरस्कृतं काशं काशपुष्पं, काशपुष्पशोभेत्यर्थः, येन तस्मिन् शिरसि शस्त्रमायुधं व्यापारितं प्रयुक्तं किम् ?, इति काका व्यज्यते । वसन्ततिलकाछन्दः, 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति तल्लक्षणात् ॥२१॥

किं तातस्येति—दुष्टः आत्मा यस्य तेन दुरात्मना दुष्टेन धृष्टद्युम्नेन किं तातस्य पितुः शिरः परिमृष्टं संस्पृष्टमभूत् ?

कुमारेति—तेजसां राशेः पुञ्जस्य। देवस्य देववत् पूज्यस्य। परिभवस्य तिरस्कारस्य अवतारः प्रसङ्गः ।

हा तातेति—मन्दं भागधेयंभाग्यं यस्य तस्य मम कृते एव शस्त्राणा-मायुधानां परित्यागात् तथा विधेन दुष्टेन धृष्टद्युम्नेन त्वया स्वीय आत्मा परिभावितस्तिरस्कारितः, परि√भू+णिच्, ततः क्तः प्रत्ययः ।

व्रत धारण किए हुए मेरे पिता के वृद्धावस्था के कारण काश-पुष्प से भी अधिक श्वेत सिर पर (दुष्ट धृष्टद्युम्न ने) शस्त्र चलाया ?

कृप—वत्स ! लोग ऐसा कहते हैं ।

अश्वत्थामा—(सूत के प्रति) क्या उस दुष्ट ने मेरे पूज्य पिता के सिर को छुआ ?

सूत—(डरते हुए) कुमार ! तेजोराशि उस देवता का यह प्रथम तिरस्कार था ।

अश्वत्थामा—हा तात ! हा पुत्रवत्सल ! मुझ अभागे के लिये शस्त्र त्याग कर आपने उस दुरात्मा से अपना तिरस्कार कराया । (कुछ विचार कर) अथवा

परित्यक्ते देहे रणशिरसि [1]शोकार्तमनसा,
शिरः श्वा काको वा द्रुपदतनयो वा परिमृशेत् ।
[2]स्फुरद्दिव्याऽस्त्रौघद्रविणमदमत्तस्य च रिपो-
र्ममैवाऽयं पादः शिरसि निहितस्तस्य[3] न करः ॥२२॥

आः दुरात्मन् पाञ्चालाऽपसद !

परित्यक्त इति—(अन्वयः) शोकार्त्तमनसा रणशिरसि देहे परित्यक्ते शिरः श्वा, काकः वा, द्रुपदतनयः वा परिमृशेत् । स्फुरद्दिव्याऽस्त्रौघद्रविण-मदमत्तस्य मम शिरसि एव रिपोः अयं पादः निहितः, न च (तातस्य शिरसि) करः ॥

(व्याख्या) शोकेन आर्त्तं पीडितम्, अभिभूतमित्यर्थः, मनश्चित्तं यस्य तेन तथाभूतेन तातेन रणशिरसि युद्धभूमौ देहे शरीरे परित्यक्ते सति श्वा कुक्कुरः, काको वा द्रुपदस्य राज्ञस्तनयः पुत्रो धृष्टद्युम्नः परिमृशेत् संस्पृशेत् । नाऽनेन मृतात्मनः कश्चिदपि भेदो जायते । तस्य शुनि धृष्टद्युम्ने वा नास्ति कश्चन भेदः । परं वस्तुतस्तु स्फुरन्ति यानि दिव्यानि अस्त्राणि तेषामोघः समूहः स एव द्रविणं धनं तस्य यो मदस्तेन मत्तस्य मम शिरसि मूर्ध्नि एव रिपोः शत्रोर्धृष्टद्युम्नस्य अयं पादः निहितः स्थापितः, न च मे तातस्य शिरसि तेन करो निहितः । अर्थात् मे पितुः शिरसि हस्तं स्थापयता तेन मम मूर्ध्नि साक्षात् स्वीयः पाद एव स्थापित इत्यतोऽत्र मयाऽवश्यमेव शीघ्रं कश्चन प्रतीकारः

शोक से उद्विग्नचित्त होकर युद्धभूमि में मेरे पिता के शरीर त्याग देने पर उनके सिर को कुत्ता, कौवा या द्रुपद-पुत्र धृष्टद्युम्न कोई भी छुए (उनके लिये सब समान है) । परन्तु वास्तव में यह तो चमकते हुए दिव्य अस्त्रों के समूह-

---

१. G. 'शोकान्ध०' इति पा. । २. गु. 'असंख्याताऽस्त्रौ०' इति पा. । ३. गु. 'तस्य सहसा' इति पा. ।

तातं अस्त्रग्रहणविमुखं निश्चयेनोपलभ्य,
त्यक्त्वा शङ्कां खलु विदधतः पाणिमस्योत्तमाङ्गे ।
अश्वत्थामा करधृतधनुः पाण्डुपाञ्चालसेना-
तूलोत्क्षेपप्रलयपवनः किं न यातः स्मृतिं ते ॥२३॥

कर्तव्य इति भावः । शिखरिणी छन्दः, 'रसैरुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी' इति तल्लक्षणात् ॥२२॥

आः इति—पाञ्चालः अपसदो नीच इति तत्सम्बुद्धौ हे पाञ्चाला-पसद ! हे नीच धृष्टद्युम्न ! ।

तातमिति—(अन्वयः) शस्त्रग्रहणविमुखं तातं निश्चयेन उपलभ्य शङ्कां त्यक्त्वा अस्य खलु उत्तमाङ्गे पाणिं विदधतः ते करधृतधनुः पाण्डुपाञ्चालसेनातूलोत्क्षेपप्रलयपवनः अश्वत्थामा किं स्मृतिं न यातः ? ॥

(व्याख्या) शस्त्रग्रहणे विमुखं पराङ्मुखम्, उदासीनमित्यर्थः, तातं मम पितरं निश्चयेन उपलभ्य विज्ञाय शङ्कां मरणादिशङ्कां त्यक्त्वा विहाय अस्य मे तातस्य खलु उत्तमाङ्गे शिरसि पाणिं हस्तं विदधतः स्थापयतस्ते करे हस्ते धृतं गृहीतं धनुः येन सः, पाण्डूनां पाञ्चालानां च या सेना सा एव तूलः कार्पासः तस्य उत्क्षेपे ऊर्ध्वं क्षेपणे प्रलयपवनः प्रलयकालीनवायुवत् शक्तिशाली अयमश्वत्थामा किं ते स्मृतिं स्मरणं न यातः ? मम पितुरुत्तमाङ्गे हस्तं निक्षिपन् त्वं

रूपी धन के मद से प्रमत्त मुझ अश्वत्थामा के ही सिर पर सहसा पाद-प्रहार किया गया है, न (कि उनके सिर पर) हाथ रखा गया है ।

अरे दुष्ट नीच पाञ्चाल !

मेरे पिता को निश्चितरूप से शस्त्र-ग्रहण-पराङ्मुख जानकर निःशङ्क भाव से उनके उत्तमाङ्ग (=शिर) पर हाथ डालते हुए क्या हाथ में धनुष धारण किये हुए तथा पाण्डव एवं पाञ्चाल सेना-रूपी रुई को उड़ा कर फैंकने में

युधिष्ठिर, युधिष्ठिर ! अजातशत्रो ! अमिथ्यावादिन् ! धर्मपुत्र ! सानुजस्य ते किमनेनाऽपकृतम ? अथवा किमनेनाऽलीकप्रकृतिजिह्म-चेतसा ।

अर्जुन ! अर्जुन ! सात्यके ! बाहुशालिन् वृकोदर ! माधव ! युक्तं नाम भवतां सुराऽसुरमनुजलोकैकधनुर्धरस्य द्विजन्मनः परिणतवयसः सर्वाचार्यस्य विशेषतो मम पितुरमुना द्रुपदकुलकलङ्केन मनुजपशुना स्पृश्यमानमुत्तमाङ्गमुपेक्षितुम ? अथवा सर्व एवैते पातकिनः, किमेतैः ।

किं मामश्वत्थामानं सर्वथैव विस्मृतवान् ? मन्दाक्रान्ता छन्दः, 'मन्दा-क्रान्ताम्बुधिरसनगैर्मो भनौ नौ गयुग्मम' इति तल्लक्षणान् ।।२३।।

अथवेति—अलीका मिथ्यावादिनी, असत्येत्यर्थः प्रकृतिः स्वभावो यस्य सोऽलीकप्रकृतिः, जिह्मं कुटिलं चेतः यस्य स जिह्मचेताः, अलीक-प्रकृतिश्च जिह्मचेताश्च तेन तथाविधेन अनेन युधिष्ठिरेण किं प्रयोजन-मित्यर्थः ।

अर्जुनेति—सुराश्च असुराश्च मनुजलोकाश्च तेषु एकः मुख्यो धनुर्धर-स्तस्य, द्विजन्मनो ब्राह्मणस्य, परिणतं वय आयुर्यस्य तस्य परिणत-वयसो वृद्धस्य, सर्वेषामाचार्यस्य गुरोर्विशेषतो विशेषरूपेण मम पितुः उत्तमाङ्गं शिरः द्रुपदकुलकलङ्केन द्रुपदकुलस्य कलङ्कभूतेन मनुजेषु पशुना

प्रलयकालीन वायु के समान शक्तिशाली यह अश्वत्थामा तुझे याद नहीं आया ? ।।२३।।

हे युधिष्ठिर ! हे अजातशत्रो ! हे सत्यवादिन् ! हे धर्मपुत्र ! तुम्हारा एवं तुम्हारे भाइयों का मेरे पिता ने क्या बिगाड़ा था ? अथवा इस कुटिल-वृत्ति एवं असत्य-प्रकृति से क्या कहना है ?

हे अर्जुन ! हे सात्यके ! हे भुजबलशालिन् भीम ! हे माधव ! देव, असुर एवं मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर, ब्राह्मण, वृद्ध, सबके आचार्य और विशेषरूप से मेरे पिता के उत्तमाङ्ग (=शिर) के द्रुपद-कुल-कलङ्क मानव-पशु

कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकं,
मनुजपशुभिर्निर्मर्यादैर्भवद्भिरुदायुधैः ।
नरक-रिपुणा सार्धं तेषां सभीमकिरीटिना-
मयमहमसृङ्मेदोमांसैः करोमि दिशां बलिम् ॥२४॥

पशुतुल्येन अमुना धृष्टद्युम्नेन स्पृश्यमानमुपेक्षितुं भवतां किं युक्तं नामेत्यन्वयः ।

कृतमिति—(अन्वयः) यैः मनुजपशुभिः निर्मर्यादैः उदायुधैः भवद्भिः इदं गुरुपातकं कृतम्, अनुमतं, दृष्टं वा तेषां नरकरिपुणा सार्धं सभीमकिरीटिनां (युष्माकम् सर्वेषामेव) असृङ्मेदोमांसैः अय-महं दिशां बलिं करोमि ॥

(व्याख्या) यैः मनुजेषु पशुभिः पशुतुल्यैः, मर्यादाया निर्गता इति निर्मर्यादाः, 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' इति पंचमीतत्पुरुषः, तैः मर्यादामतिक्रान्तैः, उद्यतानि आयुधानि येषां तैः भवद्भिः इदं गुरु महत् पातकं कृतं विहितम्, दृष्टमवलोकितं वा तेषां नरकस्य नरका-सुरस्य रिपुणा शत्रुणा, कृष्णेनेत्यर्थः, सार्धं सह भीमश्च किरीटी च ताभ्यां सहितानां युष्माकं सर्वेषामेव असृङ्मेदोमांसैः रक्तवसामांसैः अयमहमश्वत्थामा दिशां दिग्भ्य इत्यर्थः बलिं करोमि दास्यामीत्यर्थः । इदानीमेव युष्मान् सर्वान् हनिष्यामीत्यर्थः । हरिणी छन्दः, 'नसमर-सलागः षड्वेदैर्हरिणी मता' इति तल्लक्षणात् ॥२४॥

इस धृष्टद्युम्न के द्वारा छूए जाने पर भी उपेक्षा करना क्या आप सब लोगों के लिये उचित था ? अथवा ये सब पापी हैं । इनसे क्या कहना है ?

तुम लोगों में से जिन मानव-पशुओं ने मर्यादा को त्यागकर शस्त्र धारण करके गुरु-वध-रूपी महापाप किया है, या उसमें अपनी अनुमति दी है अथवा उसे होते देखा भी है, कृष्ण, भीम एवं अर्जुन के साथ उन सब लोगों के रुधिर, मज्जा तथा मांस से दिशाओं को बलि दूँगा ॥२४॥

कृपः—वत्स ! किं न सम्भाव्यते भारद्वाजतुल्ये बाहुशालिनि दिव्यास्त्रग्रामकोविदे भवति !

अश्वत्थामा—भो भोः ! पाण्डवमत्स्यसोमकमागधाद्याः क्षत्रियापसदाः ?

पितुर्मूर्ध्नि स्पृष्टे ज्वलदनलभास्वत्परशुना,
कृतं यद् रामेण श्रुतिमुपगतं तन्न भवताम् ? ।

वत्सेति—भारद्वाजेन द्रोणेन तुल्ये सदृशे बाहुशालिनि सुबाहौ दिव्यानि यानि अस्त्राणि तेषां यो ग्रामः समूहस्तस्मिन् कोविदे विदुषि भवति त्वयि किं न सम्भाव्यते इत्यन्वयः । कोः वेदस्य विदः ज्ञाता इति कोविदः । यद्वा कवि वेदे विदा ज्ञानं यस्य स इति कोविदः (तु. G.) ।

पितुरिति—(अन्वयः) पितुः मूर्ध्नि स्पृष्टे (सति) ज्वलदनलभास्वत्परशुना रामेण यत् कृतं तद् भवतां श्रुतिं न उपगतम् (किम्) ? अथ अरिरुधिरासारविघसं तत् कर्म रणमुखे क्रोधान्धः अश्वत्थामा किं विधातुं न प्रभवति ?

(व्याख्या) पितुः जमदग्नेः मूर्ध्नि सहस्रबाहुना स्पृष्टे सति ज्वलन् दीप्यमानो यः अनलः अग्निस्तद्वद् भास्वान् परशुर्यस्य तेन रामेण परशुरामेण यत् त्रिसप्तकृत्वः क्षत्रियाणां हननरूपं कर्म कृतं तद् भवतां

कृप—वत्स ! तुम अपने पिता द्रोण के समान ही भुज-बल-शाली एवं दिव्य शस्त्रास्त्रों के पूर्ण ज्ञाता हो । तुम से किस बात की सम्भावना नहीं की जा सकती ?

अश्वत्थामा—अरे पाण्डव, मत्स्य, सोमक एवं मागध-वंशोत्पन्न नीच क्षत्रियो !

(सहस्रबाहु के द्वारा) अपने पिता जमदग्नि के उत्तमाङ्ग (=शिर) के छूए जाने पर प्रज्वलित अग्नि के समान चमकते हुए परशु को धारण करने वाले परशुराम ने जो कुछ किया, क्या वह तुम लोगों ने नहीं सुना ? क्या

किमद्याऽश्वत्थामा　　तदरिरुधिरासारविघसं,
न　कर्म क्रोधान्धः प्रभवति विधातुं रणमुखे ? ॥२५॥

([1]सूतमुद्दिश्य) सूत ! गच्छ त्वं सर्वोपकरणैः साङ्ग्रामिकैः सर्वायुधैरुपेतं महाहवलक्षणं नामाऽस्मत्स्यन्दनमुपनय ।

सूतः—यदाज्ञापयति कुमारः (इति निष्क्रान्तः ।)

कृपः—वत्स ! अवश्यप्रतिकर्तव्येऽस्मिन् दारुणे निकाराग्नौ सर्वेषामस्माकं कोऽन्यस्त्वामन्तरेण शक्यः प्रतिकर्तुम् । किन्तु—

श्रुतिं श्रवणपथं न उपगतं न प्राप्तं किम् ? अद्य इदानीम् अरीणां रुधिरस्य आसारः धारासम्पातः एव विघसो यज्ञविशेषः यस्मिन् तादृशं कर्म रणमुखे युद्धभूमौ क्रोधान्धः अश्वत्थामा किं विधातुं कर्तुं न प्रभवति न समर्थः किम् ! समर्थ एवेति काका व्यज्यते ॥ शिखरिणी छन्दः, 'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागा शिखरिणी' इति तल्लक्षणात् ॥२५॥

सूतेति—सर्वैः उपकरणैः साधनैः, संग्रामस्य इदं सांग्रामिकं तैः संग्रामसम्बन्धिभिः सर्वैः सर्वप्रकारकैः आयुधैः शस्त्रैः उपेतं युक्तम् महाहवलक्षणं महायुद्धयोग्यमस्मत्स्यन्दनं रथमुपनय आनयेत्यन्वयः ।

वत्सेति—दारुणे भयंकरेऽस्मिन् निकारस्य तिरस्कारस्य अग्नौ अवश्यमेव प्रतिकर्तव्ये शोधनीये अस्माकं सर्वेषामपि मध्ये त्वामन्तरेण विना

आज क्रोधान्ध अश्वत्थामा युद्धभूमि में शत्रुओं के रुधिर की धारा से वही पितृ-तर्पण-रूपी कार्य नहीं कर सकता ? ॥२५॥

(सूत की ओर संकेत करके) तुम जाओ और समस्त उपकरणों एवं युद्ध-सम्बन्धी सब शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित मेरे 'महाहवलक्षण' नामक रथ को शीघ्र लेकर आओ ।

सूत—जो कुमार की आज्ञा । (ऐसा कहकर चला जाता है ।)

कृप—वत्स ! तुम्हें छोड़ कर हम सब लोगों में और कौन ऐसा है जो तिरस्कार की इस भयङ्कर अग्नि का, जिसका अवश्य ही कुछ न कुछ प्रतीकार होना चाहिये, प्रतिविधान (=प्रतिशोध) कर सके ? किन्तु,

१. G. अयं पा. नास्ति ।

अश्वत्थामा—किमतः परम् ?

कृपः—सैनापत्येऽभिषिच्य भवन्तमिच्छामि समरभुवमवतारयितुम्।

अश्वत्थामा—मातुल ! परतन्त्रमिदमकिंचित्करं च।

कृपः—वत्स न खलु परतन्त्रं नाऽकिंचित्करं च। पश्य—

भवेदभीष्मद्रोणं धार्तराष्ट्रबलं कथम्।
यदि तत्तुल्यकक्षोऽत्र भवान् धुर्यो[1] न युज्यते ॥२६॥

कः प्रतिकर्तुं प्रतिविधातुं, शोधयितुमित्यर्थः, शक्तः समर्थः।

सैनापत्य इति—सेनापतेर्भावः कर्म वा तस्मिन् सैनापत्ये सेनापतिपदे। अभिषिच्य अभिषेकं कृत्वा। अवतारयितुं प्रेषयितुम्।

भवेदिति—(अन्वयः) यदि तत्तुल्यकक्षः भवान् अत्र धुर्यः न युज्यते (तदा) अभीष्मम् अद्रोणं च धार्तराष्ट्रबलं कथं भवेत् ?

(व्याख्या) यदि तयोः भीष्मद्रोणयोः तुल्या समाना कक्षा श्रेणिः यस्यासौ तत्तुल्यकक्षः तत्समानवीरो भवान् अत्र धातराष्ट्रसेनायां धुरं वहतीति धुर्यः प्रधानो न युज्यते, क्रियते इत्यर्थः, तदा अभीष्मं भीष्मरहितम् अद्रोणं द्रोणविरहितं चेदं धार्तराष्ट्रस्य दुर्योधनस्य बलं सेना कथं भवेत् कथं सन्तिष्ठेत ? अतः सेनापतिपदे भवतो नियुक्तिः परमावश्यकीति भावः ॥२६॥

अश्वत्थामा—तो फिर इस 'किन्तु' से आपका तात्पर्य ?

कृप—मैं सेनापति-पद पर तुम्हारा अभिषेक करके तुम्हें युद्धभूमि में भेजना चाहता हूँ।

अश्वत्थामा—मामा जी ! यह बात पराधीन है और मेरे लिये कुछ विशेष महत्त्व-पूर्ण भी नहीं है।

कृप—वत्स ! यह पराधीन या अकिञ्चिन्कर नहीं है। देखो :—

यदि उन्हीं के समकक्ष आपको सेनापति न बनाया गया तो भीष्म एवं द्रोण से रहित कौरवों की यह सेना कैसे (सुरक्षित) रह सकेगी ?

१. G. 'धुरि' इति पा.।

कृतपरिकरस्य भवादृशस्य त्रैलोक्यमपि न क्षमं परिपन्थीभवितुं किं पुनर्यौधिष्ठिरबलम्। तदेवं मन्ये परिकल्पिताभिषेकोपकरणः कौरवराजो नचिरास्त्वामेवाभ्युदीक्षमाणस्तिष्ठतीति।

अश्वत्थामा—यद्येवं त्वरते मे परिभवाऽनलदह्यमानमिदं चेतस्तत्प्रतीकारजलावगाहनाय। तदहं गत्वा तातवधविषण्णमानसं कुरुपतिं सैनापत्यस्वयंग्रहणप्रणयसमाश्वासनया मन्दसन्तापं करोमि।

कृतपरिकरेति—कृतः परिकरः आरम्भः निश्चयो वा येन तस्य भवादृशस्य त्वत्सदृशस्य त्रैलोक्यं त्रिभुवनमपि परिपन्थीभवितुं विपक्षीभवितुं न क्षममलम्। युधिष्ठिरस्य इदं यौधिष्ठिरं युधिष्ठिरसम्बन्धि बलं सेना। परिकल्पितानि सुसज्जितानि अभिषेकोपकरणानि येन सः। नचिराद् इदानीमेव। अभ्युदीक्षमाणः प्रतीक्षमाणः।

यद्येवमिति—परिभवस्य तिरस्कारस्य अनलेनाऽग्निना दह्यमानम्। प्रतीकाररूपं यज्जलं तस्मिन् अवगाहनाय स्नानाय। तातवधेन विषण्णं दुःखितं मानसं यस्य तम्। सैनापत्यस्य सेनापतिपदस्य यत्स्वयंग्रहणं

दृढ़ निश्चय कर लेने पर तीनों लोक भी आप जैसे महान् वीर के विपक्षी होने का साहस नहीं कर सकते तो फिर युधिष्ठिर की सेना का तो कहना ही क्या है! इस लिये मैं समझता हूँ कि कौरवराज दुर्योधन अभिषेक की सामग्री तैयार करके इस समय आपकी ही प्रतीक्षा कर रहा होगा।

अश्वत्थामा—यदि ऐसी बात है तो तिरस्कार की दारुण अग्नि में दग्ध मेरा मन भी प्रतीकार-रूपी जल में स्नान करने के लिये उतावला हो रहा है। इस लिये मैं (अभी) चलकर मेरे पिता के वध के कारण दुःखित-चित्त कुरुपति दुर्योधन को स्वयं सेनापति-पद ग्रहण करने की प्रार्थना करके सान्त्वना देकर उनके दुःख को शान्त करता हूँ।

---

१. G. '०वाभ्यपेक्षमाणः' इति पा.।

कृपः—वत्स ! एवमिदम् । अतस्तमेवोद्देशं गच्छावः ।

(इति परिक्रामतः ।)

(ततः प्रविशतः कर्णदुर्योधनौ ।)

दुर्योधन—अङ्गराज !

तेजस्वी रिपुहतबन्धुदुःखपारं,

बाहुभ्यां व्रजति धृतायुधप्लवाभ्याम् ।

तस्मिन् यः प्रणयः तज्जनिता या समाश्वासना सान्त्वना तथा । मन्दः सन्तापो दुःखं यस्य तं तथाविधं करोमि तस्य सन्तापं हरामीत्यर्थः ।

तेजस्वीति—(अन्वयः) तेजस्वी धृतायुधप्लवाभ्यां बाहुभ्यां रिपुहत-बन्धुदुःखपारं व्रजति । आचार्यः संख्ये सुतनिधनं निशम्य शस्त्रग्रह-समये विशस्त्रः किम् आसीत् ? ॥

(व्याख्या) तेजस्वी पराक्रमी धृतं गृहीतं यद् आयुधं शस्त्रं तदेव प्लव उडुपं याभ्यां ताभ्यां बाहुभ्यां रिपुणा हतो निहतो यः बन्धुस्तेन तस्य वा यद् दुःखं (तदेव जलधिः) तस्य पारं व्रजति गच्छति । शस्त्रेण शत्रून् निहत्य आत्मदुःखं सान्त्वयतीत्यर्थः । आचार्यः द्रोणः संख्ये युद्धभूमौ सुतस्य पुत्रस्य अश्वत्थाम्नः निधनं मृत्युं निशम्य श्रुत्वा शस्त्राणां ग्रहस्य ग्रहणस्य यः समय उचितः कालस्तस्मिन् विशस्त्रः

कृप—वत्स ! बिल्कुल ठीक है । इस लिये चलो, वहीं चलते हैं । (ऐसा कहकर दोनों चले जाते हैं ।)

(इसके बाद कर्ण और दुर्योधन प्रवेश करते हैं ।)

दुर्योधन—अङ्गराज !

तेजस्वी पुरुष अपनी सशस्त्र भुजा-रूपी नौका से शत्रु द्वारा मारे गए अपने बन्धुओं के दुःख-सागर को पार करने की चेष्टा करता है । परन्तु द्रोणाचार्य

आचार्यः सुतनिधनं निशम्य संख्ये,

कि शस्त्रग्रहसमये विशस्त्र आसीत् ? ॥२७॥

अथवा सूक्तमिदमभियुक्तैः 'प्रकृतिर्दुस्त्यजेति'। यतः शोकान्ध-मनसा तेन विमुच्य क्षत्रधर्मकार्कश्यं द्विजातिधर्मसुलभो दैन्य-परिग्रहः कृतः।

कर्णः—राजन् ! कौरवेश्वर ! न खल्विदमेवम्।

दुर्योधनः—कथं तर्हि ?

त्यक्तशस्त्रः किमिति कस्माद्धेतोः आसीत् ? ॥ प्रहर्षिणी छन्दः, "[1]त्र्याशाभिर्मनजरगा प्रहर्षिणीयम्' इति तल्लक्षणात् ॥२७॥

अथवेति—प्रकृतिः स्वभावः। दुस्त्यजा दुःखेन त्यक्तुं शक्या। शोकेन अन्धं विमूढं मनः यस्य तेन द्रोणेन क्षत्रधर्मस्य क्षत्रियधर्मस्य कार्कश्यं काठिन्यं विमुच्य त्यक्त्वा द्विजातीनां ब्राह्मणानां धर्मे सुलभः दैन्यस्य परिग्रहः कृत इत्यन्वयः।

ने युद्धस्थल में अपने पुत्र की मृत्यु का समाचार सुनकर शस्त्र-ग्रहण करने के समय शस्त्र क्यों त्याग दिये ? ॥२७॥

अथवा नीतिज्ञ विद्वानों ने ठीक ही कहा है कि प्रकृति का परित्याग करना बड़ा कठिन है। इसी लिये आचार्य ने भी शोक से व्याकुल-चित्त होकर क्षत्रिय-जाति-सुलभ कर्कशता को छोड़कर ब्राह्मणोचित कोमलता को स्वीकार किया।

कर्ण—राजन् ! कौरवेश्वर ! नहीं, यह बात ऐसे नहीं है।

दुर्योधन—तो फिर कैसे है ?

---

१. यस्मिन् छन्दसि मनजरगेषु सत्सु त्रिभिर्दशभिश्च यतिर्भवति तत् प्रहर्षिणी वृत्तमित्यर्थः।

कर्णः—एवं किल द्रोणस्याऽभिप्राय आसीत्—यथा अश्वत्थामा मया पृथिवीराज्येऽभिषेक्तव्य इति। तस्याऽभावाद् वृद्धस्य मे ब्राह्मणस्य वृथा शस्त्रग्रहणमिति तथा कृतवान्।

दुर्योधनः . (सशिरःकम्पम्) एवमिदम् ! ।

कर्णः—एतदर्थं च कौरवपाण्डवपक्षपातप्रवृत्तमहासंग्रामस्य राजकस्य परस्परक्षयमपेक्षमाणेन तेन प्रधानपुरुषवध उपेक्षा कृता।

दुर्योधनः—उपपन्नमिदम्।

कर्णः—अन्यच्च राजन् ! द्रुपदेनाऽप्यस्य बाल्यात् प्रभृत्यभिप्राय-वेदिना न स्वराष्ट्रे वासो दत्तः।

एतदर्थमिति—कौरवपाण्डवयोः पक्षपातेन प्रवृत्तः आरब्धः महा-संग्रामो येन तस्य, 'प्रवृत्तः' इत्यत्र अन्तर्भावितण्यर्थः, राजकस्य राज-समूहस्य परस्परक्षयमपेक्षमाणेन प्रतीक्षमाणेन, वाञ्छतेत्यर्थः, तेन द्रोणेन प्रधानपुरुषस्य, जयद्रथस्येत्यर्थः, वधे उपेक्षा कृता उदासीनता प्रदर्शिता।

कर्ण—द्रोणाचार्य का वास्तविक अभिप्राय यह था—वह (अपने पुत्र) अश्वत्थामा को समस्त पृथिवी का राजा बनाना चाहते थे। परन्तु अश्वत्थामा की मृत्यु हो जाने पर उन्होंने इस विचार से कि 'अब मुझ वृद्ध ब्राह्मण को व्यर्थ शस्त्र ग्रहण करने से क्या लाभ है', शस्त्र त्याग दिये।

दुर्योधन —(शिर हिलाते हुए) अच्छा ! ऐसी बात है !

कर्ण—और इसी लिये कौरवों एवं पाण्डवों के पक्ष में लड़ने वाले क्षत्रियों के पारस्परिक विनाश की इच्छा से उन्होंने (=द्रोण ने) कौरव सेना के प्रधान पुरुष जयद्रथ के वध के विषय में भी उदासीनता दिखाई।

दुर्योधन—यह बात ठीक मालूम होती है।

कर्ण—और हे राजन् ! (इसी लिये) राजा द्रुपद ने भी बचपन से ही इनके (इस प्रकार के) भावों को जानते हुए इन्हें अपने राज्य मे नहीं रहने दिया।

दुर्योधनः—साधु, अङ्गराज ! साधु । निपुणमभिहितम् ।

कर्णः—न चाऽयं ममैकस्याऽभिप्रायः । अन्येऽभियुक्ता अपि नैवेद-मन्यथा मन्यन्ते ।

दुर्योधनः—एवमेतत् । कः सन्देहः ।

दत्त्वाऽभयं सोऽतिरथो वध्यमानं किरीटिना ।
सिन्धुराजमुपेक्षेत नैवं चेत्कथमन्यथा ॥२८॥

कृपः—(विलोक्य) वत्स ! एष दुर्योधनः सूतपुत्रेण सहास्यां न्यग्रोधच्छायायामुपविष्टस्तिष्ठति । तदुपसर्पावः ।

दत्त्वेति—(अन्वयः) चेत् एवं न (स्यात्), अन्यथा सः अतिरथः अभयं दत्त्वा किरीटिना वध्यमानं सिन्धुराजं कथम् उपेक्षेत ? ॥

(व्याख्या) चेद् यदि एवमित्थं न स्यात्तर्हि अतिरथः अप्रतिरथः 'अमितान् योधयेद्यस्तु संप्रोक्तोऽतिरथस्तु सः', स द्रोणः सिन्धुराजाय जयद्रथाय अभयमभयवाचं दत्त्वा, अपीति शेषः, किरीटिना अर्जुनेन वध्यमानं हन्यमानं तं सिन्धुराजं जयद्रथं कथमुपेक्षेत कथं तस्य उपेक्षां कुर्यादित्यर्थः ॥२८॥

दुर्योधन—ठीक, अङ्गराज ! ठीक । आपने बिलकुल ठीक बात कही है ।

कर्ण—और केवल मेरा ही यह विचार नहीं है, प्रत्युत और दूसरे राज-नीतिज्ञ भी ऐसा ही समझते हैं ।

दुर्योधन—हाँ, ठीक है । इसमें क्या सन्देह है ।

यदि ऐसा न होता तो अप्रतिरथ द्रोण सिन्धुराज जयद्रथ को अभय-वचन देकर अर्जुन के द्वारा मारे जाते हुए उसकी उपेक्षा क्यों करते ? ॥२८॥

कृप—(देख कर) वत्स ! यह दुर्योधन सूत-पुत्र कर्ण के साथ वट-वृक्ष की छाया में बैठे हुए हैं । आओ, उनके पास चलते हैं ।

(उनके पास जाकर)

कृप एवं अश्वत्थामा दोनों—कौरवेश्वर महाराज दुर्योधन की जय हो ।

(तथा कृत्वा)

उभौ—विजयतां[1] विजयतां कौरवेश्वरः ।

दुर्योधनः—(दृष्ट्वा) अये ! कथं कृपोऽश्वत्थामा च । (आसनादवतीर्य कृपं प्रति) गुरो ! अभिवादये । (अश्वत्थामानमुद्दिश्य) आचार्यपुत्र !

एह्यस्मदर्थहततात ! परिष्वजस्व,

क्लान्तैः शुचा मम निरन्तरमङ्गमङ्गैः ।

एह्यस्मदिति—(अन्वयः) (हे) अस्मदर्थहततात ! एहि, शुचा क्लान्तैः अङ्गैः मम अङ्गं निरन्तरं परिष्वजस्व । ते पितुः सदृशः एष तव भुजयोः स्पर्शः शोके नः तनूरुहेषु विकृतिम् एति ।

(व्याख्या) अस्मदर्थं हतः मृत्युं प्राप्तः तातः पिता यस्य स तत्सम्बुद्धौ हे अस्मदर्थहततात अश्वत्थामन् ! एहि आगच्छ ! शुचा शोकेन क्लान्तैः खिन्नैः अङ्गैः मम अङ्गं वक्षःस्थलं निरन्तरं प्रगाढं परिष्वजस्व आलिङ्ग । ते पितुः आचार्यद्रोणस्य सदृशः तव भुजयोः एष स्पर्शः शोकेऽपि नोऽस्माकं तनूरुहेषु लोमसु विकृतिं विकारमेति गच्छति, उत्पादयतीत्यर्थः । एवंविधे शोकसमयेऽपि तव भुजयोः

दुर्योधन—(देखकर) हैं, क्या कृपाचार्य और अश्वत्थामा हैं ? (आसन से उठकर आचार्य कृप के प्रति) गुरो ! मैं आपको अभिवादन करता हूँ । (अश्वत्थामा को लक्ष्य करके) आचार्य-पुत्र !

आपके पिता जी को हमारे लिये ही वीरगति प्राप्त हुई है । आओ, शोक से क्लान्त अपने अङ्गों से मेरे वक्षःस्थल का प्रगाढ आलिङ्गन करो ।

१. G. दिष्ट्यासि ।

स्पर्शस्तवैष भुजयोः सदृशः पितुस्ते,
शोकेऽपि नो विकृतिमेति तनूरुहेषु ॥२९॥

(आलिङ्ग्य पार्श्वे उपवेशयति)

(अश्वत्थामा वाष्पमुत्सृजति ।)

कर्णः—द्रोणायने ! अलमत्यर्थमात्मानं शोकानले प्रक्षेप्तुम् ।

दुर्योधनः—आचार्यपुत्र ! को विशेष आवयोरस्मिन् व्यसनमहार्णवे।

पश्य—

तातस्तव प्रणयवान् स पितुः सखा मे,
शस्त्रे यथा तव गुरुः स तथा ममापि ।
किं तस्य देहनिधने कथयामि दुःखं,
जानीहि तद् गुरुशुचा मनसा त्वमेव ॥३०॥

स्पर्शः अस्माकं शरीरे हर्षरोमाञ्चं जनयतीत्यर्थः । वसन्ततिलकाछन्दः, 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ ग.' इति तल्लक्षणात् ॥२६॥

तात इति—(अन्वयः) स (यथा) तव प्रणयवान् तातः (तथा) मे पितुः सखा, (यथा च) स शस्त्रे तव गुरुः (तथा) मम अपि (आसीत्) । तस्य देहनिधने दुःख किं कथयामि । तद् गुरुशुचा मनसा त्वमेव जानीहि ॥

आपके पिता जी के स्पर्श के समान आपकी भुजाओं का स्पर्श भी मेरे शरीर में इस शोक के अवसर पर भी हर्ष रोमाञ्च उत्पन्न कर रहा है ।

(आलिङ्गन करके उसे अपने पास में बैठाता है ।)

(अश्वत्थामा आँसू बहाता है ।)

कर्ण—द्रोणपुत्र ! अब अपने आपको शोकाग्नि मे अधिक मत जलाओ ।

दुर्योधन—आचार्यपुत्र ! हम दोनों के लिए इस शोक-महासागर में कोई भेद नहीं है । देखो—

कृपः—वत्स ! [1]यथाह कुरुपतिस्तथैवैतत् ।

कर्णः—किमत्र विचारेण ?

अश्वत्थामा—राजन् ! एवं पक्षपातिनि त्वयि युक्तमेव शोकभरं लघूकर्तुम् । किन्तु—

(व्याख्या) स द्रोणाचार्यः यथा तव प्रणयवान् प्रियः तातः पिता आसीत् तथा मे पितुः सखा मित्रमासीत्, एवं च स ममापि पितृतुल्य आसीदित्यर्थः । यथा च स द्रोणाचार्यः शस्त्रे शस्त्रविद्यायां तव गुरुरासीत् तथा ममाप्यासीत् । अत्रापि स आवयोरुभयो: समान एवाऽऽसीत् । इत्थं च तस्य गुरोः पितृतुल्यस्य च आचार्यस्य देहस्य शरीरस्य निधने पाते सति अहमात्मनो दुःखं किं कथयामि कथं नु ब्रवीमि । तत्सर्वथा वक्तुमशक्यमिति भावः । अतः गुर्वी असह्या शुक् शोकः यस्य तेन गुरुशुचा शोकाभिभूतेन मनसा चेतसा त्वं स्वयमेव तद् दुःखं जानीहि विद्धि । वसन्ततिलका छन्दः. 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति तल्लक्षणात् ॥३०॥

वह (यदि) तुम्हारे प्रिय पिता थे तो मेरे पिता के मित्र होने के कारण मेरे भी पितृ-तुल्य थे । शस्त्र-विद्या में जिस प्रकार तुम्हारे गुरु थे वैसे ही मेरे भी थे । उनकी मृत्यु से मुझे कितना दुःख हुआ है, यह तो तुम से क्या बताऊँ ? इसे तो तुम अपने शोक-व्याकुल मन से स्वयं ही जान सकते हो ॥३०॥

कृप—वत्स ! जो कौरवेश्वर कह रहे हैं वह वास्तव में ठीक है ।

कर्ण—अब इस विषय मे चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है ?

अश्वत्थामा—राजन् ! मेरे प्रति विशेष प्रेम रखने वाले आपके लिये [इस प्रकार के मधुर शब्दों से] मेरा शोक भार हलका करना उचित ही है । किन्तु—

१. गु. 'अथाह' इति पा. ।

मयि जीवति यत्तातः केशग्रहमवाप्तवान् ।
कथमन्ये करिष्यन्ति पुत्रेभ्यः पुत्रिणः स्पृहाम् ? ॥२१॥

कर्णः—द्रौणायने ! किमत्र क्रियते यदनेनैव सर्वपरिभवपरित्राण-हेतुना शस्त्रमुत्सृजता तादृशीमवस्थामात्मा नीतः ।

अश्वत्थामा—अङ्गराज ! किमाह भवान् 'किमत्र क्रियत' इति !। श्रूयतां यत् क्रियते ।

मयीति—(अन्वयः) यद् मयि जीवति (सति) तातः केशग्रहम् अवाप्तवान्, अन्ये पुत्रिणः पुत्रेभ्यः स्पृहाम् कथं करिष्यन्ति ।

(व्याख्या) यद् यदा मयि अश्वत्थाम्नि जीवति प्राणान् धारयति सति तातः मम पिता केशग्रहं केशकर्षणम् अवाप्तवान् प्राप्तवान् तदा अन्ये पुत्रिणः पुत्रवन्तः पुरुषाः पुत्रेभ्यः स्वतनयेभ्यः स्पृहामिच्छां प्रेम वा कथं करिष्यन्ति विधास्यन्ति । पुत्रे विद्यमाने यदि पितुस्तिरस्कारो भवेत्तदा पुत्रेण को लाभ इति भावः ।

द्रोणायने इति—द्रोणस्याऽपत्यं द्रौणायनिस्तत्सम्बुद्धौ हे द्रौणायने ! हे अश्वत्थामन् !। सर्वेषां परिभवेभ्यस्तिरस्कारेभ्यः परित्राणस्य संरक्षणस्य हेतुना । शस्त्रमायुधमुत्सृजता परित्यजता ।

जब मेरे जीवित रहते हुए ही मेरे पिता के केशों को (दुष्ट धृष्टद्युम्न ने) पकड लिया (और उनका तिरस्कार किया) तो दूसरे पुत्रवान् लोग अपने पुत्रों को क्यों प्रेम करेंगे ?

कर्ण—द्रोणपुत्र ! इस विषय में क्या किया जा सकता है। जब कि आप के पिता जी ने, जो कि सब की तिरस्कार से रक्षा करने वाले थे, युद्ध-स्थल में शस्त्र-त्याग कर स्वयं ही अपनी यह दुर्दशा कराई है।

अश्वत्थामा—अङ्गराज ! क्या कहा आपने कि इस विषय में क्या किया जा सकता है ! जो किया जा सकता है, उसे सुनिये—

यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनां,
यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा।
यो यस्तत्कर्मसाक्षी चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपः,
क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमपि जगतामन्तकस्याऽन्तकोऽहम् ॥३२॥

यो य इति—(अन्वयः) पाण्डवीनां चमूनां स्वभुजगुरुमदः यः यः शस्त्रं बिभर्ति, पांचालगोत्रे यः यः शिशुः अधिकवयाः, गर्भशय्यां वा गतः, यः यः तत्कर्मसाक्षी, यश्च यश्च मयि रणे चरति (सति) प्रतीपः (अस्ति), क्रोधान्धः अहं तस्य तस्य, स्वयं जगताम् अन्तकस्य अपि अन्तकः (अस्मि)।

(व्याख्या) पाण्डवानामिमाः पाण्डव्यस्तासां पाण्डवीनां पाण्डवसम्बन्धिनीनां चमूनां सेनानां स्वभुजाभ्यां गुरुः मदो यस्याऽसौ यो यः, यः कश्चिदपीत्यर्थः, शस्त्रं बिभर्ति धारयति, पाञ्चालानां गोत्रे पाञ्चालवंशे अधिकं वयः यस्य सोऽधिकवयाः, वयस्क इत्यर्थः, यश्च गर्भशय्यां गतः प्राप्तः, गर्भस्थ इत्यर्थ, यश्च यश्च तस्य मत्पितृवधाख्यस्य कर्मणः साक्षी, साक्षाद् दर्शक इत्यर्थः, यश्च यश्च मयि अश्वत्थाम्नि रणे युद्धभूमौ चरति विचरति सति प्रतीपः मम विरुद्धः स्यात्, क्रोधेन अन्धः अहं तस्य तस्य सर्वस्य, स्वयं जगतामन्तकस्य यमराजस्याऽपि च अन्तकः स्यामिति भावः ॥ स्रग्धरा छन्दः, 'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्' इति तल्लक्षणात् ॥३२॥

पाण्डवों की सेना में अपने बाहुबल के मद में चूर होकर जो-जो शस्त्र धारण करने वाला है और पाञ्चालवंश में जो भी वयस्क शिशु हैं तथा जितने भी (इस समय) गर्भस्थ बालक हैं और जिसने भी युद्धस्थल में यह (गुरुवध-रूप) पाप होते देखा है एवं मेरे युद्ध-स्थल में विचरण करते हुए जो कोई भी शत्रु के रूप में मेरे सामने आएगा, उन सब के लिये, यहाँ तक कि स्वयं यमराज के लिये भी क्रोधान्ध अश्वत्थामा काल-स्वरूप है।

अपि च—

भो जामदग्न्यशिष्य कर्ण !

देशः सोऽयमरातिशोणितजलैर्यस्मिन् ह्रदाः पूरिताः,
क्षत्रादेव तथाविधः परिभवस्तातस्य केशे ग्रहः ।
तान्येवाऽहितशस्त्रघस्मरगुरूण्यस्त्राणि भास्वन्ति मे,
यद्रामेण कृतं तदेव कुरुते द्रौणायनिः क्रोधनः ॥३३॥

देश इति—(अन्वयः) अयं स देशः यस्मिन् (परशुरामेण) अरातिशोणितजलैः ह्रदाः पूरिताः । क्षत्रात् तातस्य केशग्रहः तथाविधः परिभवः । मे तानि एव अहितशस्त्रघस्मरगुरूणि भास्वन्ति अस्त्राणि (सन्ति) यद् रामेण कृतम्, तदेव क्रोधनः द्रौणायनिः कुरुते ।

(व्याख्या) अयं कुरुक्षेत्राख्यः स प्रसिद्धो देशः यस्मिन् भगवता परशुरामेण अरातीनां रिपूणां शोणितानि रुधिराणि एव जलानि तैः ह्रदास्तडागाः पूरिताः । परन्तु अस्मिन्नेव क्षेत्रे तातस्य मे पितुः तथाविधोऽसह्यः केशाकर्षणरूपः परिभवस्तिरस्कारोऽभूत् । मे ममापीत्यर्थः तान्येव परशुरामसम्प्रदायप्रसिद्धानि अहितानां शत्रूणां यानि शस्त्राणि तेषां घस्मराणि भक्षकाणि, 'भक्षको घस्मरोऽद्मरः' इत्यमरः, अत एव गुरूणि महान्ति भास्वन्ति दीप्यमानानि शस्त्राणि सन्ति । अतः परशुरामेणाऽस्मिन् क्षेत्रे क्षत्रियसंहाररूपं यत् कर्म कृतं तदेव क्रोधनो रोषाविष्टः द्रोणस्याऽपत्यं द्रौणायनिः द्रोणपुत्रोऽश्वत्थामा अपि कुरुते करिष्यतीत्यर्थः । शार्दूलविक्रीडितं छन्दः, 'सूर्याश्वैर्यदि मासजः सततगाः शार्दूल विक्रीडितम्' इति तल्लक्षणात् ॥३३॥

और भी, हे परशुराम-शिष्य कर्ण !

यह वही (प्रसिद्ध कुरुक्षेत्र) प्रदेश है जहाँ पर परशुराम ने शत्रुओं के रुधिर-रूपी जल से अनेक तालाब भरे थे और यहीं पर (एक) क्षत्रिय ने

दुर्योधनः—आचार्यपुत्र ! तस्य तथाविधस्याऽनन्यसाधारणस्य ते वीरभावस्य किमन्यत्सदृशम् ।

कृपः—राजन् ! सुमहान् खलु द्रोणपुत्रेण वोढुमध्यवसितः समरभरः । तदहमेवं मन्ये भवता कृतपरिकरोऽयमुच्छेत्तुं लोकत्रयमपि समर्थः । किं पुनर्यौधिष्ठिरबलम् । अतोऽभिषिच्यतां सैनापत्ये ।

आचार्यपुत्रेति—तथाविधस्य एवंविधस्य अनन्यसाधारणस्य अद्वितीयपराक्रमयुक्तस्य । वीरभावस्य वीरत्वस्य ।

सुमहानिति—द्रोणपुत्रेण अश्वत्थाम्ना । अध्यवसितः निश्चयः कृतः । समरभरः युद्धभारः । कृतः परिकरः यस्य स कृतपरिकरः कृतादरः । अभिषिच्यतामभिषेकः क्रियताम् । सैनापत्ये सेनापतिपदे ।

मेरे पिता के केश पकड़ कर उनका असह्य अपमान किया है । मेरे पास भी गुरु-परम्परा से प्राप्त शत्रुओं के शस्त्रों का भक्षण करने वाले वही दिव्य अस्त्र हैं । इस लिये (क्षत्रिय-संहार-रूपी) जो कार्य परशुराम ने किया था वही (आज) क्रोधान्ध द्रोण-पुत्र भी करेगा ।

दुर्योधन—*आचार्यपुत्र ! आप जैसे महापराक्रमी की अद्भुत वीरता के* लिये और क्या बात शोभा दे सकती है !

कृप—राजन् ! आज द्रोणपुत्र ने युद्ध के महान् भार को उठाने का दृढ़ निश्चय कर लिया है । इस लिये मेरा पूर्ण विश्वास है कि आपसे सम्मान प्राप्त करने के बाद वह तीनों लोकों को भी उच्छिन्न कर सकता है, युधिष्ठिर की सेना की तो बात ही क्या है । अतः आप सेनापति-पद पर इसका अभिषेक कीजिये ।

दुर्योधनः—सुष्ठु युज्यमानमभिहितं युष्माभिः किन्तु प्राक्प्रतिपन्नो-ऽयमर्थोऽङ्गराजस्य।

कृपः—राजन् ! असदृशपरिभवशोकसागरे निमज्जन्तमेनमङ्ग-राजस्यार्थे नैवोपेक्षितुं युक्तम्। अस्याऽपि तदेवाऽरिकुलमनुशासनीयम्। अतः किमस्य पीडा न भविष्यति ?

अश्वत्थामा—राजन् कौरवेश्वर ! किमद्यापि युक्ताऽयुक्तविचारणया।

सुष्ठु इति—युज्यमानं युक्तं भवताऽभिहितं कथितम्। किन्तु अङ्ग-राजस्य कर्णस्य अयमर्थः सेनापतिपदे अभिषेकरूपोऽर्थः प्रागेव प्रतिपन्नः प्रतिज्ञातः।

राजन् इति—अङ्गराजस्य कर्णस्यार्थे नास्ति सदृशो यस्य तथा-विधश्चासौ परिभवस्तिरस्कारः स एव शोकसागरस्तस्मिन् निमज्जन्तं निमग्नमेनमश्वत्थामानमुपेक्षितुमस्य उपेक्षां कर्तुं न युक्तमित्यन्वयः। अरिकुलं शत्रुकुलमनुशासनीयं दण्डनीयम्।

दुर्योधन—वास्तव में आपने बहुत ही उचित बात कही है, परन्तु इस स्थान के लिये तो अङ्गराज कर्ण को पहले ही वचन दिया जा चुका है।

कृप—राजन् ! अङ्गराज कर्ण के लिये असह्य तिरस्कार-सागर में डूबे हुए द्रोणपुत्र की उपेक्षा करना उचित नहीं है। इसे भी उसी शत्रु-कुल का विनाश अभिप्रेत है। इस लिये (उपेक्षा करने पर) क्या इसे हार्दिक दुःख नहीं होगा ?

अश्वत्थामा—राजन् कौरवेश्वर ! अब क्या उचित-अनुचित का विचार कर रहे हो ?

प्रयत्नपरिबोधितः स्तुतिभिरद्य शेषे निशा-
मकेशवमपाण्डवं भुवनमद्य निःसोमकम्।
इयं परिसमाप्यते रणकथाऽद्य दोःशालिना-
मपैतु नृपकाननातिगुरुरद्य भारो भुवि ॥३४॥

प्रयत्नेति—(अन्वयः) अद्य स्तुतिभिः प्रयत्नपरिबोधितः निशां शेषे। भुवनम् अकेशवम्, अपाण्डवं निःसोमकं च (भविष्यति), अद्य दोःशालिनाम् इयं रणकथा परिसमाप्यते। अद्य नृपकाननातिगुरुः भुवः भारः अपैतु।

(व्याख्या) अद्यैव स्तुतिभिः चारणकृतस्तुतिभिः प्रयत्नेन परिबोधितः जागरितस्त्वं निशां सम्पूर्णां रात्रिं यावत् शेषे स्वपिषि, अर्थात् अद्य त्वं निशां यावत् सानन्दं निश्चिन्तं च स्वप्स्यसि प्रातश्च वन्दिनस्त्वां प्रतिबोधयिष्यन्ति। अद्यैव भुवनं जगद् अकेशवं केशवरहितम्, अपाण्डवं पाण्डवशून्यं, निःसोमकं सोमकवंशजपांचालादिक्षत्रियशून्यं च भविष्यतीति शेषः। अद्यैव दोर्भ्यां बाहुभ्यां शालन्ते शोभन्ते इति दोःशालिनो महापराक्रमशालिनस्तेषामियं रणकथा युद्धकथा परिसमाप्यते समाप्तिमेष्यतीत्यर्थः। अद्यैव च नृपा राजान एव काननानि वनानि तैः अतिगुरुर्महान् अयं भुवः पृथिव्या भारः अपैतु समाप्तिमुपयातु। अर्थात् हे कुरुपते! मां सैनापत्येऽभिषिच्य मम पराक्रमं पश्य। सर्वमपीदमुपरिवर्णितमद्यैवाऽहं सम्पादयिष्ये इति भावः।

आज (ही) रात्रि को आप निःशङ्क होकर (इतनी गहरी नींद) सोओगे कि प्रातःकाल चारण लोग स्तुति करके बड़े प्रयत्न से आपको जगाएंगे। आज मैं इस समस्त भूमण्डल को कृष्ण, पाण्डव एवं सोमक (पांचाल) वंशज क्षत्रियों से विहीन कर दूंगा। वीर क्षत्रियों की यह युद्ध-कथा अभी समाप्त किये देता हूँ और नृपति-रूपी सघन वन के कारण बहुत बढ़ा हुआ पृथिवी का यह भार आज ही दूर हो जाएगा ॥३४॥

कर्णः—(विहस्य) द्रोणात्मज[१] ! वक्तुं सुकरमिदं दुष्करमध्यवसितुम्। बहवः कौरवबलेऽस्य कर्मणः शक्ताः।

अश्वत्थामा—अङ्गराज ! एवमिदम्। बहवः कौरवबलेऽत्र शक्ताः, किन्तु दुःखोपहतः शोकावेगवशाद् ब्रवीमि न पुनर्वीरजनाधिक्षेपेण।

कर्णः—मूढ ! दुःखितस्याऽश्रुपातः, कुपितस्य चाऽऽयुधद्वितीयस्य सङ्ग्रामाऽवतरणमुचितं, नैवंविधाः प्रलापाः।

विहस्येति—अध्यवसितुं कर्तुं दुष्करं कठिनम्। कौरवाणां बले सैन्ये। अस्य कर्मणः शक्ता इदं कर्म कर्तुं समर्थाः।

अङ्गराजेति—दुःखेन उपहत आक्रान्तोऽहं शोकस्य य आवेग आवेशस्तस्य वशाद् एवं ब्रवीमि न पुनः वीरजनानामधिक्षेपेण निन्दयेत्यन्वयः।

मूढेति—आयुधं शस्त्रमेव द्वितीयं सहायकं यस्य तस्य। एवंविधा आत्मप्रशंसायुक्ताः।

कर्ण—(हंस कर) द्रोणपुत्र ! कहना सरल है, परन्तु करना बहुत कठिन है। कौरव-सेना में भी बहुत से ऐसे वीर हैं जो इस कार्य को कर सकते हैं।

अश्वत्थामा—अङ्गराज ! यह ठीक है। कौरव सेना मे बहुत से वीर इस कार्य को कर सकते हैं। परन्तु शोक के आवेग के कारण व्याकुल-चित्त होकर मैंने इस प्रकार के शब्द कहे हैं, वीरजनों की निन्दा के अभिप्राय से नहीं।

कर्ण—मूर्ख ! दुःखित को आँसू बहाना और क्रुद्ध को हाथ में शस्त्र लेकर युद्ध-क्षेत्र में उतरना उचित है, न कि इस प्रकार प्रलाप करना।

---

१. G. अयं पा. नास्ति।

अश्वत्थामा——(सक्रोधम्) अरे रे राधागर्भभारभूत ! [1]सूतापसद ! किमेवमाक्षिपसि ?

कर्णः—

सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम् ।
दैवायत्तं कुले जन्म मदायत्तं तु पौरुषम् ॥३५॥

अश्वत्थामा—किमाह भवान् ! ममापि नामाऽश्वत्थाम्नो दुःखितस्याऽश्रुभिः प्रतिक्रियामुपदिशसि, न शस्त्रेण ! । पश्य—

सूतो वेति—(अन्वयः) अहं सूतः सूतपुत्रः यः कः (अपि) वा भवामि, कुले जन्म दैवायत्तं, मदायत्तं तु पौरुषम् ॥

(व्याख्या) अहं जन्मना सूतः सारथिः सूतपुत्रः सारथिपुत्रोऽन्यो वा यः कोऽपि भवामि अस्मि । कुले उच्चकुले निम्नकुले वा जन्म उत्पत्तिः पुरुषायत्तं नास्ति, एतत्तु सर्वथा दैवायत्तं दैवाधीनम, मदायत्तं मदधीनं न पौरुषं पराक्रम-एवाऽस्तीत्यर्थः ॥३५॥

अश्वत्थामा—(क्रोध में भर कर) अरे राधा-गर्भज ! नीच सूत ! तू इस प्रकार का आक्षेप कर रहा है । ?

कर्ण—मैं स्वयं सूत हूँ, या सूत-पुत्र हूँ, या जो कोई भी हूँ (इससे क्या ?) । (उच्च या नीच) कुल में जन्म दैवाधीन है, मेरे अधीन केवल पौरुष है (और वह मुझ में है) ।

अश्वत्थामा—क्या कहा ! क्या तुम मुझ दुःखार्त अश्वत्थामा को आँसुओं से प्रतीकार करने का उपदेश दे रहे हो, शस्त्र से नहीं ! देखो—

१. G. 'सूतापसद ! ममापिनामे'त्यादि पा. ।

निर्वीर्यं गुरुशापभाषितवशात् किं मे तवेवाऽऽयुधं,
सम्प्रत्येव भयाद् विहाय समरं प्राप्तोऽस्मि किं त्वं यथा ।
जातोऽहं स्तुतिवंशकीर्तनविदां किं सारथीनां कुले
क्षुद्राऽरातिकृताऽप्रियं प्रतिकरोम्यस्त्रेण नास्त्रेण यत् ? ॥३६॥

निर्वीयमिति—(अन्वयः) किं मम आयुधम् (अपि) गुरुशाप-भाषितवशात् तव (आयुधम्) इव निर्वीयम् (अस्ति) ?, सम्प्रति (अहमपि) भयात् समरं विहाय त्वं यथा प्राप्तः अस्मि किम् ?, अहं स्तुतिवंशकीर्तनविदां सारथीनां कुले जातः किम् ?, यत् अहं क्षुद्राराति-कृताप्रियम् अस्रेण प्रतिकरोमि न (पुनः) अस्त्रेण ।

(व्याख्या) किं मम आयुधं शस्त्रमपि गुरोः परशुरामस्य शाप-भाषितवशात् शापवचनवशात् तव आयुधमिव निर्वीर्यं निर्बलमस्ति ? सम्प्रति इदानीमेव अहमपि भयाद् भीतेः समरं युद्धस्थलं विहाय त्वं यथा त्वमिव प्राप्त आगतोऽस्मि किम् ? अहं स्तुतिश्च वंशकीर्तनं च ते विदन्तीति तेषां स्तुतिवंशकीर्तनविदां प्रशंसां वंशवर्णनं च कुर्वतां सारथीनां सूतानां कुले वंशे जातः उत्पन्नः किम् ? यत् क्षुद्राः नीचाः ये अरातयः शत्रवस्तैः कृतं यद् अप्रियमहितं तद् अस्रेणाऽश्रुणा प्रतिकरोमि प्रतिशोधयामि, न तु अस्त्रेण आयुधेनेत्यर्थः ॥ शार्दूलविक्रीडितं छन्दः, 'सूर्याश्वैर्यदि-मासजः सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' इति तल्लक्षणात् ॥३६॥

क्या मेरे शस्त्र भी तुम्हारी तरह गुरु (परशुराम) के शाप के कारण निर्वीर्य हो गए हैं ! क्या मैं भी तुम्हारी तरह डरकर इस समय युद्ध-स्थल से भाग कर आया हूँ ! क्या मैं भी (दूसरों की) प्रशंसा एवं वंश-वर्णन करने वाले सारथियों के कुल में उत्पन्न हुआ हूँ ! जो मैं नीच शत्रुओं से किए गए इस दुष्कर्म का बदला आँसुओं से लूँ और शस्त्र से न लूँ ! ॥३६॥

कर्णः—(सक्रोधम्) अरे रे वाचाट ! वृथाशस्त्रग्रहणदुर्विदग्ध ! बटो !

निर्वीर्यं वा सवीर्यं वा मया नोत्सृष्टमायुधम् ।
यथा पाञ्चालभीतेन पित्रा ते बाहुशालिना ॥३७॥

अश्वत्थामा—(सक्रोधम्) अरे रे रथकारकुलकलंक ! अरे राधा-गर्भभारभूत ! आयुधानभिज्ञ ! तातमप्यधिक्षिपसि ? अथवा—

निर्वीर्यमिति—(अन्वयः) आयुधं निर्वीर्यं सवीर्यं वा (भवतु), मया तत् न उत्सृष्टम्, यथा पाञ्चालभीतेन बाहुशालिना ते पित्रा (उत्सृष्टम्) ।

(व्याख्या) मम आयुधमस्त्रं निर्वीर्यं निर्बलं सवीर्यं सबलं वा भवतु परन्तु मया तत् केनचिद् भयेन न उत्सृष्टं न त्यक्तं यथा पाञ्चालाद् धृष्टद्युम्नाद् भीतस्त्रस्तस्तेन बाहुशालिना भुजबलविक्रमवता ते पित्रा त्यक्तम् ॥३७॥

कर्ण—(क्रोध में भर कर) अरे बातून ! व्यर्थ शस्त्र धारण करने का अभिमान करने वाले ब्राह्मण-बटु !

मेरे शस्त्र निर्बल हैं या सबल, परन्तु मैंने पाञ्चाल (धृष्टद्युम्न) से डरकर भुजबलशाली एवं पराक्रमी तेरे पिता की तरह उन्हें कभी छोड़ा नहीं है ॥३७॥

अश्वत्थामा—(क्रोध में भरकर) अरे सारथि-कुल-कलंक ! राधा-गर्भज ! शस्त्रानभिज्ञ ! क्या पिता पर भी आक्षेप ? अथवा—

स भीरुः शूरो वा प्रथित-भुजसारस्त्रिभुवने,
कृतं यत्तेनाऽऽजौ प्रतिदिनमियं वेत्ति वसुधा ।
'परित्यक्तं शस्त्रं कथमि'ति स सत्यव्रतधरः,
पृथासूनुः साक्षी त्वमसि रणभीरो ! क नु तदा ?॥३८॥

स भीरुरिति—(अन्वयः) स भीरुः शूरः वा त्रिभुवने प्रथितभुजसारः (आसीत्) । (तेन) आजौ प्रतिदिनं यत् कृतं तद् इयं वसुधा वेत्ति । तेन 'शस्त्रं कथं परित्यक्तम्' इति स सत्यव्रतधरः पृथासूनुः साक्षी । हे रणभीरो ! त्वं तदा क नु असि ? ।

(व्याख्या) स मम तातो भीरुः कातरः शूरः वीरो वा त्रिभुवने त्रैलोक्ये प्रथितः प्रसिद्धः भुजयोः बाह्वोः सारो बलं यस्य स तथाविध आसीत् । तेन आजौ युद्धे प्रतिदिनं यत्कर्म कृतं विहितं तदियं वसुधा पृथिवी वेत्ति जानाति । तेन युद्धभूमौ शस्त्रमायुधं कथं किमर्थं परित्यक्त-मुत्सृष्टमित्यत्र तु स सत्यव्रतधरः सत्यवादी पृथासूनुः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिर एव साक्षी, हे रणभीरो ! त्वं तदा शस्त्रत्यागसमये क नु असि कुत्र खलु आसीः ? समीपस्थभूते वर्तमानप्रयोगः (तु. पा. 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद् वा') । शिखरिणी छन्दः,'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागा शिखरिणी' इति तल्लक्षणात् ॥३८॥

वह कायर थे या शूरवीर, (जो भी थे, इस से क्या ?) । उनका बाहु-बल त्रैलोक्य में प्रसिद्ध था । उन्होंने युद्धस्थल में प्रतिदिन जो किया उसे यह पृथिवी अच्छी प्रकार से जानती है । और 'उन्होंने शस्त्र क्यों त्यागे' इस बात का साक्षी वह सत्यवादी कुन्ती-पुत्र युधिष्ठिर है । अरे कायर ! तू उस समय वहाँ कहाँ था ? ॥३८॥

कर्णः—(विहस्य) एवं, भीरुरहम्। त्वं [1]पुनर्विक्रमैकरसं स्वपितरमनुस्मृत्य न जाने किं करिष्यसीति महान् मे संशयो जातः। अपि च, रे मूढ !

यदि शस्त्रमुज्झितमशस्त्रपाणयो न निवारयन्ति किमरीनुदायुधान्।
यदनेन मौलिदलनेऽप्युदासितं सुचिरं स्त्रियेव नृपचक्रसंनिधौ॥३९॥

यदि शस्त्रमिति—(अन्वयः) यदि (तेन) शस्त्रम् उज्झितम् (तथापि) अशस्त्रपाणयः (अपि) उदायुधान् अरीन् किं न निवारयन्ति ? । यद् अनेन मौलिदलने अपि सुचिरं नृपचक्रसंनिधौ स्त्रिया इव उदासितम्॥

(व्याख्या) यदि तेन द्रोणेन शोकेन अपि शस्त्रमायुधमुज्झितं परित्यक्तं भवेत्तथापि नास्ति शस्त्रं पाणौ येषां ते अशस्त्रपाणयः अशस्त्रहस्ता अपि मानवा उद् उद्धृतमायुधं शस्त्रं यैस्तान् तथाविधान् अरीन् शत्रून् किं न निवारयन्ति प्रतिरोधयन्ति ? अपि तु निवारयन्त्येव। यद् अनेन तव पित्रा द्रोणेन मौलिदलने शिरश्छेदनेऽपि, शिरश्छेत्तुमुद्यतेऽपीत्यर्थः, सुचिरं बहुकालं यावत् नृपचक्रस्य राजमण्डलस्य सन्निधौ समक्षं स्त्रिया अबलया इव उदासितम् औदासीन्यमवलम्बितम्। अतस्ते पितुः सबलत्वे सन्देह एवेतिभावः। मञ्जुभाषिणी छन्दः, 'सजसा जगौ च यदि मञ्जुभाषिणी' इति तल्लक्षणात्॥३९॥

कर्ण—(हंस कर) अच्छा, मैं कायर हूँ ! और तुम, पता नहीं, अपने पराक्रमी पिता की स्मृति में क्या कर डालोगे ? इस विषय में मुझे बड़ा सन्देह हो रहा है। और भी, हे मूर्ख !

यदि उन्होंने (पुत्र-शोक से व्याकुल होकर) शस्त्र त्याग भी दिए थे तो क्या निःशस्त्र मनुष्य अपने ऊपर आक्रमण करने वाले शस्त्रधारियों को नहीं रोकते, जो उन्होंने अनेक राजाओं के सामने धृष्टद्युम्न के द्वारा केश पकड़े जाने पर भी स्त्रियों के समान उदासीनता धारण की ? ॥३९॥

१. गु. 'त्वं पुनर्विक्रमैकरसः। तव पितरमनु०' इति पा।

अश्वत्थामा—(सक्रोधं सकम्पं च) दुरात्मन् ! राजवल्लभप्रगल्भ ! सूतापसद ! असम्बद्धप्रलापिन् !

कथमपि न निषिद्धो दुःखिना भीरुणा वा,
द्रुपदतनयपाणिस्तेन पित्रा ममाऽद्य ।
तव भुजबलदर्पाध्मायमानस्य वामः,
शिरसि चरण एष न्यस्यते वारयैनम् ॥४०॥

(इति तथा कर्तुमुत्तिष्ठति ।)

कथमपीति—(अन्वयः) तेन पित्रा दुःखिना भीरुणा वा द्रुपदतनयपाणिः कथमपि न निषिद्धः । अद्य भुजबलदर्पाध्मायमानस्य तव शिरसि वामः चरणः न्यस्यते, एनं वारय ।

(व्याख्या) तेन मम पित्रा दुःखिना दुःसमस्तेन भीरुणा कातरेण वा द्रुपदतनयस्य द्रुपदपुत्रस्य धृष्टद्युम्नस्य पाणिः हस्तो न निषिद्धो न निवारितः । समाप्ता सा कथा, किं तया । अद्य सम्प्रति भुजयोर्बाह्वोः बलस्य दर्पेण गर्वेण आध्मायमानस्य प्रफुल्लितस्य, आ+ध्मा+कर्मणि यक् ततः शानच् , तव शिरसि एष मम वामश्चरणः पादो न्यस्यते स्थाप्यते । यदि ते सामर्थ्यमस्ति तदा एनं मे पादं वारय निवारय । मालिनी छन्दः, 'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इति तल्लक्षणात् ॥४०॥

अश्वत्थामा—(क्रोध में भर कर कांपते हुए) अरे दुष्ट ! दुर्योधन के मुंह लगने वाले ढीठ ! नीच सारथि ! असम्बद्ध-प्रलापिन् !

मेरे पिता ने दुःख से या डर कर, किसी कारण से भी सही, द्रुपद-पुत्र धृष्टद्युम्न का हाथ नहीं हटाया, परन्तु (देख !) अब मेरा यह बाँया पैर अपनी भुजाओं के बल के अहंकार में फूले हुए तेरे सिर पर रक्खा जा रहा है, यदि तुझ में शक्ति है तो इसे रोक ।

(यह कहकर कर्ण के शिर पर लात मारने के लिये उठता है ।)

कृपदुर्योधनौ—गुरुपुत्र ! मर्षय, मर्षय । (इति निवारयतः)

(अश्वत्थामा चरण-प्रहारं नाटयति ।)

कर्णः—(सक्रोधमुत्थाय, खड्गमाकृष्य) अरे दुरात्मन् ! वाचाट ! ब्रह्मबन्धो ! आत्मश्लाघिन्[1] !

जात्या काममवध्योऽसि चरणं त्विदमुद्धृतम् ।
अनेन लूनं खड्गेन पतितं द्रक्ष्यसि क्षितौ ॥४१॥

जात्येति—(अन्वयः) कामं (त्वं) जात्या अवध्यः असि ! (परम्) उद्धृतम् इदं चरणं तु अनेन खड्गेन लूनं (सत्) क्षितौ पतितं द्रक्ष्यसि ।

(व्याख्या) कामं यद्यपि त्वं जात्या ब्राह्मणत्वेन अवध्योऽहिंस्योऽसि, परन्तु उद्धृतमुत्थापितमिदं चरणं तु अनेन मदीयेन खड्गेन लूनं छिन्नं सत् क्षितौ पृथिव्यां पतितं द्रक्ष्यसि ॥४१॥

कृप और दुर्योधन दोनों—गुरुपुत्र, क्षमा करो ! (ऐसा कह कर रोकते हैं) ।

(अश्वत्थामा पाद-प्रहार का अभिनय करता है ।)

कर्ण—(बड़े क्रोध के साथ उठकर तलवार खींच कर) अरे दुष्ट ! बातूनी ! मूर्ख ! आत्म-प्रशंसक !

यद्यपि जाति से ब्राह्मण होने के कारण तू अवध्य है, परन्तु तेरे इस उठाए हुए पैर को तो मैं अवश्य ही इस खड्ग से काटूंगा और तू अभी इसे पृथिवी पर पड़ा हुआ देखेगा ॥४१॥

१. G. '०श्लाघ !' इति पा. ।

अश्वत्थामा—अरे मूढ ! किं नाम 'जात्या काममवध्योऽहम् ।' इयं सा जातिः परित्यक्ता । (इति यज्ञोपवीतं छिनत्ति । पुनश्च सक्रोधम् ।)

अद्य मिथ्याप्रतिज्ञोऽसौ किरीटी क्रियते मया ।
शस्त्रं गृहाण वा त्यक्त्वा मौलौ वा रचयाञ्जलिम् ॥४२॥

(उभावपि खड्गमाकृष्याऽन्योन्यं प्रहर्तुमुद्यतौ कृपदुर्योधनौ निवारयतः ।)

दुर्योधनः—[1]आचार्यपुत्र ! शस्त्रग्रहणेनाऽलम् ।

कृपः—वत्स ! सूतपुत्र ! शस्त्रग्रहणेनाऽलम् ।

अद्येति—(व्याख्या) अर्जुनेन यद्यपि कर्णवधः प्रतिज्ञातः परमद्याऽहं कर्णं निहत्य किरीटिनमर्जुनं मिथ्याप्रतिज्ञं करिष्ये । अतस्त्वं शस्त्रमायुधं गृहाण, अथवा शस्त्रं त्यक्त्वा परित्यज्य मौलौ मस्तके अञ्जलिं रचय विरचय । मस्तके अञ्जलिं कृत्वा दयां प्रार्थयस्व ॥४२॥

अश्वत्थामा—अरे मूर्ख ! क्या कहा ! 'मैं जाति से अवध्य हूँ !' ले, मैं इस जाति का परित्याग करता हूं ।

(ऐसा कह कर यज्ञोपवीत को तोड़ देता है और पुनः क्रोध में भर कर)

आज मैं (स्वयं तुझे मार कर) अर्जुन की प्रतिज्ञा को झूठी करता हूँ । (इस लिये) या तो शस्त्र उठा और या उसे त्याग कर मस्तक पर अञ्जलि बाँध (कर मुझ से दया की भीख माग) ॥४२॥

(दोनों खड्ग खींच कर एक दूसरे पर प्रहार करने के लिये उद्यत होते हैं । कृप और दुर्योधन उन्हें रोकते हैं ?)

दुर्योधन—आचार्यपुत्र ! शस्त्र ग्रहण करने को रहने दीजिये ।

कृप—वत्स कर्ण ! शस्त्र मत उठाओ ।

---

१. गु. इतः पूर्वं 'सखे' इत्यधिकः पा. ।

अश्वत्थामा—मातुल, मातुल ! किं निवारयसि ? अयमपि तात-निन्दाप्रगल्भः सूतापसदो धृष्टद्युम्नपक्षपात्येव ।

कर्णः—राजन् ! न खल्वहं निवारयितव्यः ।

उपेक्षितानां मन्दानां धीरसत्त्वैरवज्ञया ।
अत्रासितानां क्रोधान्धैर्भवत्येषा विकत्थना ॥४३॥

अश्वत्थामा—राजन् ! मुञ्च, मुञ्चैनम् । आसादयतु मद्भुजान्तर-निष्पेषसुलभमसूनामवसादनम् । अन्यच्च राजन् ! स्नेहेन वा कार्येण वा यत्त्वमेनं ताताधिक्षेपकारिणं दुरात्मानं मत्तः परिरक्षितुमिच्छसि तदुभयमपि वृथैव ते । पश्य—

उपेक्षितानामिति—(अन्वयः) धीरसत्त्वैः अवज्ञया उपेक्षितानां क्रोधान्धैः अत्रासितानां मन्दानाम् एषा विकत्थना भवति ॥

(व्याख्या) धीरसत्त्वैः गम्भीरप्रकृतिभिर्महत्पराक्रमैर्वा पुरुषैः अवज्ञया सतिरस्कारमुपेक्षितानां कृतोपेक्षाणाम्, क्रोधेन अन्धैर्विमूढैः क्रोधाभिभूतैः अत्रासितानामभर्त्सितानां मन्दानां मूढानामेषा विक-त्थना स्वबलश्लाघा भवति । मूढा एव एवं स्वबलं प्रशंसन्ति । अतस्ते-ऽवश्यमेव प्रतिकर्तव्या इत्यर्थः ।

राजन् इति—मम भुजयोः अन्तरे सुलभमसूनां प्राणानामवसादनं विनाशमासादयतु लभताम् ।

अश्वत्थामा—मामा जी, मामा जी ! आप क्यों रोकते हैं ! यह नीच सूतपुत्र भी पिता जी की निन्दा करने मे बड़ा प्रगल्भ है, इस लिये यह भी धृष्टद्युम्न के समान वध्य है ।

कर्ण—राजन् ! मुझे मत रोकिये ।

गम्भीर एवं शक्तिशाली मनुष्यों द्वारा तिरस्कार-पूर्वक उपेक्षा किये गए तथा क्रोधान्ध मनुष्यों से दण्ड न दिये गए मूर्ख लोग इसी प्रकार आत्म-श्लाघा किया करते हैं ॥४३॥

अश्वत्थामा—राजन् ! इसे छोड़ दीजिये, छोड़ दीजिये, जिससे यह

पापः प्रियस्तव कथं गुणिनः सखाऽयं,
सूतान्वयः शशधराऽन्वयसंभवस्य ।
हन्ता किरीटिनमयं नृप ! मुञ्च कुर्यां
क्रोधादकर्णमपृथात्मजमद्य लोकम् ॥४४॥
(इति प्रहर्तुमिच्छति ।)

पाप इति—(अन्वयः) हे नृप ! शशधरान्वयसम्भवस्य गुणिनः तव सूतान्वयः अयं पापः प्रियः सखा कथम् ? 'अयं किरीटिनम् हन्ता' (इति यदि तव विचारस्तदापि) एनम् मुञ्च । अद्य (अहं) क्रोधात् लोकम् अकर्णम् अपृथात्मजं च कुर्याम् ॥

(व्याख्या) हे नृप ! शशधरस्य अन्वये सम्भवः उत्पत्तिः यस्य तस्य शशधरान्वयसम्भवस्य चन्द्रकुलोत्पन्नस्य गुणिनस्तव भवतः सूतान्वयः सूतवंशजोऽयं पापः पापी प्रियः सखा मित्रं कथम् ? 'अयं कर्णः किरीटिनं हनिष्यती'ति ते विचारश्चेत्तर्हि अपि एनं मुञ्च त्यज । अद्य अहं क्रोधात् कोपाद्धेतोः इमं लोकं संसारम् अकर्णं कर्णशून्यं अपृथात्मजं पृथात्मजरहितं च कुर्याम् करिष्ये इत्यर्थः । वसन्ततिलका छन्दः, 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौगः' इति तल्लक्षणात् ॥४४॥

(शीघ्र ही) मेरी भुजाओं के बीच में पिस कर यमलोक पहुँच सके । और हे राजन् ! प्रेमवश या (अन्य किसी) कार्यवश जो आप मेरे पिता की निन्दा करने वाले इस दुरात्मा को मुझ से बचाना चाहते हैं वह दोनों ही प्रकार से व्यर्थ है । देखिये—

चन्द्रवंश में उत्पन्न एवं गुणशील आपका यह पापी सूत-पुत्र किस प्रकार मित्र हो सकता है ! । और यदि हे राजन् ! आपका यह विचार हो कि यह (=कर्ण) अर्जुन को मारेगा तो (लीजिये) मैं आज ही कोपाविष्ट होकर इस संसार को कर्ण एवं अर्जुन से शून्य कर देता हूँ ॥४४॥

(ऐसा कहकर प्रहार करना चाहता है ।)

कर्णः—(खड्गमुद्यम्य) अरे वाचाट ! ब्राह्मणाधम ! अयं न भवसि । राजन् ! मुञ्च, मुञ्च । न खल्वहं वारयितव्यः । (इति हन्तुमिच्छति ।)

(कृपदुर्योधनौ निवारयतः)

दुर्योधनः—कर्ण ! गुरुपुत्र ! कोऽयमद्य युवयोर्व्यामोहः ? ।

कृपः—वत्स ! अन्यदेव प्रस्तुतमन्यत्राऽऽवेग इति कोऽयं व्यामोहः ? । स्वबलव्यसनं चेदमस्मिन् काले राजकुलस्याऽस्य युष्मत्त एव भवतीति वामः पन्थाः ।

अरे ! इति—वाचाट ! वाचाल ! । ब्राह्मणेषु अधमस्तत्सम्बुद्धौ हे नीचब्राह्मण ! अयं न भवसि इदानीमेव मम खड्गेन मृत्युमुपगच्छसि ।

वत्सेति—अन्यदेव धृष्टद्युम्नवधरूपं कर्म प्रस्तुतं प्रथमं कर्तव्यत्वेन अस्माकं पुरत उपस्थितम्, अन्यत्र पारस्परिककलहे चेदानीमावेग आवेशः प्रदर्श्यते । स्वबलस्य स्वसेनाया व्यसनं विपत्तिः । युष्मत्तः युवयोः कलहादित्यर्थः । वामोऽनुचितः पन्था मार्गः ।

कर्ण—(तलवार उठा कर) अरे बातूनी ! नीच ब्राह्मण ! तेरे सिर पर मृत्यु मंडरा रही है । राजन् ! छोड़िये, छोड़िये । मुझे मत रोकिये । (ऐसा कह कर अश्वत्थामा को मारना चाहता है)

(कृप एवं दुर्योधन कर्ण को रोकते हैं)

दुर्योधन—कर्ण ! आचार्य-पुत्र ! यह आज आपको क्या मूर्खता सवार हो गई ?

कृप—वत्स ! कर्तव्य कुछ और था और किसी और ही बात पर आवेश में आ गए, यह कहां की मूर्खता है ? । इस प्रकार स्वयं राजकुल की अपनी शक्ति क्षीण होती है । इस लिये तुम्हारी यह बात सर्वथा अनुचित है ।

अश्वत्थामा—मातुल ! न लभ्यतेऽस्य कटुप्रलापिनो रथकारकुल-कलंकस्य दर्पः शातयितुम् ।

कृपः—अकालः खलु स्वबलप्रधानविरोधस्य ।

अश्वत्थामा—मातुल ! यद्येवम्—

अयं पापो यावन्न निधनमुपेयादरिशरैः,
परित्यक्तं तावत् प्रियमपि मयाऽस्त्रं रणमुखे ।
बलानां नाथेऽस्मिन् परिकुपितभीमार्जुनभये,
समुत्पन्ने राजा प्रियसखबलं वेत्तु समरे ॥४५॥

(इति खड्गमुत्सृजति ।)

मातुलेति—कटु प्रलपतीति तस्य कटुप्रलापिनः कटुभाषिणः । दर्पः गर्वः । शातयितुं विमर्दितुं चूर्णयितुमित्यर्थः ।

अयमिति—(अन्वयः) यावत् अयं पापः रणमुखे अरिशरैः निधनं न उपेयात् तावत् मया अपि प्रियं शस्त्रं परित्यक्तम् । अस्मिन् बलानां नाथे (सति) समरे परिकुपितभीमार्जुनभये समुत्पन्ने राजा प्रिय-सखबलं वेत्तु ॥

(व्याख्या) यावत्कालमयं पापः पापी दुष्टः कर्णः रणमुखे युद्धभूमौ अरीणां शत्रूणां शरैर्बाणैर्निधनं मृत्युं न उपेयात् प्राप्नुयात् तावत्कालं मयाऽपि शस्त्रं परित्यक्तमुत्सृष्टम् । अहमपि तावत् शस्त्रं न गृहीष्यामीत्यर्थः । अस्मिन् कर्णे बलानां सेनानां नाथे अधिपे सति परिकुपितौ

अश्वत्थामा—मामा जी ! तो क्या मुझे कटुभाषी इस सूत-कुल-कलंक के अभिमान को चूर्ण करने का अवसर नहीं मिलेगा ?

कृप—वत्स ! अपनी सेना के सेनापति के विरोध का यह उपयुक्त अवसर नहीं है।

अश्वत्थामा—मामा जी ! यदि ऐसी बात है (तो लीजिये)—

जब तक यह पापी युद्ध-स्थल में शत्रुओं के बाणों का शिकार नहीं हो

कर्णः—(विहस्य) कुलक्रमागतमेवैतद्भवादृशां यदस्त्रपरित्यागो नाम ।

अश्वत्थामा—ननु रे ! अपरित्यक्तमपि भवादृशैरायुधं चिरपरित्यक्तमेव निष्फलत्वात् ।

कर्णः—अरे मूढ !

धृतायुधो यावदहं तावदन्यैः किमायुधैः ।
यद्वा न सिद्धमस्त्रेण मम, तत्केन सेत्स्यति ? ॥४६॥

च तौ भीमार्जुनौ परिकुपितभीमार्जुनौ ताभ्यां भये समुत्पन्ने सति राजा दुर्योधनः प्रियश्चासौ सखा प्रियसखः कर्णः, समासान्तष्टच् प्रत्ययः, तस्य बलं सामर्थ्यं वेत्तु जानातु । पश्यामस्तावत्कियत्कालं कर्णः राज्ञो दुर्योधनस्य भीमार्जुनभयं निवारयिष्यतीत्यर्थः । शिखरिणी छन्दः, 'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी' इति तल्लक्षणात् ॥४५॥

धृतायुध इति—(अन्वयः) यावत् अहं धृतायुधः, तावत् अन्यैः आयुधैः किम् ? यद् मम अस्त्रेण न सिद्धम्, तत् केन सेत्स्यति ॥

(व्याख्या) यावत्कालमहं धृतं गृहीतमायुधं शस्त्रं येन स तथाविधो गृहीतास्त्रः अस्मि तावत्कालमन्यैः आयुधानि एषां सन्तीति ते आयुधाः आयुधधारिणस्तैः किम्प्रयोजनम् ? न किमपीत्यर्थः । अत्र आयुधशब्दाद्

जाता तब तक मैं भी अपने इस प्रिय शस्त्र का परित्याग करता हूं और इसके सेनापति हो जाने पर जिस समय कोपाविष्ट भीम एवं अर्जुन के द्वारा रणभूमि में (कौरव-सेना के लिये एक बड़ी) सङ्कट-मय स्थिति उत्पन्न होगी उस समय महाराज दुर्योधन को अपने प्रिय मित्र के वास्तविक बल का ज्ञान होगा ॥४५॥

(ऐसा कहकर शस्त्र त्याग देता है)

कर्ण—शस्त्र-परित्याग तो आप जैसों का कुलपरम्परागत धर्म है ।

अश्वत्थामा—अरे (नीच !) तेरे जैसे कायरों का शस्त्र ग्रहण करना भी निष्फल होने के कारण परित्याग के समान है ।

कर्ण—अरे मूर्ख ! जब तक मैं शस्त्र धारण किये हुए हूँ तब तक दूसरे

(नेपथ्ये)

आः दुरात्मन् ! द्रौपदीकेशाम्बराकर्षणमहापातकिन् ! धार्तराष्ट्रापसद ! चिरस्य खलु कालस्य मत्संमुखीनमागतोऽसि । अरे क्षुद्रपशो ! क्वेदानीं गम्यते ?

अपिच भो भो राधेयदुर्योधनसौबलप्रभृतयः पाण्डवविद्वेषिणश्चापपाणयो मानधनाः ! शृण्वन्तु भवन्तः—

मत्वर्थीयः अच् प्रत्ययः । यच्च कार्यं मम कर्णस्य अस्त्रेण आयुधेन ; न सिद्धं तत् केन सेत्स्यति सिद्धं भविष्यति, न केनाऽपीत्यर्थः ॥४६॥

आः दुरात्मन् इति—द्रौपद्याः केशाम्बरयोः केशवसनयोः यद् आकर्षणं तदेव महापातकं तदस्यास्तीति तत्सम्बुद्धौ । मत्संमुखीनं मत्संमुखम् ।

अपि चेति—राधेयः कर्णः । सौबलः शकुनिः । पाण्डवान् विद्विषन्तीति ते । चापं पाणौ येषां ते तथाभूताः । मानमेव धनं येषां ते ।

शस्त्रधारियों की क्या आवश्यकता है ? और जो कार्य मेरे शस्त्र से सिद्ध नहीं हुआ वह और किस से हो सकेगा ? ॥४६॥

(नेपथ्य में)

अरे दुष्ट ! द्रौपदी के केश एवं वस्त्र खींचने वाले महापापी ! नीच धृतराष्ट्र-पुत्र ! बहुत समय के बाद मेरे सामने आया है । अरे नीच पशु ! अब कहाँ जा रहा है ?

और भी, अरे कर्ण, दुर्योधन एवं शकुनि प्रभृति मानी धनुर्धारी पाण्डव-शत्रुओ ! तुम सब लोग सुनो !

कृष्टा येन शिरोरुहे नृपशुना पाञ्चालराजात्मजा,
येनाऽस्याः परिधानमप्यपहृतं राज्ञां गुरूणां पुरः ।
यस्योरःस्थलशोणितासवमहं पातुं प्रतिज्ञातवान्,
सोऽयं मद्भुजपंजरे निपतितः संरक्ष्यतां कौरवाः ॥४७॥
(सर्वे आकर्णयन्ति)

कृष्टा येनेति—(अन्वयः) येन नृपशुना पाञ्चालराजात्मजा शिरोरुहे कृष्टा, येन राज्ञां गुरूणां च पुरः अस्याः परिधानम् अपि अपहृतम्, यस्य उरःस्थलशोणितं पातुम् अहं प्रतिज्ञातवान् सः अयं (दुःशासनः) मद्भुजपंजरे निपतितः। हे कौरवाः ! संरक्ष्यताम्।

(व्याख्या) येन नृषु पशुः ना पशुरिव इति वा तेन नृपशुना मानव-पशुना पाञ्चालराजस्य द्रुपदस्य आत्मजा पुत्री द्रौपदी शिरोरुहे केशे कृष्टा आकृष्टा, येन च राज्ञां भूपतीनां गुरूणां च पुरः समक्षं अस्याः द्रौपद्याः परिधानं वस्त्रमपि अपहृतमपनीतम्, यस्य च उरःस्थलस्य वक्षःस्थलस्य शोणितं रुधिरं पातुमहं प्रतिज्ञातवान् प्रतिज्ञां कृतवान् सोऽयं दुःशासनः मद्भुजौ एव पञ्जरं तस्मिन् निपतितः प्राप्तः। हे कौरवाः ! युष्मासु यदि शक्तिरस्ति तदा भवद्भिरयं संरक्ष्यतां रक्षणीयः। शार्दूलविक्रीडितं छन्दः, 'सूर्याश्वैर्यदि मासजः सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' इति तल्लक्षणात् ॥४७॥

जिस मानव-पशु ने पाञ्चाल-राजपुत्री द्रौपदी के बाल पकड़कर खींचे थे और जिसने (राजसभा में) राजाओं एवं गुरुजनों के समक्ष उसका वस्त्रापहरण किया था तथा जिसके वक्षःस्थल का रुधिर पान करने की मैंने प्रतिज्ञा की थी, वह दुःशासन मेरी भुजाओं के पिंजरे में फंसा हुआ है। हे कौरव वीरो ! (यदि तुम में शक्ति है तो) इसे बचाओ ॥४७॥

(सब लोग सुनते हैं)

अश्वत्थामा—(सोत्प्रासम्) अङ्गराज ! सेनापते ! जामदग्न्यशिष्य ! द्रोणोपहासिन् ! भुजबलपरिरक्षितसकललोक ! ['धृतायुधः' (३, ४६) इति पठित्वा] इदं तदासन्नतरमेव संवृत्तम् । रक्षैनं साम्प्रतं भीमाद् दुःशासनम् ।

कर्ण.—आः ! का शक्तिर्वृकोदरस्य मयि जीवति दुःशासनस्य छाया-मप्याक्रमितुम् । युवराज ! न भेतव्यं न भेतव्यम् । अयमहमागतोऽस्मि । (इति निष्क्रान्तः) ।

सोत्प्रासमिति—उत्प्रासेन सहितं सोत्प्रासं सस्मितम् । द्रोणमुप-हसतीति तत्सम्बुद्धौ । भुजबलेन परिरक्षितः सकललोको येन स तत्सम्बुद्धौ । आसन्नतरं समीपतरवर्त्ति । संवृत्तं जातम् ।

अश्वत्थामा—(आक्षेप के साथ) अङ्गराज ! सेनाधिनायक ! परशु-राम-शिष्य ! द्रोण का परिहास करने वाले ! अपने भुजबल से समस्त त्रैलोक्य की रक्षा करने वाले ! ['मेरे शस्त्र धारण करने पर' (३, ४६) इत्यादि श्लोक पढ़कर] । (लीजिये वीरता प्रदर्शित करने का) अवसर समीप आ गया है । अब इस दुःशासन को भीम से बचाओ ।

कर्ण—आह ! मेरे जीवित रहते हुए भीम की क्या शक्ति है कि वह दुःशासन की छाया का स्पर्श भी कर सके । युवराज ! डरो मत, डरो मत ! यह मैं आ पहुँचा । (ऐसा कहकर निकल जाता है)

---

१. गु 'दग्न्यास्त्रशिष्य' इति पा. ।

अश्वत्थामा—राजन् कौरवनाथ ! अभीष्मद्रोणं संप्रति कौरवबल-मालोडयन्तौ भीमार्जुनौ राधेयेनैवंविधेनाऽन्येन वा न शक्येते निवारयितुम्। अतः स्वयमेव भ्रातुः प्रतीकारपरो भव।

दुर्योधनः—आः ! का शक्तिर्दुरात्मनः पवनतनयस्याऽन्यस्य वा मयि जीवति शस्त्रपाणौ वत्सस्य छायामप्याक्रमितुम्। वत्स न भेतव्यं न भेतव्यम्। कः कोऽत्र भोः ! रथमुपनय।

(इति निष्क्रान्तः)

राजन् इति—न स्तः भीष्मद्रोणौ यस्मिंस्तदभीष्मद्रोणं भीष्मद्रोण-शून्यं कौरवबलं कौरवसेनाम् आलोडयन्तौ गाहमानौ भीमार्जुनौ राधेयेन कर्णेन अन्येन वा केनचित् तत्सदृशेन निवारयितुं प्रतिरोद्धुं न शक्येते इत्यन्वयः। अतस्त्वं स्वयमेव भ्रातुर्दुःशासनस्य प्रतीकारपरो रक्षातत्परो भव।

आः का शक्तिरिति—दुरात्मनो दुष्टस्य पवनतनयस्य वायुपुत्रस्य भीमस्य। शस्त्रं पाणौ यस्य तस्मिन् शस्त्रपाणौ आयुधहस्ते। वत्सस्य दुःशासनस्य। आक्रमितुं स्प्रष्टुम्।

अश्वत्थामा—राजन् ! कौरवनाथ ! इस समय भीष्म एवं द्रोण से रहित कौरव-सेना का आलोडन करते हुए भीम तथा अर्जुन कर्ण या किसी अन्य वीर से नहीं रोके जा सकेंगे। इसलिए आप स्वयं अपने भाई दुःशासन को बचाने का प्रयत्न करें॥

दुर्योधन—आह ! शस्त्र धारण कर मेरे जीवित रहते हुए पवन-पुत्र दुरात्मा भीम या किसी दूसरे की क्या शक्ति है कि वह प्रिय दुःशासन की छाया का स्पर्श भी कर सके। वत्स ! डरो मत, डरो मत। अरे ! यहां कौन है ? मेरा रथ शीघ्र लाओ।

(ऐसा कहकर निकल जाता है)

(नेपथ्ये कलकलः)

अश्वत्थामा—(अग्रतो विलोक्य, ससंभ्रमम्) मातुल ! हा धिक्, कष्टं कष्टम्। एष भ्रातुः प्रतिज्ञाभंगभीरुः किरीटी समं दुर्योधनराधेयौ शरवर्षैर्दुर्वारैरभिद्रवति। हा कष्टं कष्टम्! सर्वथा पीतं दुःशासनशोणितं भीमेन। न खलु विषहे दुर्योधनाऽनुजस्यैनां विपत्तिमवलोकयितुम्। अनृतमनुमतं नाम। मातुल! शस्त्रं शस्त्रम्।

मातुलेति—किरीटी अर्जुनः दुर्वारैर्दुर्निवारैः शराणां बाणानां वर्षैर्वर्षणैः दुर्योधनराधेयौ अभिद्रवति अभ्याक्रामति। दुर्योधनाऽनुजस्य दुःशासनस्य एनां विपत्तिं द्रष्टुं न खलु विषहे सोढुं शक्नोमि। अनृतमसत्यभाषणम् अनुमतमभीष्टम्।

(नेपथ्य में बड़ा भारी कोलाहल होता है)

अश्वत्थामा—(सामने देखकर घबरा कर) मामा जी ! धिक्कार है ! बड़े दुःख की बात है। अपने भाई भीम की प्रतिज्ञा भंग होने के भय से यह अर्जुन दुर्निवार बाण-वर्षा करके दुर्योधन एवं कर्ण पर प्रहार कर रहा है। हाय ! बड़ा दुःख है, भीम ने दुःशासन का रक्त बिल्कुल पी ही लिया। दुर्योधन के छोटे भाई की इस विपत्ति को मैं (अब) नहीं देख सकता। झूठ बोलना स्वीकार है। मामा जी! शस्त्र (दीजिए) शस्त्र।

---

१. G. केवलं 'ससंभ्रमम्' इत्येव पा.। २. G. अयं पा. नास्ति।

सत्यादप्यनृतं श्रेयो धिक् स्वर्गं नरकोऽस्तु मे ।
भीमाद् दुःशासनं त्रातुं त्यक्तमत्यक्तमायुधम् ॥४८॥

(इति खड्गं गृहीतुमिच्छति)

(नेपथ्ये)

"महात्मन् ! भारद्वाजसूनो ! न खलु सत्यवचनमनुल्लङ्घितपूर्वमुल्लङ्घयितुमर्हसि ।"

सत्यादिति— (अन्वयः) सत्यात् अनृतं श्रेयः, स्वर्गं धिक्, मे नरकः अस्तु । भीमाद् दुःशासनं त्रातुं त्यक्तम् अपि आयुधम् अत्यक्तम् ॥

(व्याख्या) सत्यात् सत्यभाषणाद् अनृतमसत्यभाषणमेव श्रेयः श्रेयस्करम् । सत्यभाषणेन प्राप्यं स्वर्गं धिक् । मे मह्यमसत्यभाषणलभ्यो नरक एवाऽस्तु । परन्तु भीमाद् दुःशासनम् त्रातुं संरक्षितुं त्यक्तमुत्सृष्टमपि आयुधं शस्त्रमत्यक्तं स्वीकृतमित्यर्थः ॥४८॥

महात्मन्निति—भारद्वाजसूनो ! द्रोणपुत्र ! । पूर्वमुल्लङ्घितमुल्लङ्घितपूर्वं सुप्सुपेति समासः, न उल्लङ्घितपूर्वमनुल्लङ्घितपूर्वं, कदापि नोल्लङ्घितमित्यर्थः, सत्यवचनमुल्लङ्घयितुं नार्हसि तदुल्लङ्घनमुचितं नास्तीत्यर्थः ।

मुझे (इस समय) सत्य की अपेक्षा झूठ बोलना भी श्रेयस्कर प्रतीत है । स्वर्ग को धिक्कार है । मुझे (चाहे) नरक ही मिले ; परन्तु भीम से दुःशासन की रक्षा करने के लिए मैं (अब), छोड़े हुए शस्त्र को ग्रहण करता हूँ ॥४८॥

(ऐसा कहकर शस्त्र ग्रहण करना चाहता है)

(नेपथ्य में)

महात्मन् ! द्रोण-पुत्र ! जो सत्यभाषण आपने आज तक कभी नहीं छोड़ा, इस समय उसका परित्याग करना आप के लिए शोभा नहीं देता ।

कृपः—वत्स ! अशरीरिणी भारती भवन्तमनृतादभिरक्षति ।

अश्वत्थामा—कथमियममानुषी वाङ् नानुमनुते संग्रामावतरणं मम । आः, सर्वथा पाण्डवपक्षपातिनो देवाः । [सर्वथा पीतं दुःशासन-शोणितं भीमेन] भोः कष्टं कष्टम् ।

दुःशासनस्य रुधिरे पीयमानेऽप्युदासितम् ।
दुर्योधनस्य कर्ताऽस्मि किमन्यत् प्रियमाहवे ॥४९॥[१]

अशरीरिणीति—अशरीरिणी अशरीरा भारती वाक्, आकाशवाणीत्यर्थः, भवन्तं त्वामनृतादसत्याद् अभिरक्षति निवारयति ।

कथमिति—अमानुषी वाक् आकाशवाणी । संग्रामे अवतरणं गमनम् ।

दुःशासनस्येति—(अन्वयः) दुःशासनस्य रुधिरे पीयमाने अपि (मया) उदासितम् । आहवे अहं दुर्योधनस्य किम् अन्यत् प्रियं कर्तास्मि ।

(व्याख्या) दुःशासनस्य भीमेन रुधिरे रक्ते पीयमाने अपि मया अश्वत्थाम्ना उदासितमौदासीन्यमवलम्बितम् । आहवे युद्धे अहं दुर्योधनस्य अन्यत् किं प्रियं हितं कर्तास्मि करिष्यामि । न किञ्चिदित्यर्थः ॥४६॥

कृप—(कुमार !) अशरीरा भारती (आकाशवाणी) तुम्हें असत्य-भाषण करने से निषेध कर रही है ।

अश्वत्थामा—हैं, क्या अमानुषी वाक् मुझे संग्राम में जाने की अनुमति नहीं दे रही है । हाय ! बड़ा दुःख है ! ओह ! देवता भी पाण्डवों के ही पक्षपाती हैं । भीम ने दुःशासन का रक्त पी ही लिया । हाय ! बड़ा भारी दुःख है ।

दुःशासन का रुधिर पीये जाने पर भी मैंने उदासीनता दिखाई है । मैं युद्ध में दुर्योधन का और क्या हित कर सकूंगा ? ॥४६॥

१. कोष्ठान्तर्गतः पा. G. नास्ति ।

मातुल ! राधेयक्रोधवशादनार्यमस्माभिराचरितम् । अतस्त्वमपि तावदस्य राज्ञः समीपवर्ती भव ।

कृपः—गच्छाम्यहमत्र प्रतिविधातुम् । भवानपि शिविरसंनिवेशमेव प्रतिष्ठताम् ।

(उभौ परिक्रम्य निष्क्रान्तौ)

इति श्रीभट्टनारायणकृते वेणीसंहारे तृतीयोऽङ्कः

मातुलेति—राधेयाय कर्णाय यः क्रोधः कोपस्तद्वशाद् अस्माभिर्मया शस्त्रं त्यक्त्वा अनार्यमनुचितं कृतमित्यर्थः ।

इति वेणीसंहारे सरलार्थदीपिकायां तृतीयोऽङ्कः समाप्तः

मामा जी ! कर्ण पर क्रोध करके मैंने बहुत अनर्थ किया है। इसलिये आप ही महाराज दुर्योधन के पास जाकर उसकी सहायता कीजिये।

कृप—अच्छा, मैं इसकी रक्षा करने के लिये जाता हूँ और आप शिविर मण्डप में जाइये।

(दोनों घूमकर चले जाते हैं)

तृतीय अङ्क समाप्त

अथ चतुर्थोऽङ्कः

(ततः प्रविशति प्रहारमूर्च्छितं रथस्थं दुर्योधनमपहरन् सूतः)

(सूतः ससंभ्रमं परिक्रामति)

(नेपथ्ये)

भो भो बाहुबलाऽवलेपप्रवर्तितमहासमरदोहदाः कौरवकुलपक्षपात-पणीकृतप्राणद्रविणसंचयाः नरपतयः ! संस्तभ्यन्तां संस्तभ्यन्तां निहत-दुःशासनपीतावशेषशोणितस्नपितबीभत्सवेषवृकोदरदर्शनभयपरिस्खल-त्प्रहरणानि रणात् प्रद्रवन्ति बलानि।

तत इति—प्रहारेण आघातेन मूर्च्छितं रथे तिष्ठतीति रथस्थस्तं, रथे स्थितमित्यर्थः, दुर्योधनमपहरन् अपनयन् सूतः प्रविशतीत्यन्वयः।

भो भो इति—बाह्वोः भुजयोर्बलेन यः अवलेपो दर्पस्तेन प्रवर्तितः आरब्धो यः महासमरः स एव दोहदो मनोरथः येषां ते तथाभूताः। कौरवकुले यः पक्षपातस्तेन पणीकृतः प्राणा एव द्रविणं धनं तस्य संचयो यैस्ते तथाविधाः। नराणां पतयो राजानः। निहतो यः दुःशासनस्तस्य पीताद् अवशेषमवशिष्टं यद् रुधिरं रक्तं तेन स्नपितोऽत एव बीभत्सः भयानको वेषो यस्य स तथाविधश्चासौ वृकोदरो भीमस्तस्य दर्शनेनाऽवलोकनेन यः विषादो दुःखं तेन परिस्खलन्ति निपतन्ति

चतुर्थ अङ्क

(शस्त्र-प्रहार से मूर्च्छित होकर रथ में लेटे हुए महाराज दुर्योधन को ले जाते हुए सूत का प्रवेश)

(सूत घबरा कर इधर-उधर भाग रहा है)

(नेपथ्य में)

हे अपने बाहु-बल के गर्व से (मत्त होकर) महायुद्ध-रूपी अभीष्ट का

---

१. गु. अस्य स्थाने 'विषाद' इति पा.।

सूतः—(विलोक्य) कथमेष धवलचपलचारुचामरचुम्बितकनक-कमण्डलुना शिखरावबद्धवैजयन्तीसूचितेन हतगजवाजिनरकलेवरसहस्रसंमर्दविषमोद्घातकृतकलकलकिङ्किणीजालमालिना रथेन शरवर्षस्तम्भितपरचक्रपराक्रमप्रसरः प्रद्रुतमात्मबलमाश्वासयन् कृपः किरीटिनाऽभियुक्तमङ्गराजमनुसरति। हन्त ! जातमस्मद्बलानामवलम्बनम्।

प्रहरणानि शस्त्राणि येषां तानि तथाविधानि रणाद् युद्धभूमेः प्रद्रवन्ति इतस्ततोऽभिधावन्ति कौरवबलानि संस्तभ्यन्तां संरुध्यन्तामित्यन्वयः।

विलोक्येति – धवलं श्वेतं चपलं चञ्चलं च यच्चारु चामरं तेन चुम्बितः कनकस्य स्वर्णस्य कमण्डलुः कमण्डल्वाकारः उपरिस्थः भागो यस्य तेन तथाभूतेन, शिखरे अवबद्धा या वैजयन्ती पताका तया सूचितेन, हता ये गजाः, वाजिनः, नराश्च तेषां यानि कलेवराणि शरीराणि तेषां सहस्रैर्यः सम्मर्दः समूहस्तेन उत्पन्नो यः विषम उद्घात आघातस्तेन कृतः कलकलः येन तथाभूतं यत् किङ्किणीजालं तद् मलति धारयतीति तेन तथाविधेन, (सोपपदाद् √मल् इत्यत + णिनिः) रथेन स्यन्दनेन शरवर्षेण बाणवर्षया स्तम्भितः प्रतिरुद्धः परचक्राणां रिपुदलानां प्रसरः प्रसारः वेगो वा येन तथाभूतः कृपः प्रद्रुतमितस्ततः पलायितमात्मबलमाश्वासयन् समाश्वासयन् किरीटिना अर्जुनेन अभियुक्तमभिभूतमङ्गराजं कर्णमनुसरतीत्यन्वयः। 'हन्त' इति हर्षेऽव्ययम्। अस्माकं बलानां सेनानामवलम्बनमाश्रयः जातम्।

आरम्भ करने वाले एवं कौरव-कुल के साथ विशेष प्रेम होने के कारण (उस के लिए) अपने (चिर) सञ्चित जीवन-धन की बाज़ी लगाने वाले राजाओ ! दुःशासन को मार कर पीने से बचे हुए रुधिर से स्नान किए हुए भयंकर-वेषधारी भीम को देखकर दुःख से अस्त्र-शस्त्रों को फेंककर युद्धभूमि से भागती हुई सेना को रोकिये, रोकिये।

सूत—[(रणभूमि की ओर) देखकर] ओह ! यह (तो) महाराज

(नेपथ्ये कलकलानन्तरम् ।)

भो भो अस्मद्दर्शनभयस्खलितकार्मुककृपाणतोमरशक्तयः कौरव-चमूभटाः ! पाण्डवपक्षपातिनश्च योधा ! न भेतव्यं न भेतव्यम् । निहतदुःशासनपीवरोरःस्थलक्षतजासवपानमदोद्धतो रभसगामी स्तोका-वशिष्टप्रतिज्ञामहोत्सवः कौरवराजस्य द्यूतनिर्जितो दासः पार्थमध्यमो भीमसेनः सर्वान् भवतः साक्षीकरोमि । श्रूयताम्—

भो भो इति—अस्माकं दर्शनेन यद् भयं तेन स्खलिता निपतिताः कार्मुक-कृपाण तोमर-शक्तयः येषां ते तथाभूताः, कौरवाणां या चमूः सेना तस्या भटाः सैनिकाः । निहतस्य दुःशासनस्य यत् पीवरं मांसल-मुरःस्थलं तस्य यत् क्षतजं रक्तं तदेव आसवस्तस्य पानेन उत्पन्नः यो मदो दर्पस्तेन उद्धतः । रभसेन गच्छतीति रभसगामी वेगगामी । स्तोका स्वल्पा अवशिष्टा या प्रतिज्ञा सा एव महान् उत्सवो यस्य स तथाभूतः । कौरवराजस्य दुर्योधनस्य । द्यूतेन निर्जितः । पार्थानां पाण्डवानां मध्यमः । साक्षीकरोमि साक्षीकृत्य वदामि ।

कृपाचार्य श्वेत, चञ्चल एवं सुन्दर चँवर से सुशोभित कनक-कलश-विभूषित रथ पर, जिसके शिखर पर लम्बी पताका फहरा रही है तथा जो मरे हुए हजारों हाथी, घोड़े एवं मनुष्यों के शरीरों के (इधर-उधर) पड़े रहने के कारण ऊँची नीची भूमि पर ठोकर लगने से छोटी-छोटी घण्टिकाओं की मधुर ध्वनि से गूंज रहा है, आरूढ होकर बाण-वर्षा से शत्रु-सेना के प्रबल आक्रमण को रोकते हुए तथा अपनी भागती हुई सेना को धैर्य बन्धाते हुए अर्जुन से आक्रान्त अङ्गराज कर्ण की ओर जा रहे हैं । अहा ! हमारी सेना को अब कुछ आश्रय मिल गया है ।

(नेपथ्य में कोलाहल के उपरान्त)

अरे ! हमें देखकर भय के कारण जिनके धनुष, कृपाण, बर्छी एवं भाला आदि शस्त्रास्त्र स्वयं (हाथों से) गिर गए हैं, ऐसे कौरव-सेना के वीरों तथा

राज्ञो मानधनस्य कार्मुकभृतो दुर्योधनस्याऽग्रतः,
प्रत्यक्षं कुरुबान्धवस्य च तथा[1] कर्णस्य शल्यस्य च।
पीतं तस्य मयाऽद्य पाण्डववधूकेशाम्बराकर्षिणः,
कोष्णं जीवत एव तीक्ष्णकरजक्षुण्णादसृग्वक्षसः ॥१॥

राज्ञ इति—(अन्वयः) अद्य मया मानधनस्य कार्मुकभृतः राज्ञः दुर्योधनस्य अग्रतः तथा कुरुबान्धवस्य कर्णस्य शल्यस्य च प्रत्यक्षम् जीवतः एव पाण्डववधूकेशाम्बराकर्षिणः तस्य तीक्ष्णकरजक्षुण्णात् वक्षसः कोष्णम् असृक् पीतम् ॥

(व्याख्या) अद्येदानीं मया भीमेन मानमेव धनं यस्य तस्य मानधनस्य मानिनः कार्मुकं बिभर्तीति तस्य कार्मुकभृतो धनुर्धारिणः राज्ञो नृपस्य दुर्योधनस्य अग्रतः पुरतस्तथा कुरूणां बान्धवस्य सुहृदः कर्णस्य शल्यस्य मद्राधिपस्य च प्रत्यक्षं समक्षं जीवत एव पाण्डवानां या वधूः द्रौपदी तस्याः केशाम्बराणि आकर्षतीति तस्य तथाविधस्य दुःशासनस्य तीक्ष्णैर्निशितैः करजैर्नखैः क्षुण्णाद् विदीर्णाद् वक्षसः उरःस्थलाद्, हृदयादित्यर्थः, कोष्णं किञ्चिदुष्णमसृग् रुधिरं पीतम्। इत्यत्राऽहं सर्वान् भवतः साक्षीकरोमीति पूर्वेण सम्बन्धः॥ शार्दूलविक्रीडितं छन्दः, 'सूर्याश्वैर्यदि मासजः सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' इति तल्लक्षणात्॥१॥

पाण्डव वीर सैनिको ! डरो मत, डरो मत ! कुरुपति दुर्योधन की द्यूतक्रीड़ा में विजित पृथा-पुत्रों में मंझला मैं, भीमसेन, जिसकी (दुर्योधन-वध की) प्रतिज्ञा-पूर्ति में अब थोड़ा ही विलम्ब बाकी है, मृत दुःशासन के मासल वक्षःस्थल से निकलते हुए रक्तासव का पान करने से मदोन्मत्त होकर वेग से (आगे) बढ़ता हुआ आप सब को साक्षी करके कहता हूँ। सुनिये—

आज मैंने मानी धनुर्धारी राजा दुर्योधन, कौरव-बन्धु कर्ण एवं शल्य

१. गु. 'मिषतः' इति पा.।

सूतः—(श्रुत्वा सभयम्) अये ! कथमासन्न एवाऽसौ दुरात्मा कौरवराजपुत्रमहावनोत्पातमारुतो मारुतिः । अनुपलब्धसंज्ञश्च [1]तावदत्र महाराजः । भवतु ।

[2]सुदूरमपहरामि स्यन्दनम् । कदाचिद्दुःशासन इवाऽस्मिन्नप्ययमनार्योऽनार्यमाचरिष्यति । (त्वरिततरं[3] परिक्रम्याऽवलोक्य च) अये ! अयमसौ सरसीसरोजविलोलनसुरभिशीतलमातरिश्वसंवाहितसान्द्रकिसलयो न्यग्रोधपादपः । उचिता विश्रामभूरियं समरव्यापारखिन्नस्य वीरजनस्य । अत्रस्थश्चायमयत्नोपवीजिततालवृन्तेन हरिचन्दनच्छटाशीतलेनाऽप्रयत्नसुरभिणा दशापरिणामयोग्येन सरसीसमीरणेनाऽमुना च गतक्लमो भविष्यति महाराजः ।

अये ! इति—कौरवराजस्य धृतराष्ट्रस्य पुत्रा दुर्योधनादय एव महावनं तत्र उत्पातमारुत उत्पातवातः इव स तथाभूतः मारुतिर्वायुपुत्रो भीम आसन्नः समीपस्थ एव । अनुपलब्धा अप्राप्ता संज्ञा चेतना येन स तथाविधो महाराजो दुर्योधनः ।

सुदूरमिति—अपहरामि अपनयामि । स्यन्दनं रथम् । अस्मिन् दुर्योधनेऽपीत्यर्थः । अनार्यं क्रूरं निर्दयमित्यर्थः । सरसीसरोजानां महत्सरोवरकमलानां विलोलनेन कम्पनेन सुरभिः सुगन्धितो यः

के सामने (ही) पाण्डव वधू द्रौपदी के केश एवं वस्त्र को खींचने वाले जीवित दुःशासन के वक्षःस्थल को अपने तीक्ष्ण नखों से विदीर्ण करके उसके गर्मागरम रुधिर को पी लिया है ॥१॥

सूत—(सुनकर भय के साथ) अरे ! क्या कौरवराज-पुत्र-रूपी महावन के लिये उत्पात-वायु-स्वरूप यह दुरात्मा वायु-पुत्र भीम पास में ही आ गया है ! और महाराज दुर्योधन अभी अचेत ही पड़े हुए हैं । अच्छा,

---

१. अयं पा. G. नास्ति । २. G. 'दूरमप०' इति पा० । ३. G. 'त्वरितम्' इति पा. ।

([1]ऊर्ध्वमवलोक्य) लूनकेतुश्चाऽयं रथोऽनिवारित एव प्रवेक्ष्यति छायाम् । (प्रवेशं रूपयित्वा) कः कोऽत्र भोः[2] ? (समन्तादवलोक्य) कथं न कश्चिदत्र परिजनः ! नूनं तथाविधस्य वृकोदरस्य दर्शनादेवंविधस्य च स्वामिनस्त्रासेन शिबिर-सन्निवेशमेव प्रविष्टः । कष्टं भोः ! कष्टम् ।

शीतलो मातरिश्वा वायुस्तेन संवाहितानि संचालितानि सान्द्राणि स्निग्धानि किसलयानि यस्याऽसौ तथाभूतः न्यग्रोधपादपो वटवृक्षः । समरव्यापारेण युद्धव्यापारेण खिन्नस्य परिश्रान्तस्य । अयत्नोपवीजितेन प्रयत्नं विनैव संचालितेन तालवृन्तेन तालपत्रव्यजनेन । हरिचन्दनस्य चन्दनविशेषस्य छटया समूहेन, हरिचन्दनवृक्षसमूहसम्पर्केणेत्यर्थः, शीतलेन, अप्रयत्नं प्रयत्नं विनैव सुरभिणा सुगन्धितेन, द्वितीया तत्पुरुषः, दशापरिणामस्य अवस्थापरिवर्तनस्य योग्येन समर्थेन, मूर्च्छावस्थां स्वस्थावस्थायां परिणमयितुं समर्थेनेत्यर्थः, सरस्याः महत्सरोवरस्य समीरणेन वायुना महाराजो दुर्योधनः विगतः अपगतः क्लमः श्रमो यस्य स तथाभूतो भविष्यतीत्यन्वयः ।

ऊर्ध्वमिति—ऊर्ध्वमुपरि अवलोक्य दृष्ट्वा । लूनश्छिन्नः केतुः पताका

रथ को (यहाँ से कहीं) दूर ले चलता हूँ । कभी यह दुष्ट (भीम) दुःशासन की तरह इन महाराज पर भी अत्याचार न कर डाले । (तेजी से कुछ दूर चल कर और देख कर) अरे ! यह सामने (बड़ा सुन्दर) बड़ का वृक्ष खड़ा हुआ है जिसके स्निग्ध कोमल पल्लव तालाब के कमलों का विलोडन करने के कारण सुगन्धित एवं शीतल वायु से हिल रहे हैं । युद्ध-व्यापार से परिश्रान्त वीर पुरुष के लिये यह बड़ा सुन्दर विश्राम-स्थान है । यहां पर बिना ही प्रयत्न के वायु के द्वारा हिलाए गए ताल-वृन्त-रूपी पंखे से तथा हरिचन्दन के सम्पर्क से सुशीतल, स्वभावतः सुगन्धित एवं स्वास्थ्यप्रद सरोवर की इस वायु से महाराज की थकावट दूर होगी ।

१. अयं कोष्ठान्तर्गतः पा. G. नास्ति । २. इतोऽग्रे गु. 'छत्रं व्यजनं चामरं च शीघ्रमुपनयतु' इत्यधिकः पा. ।

दत्त्वा द्रोणेन पार्थादभयमपि न संरक्षितः सिन्धुराजः,
क्रूरं दुःशासनेऽस्मिन् हरिण इव कृतं भीमसेनेन कर्म ।
दुःसाध्यामप्यरीणां लघुमिव समरे पूरयित्वा प्रतिज्ञाम्,
नाऽहं मन्ये सकामं कुरुकुलविमुखं दैवमेतावताऽपि ॥२॥

यस्य स तथाभूतोऽयं रथः अनिवारितः अप्रतिरुद्ध एव छायां प्रवेक्ष्यति प्रवेशं करिष्यति। रूपयित्वा अभिनयं कृत्वा। समन्तात् परितः। तथाविधस्य भयंकरवेषधारिणो वृकोदरस्य भीमस्य दर्शनाद् एवंविधस्य संमूर्च्छितस्य स्वामिनो महाराजदुर्योधनस्य च त्रासेन भयेन शिविरसन्निवेशं सेनासंस्थानभूमिम् एव प्रविष्ट इत्यन्वयः।

दत्त्वेति—(अन्वयः) पार्थात् अभयं दत्त्वा अपि द्रोणेन सिन्धुराजः न संरक्षितः। अस्मिन् दुःशासने भीमसेनेन समरे हरिणे इव क्रूरं कर्म कृतम्। (परम्) एतावता अरीणां दुःसाध्यां प्रतिज्ञां लघुमिव पूरयित्वा अपि कुरुकुलविमुखं दैवम् अहं सकामं न मन्ये॥

(व्याख्या) पृथाया अपत्यं पुमान् पार्थस्तस्मात् कुन्तीपुत्रादर्जुनाद् अभयमभयवाचं दत्त्वा 'मयि द्रोणे जीवति सति न तव कुतोऽपि भयं वर्तते। 'अहं त्वां सर्वप्रकारेण अर्जुनाद् रक्षिष्यामि' इत्येवं प्रकारेण विश्वासं प्रदायाऽपि द्रोणेन सिन्धुराजो न संरक्षितस्तस्य रक्षा न कृतेत्यर्थः। अस्मिन् दुःशासने समरे युद्धे हरिणे मृगे इव भीमसेनेन क्रूरं निर्दयं रक्तपानरूपमतिबीभत्सं कर्म कृतम्। परमेतावता अरीणां

(ऊपर की ओर देखकर) ध्वजा के टूट जाने के कारण हमारा रथ अनायास ही (वट वृक्ष की) छाया में चला जाएगा। (छाया में प्रवेश करके) अरे! यहाँ कोई है! क्या कारण है कि (इस समय) यहाँ कोई भी नौकर नहीं है! (मालूम होता है कि) भीम की भयंकर आकृति एवं महाराज (दुर्योधन) इस करुणा-पूर्ण अवस्था को देखकर भय के कारण वे सब लोग शिविर-भूमि में चले गए हैं। ओह! बड़े दुःख की बात है।

(राजानमवलोक्य) कथमद्याऽपि चेतनां न लभते महाराजः ?। भोः कष्टम् । (निःश्वस्य)

शत्रूणां, पाण्डवानामित्यर्थः, दुःसाध्यां दुःखेन साधनीयाम्, अतिकठिनामित्यर्थः, प्रतिज्ञां लघुमिव सरलामिव पूरयित्वा पूर्णां कारयित्वा अपि कुरुकलस्य कौरववंशस्य विमुखं विरुद्धं, शेषषष्ठ्या समासः, दैवं विधिमहं सकामं पूर्णकामं प्रसन्नं शान्तं वा न मन्ये। अर्थात् 'इतोऽप्यधिकं किञ्चिदनिष्टं विधिरवश्यमेव विधास्यतीत्यहं दृढमाशङ्के' इति भावः। स्रग्धरा छन्दः, 'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्' इति तल्लक्षणात् ॥२॥

राजानमिति—राजानं कौरवराजं दुर्योधनमित्यर्थः। कथं महाराजो दुर्योधनः अद्याऽपि इदानीमपि चेतनां संज्ञां, चैतन्यमित्यर्थः, न लभते।

सिन्धुराज जयद्रथ को अभय-वचन देकर भी आचार्य द्रोण ने अर्जुन से उसकी रक्षा नहीं की। भीमसेन ने युद्धस्थल में इस दुःशासन को हरिण के समान (मार कर) बड़ा ही निर्दय एवं बीभत्स कर्म किया है। परन्तु मैं समझता हूँ कि इस प्रकार पाण्डवों की दुःसाध्य प्रतिज्ञा को बड़ी सरलता से पूरी करा कर भी कौरव-वंश पर प्रकुपित हुआ विधाता अभी भी शान्त नहीं हुआ है ॥२॥

(राजा की ओर देखकर) क्या अभी तक भी महाराज होश में नहीं आए ?। बड़े दुःख की बात है। (लम्बी सांस लेकर)

मदकलितकरेणुभज्यमाने,
विपिन इव प्रकटैकशालशेषे ।
हतसकलकुमारके कुलेऽस्मि-
स्त्वमपि विधेरवलोकितः कटाक्षैः ॥३॥

मदकलितेति—(अन्वयः) मदकलितकरेणुभज्यमाने प्रकटैकशालशेषे विपिने इव हतसकलकुमारके अस्मिन् कुले त्वम् (अपि) विधेः कटाक्षैः अवलोकितः असि ।

(व्याख्या) मदेन कलितः प्रमत्तो यः करेणुर्गजस्तेन भज्यमाने त्रोट्यमाने, विनाश्यमाने इत्यर्थः, √भञ्ज् + कर्मणि यक् ततः शानच्, प्रकटः एक एव शालः शालवृक्षः शेषो यस्मिन् तस्मिन् विपिने सघने वने इव हताः विनाशमुपगताः सकलाः समस्ताः कुमाराः दुःशासनादयो धृतराष्ट्रपुत्राः यस्मिन् तस्मिन् अस्मिन् कुरुकुले अवशिष्टस्त्वमपि इदानीं विधेर्दैवस्य कटाक्षैः कुटिलनेत्रैः अवलोकितः दृष्टोऽसि । यथा उन्मत्तेन गजेन विनाशिते कस्मिंश्चिद् गहने वने एक एव वृक्षोऽन्तेऽवशिष्यते तथाऽस्मिन् कौरववंशेऽपि एकस्त्वमेवाऽवशिष्टोऽसि । परमिदानीं त्वमपि विधिना निर्दयनेत्रैरवलोक्यसे । अतस्त्वज्जीवनेऽपि सन्देह एवेति भावः । पुष्पिताग्रा छन्दः, 'अयुजि नयुगरेफतो यकारो, युजि तु नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' इति तल्लक्षणात् ॥३॥

जिस प्रकार मदोन्मत्त हाथी से विध्वस्त वन में (अन्त में) एक(-आध) ही कोई शालवृक्ष बाकी बचता है उसी प्रकार इस (कौरव-)कुल में भी सब राजकुमारों के मारे जाने पर एकमात्र आप ही बचे थे, परन्तु अब आप पर भी विधाता की कुदृष्टि पड़ गई है ॥३॥

(आकाशे लक्ष्यं बद्ध्वा[1]) ननु भो हतविधे ! भरतकुलविमुख !

अक्षतस्य गदापाणेरनारूढस्य संशयम् ।
एषाऽपि भीमसेनस्य प्रतिज्ञा पूर्यते त्वया ॥४॥

आकाशे इति—लक्ष्यं बद्ध्वा निर्निमेषमवलोक्येत्यर्थः । हतो विधिर्हतविधिस्तत्सम्बुद्धौ हे हतविधे ! हे दुर्दैव ! भरतकुलस्य विमुखः पराङ्मुखः, विरुद्ध इत्यर्थः, तत्सम्बुद्धौ हे भरतकुलविमुख ! हे कौरववंशपराङ्मुख !

अक्षतस्येति—(अन्वयः) अक्षतस्य संशयम् अनारूढस्य गदापाणेः भीमसेनस्य एषा अपि प्रतिज्ञा त्वया पूर्यते ॥

(व्याख्या) अक्षतस्य अप्राप्तव्रणस्य संशयं जीवनसंशयमनारूढस्य अप्राप्तस्य गदा पाणौ हस्ते यस्य तस्य भीमसेनस्य एषा दुर्योधनवधरूपा अपि प्रतिज्ञा त्वया क्रूरेण विधिना इदानीं पूर्यते पूर्णा क्रियते । युद्धमन्तरैव भीमस्य दुर्योधनवधप्रतिज्ञा निर्दयविधिना अनायासेनैव प्रपूर्यते इत्यर्थः ॥४॥

(आकाश की ओर दृष्टि लगाकर) हे दुर्दैव ! कौरव-कुल-पराङ्मुख ! गदाधारी एवं अक्षत भीमसेन की इस (दुर्योधन-वध की) प्रतिज्ञा को भी तुम, उसके जीवन को किसी प्रकार के संशय में डाले बिना, अनायास ही पूरी कर रहे हो ॥४॥

१. G. अयं कोष्ठान्तर्गतः पा. नास्ति ।

दुर्योधनः—(शनैरुपलब्धसंज्ञः) आः ! का शक्तिरस्ति पवनतनयस्य दुरात्मनो वृकोदरहतकस्य मयि जीवति दुर्योधने प्रतिज्ञां पूरयितुम् ! । वत्स दुःशासन ! न भेतव्यं न भेतव्यम् । अयमहमागतोऽस्मि । ननु सूत ! प्रापय रथं तमेवोद्देशं यत्र वत्सो मे दुःशासनः ।

सूतः—आयुष्मन् ! अक्षमाः सम्प्रति वाहास्ते रथमेनमुद्वोढुम् । (स्वगतम्[१]) मनोरथं च ।

शनैरिति—उपलब्धा प्राप्ता संज्ञा चेतना येन सः । पवनस्य वायोस्तनयः पुत्रस्तस्य दुरात्मनः पापात्मनो वृकोदरहतकस्य दुष्टभीमस्य । अयमहमागतोऽस्मि इदानीमेवाऽहमागच्छामीत्यर्थः । सूत ! हे सारथे ! यत्र वत्सो दुःशासनो वर्तते तमेव उद्देशं स्थानं मे मम रथं प्रापय उपनयेत्यन्वयः ।

आयुष्मन्निति—सम्प्रति इदानीं ते तव वाहा अश्वा एनं रथम् उद्वोढुमपनेतुं ते मनोरथमभिलाषं च पूरयितुमक्षमा असमर्था इत्यन्वयः ।

दुर्योधन—(शनैः-शनैः चेतन होकर) मुझ दुर्योधन के जीवित रहते हुए मारुत-पुत्र दुरात्मा नीच भीम की क्या शक्ति है कि वह (अपनी) प्रतिज्ञा पूरी कर सके । वत्स दुःशासन ! डरो मत, डरो मत । मैं आ गया हूं । सूत ! मेरे रथ को उसी जगह ले चलो जहाँ वत्स दुःशासन है ।

सूत—आयुष्मन् ! अब आपके घोड़े इस रथ को और आगे ले चलने में असमर्थ हैं । (अपने मन में) और आपका मनोरथ पूरा करने में अशक्त हैं ।

१. गु. 'अपवार्य' इति पा. ।

दुर्योधनः—(रथादवतीर्य सगर्वं साकूतं च) कृतं स्यन्दनगमनकालातिपातेन ।

सूतः—(सवैलक्ष्यं सकरुणं च) मर्षयतु मर्षयतु [1]देवः ।

दुर्योधनः—धिक् सूत ! किं रथेन ? । केवलमरातिविमर्दसंघट्टचारी दुर्योधनः खल्वहम् । तद् गदामात्रसहायः समरभुवमवतरामि ।

सूतः—देव[2] ! एवमेतत् ।

रथादिति—गर्वेण सहितं सगर्वं साहंकारम् । आकूतेन सहितं साकूतं साऽभिप्रायम् । स्यन्दनगमनेन रथगमनेन यः कालातिपातः कालक्षेपस्तेनकृतमलम् ।

सवैलक्ष्यमिति—वैलक्ष्येण लज्जया सहितम् । करुणया सहितं सकरुणम् । मर्षयतु क्षाम्यतु ।

धिगिति—अरातीनां शत्रूणां यो विमर्दः परस्परं स्पर्शः संश्लेषो वा तेन यः संघट्टः समूहः तस्मिन् सञ्चरितुं शीलमस्याऽस्तीति स तथाभूतोऽहं दुर्योधनः अस्मीति शेषः । तस्माद् गदामात्रमेव सहायो यस्य स तथाविधोऽहं समरभुवं युद्धस्थलमवतरामि गच्छामि ।

दुर्योधन—(रथ से उतर कर गर्व के साथ व्यङ्ग्य करते हुए) अब रथ पर चढ़कर व्यर्थ समय नष्ट करने की आवश्यकता नहीं है ।

सूत—(लज्जित-सा होकर करुणापूर्ण स्वर में) आयुष्मन् ! क्षमा कीजिये, क्षमा कीजिये ।

दुर्योधन—सूत ! धिक्कार है । इस रथ से क्या लाभ है ! अब दुर्योधन अकेला ही शत्रुओं की भीड़ से टक्कर लेगा । इस लिये मैं अब केवल गदा को ही (अपने साथ) लेकर युद्धभूमि में उतरता हूँ ।

सूत—देव ! यह ठीक है ।

१. गु. 'आयुष्मान्' इति पा. । २. गु. 'आयुष्मन्' इति पा. ।

दुर्योधनः—यद्येवं, किमेवं भाषसे ? पश्य—

बालस्य मे प्रकृतिदुर्ललितस्य पापः,
पापं व्यवस्यति समक्षमुदायुधोऽसौ ।
अस्मिन्निवारयसि किं व्यवसायिनं मां ?
क्रोधो न नापि करुणा न च तेऽस्ति लज्जा ॥५॥

बालस्येति—(अन्वयः) प्रकृतिदुर्ललितस्य बालस्य मे समक्षम् उदायुधः असौ पापः पापं व्यवस्यति । अस्मिन् व्यवसायिनं मां किं निवारयसि ? ते न क्रोधः, नापि करुणा, न च लज्जा अस्ति ।

(व्याख्या) प्रकृत्या स्वभावेन दुर्ललितस्य उपद्रविणः बालस्य मे कनिष्ठभ्रातुर्दुःशासनस्य मे मम दुर्योधनस्य समक्षं पुरत एव उदायुधो गृहीतशस्त्रः असौ पापोऽयं दुरात्मा भीमः पापं रक्तपानरूपं निर्दयं कर्म व्यवस्यति कर्तुं प्रयतते । अस्मिन् दुरात्मनि भीमे व्यवसायिनं प्रतिरोधपरं रुधिरपानं कुर्वन्तं भीमं प्रतिरुन्धन्तं मां किमर्थं निवारयसि अवरुणत्सि ? ते तव न क्रोधः कोपः, नाऽपि करुणा दया, न च लज्जाऽस्ति । अर्थात् स्वस्वामिनः कनिष्ठभ्रातुर्वधात् ते कोपः करुणा लज्जा चेति त्रयमपि उचितं परं त्वयि एतेषु एकमपि न प्रतीयते । अतस्त्वं सर्वथा निर्दयो निर्लज्जश्च वर्तसे इति भावः । 'वसन्ततिलका' छन्दः, 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति तल्लक्षणात् ॥५॥

दुर्योधन—यदि ठीक है, तो फिर तुम इस प्रकार क्यों कह रहे हो ? देखो—

प्रकृति से ही उपद्रवी इस बालक दुःशासन पर यह दुरात्मा पापी भीम शस्त्र उठाकर मेरे सामने ही (निर्दयता के साथ) आक्रमण कर रहा है और इसका प्रतिरोध करने के लिये उद्यत होने पर तुम मुझे रोकते हो । तुम्हारे अन्दर क्रोध, करुणा या लज्जा इन में से एक भी नहीं है ॥५॥

सूतः—(सकरुणं पादयोर्निपत्य) एतद्विज्ञापयामि आयुष्मन् ! सम्पूर्णप्रतिज्ञेन निवृत्तेन भवितव्यमिदानीं दुरात्मना वृकोदरहतकेन । अत एवं ब्रवीमि ।

दुर्योधनः—(सहसा भूमौ पतन्) हा वत्स दुःशासन ! हा मदाज्ञाविरोधितपाण्डव ! हा विक्रमैकरस ! हा मदङ्कदुर्ललित ! हा अरातिकुलगजघटामृगेन्द्र ! हा युवराज ! कासि ? प्रयच्छ मे प्रतिवचनम् ।

(इति निःश्वस्य मोहमुपगतः ।)

सकरुणमिति—सकरुणं सदयं पादयोश्चरणयोर्निपत्य पतित्वा । सम्पूर्णा प्रतिज्ञा यस्य तेन तथाविधेन दुरात्मना पापात्मना वृकोदरहतकेन दुष्टभीमेन इदानीं सम्प्रति निवृत्तेन निर्गतेन भवितव्यमित्यन्वयः ।

सहसेति—मम आज्ञया विरोधिता पाण्डवा येन स तत्सम्बुद्धौ । विक्रमे पराक्रमे एव एकः रसो यस्यासौ तत्सम्बुद्धौ । मम अङ्के दुर्ललितः उद्वृत्तक्रीडासंलग्नस्तत्सम्बुद्धौ । अरातीनां शत्रूणां यत्कुलं तदेव गजानां हस्तिनां घटा समूहस्तत्र मृगेन्द्रः सिंहस्तत्सम्बुद्धौ । काऽसि कुत्राऽसि । मे प्रतिवचनं प्रत्युत्तरं प्रयच्छ देहि । इत्युक्त्वा दीर्घं निःश्वस्य मोहं मूर्च्छामुपगतः प्राप्तः ।

सूत—(चरणों में गिर कर स-करुण स्वर में) आयुष्मन् ! मेरी प्रार्थना यह है कि वह दुरात्मा नीच भीम इस समय तक अपनी प्रतिज्ञा पूरी करके वापिस लौट गया होगा । इसी लिये मैं आप से ऐसा कह रहा हूँ ।

दुर्योधन—(सहसा भूमि पर गिरते हुए) हा वत्स दुःशासन ! हा मेरी आज्ञा से ही पाण्डवों से विरोध करने वाले ! हा पराक्रमशील ! हा मेरी गोदी में खेलने वाले ! हा शत्रु-कुल-रूपी गज-समूह के लिये सिंह-स्वरूप ! हा युवराज ! तुम कहाँ हो ? । मुझे उत्तर दो ।

(इस प्रकार [कहते हुए] लम्बी साँस लेकर मूर्च्छित हो जाता है ।)

सूतः—राजन् ! समाश्वसिहि, समाश्वसिहि ।

दुर्योधनः—(संज्ञां लब्ध्वा निःश्वस्य)

युक्तो यथेष्टमुपभोगसुखेषु नैव,
त्वं लालितोऽपि हि मया न वृथाऽग्रजेन ।
अस्यास्तु वत्स ! तव हेतुरहं विपत्ते-
र्यत् कारितोऽस्यविनयं न च रक्षितोऽसि ॥६॥

राजन्निति—हे राजन् ! समाश्वसिहि धैर्यमवलम्बस्व ।

युक्त इति—(अन्वयः) हे वत्स ! वृथाऽग्रजेन मया त्वम् उपभोग-सुखेषु यथेष्टं न युक्तः, न (च यथेष्टं) लालितः । अस्याः तव विपत्तेः तु अहं हेतुः, यद् अविनयं कारितः, न च रक्षितः असि ।

(व्याख्या) हे वत्स ! वृथा निरर्थकमेव अग्रजेन ज्येष्ठेन भ्रात्रा मया दुर्योधनेन त्वम् उपभोगसुखेषु सांसारिकानन्दोपभोगेषु यथेष्टं यथेच्छं न युक्तो न नियोजितो न च यथेष्टं लालितः । अस्यास्तव विपत्तेर्भीमकृतत्वद्वधरूपाया विपदोऽहमेव हेतुः कारणमस्मीति शेषः, यद् यस्मात् कारणाद् मया त्वमविनयं द्रौपदीकेशवसनाकर्षणरूपम-शिष्टाचारं कारितः कर्तु प्रेरितः, न चेदानीं रक्षितस्त्रातः । 'वसन्ततिलका' छन्दः, 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति तल्लक्षणात् ॥६॥

सूत—राजन् ! धैर्य रखिये, धैर्य रखिये ।

दुर्योधन—(होश में आकर, दीर्घ निश्वास भर कर)

मैं तुझे यथेष्ट सांसारिक सुख नहीं दे सका और न यथेष्ट प्रेम ही किया । प्रत्युत हे वत्स ! तुम्हारी इस आपत्ति का कारण भी मैं ही बना हूँ क्योंकि (द्रौपदी के केशाकर्षण के रूप में) मैंने तुझ से अशिष्ट व्यवहार तो करा दिया, परन्तु मैं तेरी रक्षा नहीं कर सका ॥६॥

(इति पुनः पतति[1])

सूतः—आयुष्मन् ! समाश्वसिहि समाश्वसिहि ।

दुर्योधनः—धिक् सूत ! किमनुष्ठितं भवता ? ।

रक्षणीयेन सततं बालेनाऽऽज्ञाऽनुवर्तिना ।
दुःशासनेन भ्रात्राऽहमुपहारेण रक्षितः ॥७॥

आयुष्मन्निति—समाश्वसिहि धैर्यमवलम्बस्व ।

धिगिति—भवता त्वया सूतेन किमिदमनुष्ठितं कृतम् ?

रक्षणीयेनेति—(अन्वयः) सततम् आज्ञानुवर्तिना रक्षणीयेन बालेन भ्रात्रा दुःशानेनेन उपहारेण अहं रक्षितः ।

(व्याख्या) सततं नितरामाज्ञामादेशमनुवर्तते इति तच्छीलस्तेन तथाभूतेन आज्ञानुवर्तिना आज्ञापालकेन अत एव रक्षणीयेन रक्षायोग्येन बालेन बालस्वभावेन, मुग्धेन वा, भ्रात्रा दुःशासनेन उपहारेण उपहारभूतेन पाण्डवेभ्यस्तमुपहाररूपेण दत्त्वेत्यर्थः, अहं रक्षितः परित्रातः । एतच्च त्वया सर्वथानुचितं कृतमित्यर्थः ॥७॥

(ऐसा कहकर पुनः मूर्च्छित हो जाता है)

सूत—आयुष्मन् ! धैर्य रखिये, धैर्य रखिये ।

दुर्योधन—धिक्कार सूत ! तुमने यह क्या किया कि—

सदा आज्ञा-पालक, रक्षा-योग्य बालक वत्स दुःशासन को बलि देकर मेरी रक्षा की ? ॥७॥

१. G. अस्य कोष्ठान्तर्गतस्य पा. स्थाने 'पतति' इत्येव पा. ।

सूतः—महाराज ! मर्मभेदिभिरिषुतोमरशक्तिप्रासवर्षैर्महारथाना-मपहृतचेतनत्वान्निश्चेष्टः[1] कुतो महाराज इत्यपहृतो मया रथः ।

दुर्योधनः—सूत ? विरूपं कृतवानसि—

तस्यैव पाण्डवपशोरनुजद्विषो वा,
क्षोदैर्गदाऽशनिकृतैर्न विबोधितोऽस्मि ।
तामेव नाधिशयितो रुधिरार्द्रशय्यां,
दौःशासनीं यदहमाशु वृकोदरो वा ॥८॥

महाराजेति—मर्माणि भिन्दन्तीति तैर्मर्मभेदिभिः मर्मस्थलविदारकैः महारथानाम् इषवश्च तोमराणि शक्तयश्च प्रासाश्चेति तेषां विभिन्न-प्रकाराणां शस्त्राणां वर्षैर्वृष्टिभिः अपहृता चेतना संज्ञा यस्य स तथा विधोऽपहृतचेतनस्तस्य भावस्तत्त्वाद्, निश्चेष्टत्वादित्यर्थः, महाराजो निश्चेष्टो मूर्च्छितः कृत इति हेतोः मया समरभूमेः रथोऽपहृतोऽपनीत इत्यन्वयः ।

सूतेति—विरूपमनुचितं कृतवान् असि ।

तस्यैवेति—(अन्वयः) मे अनुजद्विषः तस्य एव पाण्डवपशोः गदा-ऽशनिकृतैः क्षोदैः न विबोधितः अस्मि । यद् दौःशासनीम् ताम् एव रुधिरार्द्रशय्याम् अहम् आशु न अधिशयितः, वृकोदरः वा (न अधिशायितः) ॥

(व्याख्या) मे मम अनुजं द्वेष्टीति तस्य अनुजद्विषः कनिष्ठभ्रातृद्विषः तस्यैव सर्वविदितस्य पाण्डवपशोः पशुतुल्यस्य भीमस्य गदा एव

सूत—महाराज ! महारथियों के मर्म-वेधी बाण, बरछी, भाला तथा बल्लम आदि (अस्त्र-शस्त्रों) की वर्षा से चेतना के विलुप्त हो जाने के कारण आप मूर्च्छित हो गए थे । इसलिए मैंने वहां से रथ को हटा लिया ।

१. गु. 'निश्चेतनः' इति पा. ।

(निःश्वस्य नभो विलोक्य)

ननु भो हतविधे ! कृपाविरहित ! भरतकुलविमुख !

अपि नाम भवेन् मृत्युर्न च हन्ता वृकोदरः ।

सूतः—शान्तं पापं, शान्तं पापम । महाराज ! किमिदम् ?

दुर्योधनः—

घातिताऽशेषबन्धोर्मे किं राज्येन जयेन वा ? ॥९॥

अशनिर्वज्रं तत्कृतैः घोदैराघातैः न विबोधितोऽस्मि नाऽवबोधितोऽस्मि । यद् यस्माद् दुःशासनस्येयं दौःशासनी तां दुःशासनसम्बन्धिनीं तामेव रुधिरेण आर्द्रा सा चासौ शय्या ताम् अहं दुर्योधनः आशु शीघ्रं न अधिशयितो न सुप्तः, तस्यामेव दुःशासनमरणभूमौ न मृतोऽस्मीत्यर्थः, वृकोदरो भीमो वा तामेव शय्यां न अधिशयितस्तत्रैव मृत्युं नोपगतः । अर्थाद् असह्यैः शस्त्राघातैरहं मूर्च्छामुपगतवान्, अन्यथा तत्रैव युद्ध-भूमौ भीमं पातयेयम्, स्वयं वा मृत्युमुपगच्छेयमिति भावः ॥ वसन्त-तिलका छन्दः, 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति तल्लक्षणात् ॥८॥

निःश्वस्येति—नभ आकाशं विलोक्य दृष्ट्वा ।

ननु भो इति—हतविधे ! दुर्दैव ! कृपाविरहित ! निर्दय ! भरतकुल-विमुख ! कौरवकुलपराङ्मुख !

अपि नामेति—(अन्वयः) अपि नाम मृत्युः भवेन्, (परं) वृकोदरः हन्ता न भवेत् । घातिताशेषबन्धोः मे राज्येन जयेन वा किम् ?

(व्याख्या) नामेति सम्भावनायाम् (तु. गु.) । अपि नाम कामं मे मृत्युर्मरणमपि भवेत् परं वृकोदरो भीमो मे हन्ता घातको न भवेत् ।

दुर्योधन—सूत ! यह तुमने बहुत बुरा किया है ।

दुःशासन के शत्रु पशु-तुल्य उस भीम की वज्र-तुल्य गदा के आघातों से अचेत हो जाने के कारण मैं (स्वयं) दुःशासन के रक्त से रञ्जित युद्ध-भूमि में नहीं सो सका या भीम को वहाँ नहीं सुला सका ॥८॥

(ततः प्रविशति सप्रहारः[1] सुन्दरकः ।)

सुन्दरकः—अज्जा ! अवि णाम इमस्सिं उद्देसे सारहिदुदुओ दिट्ठो तुम्हेहिं महाराजदुज्जोहणो ण वेत्ति ? (निरूप्य) कहं ण कोवि मन्तेदि ? होदु, एदाणं बद्धपरिअराणं योहपुरिसाणं समूहो दीसइ । एत्थ गदुअ

[आर्याः ! अपि नामाऽस्मिन्नुद्देशे सारथिद्वितीयो दृष्टो युष्माभिर्महाराज-दुर्योधनो न वेति ? (निरूप्य) कथं न कोऽपि मन्त्रयते ! भवतु, एतेषां बद्धपरिक-

घातिता मृत्युं प्रापिता अशेषाः समस्ता बन्धवो यस्य तस्य तथाविधस्य मे राज्येन जयेन वा किं प्रयोजनमिति शेषः ॥६॥

आर्या इति—'अपि' इति प्रश्ने 'नाम' इति च सम्भावनायामव्ययम् (तु. गु.) । अस्मिन् उद्देशे प्रदेशे सारथिरेव द्वितीयः सहायो यस्य स तथाभूतो महाराजो दुर्योधनो युष्माभिर्दृष्टोऽवलोकितो न वा ? ।

निरूप्य दृष्ट्वा । मन्त्रयते सम्भाषते, उत्तरयतीत्यर्थः । भवतु अस्तु ।

(लम्बी सांस लेकर आकाश की ओर देख कर)

हे निर्दय ! कौरव-कुल-पराङमुख ! दुर्दैव !

सूत—शिव शिव ! यह अमङ्गल शान्त हो, शान्त हो । महाराज ! यह आप क्या कह रहे हैं ?

दुर्योधन—मेरे समस्त बन्धुओं की मृत्यु हो जाने पर अब मुझे राज्य या जय से क्या प्रयोजन है ?

(इसके बाद प्रहारों से आहत सुन्दरक प्रवेश करता है)

सुन्दरक—हे सज्जन ? क्या आपने इस तरफ़ कहीं सारथि-सहित महाराज दुर्योधन को देखा है ? (अच्छी प्रकार देख कर) क्या बात है ? कोई भी कुछ उत्तर नहीं देता ! अच्छा, सामने यह कमर कसे हुए सैनिकों का समूह दिखाई दे रहा है । वहाँ चलकर उनसे पूछता हूँ । (कुछ चल कर और देख कर) क्या ? ये सब लोग तो अपने स्वामी के, जो गहरे प्रहारों से घायल हो

१ गु. अस्य स्थाने 'शरप्रहारव्रणबद्धपट्टिकालंकृतकाय' इति पा. ।

पुच्छिस्सम्। (परिक्रम्य विलोक्य च) कहं एदे क्खु स्ससामिणो गाढप्पहा-राहदस्स घणसण्णाहजालदुब्भेज्जमुहेहिं कंकवदनेहिं हिअआदो सल्लाइं उद्धरन्ति। ता ण क्खु एदे जाणन्ति। होदु, अण्णदो विचिणइस्सम्। (अग्रतोऽवलोक्य, किंचित्परिक्रम्य) इमे क्खु अवरे प्पहूददरा संगदा वीर-मणुस्सा दीसन्ति। ता एत्थ गदुअ पुच्छिस्सम्। (उपगम्य) हंहो! जाणह

गच्छामि। (परिक्रम्य विलोक्य च) कथमेते खलु स्वस्वामिनो गाढप्रहाराऽऽहतस्य घनसन्नाहजालदुर्भेद्यमुखैः कंक-वदनैर्हृदयाच्छल्यान्युद्धरन्ति। तन्न खल्वेते जानन्ति। भवतु, अन्यतो विचेष्यामि। (अग्रतोऽवलोक्य, किंचित्परिक्रम्य) इमे खल्वपरे प्रभूततरा संगता वीर-मनुष्या दृश्यन्ते। तदत्र गत्वा प्रक्ष्यामि। (उपगम्य) हंहो! जानीथ यूयं कस्मिन्नु-

बद्धः परिकरो यैस्तेषां तथाभूतानां योधपुरुषाणां सैनिकानां समूहः संघट्टो दृश्यतेऽवलोक्यते। परिक्रम्य चलित्वा, परि√क्रम+क्त्वा->ल्यप्। विलोक्य दृष्ट्वा, वि√लोक्+क्त्वा>ल्यप्।

स्वस्वामिन इति—गाढो गभीरो यः प्रहार आघातस्तेन आहतस्य पीडितस्य स्वस्वामिनो हृदयान् घनो यः संनाहः कवचः स एव जालं तस्मिन् दुर्भेद्यं दुःखेन प्रवेश्यं मुखं येषां तैः कङ्कवदनैः शल्यनिष्कासन-यन्त्रैः शल्यानि उद्धरन्ति निष्कासयन्तीत्यर्थः। अन्यतोऽन्यत्रेत्यर्थः। विचेष्यामि अन्विष्यामि। अपरे अन्ये प्रभूततरा अधिकतराः संगता

गया है, हृदय से ज़ोर से बँधे हुए कवच में बड़ी कठिनता से जाने वाली संडासियों (कङ्कवदन) से बाणों के टुकड़े निकाल रहे हैं। इस लिये (सम्भवतः) ये (कुछ भी) नहीं जानते। अच्छा, दूसरी तरफ ढूंढ़ता हूँ। (सामने देखकर, कुछ चलकर) ये और बहुत से वीर सैनिक एकत्रित हुए दिखाई दे रहे हैं। इसलिए इनके पास चलकर पूछता हूँ। (समीप जाकर) क्यों (भाई!), क्या आप लोगों को पता है कि कौरव-राज महाराज दुर्योधन

तुम्हे कस्सिं उद्देसे कुरुणाहो वट्टइ त्ति ? ।कहं एदे वि मं पेक्खिअ अहिअदं रोअन्ति । ता ण क्खु एदे विजाणन्दि । (दृष्ट्वा) हा ! अदिकरुणं क्खु एत्थ वट्टइ । एसा वीलमादा समलविणिहदं पुत्तअं सुणिअ रत्तंसुअणिवसणाए समग्गभूसणाए बहूए सह अणुमरदि । (सश्लाघम्) साहु, वीरमादे ! साहु । अण्णस्सिं वि जम्मन्तरे अणिहदपुत्तआ

इहेशे कुरुनाथो वर्तते इति ? । कथमेतेऽपि मा प्रेक्ष्याऽधिकतरं रुदन्ति । तन्न खलु एतेऽपि जानन्ति । (दृष्ट्वा) हा ! अतिकरुणं खल्वत्र वर्तते । एषा वीरमाता समरविनिहतं पुत्रकं श्रुत्वा रक्ताशुकनिवसनया समग्रभूषणया वध्वा सहानुम्रियते। (सश्लाघम्) साधु, वीरमातः ! साधु । अन्यस्मिन्नपि जन्मान्तरे अनिहत-

एकत्रीभूता वीराश्च ते मनुष्या दृश्यन्तेऽवलोक्यन्ते । 'हंहो' सम्बोधनेऽव्ययम् । कुरुनाथो दुर्योधनः । प्रेक्ष्य दृष्ट्वा, प्र + ईक्ष् + क्त्वा ल्यप् ।

एषेति—समरे युद्धे विनिहतं मृत्युमुपगतं पुत्रकं श्रुत्वा आकर्ण्य । रक्तांशुकानि रक्तवस्त्राणि निवसनानि वासांसि यस्यास्तया । समग्राणि भूषणानि यस्यास्तया । श्लाघया प्रशंसया सहितं सश्लाघम् । न निहतः पुत्रको यस्यास्तथाभूता । अखण्डितं यशो यस्य सोऽखण्डितयशाः ।

कहां है ? हैं, क्या बात है ? ये लोग भी मुझे देखकर बहुत ज़ोर से रोने लग गए हैं। इसलिए इन्हें (भी) कुछ पता नहीं है। (देखकर) ओह ! यह तो बड़ा ही करुणा-पूर्ण दृश्य है। सामने यह वीरमाता युद्ध में मरे हुए अपने पुत्र के विषय में सुनकर रक्तवस्त्र धारण किए एवं समस्त आभूषणों से अलंकृत अपनी पुत्रवधू के साथ आत्म-घात कर रही है। (उसकी प्रशंसा करते हुए) साधु, वीरमाता ! साधु ! तू जन्मान्तर में चिरञ्जीवी पुत्र वाली होगी। [तेरा पुत्र भी बड़ा भारी प्रसिद्ध शूरवीर होगा।] अच्छा, दूसरी ओर (चलकर) पूछता हूँ। (दूसरी तरफ देखकर) इधर वीर सैनिकों का यह एक

१. इत आरभ्य 'एसा वीलमादा' इत्यतः प्राक् समस्तोऽपि पा. G. नास्ति।

हुविस्ससि। [पुत्तोवि¹ दे अखण्डिदयसो वीरो हुविस्सदि।] होदु, अण्णदो पुच्छिस्सम्। (अन्यतो विलोक्य) अअं अवरो बहुप्पहार-णिहदकाओ अकिदव्वणबन्धो एव्व जोहसमूहो इमं सुण्णासणं तुलङ्गमं उवालहिअ रोइदि। णूणं एदाणं एत्थ एव्व सामी वावादिदो। ता ण क्खु एदे विजाणन्दि। होदु, अण्णदो गदुअ पुच्छिस्सम्। (सर्वतो विलोक्य) कहं सव्वो एव्व अवत्थाणुरूवं व्वसणं अणुभवन्तो भाअधेअ विसमसीलदाए पज्जाउलो जणो। ता कं दाणीं एत्थ पुच्छिस्सम् ? कं

पुत्रका भविष्यसि। [¹पुत्रोऽपि तेऽखण्डितयशा वीरो भविष्यति।] भवतु, अन्यतः प्रक्ष्यामि। (अन्यतो विलोक्य) अयमपरो बहुप्रहारनिहतकायो-ऽकृतव्रणबन्ध एव योधसमूह इमं शून्यासनं तुरङ्गमसुपालभ्य रोदिति। नूनमे-तेषामत्रैव स्वामी व्यापादितः। तन्न खल्वेतेऽपि जानन्ति। भवतु, अन्यतो गत्वा प्रक्ष्यामि। (सर्वतो विलोक्य) कथं सर्व एवाऽवस्थानुरूप व्यसनमनु-भवन भागधेयविषमशीलतया पर्याकुलो जनः। तत् कमिदानीमत्र प्रक्ष्यामि,

बहुभिः प्रहारैः निहतः कायः शरीरं यस्य स तथाभूतः, अकृतः व्रणानां बन्धो यस्य स तथाविधः योधानां समूहः शून्यमासनं यस्य तं तथाभूतमिमं पुरतो दृश्यमानं तुरङ्गममश्वमुपालभ्य प्राप्य रोदितीत्यन्वयः।

भवतु इति—अन्यतोऽन्यत्र गत्वा अन्यं कंचित् प्रक्ष्यामि। सर्वतः समन्तात् विलोक्य दृष्ट्वा। अवस्थानुरूपमवस्थानुकूलं व्यसनं दुःखमनु-भवन् सर्वे एव जनो भागधेयस्य भाग्यस्य विषमशीलतया विमुखतया

और जमघट, जिसके शरीर प्रहारों से घायल हो रहे हैं और जिसके व्रणों पर पट्टी तक भी नहीं बंधी हुई है, बिना सवार के इस घोड़े को देखकर रो रहा है। अवश्य ही इनका स्वामी यहा पर मारा गया है। इसलिये इन्हें भी कुछ पता नहीं है। अच्छा, दूसरी जगह चलकर पूछता हूँ। (चारों तरफ देखकर) हैं, क्या बात है! यहा तो सभी लोग भाग्य की विषमता के कारण अपनी-

१. अयं कोष्ठान्तर्गतः पा. G. नास्ति।

वा उवालहिस्सम् । होदु । सअं एव्व एत्थ विचिणइस्सम् । (परिक्रम्य) होदु । देव्वं दाणीं उवालहिस्सम् । हंहो देव्व ! एआदसाणं अक्खोहिणीणं णाहो, जेट्ठो भादुसदस्स, भत्ता गांगेअजयद्दथद्रोणंगराअसल्लकिअकिदवम्मअस्सत्थामप्पमुहस्स राअचक्कस्स सअलप्पुहवीमण्डलेक्कणाहो महाराअदुज्जोहणो वि अण्णेसीअदि ! अण्णेसीअन्तो कं बोपालप्स्ये ? भवतु, स्वयमेवात्र विचेष्यामि। (परिक्रम्य) भवतु, दैवमिदानीमुपालप्स्ये । हहो दैव ! एकादशानामक्षौहिणीनां नाथो, ज्येष्ठो भ्रातृशतस्य भर्ता गाङ्गेयजयद्रथद्रोणाङ्गराजशल्यकृपकृतवर्माश्वत्थामप्रमुखस्य राजचक्रस्य सकलपृथिवीमण्डलैकनाथो महाराजदुर्योधनोऽप्यन्विष्यते । अन्विष्यमाणोऽपि न ज्ञायते

पर्याकुलो व्याकुलः दृश्यते इति शेषः । विचेष्यामि अन्विष्यामि । भवतु अस्तु, दैवं विधिं भाग्यमेव वा इदानीमुपालप्स्ये ।

अक्षौहिणीति—२१८७० रथाः, २१८७० हस्तिनः, १०९३५० पदातयः, ६५६१० अश्वाः मिलिता एकाऽक्षौहिणी सेना (तु. गु. २३२)

भर्तेति—गाङ्गेयश्च जयद्रथश्च द्रोणश्च अङ्गराजश्च शल्यश्च कृपश्च कृतवर्मा च अश्वत्थामा च प्रमुखा यस्मिन् तस्य तथाभूतस्य राजचक्रस्य राजसमूहस्य भर्ता स्वामी सकलस्य समस्तस्य पृथिवीमण्डलस्य एकः

अपनी अवस्था के अनुसार दुःख भोगते हुए व्याकुल दिखाई दे रहे हैं। इस लिए, अब यहां किस से पूछूं या इसके लिए किसे उपालम्भ दूं ! अच्छा, मैं स्वयं ही यहाँ (उधर-तिधर कहीं पर) उन्हें खोजता हूँ। (कुछ चलकर) अच्छा अब इसके लिए मैं दैव को ही उपालम्भ दे सकता हूँ। अरे क्रूर दैव ! ग्यारह अक्षौहिणी सेना के स्वामी, सौ भाइयों में ज्येष्ठ, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण, शल्य, कृप, कृतवर्मा तथा अश्वत्थामा आदि राज-समूह के अधिपति एवं समस्त पृथिवी-मण्डल के एकमात्र चक्रवर्ती महाराज दुर्योधन को भी खोजा जा रहा है और खोजने पर भी यह पता नहीं लगता कि वे किस जगह हैं। (कुछ विचार कर और लम्बी सास लेकर) अथवा, इस विषय में दैव को

वि ण जाणीअदि कस्सि उद्देसे वट्टइ त्ति। (विचिन्त्य निःश्वस्य च) अहवा किं एत्थ देव्वं उवालहामि। जदो तस्स क्खु एदं णिब्भच्छिअ विउरवअणवीअस्स, अवधीरिदपिदामहहिदोवदेसङ्कुरस्स, सउणिहद-अप्पोच्छाहणादिविरूढमूलस्स जदुगेहजूदविससाहिणो सम्भूदचिर-आलसम्बद्धवेरालबालस्स पञ्चालीकेसग्गहणकुसुमस्स फलं परिणमदि। कस्मिन्नुद्देशे वर्तत इति। (विचिन्त्य निःश्वस्य च) अथवा किमत्र दैव-मुपालभे। यतस्तस्य खल्विदं निर्भर्त्सितविदुरवचनबीजस्याऽवधीरितपितामहहितो-पदेशाङ्कुरस्य शकुनिहतकप्रोत्साहनादिविरूढमूलस्य जतुगृहद्यूतविषशाखिनः सम्भृतचिरकालसम्बद्धवैरालवालस्य पाञ्चालीकेशग्रहणकुसुमस्य फलं परिणमति !

प्रधानो नाथः, चक्रवर्तीत्यर्थः, महाराजो दुर्योधनोऽपि अन्विष्यते विचीयते इत्यन्वयः (अनु √इष् + कर्मणि यक्) । अन्विष्यमाणो विचीयमानश्च, (अनु √इष् + कर्मणि यक् ततः शानच् प्र.), न ज्ञायते नोपलभ्यते।

यतस्तस्येति—निर्भर्त्सितं तिरस्कृतं विदुरवचनमेव बीजं यस्य तस्य, अवधीरितस्तिरस्कृतः पितामहस्य उपदेश एव अङ्कुरो यस्य तस्य, शकुनिहतकस्य दुष्टशकुनेः प्रोत्साहनादिना विरूढं मूलं यस्य तस्य, सम्भृतं समुत्पन्नं चिरकालं सम्बद्धं वैरमेव आलवालं यस्य तस्य, पाञ्चाल्या द्रौपद्याः केशग्रहणमेव कुसुमं यस्य तस्य तथाभूतस्य जतुगृहं द्यूतं विषं च शाखी वृक्ष इव तस्य फलं परिणमतीत्यन्वयः। अर्थात् जतु-

ही क्या दोष दूँ, क्योंकि यह तो (उस) लाक्षागृह-दाह, द्यूत एवं विष-प्रदान-रूपी वृक्ष का फल पक रहा है, जिसका बीज महात्मा विदुर के वचनों का तिरस्कार है, भीष्म पितामह के उपदेश की अवहेलना जिसका अङ्कुर है, दुष्ट शकुनि आदि का प्रोत्साहन जिसकी मजबूत जड़ है, पुरातन प्रवृद्ध शत्रुता ही जिसका आलवाल है तथा द्रौपदी का केशाकर्षण ही जिसका पुष्प है।

(अन्यतो विलोक्य) अम्मो ! जहा एत्थ एसो विविहरअणप्पहासं-वलिदसूरकिरणप्पसूद सक्कचावसहस्ससंपूरिददसदिसामुहो लूणकेदु-वंसो रहो दीसइ, ता अहं तक्केमि अवस्सं एदिणा महाराअ-दुज्जोहणस्स विस्सामुद्देसेण होदव्वम् । याव निरूपेमि । (उपगम्य दृष्ट्वा निःश्वस्य च) कधं एआदहाणं अक्खोहिणीणं णायको भविअ

(अन्यतो विलोक्य) अम्मो ! यथाऽत्रैव विविधरत्नप्रभासंवलितसूर्यकिरण-प्रसूतशक्रचापसहस्रसम्पूरितदशदिङ्मुखो लूनकेतुवंशो रथो दृश्यते । तदहं तर्कया-म्यवश्यमेतेन महाराजदुर्योधनस्य विश्रामोद्देशेन भवितव्यम् । यावन्निरूपयामि । (उपगम्य दृष्ट्वा निःश्वस्य च) कथमेकादशानामक्षौहिणीना नायको भूत्वा

गृहदाह-द्यूतक्रीडनविषदानादेरेवाऽयं दुष्परिणामः प्रत्यक्षतो दृश्यत इत्यर्थः ।

विविधेति—विविधानां रत्नानां या प्रभा तया संवलिता संमिलिता ये सूर्यकिरणास्तैः प्रसूता ये शक्रचापास्तेषां सहस्रैः संपूरितं दशानां दिशां मुखं येन स तथाभतः, लूनश्छिन्नः-केतुवंशो यस्य स तथाविध एप रथो दृश्यतेऽवलोक्यते । तर्कयामि सम्भावयामि । विश्रामोद्देशेन विश्रामस्थानेन । निरूपयामि पश्यामि ।

(दूसरी तरफ देखकर) अरे ! अनेक प्रकार के रत्नों की प्रभा से सम्मिलित सूर्य-किरणों से निर्मित सहस्रों-इन्द्र-धनुषों से दसों दिशाओं के कोने-कोने को परिपूर्ण करते हुए सामने यह रथ, जिसका केतु-वंश टूट गया है, दिखाई दे रहा है। इसलिये मेरा अनुमान है कि यह महाराज दुर्योधन का विश्राम-स्थान है। अच्छा, (ज़रा चलकर) इसे अच्छी प्रकार से देखता हूँ। (पास में जाकर, देखकर और लम्बी सांस लेकर) ओह ! क्या ग्यारह अक्षौहिणी सेना के अधिनायक होकर भी महाराज दुर्योधन एक साधारण

महाराओ दुज्जोहणो पइदपुरिसो विअ असलाहणीए भूमीए उवविट्ठो चिट्ठदि । अधवा तस्स क्खु एदं पंचालीकेसग्गहकुसुमस्स फलं परिणमदि[1] ।]

महाराजो दुर्योधनः प्राकृतपुरुष इवाऽश्लाघनीयाया भूमावुपविष्टस्तिष्ठति । अथवा तस्य खल्विदं पांचालीकेशग्रहकुसुमस्य फलं परिणमति[1] ।]

(उपसृत्य[2] सूतं संज्ञया पृच्छति)

सूतः—(विलोक्य[3]) **अये[4] ! संग्रामात् सुन्दरकः प्राप्तः ।**

सुन्दरकः—(उपगम्य) **जअदु जअदु महाराओ ।**

[(उपगम्य) जयतु जयतु महाराजः ।]

प्राकृतपुरुषः साधारणपुरुषः । अश्लाघनीयायामप्रशस्तायामनुचितायामित्यर्थः । पाञ्चाल्या द्रौपद्याः केशग्रह एव कुसुमं यस्य तस्य तथाभूतस्य वृक्षस्य फलं परिणमति परिपक्वतामेति ।

उपसृत्येति—सुन्दरक उपसृत्य समीपं गत्वा सूतं सारथिं संज्ञया संकेतेन पृच्छतीत्यन्वयः ।

विलोक्येति—'अये' इत्याश्चर्ये प्रसन्नतायां वाऽव्ययम् । संग्रामाद् युद्धभूमेः सुन्दरकः प्राप्त आगतः ।

मनुष्य की तरह यहाँ इस स्थान में बैठे हुए हैं । अथवा यह तो द्रौपदी के केशाकर्षण-रूपी फूल वाले (द्यूत-विष) वृक्ष का फल पक रहा है ।

(पास में जाकर सारथि से संकेत से पूछता है)

सूत—अरे ! संग्राम-भूमि से सुन्दरक आया है ।

सुन्दरक—(पास में जाकर) महाराज की जय हो, जय हो ।

१. गु. इतोऽग्रे '(उपसृत्य दृष्ट्वा च) जअदु, जअदु महाराओ' इति पा. । २. अयं कोष्ठान्तर्गतः पा गु. नास्ति । ३. G. 'दृष्ट्वा' इति पा. । ४. गु. 'आयुष्मन्' इति पा. ।

दुर्योधनः—(विलोक्य) अरे सुन्दरक ! कच्चित् कुशलमङ्गराजस्य ?

सुन्दरकः—देव ! कुसलं सरीरमेत्तेण[1] । ([देव ! कुशलं शरीरमात्रेण]) ।

दुर्योधनः—(ससम्भ्रमम्[2]) किं किरीटिनाऽस्य निहता धौरेयाः[3], हतः सारथिर्भग्नो वा रथः ?

सुन्दरकः—देव ! ण भग्गो रहो । से मणोरहो वि ।

[देव ! न भग्नो रथः । अस्य मनोरथोऽपि ।]

विलोक्येति—अङ्गराजस्य कर्णस्य कच्चित् कुशलं किं कुशलमस्तीति शेषः ।

ससम्भ्रममिति—सम्भ्रमेण सहितं ससम्भ्रमं ससाध्वसम् । किरीटिना अर्जुनेन अस्य अङ्गराजस्य कर्णस्य धुरं वहन्तीति धौरेयाः, ('धुर' शब्दात् ढक्>एय् प्रत्ययः), निहताः, सारथिर्वा हतः, रथो वा भग्नः विनाशित इत्यर्थः ।

दुर्योधन—(देखकर) अरे सुन्दरक ! अङ्गराज कर्ण सकुशल तो हैं ?

सुन्दरक—देव ! शरीर-मात्र से सकुशल हैं ।

दुर्योधन—(बड़ी घबराहट के साथ) क्या अर्जुन ने उसके घोड़ों को मार डाला है, या सारथि का वध कर दिया है या उसके रथ को तोड़ दिया है ।

सुन्दरक—देव ! न केवल रथ को ही तोड दिया है, अपितु उसके मनोरथ को भी विनष्ट कर दिया है ।

---

१. G. 'मेत्तकेण' इति पा. । २. अयं पा. G. नास्ति । ३. गु. 'धौरेयकाः' इति पा. ।

दुर्योधनः—(सरोषम्[1]) अरे[2] ! [3]किमविस्पष्टकथितैराकुलितमपि ! पर्याकुलयसि मे हृदयम् । तदलं सम्भ्रमेण । अशेषतो विस्पष्टं कथ्यताम् ।

सुन्दरकः—जं देवो आणवेदि । देवस्स[3] मुउडमणिप्पहावेण अवणीदा मे रणप्पहारवेअणा (इति साटोपं परिक्रम्य) सुणादु देवो । अत्थि[4] दाणीं कुमालदुस्सासणवहा—

(इत्यर्धोक्ते[5] मुखमाच्छाद्य शङ्कां नाटयति)

(यद्देव आज्ञापयति । देवस्य मुकुटमणिप्रभावेणाऽपनीता मे रणप्रहारवेदना (इति साटोपं परिक्रम्य) शृणोतु देवः । अस्तीदानीं कुमारदुःशासनवधा—

(इत्यर्धोक्ते मुखमाच्छाद्य शङ्कां नाटयति)

सरोषमिति—अविस्पष्टानि यानि कथितानि तैः अविस्पष्टकथितैः मन्दिग्धवचनैः आकुलितं विह्वलं मे हृदयं मनः किं किमर्थं पर्याकुलयसि व्याकुलं करोषि । अशेषतः समग्रम् ।

यद्देवेति—मुकुटमणेः प्रभावेण मे मम रणे ये प्रहारा आघातास्तेषां वेदना अपनीता दूरीभूता । आटोपेन अहंकारेण सहितं साटोपं सगर्वमित्यर्थः ।

दुर्योधन—(रोष के साथ) अरे मूर्ख ! इस प्रकार की अविस्पष्ट बातों से मेरे व्याकुल हृदय को और अधिक क्यों व्याकुल कर रहा है ? इसलिए घबरा मत। (आरम्भ से लेकर) सब बातें साफ़-साफ़ कह।

सुन्दरक—जो महाराज की आज्ञा । महाराज की मुकुटमणि के प्रभाव से मेरी रण-प्रहार-वेदना (अब कुछ) शान्त हो गई है। (ऐसा कहकर घमण्ड के साथ चलकर) महाराज ! सुनिये। आज कुमार दुःशासन के वध से ..

(इतना कहकर बीच में ही मुँह छिपाकर कुछ शङ्कित हो जाता है)

१. अयं पा. G. नास्ति। २. गु. किमेवमस्य इति पा.। ३. गु. इतः पूर्वम् 'अए दिट्ठिआ' (अये दृष्ट्या) इति पा. । ४ गु. 'अज्ज दाव' इति पा. । ५. गु. 'इत्यर्धोक्ते मुखमावृणोति' इति पा. ।

सूतः—सुन्दरक ! कथय । कथितमेव दैवेन ।

दुर्योधनः—कथ्यतां, श्रुतमस्माभिः ।

सुन्दरकः—(स्वगतम्) कधं दुस्सासणवहो सुदो देवेन । (प्रकाशम्) सुणादु देवो । अज्ज[1] दाव कुमालदुस्सासणवहामरिसिदेण सामिणा अङ्गराएण कुडिलभिउडीभङ्गभीसणललाडवट्टेण अविण्णादसन्धाणमोक्खेण[2] सिलीमुहसंघादवरिसिणा अभिजुत्तो सो दुराआरो दुस्सासणवैरिओ मज्झमपण्डवो [3]भीमसेणहदओ ।

[(स्वगतम्) कथं दुःशासनवधः श्रुतो देवेन । (प्रकाशम्) शृणोतु देवः । अद्य तावत् कुमारदुःशासनवधामर्षितेन स्वामिनाऽङ्गराजेन कुटिलभ्रुकुटीभंगभीषणललाटपट्टेनाऽविज्ञातसंधानमोक्षेण शिलीमुखसङ्घातवर्षिणाऽभियुक्तः स दुराचारो दुःशासनवैरी मध्यमपाण्डवो भीमसेनहतकः ।]

स्वगतमिति—कुमारदुःशासनस्य वधेन अमर्षितेन क्रुद्धेन, कुटिला वक्रा या भ्रुकुटी तस्या भङ्गेन भीषणं भयंकरं ललाटपट्टं यस्य तेन, अविज्ञातौ सन्धानमोक्षौ यस्य तेन तथाभूतेन शिलीमुखानां बाणानां संघातं वर्षयतीति तच्छीलेन स्वामिना अङ्गराजेन कर्णेन दुराचारो दुष्टो भीमसेनहतकः नीचभीमसेनोऽभियुक्तः समाक्रान्त इत्यन्वयः ।

सूत - सुन्दरक ! कहो । यह तो सब कुछ दुर्दैव ने पहले ही कह दिया है ।

दुर्योधन—कहो, कहो । मैं सब कुछ पहले ही सुन चुका हूँ ।

सुन्दरक—(मन ही मन) क्या दुःशासन की मृत्यु का समाचार महाराज ने सुन लिया ? । (प्रकट) आज कुमार दुःशासन के वध से कुपित होकर स्वामी अङ्गराज कर्ण ने, जिनका ललाट-पट्ट टेढ़ी भृकुटी से बड़ा ही भयङ्कर दीख रहा था एवं तेज़ी के कारण जिनके बाण-सन्धान तथा मोक्ष का

१. गु. 'अत्थि दाणीं' इति पा. । २. G. मोक्खणिस्खिलसरधारावरिसिणा' इति पा. । ३. अयं पा. G. नास्ति ।

उभौ—ततस्ततः ?

सुन्दरकः—तदो देव ! उहअबलमिलन्तदीप्पन्तकरितुरअपदादिसमुद्धुदधूलिणिअरेण [1]पलत्थतत्तद्गअघडासंघादेण अ वित्थरन्तेण अन्धआरेण अन्धीकिदं उहअबलम् । ण हु गअणतलं लक्खीअदि ।

(ततो देव ! उभयबलमिलद्दीप्यमानकरितुरगपदातिसमुद्धूतधूलिनिकरेण पर्यस्ततत्तद्गजघटासंघातेन च विस्तीर्यमाणेनाऽन्धकारेणाऽन्धीकृतमुभयबलम् । न खलु गगनतलं लक्ष्यते ।)

दुर्योधनः—ततस्ततः ?

ततो देवेति—उभयबलानां कुरुपाण्डवसेनानां मिलद्दीप्यमानं च यत् करि-तुरग-पदाति, (अत्र करि-तुरगादीनां सेनाङ्गत्वाद् द्वन्द्वे एकवद्भावः तु. पा. 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्'), तेन समुद्धूतः समुत्थितो यो धूलिनिकरो धूलिसमूहस्तेन पर्यस्ता इतस्ततो विक्षिप्ता या तत्तद्गजानां हस्तिनां घटा तस्याः संघातेन समूहेन च विस्तीर्यमाणेन संवर्धमानेन अन्धकारेण उभयबलमन्धीकृतमन्धकारमयं कृतमित्यन्वयः। गगनतलमाकाशमण्डलं च न लक्ष्यते न दृश्यते ।

(तनिक भी) पता नहीं लगता था, भयङ्कर बाण-वर्षा करते हुए दुःशासन के शत्रु, दुराचारी मँझले पाण्डु-पुत्र नीच भीमसेन पर आक्रमण किया ।

दोनों (दुर्योधन एवं सूत)—फिर क्या हुआ ?

सुन्दरक—महाराज ! इसके बाद दोनों सेनाओं के संघर्ष से (दूर से) चमकते हुए हाथी, घोड़े एवं पैदल सैनिकों के (पैरों से) उठे हुए धूलि-समूह से चारों ओर सघन अन्धकार छा गया और दोनों सेनाएँ अन्धकारावृत हो गईं । आकाश दिखाई देना बन्द हो गया ।

दुर्योधन—फिर क्या हुआ ?

१. गु. '°त्थगअ' इत्येव पा. ।

सुन्दरकः—तदो देव ! दूराकड्ढिअधणुग्गुणाच्छोडणटङ्कारगम्भीर-भीसणेण अंधआरेण[1] जाणीअदि—गज्जिदं पलअजलहरेण त्ति ।

(ततो देव ! दूराकृष्टधनुर्गुणाच्छोटनटंकारगम्भीरभीषणेनाऽन्धकारेण ज्ञायते—गर्जितं प्रलयजलधरेणेति ।)

दुर्योधनः—ततस्ततः ?

सुन्दरकः—तदो देव ! दोहिणं वि ताणं अण्णोण्णसिंहणाद-गज्जिदपिसुणं विविहपरिमुक्कप्पहरणाहद कवअ संगलिदज्जलण विज्जु-ल्लअं[3] [[4]बहललुहिलबिन्दुखज्जोअभासुरम्] गम्भीरत्थणिअचाप-जलहरप्पसरन्तसरधारासहस्सवरिसदुद्दंसणं जादं समरदुद्दिणम् ।

(ततो देव ! द्वयोरपि तयोरन्योन्यसिंहनादगर्जितपिशुनं विविधपरिमुक्त-प्रहरणाहतकवचसङ्कलितज्वलनविद्युल्लतं [[5]बहलरुधिरबिन्दुखद्योतभासुरम्] गम्भीरस्तनितचापजलधरप्रसरच्छरधारासहस्रवर्षदुर्दर्शनं जातं समरदुर्दिनम् ।)

ततो देवेति—दूरमाकृष्टो यो धनुर्गुणस्तस्य यदाच्छोटनं विमोकस्तेन (उत्पन्नो) यष्टंकारस्तेन गम्भीरेण भीषणेन भयंकरेण च अंधकारेण तमसा ज्ञायतेऽनुमीयते यत् प्रलयस्य प्रलयकालस्य जलधरेण मेघेन गर्जितमिति ।

द्वयोरपीति—अन्योन्यं यः सिंहनादः स एव गर्जितस्य पिशुनः

सुन्दरक—महाराज ! इसके बाद दूर तक खींचकर छोड़ी गई धनुष की डोरी की टङ्कार से (और भी अधिक गम्भीर एवं भयङ्कर लगते हुये उस अंधकार से ऐसा जान पड़ने लगा कि मानो 'प्रलयकालीन मेघ गर्जना कर रहा हो ।'

दुर्योधन—इसके बाद क्या हुआ ?

सुन्दरक—महाराज ! इसके बाद संग्राम-भूमि में (चारों ओर) एक ऐसा

१. G. '°टङ्कारेण' इत्यसमस्तः पा. । २. अयं पा. G. नास्ति । ३. G. '°ज्जुच्छडाभासुरम्' इति पा. । ४. कोष्ठान्तर्गतः पा. G. नास्ति । ५. G. '°वरिसं आदं' इति पा. ।

दुर्योधनः—ततस्ततः ?

सुन्दरकः—तदो देव ! एदस्सिं अन्तरे जेट्ठस्स भादुणो परिभवसङ्किणा धणंजएण वज्जणिग्घादणिग्घोसविसमरहेसिदहयो, सिहरग्गट्ठिदमहावाणरो, तुरंगमसंवाहणवापिद वासुदेवसंखचक्कासिगदालंछिदचटुलचउब्बाहुदुद्दंसणो[1], आपूरिअपंचजण्णदेअदत्तताररसिदप्पडिरवभरिददसदिसामुहकुहरो धाविदो तं उद्देसं रहवरो।

(ततो देव ! एतस्मिन्नन्तरे ज्येष्ठस्य भ्रातुः परिभवशङ्किना धनंजयेन वज्रनिर्घातनिर्घोषविसमरहेषितहयो, शिखराग्रस्थितमहावानरस्तुरङ्गमसंवाहनव्यापृत-

---

सूचको यस्मिन तत, विविधानि यानि परिमुक्तानि प्रहरणानि शस्त्राणि तैराहतानि संघट्टितानि, ताडितानीत्यर्थः, यानि कवचानि तेभ्यः सञ्जलितो निर्गतो निस्सृतो वा यो ज्वलनोऽग्निः स एव विद्युल्लता यस्मिंस्तत्त, बहलं प्रचुरम, अत्यधिकमित्यर्थः, यद् रुधिरं शोणितं तस्य बिन्दव एव खद्योतास्तैर्भासुरं दीप्यमानम, गम्भीरं स्तनितं गर्जनं यस्य तथाभूतं चापमेव जलधरो मेघस्तस्मात् प्रसरद् निर्गच्छद् यत् शरधारासहस्रं तस्य यद् वर्षं वृष्टिस्तेन दुर्दर्शनं दुर्निरीक्ष्यं समर एव युद्धमेव दुर्दिनं संजातम्। सततशरधारासहस्रवर्षया समन्ताद् दुर्दिनमिवाऽभूदित्यर्थः।

एतस्मिन्निति– वज्रनिर्घातवद् यो निर्घोषो रथशब्दस्तेन विसृमरा-

---

दुर्दिन-सा छा गया जिसमें दोनों (=कर्ण एवं भीम) का परस्पर सिंहनाद मेघ-गर्जना के समान था, अनेक प्रकार के छोड़े हुए अस्त्र शस्त्रों से आहत कवचों से निकलती हुई अग्नि बिजली के समान दमक रही थी, घनीभूत रुधिर की बून्दें खद्योतों के समान चमक रही थी और गम्भीर गर्जना-मय धनुष-रूपी जलधर से निकलती हुई सहस्रों शर-धाराएँ वर्षा की धाराओं के समान दिखाई दे रही थीं।

दुर्योधन—इसके बाद क्या हुआ ?

---

१. G. 'बाहुदण्डदु…' इति पा.।

वासुदेवशंखचक्रासिगदालाञ्छितचतुर्बाहुदुर्दर्शन आपूरितपांचजन्यदेवदत्तनार-रसितप्रतिरवभरितदशदिशामुखकुहरो धावितस्तमुद्देशं रथवरः ।)

दुर्योधनः—ततस्ततः ?

अटुलाः, चञ्चला इत्यर्थः, ह्रेषिताः शब्दं कुर्वाणा हया अश्वा यस्य सः, शिखराग्रे शिखराग्रभागे स्थितो महावानरो हनुमान् यस्मिन् सः, तुरङ्गमानामश्वानां संवाहने व्यापृतस्य संलग्नस्य वासुदेवस्य भगवतः कृष्णस्य शंखचक्रासिगदाभिर्लाञ्छितैश्चिह्नितैश्चटुलैः सुन्दरैर्वा चतुर्भि-र्बाहुभिः दुर्दर्शनो दुष्प्रेक्ष्यः, आपूरितौ समाध्मातौ यौ पाञ्चजन्यदेवदत्तौ तयोः यत् तारं दीर्घं रसितं ध्वनिः तस्य प्रतिरवेण प्रतिध्वनिना भरितानि सम्पूरितानि दशदिशामुखानां कुहराणि छिद्राणि येन स तथाभूतो रथवरस्तमुद्देशं स्थानं धावितः प्रापितः ।

सुन्दरक—महाराज ! इसी बीच में अपने बड़े भाई भीमसेन के परिभव की आशङ्का से अर्जुन ने अपने रथ को, जिसमें वज्र-निर्घात के समान पहियों की गम्भीर ध्वनि से चञ्चल एवं हिनहिनाते हुए घोड़े जुड़े हुए थे, जिसकी चोटी पर पवन-पुत्र हनुमान विराजमान थे, जो घोड़ों के संवाहनादि कार्य में व्यस्त भगवान् कृष्ण की शङ्ख-चक्रादि-विभूषित चारों भुजाओं से दुर्निरीक्ष्य हो रहा था और जिसने (श्रीकृष्ण के) पाञ्चजन्य एवं (अर्जुन के) देवदत्त नामक शङ्ख की गम्भीर ध्वनि से दसों दिशाओं के कोनों को परिपूर्ण कर दिया था, उस स्थान की ओर दौड़ाया ।

दुर्योधन—इसके बाद क्या हुआ ?

सुन्दरकः—तदो भीमसेणधणंजएहिं अभिजुत्तं पिदरं पेक्खिअ ससम्भमं विअलिअं अवधूणिअ रअणसीसअं आअण्णाकड्ढिदकठिण-कोदण्डजीओ दाहिणहत्थुक्खित्तसरपुंखविघट्टणतुवराइदसारहीओ तं देसं उवगदो कुमारविससेणो।

(ततो भीमसेनधनंजयाभ्यामभियुक्तं पितरं प्रेक्ष्य ससम्भ्रमं विगलितम-वधूय रत्नशीर्षकमाकर्णाकृष्टकठिनकोदण्डजीवो दक्षिणहस्तोत्क्षिप्तशरपुंखविघट्टन-त्वरायितसारथिकस्तं देशमुपगतः कुमारवृषसेनः।)

ततो भीमेति—भीमसेनश्च धनंजयश्च ताभ्यामभियुक्तं समाक्रान्तं पितरं कर्णं प्रेक्ष्य समीक्ष्य ससम्भ्रमं ससाध्वसं विगलितमधोनिपतितं रत्नैर्जटितं शीर्षकं रत्नशीर्षकं रत्नोपशोभितशिरस्त्राणमवधूय अनादृत्य, परित्यज्येत्यर्थः, आकर्णं कर्णपर्यन्तमाकृष्टा कठिनस्य कठोरस्य कोदण्डस्य धनुषो जीवा प्रत्यञ्चा येन सः, दक्षिणेन हस्तेन उत्क्षिप्तस्य तूणीराद् बहिर्निष्कासितस्य शरस्य बाणस्य पुङ्खेन बाणाग्रभागेन यद् विघट्टनं ताडनं स्पर्शो वा तेन त्वरायितस्त्वरां प्रापितः सारथिर्येन स तथाभूतः कुमारो वृषसेनः कर्णपुत्रः तं देशं भीमार्जुनकर्णयुद्धस्थलमुपगतः प्राप्त इत्यन्वयः।

सुन्दरक—महाराज ! इसके बाद भीमसेन एवं अर्जुन के द्वारा अपने पिता को आक्रान्त हुआ देखकर कुमार वृषसेन घबराहट के साथ (जल्दी में) गिरे हुए अपने रत्न-जटित मुकुट की चिन्ता न करते हुए कठोर धनुष की प्रत्यञ्चा को कान तक खींच कर दाहिने हाथ से (तरकस से) निकाले हुए बाण के अग्रभाग से अपने सारथि को किरोद कर जल्दी चलने की प्रेरणा करते हुए उस स्थान पर पहुँच गया।

दुर्योधनः—(सावष्टम्भम्) ततस्ततः ?

सुन्दरकः—तदो अ देव ! तेण आअच्छन्तेण एव्व कुमालविससेणेण विदलिदासिलदासामलसिणिद्धपुंखेहिं कठिणकंकवत्तेहिं किसणवण्णेहिं साणसिलणिसिदसामलसल्लबन्धेहिं कुसुमिदो विअतरु मुहुत्तएण सिलिमुहेहिं पच्छादिदो धणंजअस्स रहवरो ।

(ततश्च देव ! तेनाऽऽगच्छतैव कुमारवृषसेनेन विदलिताऽसिलताश्यामलस्निग्धपुङ्खैः कठिनकङ्कपत्रैः कृष्णवर्णैः शाणशिलानिशितश्यामलशल्यबन्धैः कुसुमित इव तरुर्मुहुर्त्तेन शिलीमुखैः प्रच्छादितो धनंजयस्य रथवरः ।)

सावष्टम्भमिति—अवष्टम्भेन साहसेन धैर्येण वा सहितं सावष्टम्भं सोत्साहमित्यर्थः ।

ततश्चेति—विदलिता तीक्ष्णा या असिलता तद्वत् श्यामलाः कृष्णवर्णाः स्निग्धाश्च पुङ्खा बाणाग्रभागा येषां तैः, कठिनानि कठोराणि दृढानि वा कङ्कपत्राणि पुङ्खा, बाणाग्रभागा इत्यर्थः, येषां तैः, कृष्णो वर्णो येषां तैः कृष्णवर्णैः श्यामलैः, शाणशिलायां शाणशिलया वा निशितास्तीक्ष्णीकृताः श्यामलाश्च शल्यबन्धा 'बाणाग्रफलकानि' (तु. गु.) येषां तैस्तथाभूतैः शिलीमुखैर्बाणैः कुमारवृषसेनेन कुसुमानि संजातानि अस्यासौ कुसुमितः पुष्पितः, (तारकादित्वाद् इतच् प्र.), तरुर्वृक्ष इव मुहूर्त्तेन क्षणमात्रेण धनंजयस्याऽर्जुनस्य रथवरः प्रच्छादित आच्छादित इत्यन्वयः ।

दुर्योधन—(धैर्य-पूर्वक) इसके बाद क्या हुआ ?

सुन्दरक—महाराज ! इसके बाद कुमार वृषसेन ने वहां पहुंचते ही तेज़ तलवार के समान नीले, स्निग्ध एवं कठोर अग्रभाग वाले, कृष्णवर्ण के तथा शाण पर तेज़ किये हुए फलकों से सुसज्जित बाणों से अर्जुन के रथ को क्षण भर में इस प्रकार आच्छादित कर दिया कि वह पुष्पित वृक्ष के समान दीखने लगा ।

दुर्योधनः—(सहर्षम्) ततस्ततः ?

सुन्दरकः—तदो देव ! तीक्खविक्खित्तणिसिदभल्लबाणवरिसिणा धणंजएण ईसि विहसिअ भणिदम्—"अरे रे विससेण ! पिदुणो वि दाव दे ण जुत्तं मह कुविदस्स अभिमुहं ठादुं किं उण भवदो बालस्स। ता गच्छ अवरेहिं कुमारेहिं सह गदुअ आओधेहि।" एव्वं वाअं णिसमिअ गुरुअणाहिक्खेवेण उद्दीविअकोवोपरत्तमुहमण्डलविअम्भिअ-भिउडिभङ्गभीसणेण चावधारिणा कुमालविससेणेण मम्मभेदएहिं परुसविसमेहिं सुदिवहकिदप्पणएहिं णिब्भच्छिदो गण्डीवी बाणेहिं ण उण दुट्ठवअणेहिं।

(ततो देव ! तीक्ष्णविक्षिप्तनिशितभल्लबाणवर्षिणा धनंजयेनेषद् विहस्य भणितम्— 'अरे रे वृषसेन ! पितुरपि तावत्ते न युक्तं मम कुपितस्याऽभिमुखं स्थातुम्, कि पुनर्भवतो बालस्य ! तद् गच्छ, अपरैः कुमारैः सह गत्वा युध्यस्व।' एवं वाचं निशम्य गुरुजनाधिक्षेपेणोद्दीपितकोपोपरक्तमुखमण्डल-विजृम्भितभ्रुकुटीभंगभीषणेन चापधारिणा कुमारवृषसेनेन मर्मभेदकैः परुष-विषमैः श्रुतिपथकृतप्रणयैर्निर्भर्त्सितो गाण्डीवी बाणैर्न पुनर्दुष्टवचनैः।)

तीक्ष्णेति—तीक्ष्णं यथास्यात्तथा विक्षिप्ता प्रक्षिप्ता ये निशिता भल्ल-बाणास्तान् वर्षितुं शीलमस्य तेन, (ताच्छील्ये णिनि प्र.), धनंजयेन अर्जुनेन ईषत् किञ्चिद् विहस्य भणितमुक्तम्। मे मम अभिमुखं सम्मुखं स्थातुं न युक्तमलमित्यर्थः। अपरैरन्यः कुमारैः। निशम्य श्रुत्वा। गुरुजनः पिता कर्णस्तस्याऽधिक्षेपेण निन्दया उद्दीपितो यः कोपस्तेन उपरक्तं यद् मुखमण्डलं तत्र विजृम्भिताया सगर्वं प्रवृद्धाया भ्रुकुट्याः भङ्गेन भीषणेन भयानकेन चापधारिणा धनुर्धारिणा कुमारवृषसेनेन कर्णपुत्रेण मर्माणि भिन्दन्तीति तैः मर्मभेदकैः मर्मविदारकैः, परुषैः

दुर्योधन—(प्रसन्नतापूर्वक) इसके बाद क्या हुआ ?

सुन्दरक—महाराज ! इसके बाद बड़ी तेज़ी के साथ तीक्ष्ण भालों एवं बाणों की वर्षा करते हुए अर्जुन ने कुछ हँसकर कहा, "अरे वृषसेन ! कुद्ध

दुर्योधनः—साधु, वृषसेन ! साधु । सुन्दरक ! ततस्ततः ?

सुन्दरकः—तदो अ देव ! णिसिदसराभिघादवेअणोपजादमण्णुणा किरीटिणा चण्डगण्डीवजीआसद्दणिज्जिदवज्जणिग्घादघोसेण बाणणिपडणपडिसिद्धदंसणप्पसरेण पत्थुदं सिक्खाबलाणुरूवं किं वि अच्चरिअम् ।

(ततश्च देव ! निशितशराभिघातवेदनोपजातमन्युना किरीटिना चण्डगाण्डीवजीवाशब्दनिर्जितवज्रनिर्घातघोषेण बाणनिपतनप्रतिषिद्धदर्शनप्रसरेण प्रस्तुत शिक्षाबलानुरूपं किमप्याश्चर्यम् ।)

कठोरैः विषमैः कुटिलैश्च, श्रुतिपथेन कर्णमार्गेण सह कृतः प्रणयः प्रेम यैस्तैः श्रुतिपथकृतप्रणयैः कर्णान्तिकं पतद्भिर्बाणैः गाण्डीवी अर्जुनो निर्भर्त्सितस्ताडितो न पुनः दुष्टवचनैरनुचितैः कठोरैर्वा वचनैर्न ताडितः। तस्य पूज्यत्वादिति भावः।

निशितेति—निशितानां तीक्ष्णानां शराणां बाणानामभिघातेन आघातेन उत्पन्ना या वेदना तया उपजातो मन्युः क्रोधो यस्य तेन, चण्डं भयंकरं यद् गाण्डीवं धनुस्तस्य जीवाया मौर्व्याः यः शब्दस्तेन, निर्जितो वज्रनिर्घातस्य घोषो येन तेन, बाणानां शराणां निपतनेन

होने पर मेरे सामने तेरा पिता भी (युद्धभूमि में) नही ठहर सकता, तुझ बालक की तो बात ही क्या है। इसलिये जा और (अपने अनुरूप) दूसरे क्षत्रिय-कुमारों के साथ युद्ध कर।" इस प्रकार के शब्दों को सुनकर पिता की निन्दा से उद्दीपित क्रोध से आरक्त मुख-मण्डल पर फैली हुई टेढ़ी भृकुटि से और भी भयङ्कर लगते हुये धनुर्धारी कुमार वृषसेन ने मर्मभेदी, तीखे, कठोर तथा कर्ण-पर्यन्त खींचे हुए बाणों से अर्जुन को भर्त्सना-पूर्ण उत्तर दिया न कि अप-शब्दों से।

दुर्योधन—वाह, वृषसेन ! वाह। सुन्दरक ! इसके बाद क्या हुआ ?

सुन्दरक—महाराज ! इसके बाद अर्जुन ने तीक्ष्ण बाणों के आघात से

दुर्योधनः—(साकूतम्) ततस्ततः ?

सुन्दरकः—तदो अ देव ! तं तारिसं पेक्खिअ सत्तुणो समरव्वावार चउरत्तणं अविभाविअतूणीरमुहधणुग्गुणगमणागमणसरसंधाणमोक्ख-चडुलकरअलेण कुमालविससेणेण वि सविसेसं पत्थुदं समलकम्म।

(ततश्च देव ! तत्तादृशं प्रेक्ष्य शत्रोः समरव्यापारचतुरत्वमविभाविततूणीर-मुखधनुर्गुणगमनाऽऽगमनशरसन्धानमोक्षचटुलकरतलेन कुमारवृषसेनेनाऽपि सविशेषं प्रस्तुतं समरकर्म)।

वर्षया प्रतिषिद्धोऽवरुद्धो दर्शनप्रसरो दृष्टिप्रसारो येन तथाभूतेन गाण्डीविना अर्जुनेन शिक्षाबलस्य अनुरूपमनुकूलं किमपि आश्चर्यं प्रस्तुतमुपस्थापितमित्यन्वयः। ततः क्रुद्धेन किरीटिना आश्चर्यकरं बाण-वर्षणं कृतमिति भावः।

तादृशमिति—शत्रोः किरीटिनः, अर्जुनस्येत्यर्थः, तादृशमाश्चर्यकरं समरव्यापारे युद्धकर्मणि चतुरत्वं कौशलं प्रेक्ष्य दृष्ट्वा अविभावितमदृष्टम्, असंलक्षितमित्यर्थः, तूणीरमुखे धनुर्गुणे च यत् (हस्तस्य) गमनाऽगमनं, शरस्य संधानं मोक्षश्च, तेषु चटुलं चञ्चलं करतलं यस्य तेन तथाभूतेन कुमारवृषसेनेनाऽपि सविशेषं विशेषरूपेण समरकर्म युद्धकौशलं प्रस्तुतं प्रदर्शितमित्यर्थः।

उत्पन्न वेदना से क्रुद्ध होकर प्रचण्ड गाण्डीव की प्रत्यञ्चा के शब्द से वज्र-पात के भीषण शब्द को भी तिरस्कृत करके बाण-वर्षा से दृष्टि-प्रसार को अवरुद्ध करते हुये अपनी शिक्षा एवं पराक्रम के अनुरूप एक आश्चर्य-जनक दृश्य प्रस्तुत किया।

दुर्योधन—(विशेष अभिप्राय के साथ) इसके बाद क्या हुआ ?

सुन्दरक—महाराज ! इसके बाद कुमार वृषसेन ने भी शत्रु (=अर्जुन) के उस चमत्कार-पूर्ण युद्ध-चातुर्य को देखकर अपने हस्त-कौशल से विशेषरूप

दुर्योधनः—ततस्ततः ?

सुन्दरकः—तदो अ देव ! एत्थन्तरे विमुक्कसमरव्वावारो मुहुत्त-विस्सामिदवेराणुबन्धो दोण्णं वि कुरुराअपण्डवबलाणं 'साहु कुमाल विससेण ! साहु' त्ति किदकलअलो वीरलोओ अवलोइदुं पउत्तो।

(ततश्च देव ! अत्रान्तरे विमुक्तसमरव्यापारो मुहूर्तविश्रामितवैरानुबन्धो द्वयोरपि कुरुराजपाण्डवबलयोः 'साधु कुमारवृषसेन ! साधु', इति कृतकलकलो वीरलोकोऽवलोकयितुं प्रवृत्तः ।)

अत्रान्तरे इति—विमुक्तः परित्यक्तः समरव्यापारो युद्धव्यापारो येन सः, मुहूर्तं विश्रामितस्त्यक्तो वैरस्य अनुबन्धः संसर्गः संपर्को वा येन सः कुरुराजपाण्डवबलयोः कौरवपाण्डवसेनयोर्मध्ये 'साधु कुमारवृषसेन ! साधु' इत्येवं कृतः कलकलो येनासौ तथाविधो वीरलोकोऽवलोकयितुं द्रष्टुं प्रवृत्तः इत्यन्वयः ।

से ऐसा (आश्चर्य-जनक) युद्ध-व्यापार प्रदर्शित किया जिसमें तरकस के मुख तक हाथ का जाना-आना तथा धनुष की प्रत्यञ्चा पर बाण चढ़ाना एवं छोड़ना आदि क्रियाएँ बिलकुल अभिलक्षित नहीं होती थीं।

दुर्योधन—फिर इसके बाद क्या हुआ ?

सुन्दरक—महाराज ! इसके बाद कौरव-पाण्डव सेनाओं में दोनों ओर के वीर सैनिक युद्ध-व्यापार को स्थगित करके घड़ी भर के लिए (पारस्परिक) वैरानुबन्ध को भुलाकर, "वाह, कुमार वृषसेन ! वाह," इस प्रकार कलकल-ध्वनि करते हुए (उसके युद्ध-कौशल को) देखने में लग गए।

दुर्योधनः—(सविस्मयम्) ततस्ततः ?

सुन्दरकः—तदो अ देव ! अवहीरिदसअलधाणुक्कचक्कपराक्कमसालिणो सुदस्स तहाविहेण समलकम्मालम्भेण हरिसरोसकरुणासङ्कासङ्कडे[1] वट्टमाणस्स सामिणो अङ्गराअस्स णिवडिआ सरपद्धइ भीमसेणे बाप्पपज्जाउला दिट्ठी कुमालविससेणे ।

(ततश्च देव ! अवधीरितसकलधानुष्कचक्रपराक्रमशालिनः सुतस्य तथाविधेन समरकर्मारम्भेण हर्षरोषकरुणाशङ्कासङ्कटे वर्तमानस्य स्वामिनोऽङ्गराजस्य निपतिता शरपद्धतिर्भीमसेने, वाष्पपर्याकुला दृष्टिः कुमारवृषसेने ।)

अवधीरितेति—अवधीरितं तिरस्कृतमवमानितं वा सकलधानुष्काणां समस्तधनुर्धराणां चक्रं मण्डलं येन स तथाविधः पराक्रमशाली तस्य सुतस्य स्वपुत्रस्य कुमारवृषसेनस्य तथाविधेनाऽतिभयंकरेण समरकर्मणो युद्धव्यापारस्य आरम्भेण हर्षश्च रोषश्च करुणा च शङ्का चेति तेषां सङ्कटे वर्तमानस्य पतितस्य स्वामिनोऽङ्गराजस्य कर्णस्य शराणां बाणानां पद्धतिः पङ्क्तिः समूहो वा भीमसेने, वाष्पैरश्रुभिः पर्याकुला व्याकुला दृष्टिश्च कुमारवृषसेने, स्वपुत्रे इत्यर्थः, निपतिता पतिता ।

दुर्योधन—(विस्मय-पूर्वक) इसके बाद क्या हुआ ?

सुन्दरक—महाराज ! इसके बाद समस्त धनुर्धर-मण्डल को तिरस्कृत करने वाले महापराक्रमी अपने पुत्र के उस चमत्कार-पूर्ण युद्ध-व्यापार को देख कर हर्ष, रोष, करुणा एवं शङ्का में डूबे हुए स्वामी अङ्गराज ने भीमसेन पर बाण-वर्षा की और कुमार वृषसेन पर आंसुओं से डबडबाई हुई प्रेम-पूर्ण दृष्टि डाली ।

१. G. 'करुणासङ्कडे' इति पा. ।

दुर्योधनः—(सभयम्) ततस्ततः ?

सुन्दरकः—तदो अ देव ! उभअबलप्पउत्तसाहुकारामरिसिदेण सरवरिसज्जलिदेण गण्डीविणा तुरगेसु सारहिं वि रहवरे धणुं वि जीआइं वि णलिन्दलाञ्छणे सिदादवत्ते अ व्वावारिदो समं सिलिमुहासारो।

(ततश्च देव ! उभयबलप्रवृत्तसाधुकारामर्षितेन शरवर्षज्वलितेन गाण्डीविना तुरगेषु सारथावपि रथवरे धनुष्यपि जीवायामपि नरेन्द्रलाञ्छने सितातपत्रे च व्यापारितः समं शिलीमुखासारः।)

उभयबलेति—उभयबलयोः कुरुपाण्डवसेनयोः प्रवृत्तो यः साधुकारः साधुवादस्तेन अमर्षितः क्रुद्धस्तेन, शराणां बाणानां वर्षेण वृष्ट्या ज्वलितेन प्रकुपितेन गाण्डीविना किरीटिना अर्जुनेनेत्यर्थः, तुरगेषु कुमारवृषसेनस्याऽश्वेषु, जीवायां मौर्व्यां, नरेन्द्रस्य लाञ्छनं चिह्नं यस्मिंस्तस्मिन् तथाभूते सितातपत्रे श्वेतच्छत्रे च सममेकदैव शिलीमुखानां बाणानामासारो वर्षः संपातो वा व्यापारितः कृत इत्यन्यः।

दुर्योधन—(भय-पूर्वक) इसके बाद क्या हुआ ?

सुन्दरक—महाराज ! इसके बाद दोनों ओर की सेना में (कुमार वृषसेन के लिये) होने वाले साधुवाद (=वाह-वाही) से क्रुद्ध होकर और (कुमार द्वारा की गई) बाण-वर्षा से अत्यधिक रोषाविष्ट होकर अर्जुन ने उसके घोड़ों, पर, सारथि पर, रथ पर, धनुष पर, धनुष की डोरी पर और राज-चिह्न श्वेत छत्र पर एक साथ ही तीक्ष्ण बाणों की वर्षा करनी आरम्भ कर दी।

दुर्योधनः—(सभयम्) ततस्ततः ?

सुन्दरकः—तदो अ देव ! विरहो लूणगुणकोदण्डो [1]परिब्भमण-वावारमेत्तपडिसिद्धशरसम्पादो मंडलग्गेण[2] विअरिदुं[3] पउत्तो कुमालविससेणो।

(ततश्च देव ! विरथो लूनगुणकोदण्डः परिभ्रमणव्यापारमात्रप्रतिषिद्धशर-संपातो मंडलाग्रेण विचरितुं प्रवृत्तः कुमारवृषसेनः।)

दुर्योधनः—(साशङ्कम्) ततस्ततः ?

विरथ इति—विरथो विनष्टरथः, लूनश्छिन्नो गुणः मौर्वी यस्य स लूनगुणस्तथाविधः कोदण्डो धनुर्यस्य सः, परिभ्रमणव्यापारमात्रेण प्रतिषिद्धो निषिद्धः शराणां बाणानां सम्पातः प्रहारो येन स तथाभूतः कुमारवृषसेनः मण्डलाग्रेण असिना, हस्ते असिं गृहीत्वेत्यर्थः, (युद्धभूमौ इतस्ततः) विचरितुं प्रवृत्त इत्यन्वयः।

दुर्योधन—(भय-पूर्वक) इसके बाद क्या हुआ ?

सुन्दरक—महाराज ! इसके बाद रथ के विनष्ट हो जाने पर तथा धनुष की प्रत्यञ्चा के छिन्न-भिन्न हो जाने पर कुमार वृषसेन (हाथ में) तलवार ले कर इधर-उधर घूमते हुए तलवार से ही (शत्रु की) बाण-वर्षा को रोकते हुए युद्ध-भूमि में विचरने लगा।

दुर्योधन—(आशङ्का-पूर्वक) इसके बाद क्या हुआ ?

---

१. G. '°मणमेत्तव्वावार-' इति पा.। २. G. 'मंडलाइं' इति पा.।
३. G. 'विरचइदुम्' इति पा.।

सुन्दरकः—तदो अ देव ! सुदरहविद्धंसणामरिसिदेण सामिणा अङ्गराएण अगणिअभीमसेणाभिजोएण पडिमुक्को धणञ्जअस्स उवरि सिलीमुहासारो। कुमालविससेणो वि परिजणोवणीदं अण्णं रहं आरुहिअ पुणो वि पउत्तो धणञ्जएण सह आओधेदुम्।

(ततश्च देव ! सुतरथविध्वंसनामर्षितेन स्वामिनाऽङ्गराजेनाऽगणित-भीमसेनाऽभियोगेन परिमुक्तो धनञ्जयस्योपरि शिलीमुखासारः। कुमारवृषसेनोऽपि परिजनोपनीतमन्यं रथमारुह्य पुनरपि प्रवृत्तो धनंजयेन सहाऽऽयोधितुम्।)

उभौ—साधु वृषसेन ! साधु। ततस्ततः ?

सुतरथेति—सुतरथस्य विध्वंसेन विनाशेन अमर्षितः क्रुद्धस्तेन, न गणितो भीमसेनस्य अभियोगः प्रहारो येन तेन तथाभूतेन अङ्गराजेन कर्णेन धनञ्जयस्याऽर्जुनस्य उपरि शिलीमुखानां बाणानामासारः सम्पातः प्रहारो वा परिमुक्त इत्यन्वयः। कुमारोऽपि परिजनेन सेवकेन उपनीतमानीतमन्यं द्वितीयं रथमारुह्य धनञ्जयेनाऽर्जुनेन सह पुनरपि आयोधितुं युद्धं कर्तुं प्रवृत्त इत्यन्वयः।

सुन्दरक—महाराज ! इसके बाद स्वामी अङ्गराज (कर्ण) ने अपने पुत्र के रथ के विनष्ट हो जाने के कारण कोपाविष्ट होकर भीमसेन के आक्रमण की कोई चिन्ता न करते हुए अर्जुन पर भीषण बाण-वर्षा करनी आरम्भ कर दो और कुमार वृषसेन भी परिजन के द्वारा लाए हुए दूसरे रथ पर आरूढ होकर पुनः अर्जुन से युद्ध करने लगे।

दोनों (दुर्योधन एवं सूत)—वाह !, कुमार वृषसेन ! वाह !। इसके बाद क्या हुआ ?

सुन्दरकः—तदो देव ! भणिदं अ कुमालेण, 'रेरे तादाहिक्खेवमुहल मज्झमपण्डव ! मह सरा तुह सरीरं उज्झिअ अण्णस्सिं ण णिवडन्ति' त्ति भणिअ सरसहस्सेहिं पण्डवसरीरं पच्छादिअ सिंहणादेण गज्जिदुं पउत्तो।

(ततो देव ! भणितं च कुमारेण, 'रे रे ताताधिक्षेपमुखर मध्यमपाण्डव ! मम शरास्तव शरीरमुज्झित्वाऽन्यस्मिन्न निपतन्ति' इति भणित्वा शरसहस्रैः पाण्डवशरीरं प्रच्छाद्य सिंहनादेन गर्जितुं प्रवृत्तः।)

दुर्योधनः—(सविस्मयम्) अहो बालस्य पराक्रमो मुग्धस्वभावस्या[1]-ऽपि। ततस्ततः ?

भणितमिति—तातस्य पितुः, कर्णस्येत्यर्थः, य आक्षेपः परिहासो निन्दा वा तत्र मुखरो वाचालः तादृशो मध्यमपाण्डवोऽर्जुनस्तत्सम्बुद्धौ। उज्झित्वा त्यक्त्वा। भणित्वा कथयित्वा। शराणां बाणानां सहस्रैः पाण्डवस्याऽर्जुनस्य शरीरं प्रच्छाद्य सिंहनादेन सिंहवद् गर्जितुं प्रवृत्त इत्यन्वयः।

अहो इति—'अहो' इत्याश्चर्येऽव्ययम्। मुग्धः स्वभावो यस्य तस्य तथाविधस्य बालस्य कुमारवृषेनस्याऽपि (ईदृशः) पराक्रमो विक्रम इत्याश्चयम्।

सुन्दरक—महाराज ! इसके बाद कुमार ने कहा, "अरे मेरे पिता की निन्दा करने में वाचाल पाण्डु-पुत्र (अर्जुन) ! मेरे बाण तेरे शरीर को छोड़कर किसी दूसरे पर नहीं गिरेंगे।" इस प्रकार कह कर वह हजारों बाणों से अर्जुन के शरीर को आच्छादित करके सिंह के समान गर्जना करने लगा।

दुर्योधन—(विस्मय-पूर्वक) ओह ! भोले-भाले स्वभाव-वाले बालक का भी इतना पराक्रम ! अच्छा इसके बाद क्या हुआ ?

---

१. G. '॰भावेऽपि' इति पा.।

सुन्दरकः—तदो अ देव ! तं सरसम्पादं समवधूणिअ णिसिद-सराभिघादजादमण्णुणा किरीटिणा गहिदा रहुच्छङ्गादो कणन्त-कणअकिङ्किणीजालझङ्कारविराइणी मेहोवरोहविमुक्कणहत्थलणिम्मला णिसिदसामलसिणिद्धमुही विविहरअणप्पहाभासुरभीसणरमणिज्ज-दंसणा सत्ती[1] विमुक्का[2] कुमाराहिमुही ।

(ततश्च देव ! त शरसम्पातं समवधूय निशितशराभिघातजातमन्युना किरीटिना गृहीता रथोत्सङ्गात् क्वणत्कनककिङ्किणीजालझङ्कारविराविणी मेघो-परोधविमुक्तनभस्तलनिर्मला निशितश्यामलस्निग्धमुखी विविधरत्नप्रभाभासुर-भीषणरमणीयदर्शना शक्तिर्विमुक्ता कुमाराभिमुखी ।)

शरसम्पातमिति—निशितानां तीक्ष्णानां शराणां बाणानामभिघातेन आघातेन उपजातो मन्युः कोपो यस्य तेन किरीटिनाऽर्जुनेन तं शर-सम्पातं बाणप्रहारमवधूय अवरुध्य रथस्य उत्संगाद् मध्यभागाद् गृहीता क्वणन्त्यः शब्दायमानाः याः कनकस्य सुवर्णस्य किङ्किण्यस्तासां यद् जालं तस्य यो झङ्कारस्तद्वद् विरौतीति सा, मेघोपरोधेन मेघा-वरणेन विमुक्तं यद् नभस्तलं तद्वद् निर्मला विमला, स्वच्छेत्यर्थः, निशितं तीक्ष्णं श्यामलं स्निग्धं च मुखं यस्याः सा, विविधरत्नानां प्रभया भासुरा देदीप्यमाना तादृशा च भीषणं भयानकं रमणीयं मनोहरं च दर्शनं यस्याः सा तथाभूता च शक्तिरायुधविशेषः कुमारस्य वृषसेनस्य अभिमुखी विमुक्ता परित्यक्ता इत्यन्वयः ।

सुन्दरक—महाराज ! इसके बाद उस बाण-वर्षा को तिरस्कृत करके तीक्ष्ण बाणों के आघात से प्रकुपित हुए अर्जुन ने स्वर्ण की शब्दायमान क्षुद्र घण्टिकाओं से झनकारती हुई, मेघविनिर्मुक्त नभस्तल के समान निर्मल, तीक्ष्ण, श्यामल एवं स्निग्ध-मुखी और अनेक प्रकार के रत्नों की कान्ति से मनोहर तथा

१. G. इतोऽग्रे 'सोवहासम्' इत्यधिकः पा. । २. G. इतोऽग्रे 'अ' (=च) इति पा. ।

दुर्योधनः—(सविषादम्) अहह ! ततस्ततः ?

सुन्दरकः—तदो देव ! पज्जलन्तीं सत्तिं पेक्खिअ विअलिअं अङ्गराअस्स हत्थादो ससरं धणु, हिअआदो वीरसुलहो उच्छाहो, णअणादो वाप्पसलिलं पि। रसिदं[1] अ सिंहणादं विओदलेण। 'दुक्करं दुक्करं' त्ति आक्कन्दिदं कुरुबलेण।

(ततो देव ! प्रज्वलन्तीं शक्तिं प्रेक्ष्य विगलितमङ्गराजस्य हस्तात् सशरं धनुर्हृदयाद् वीरसुलभ उत्साहो, नयनाद् बाष्पसलिलमपि। रसितं[1] च सिंहनादं वृकोदरेण। 'दुष्करं दुष्करम्' इत्याक्रन्दितं कुरुबलेन।)

प्रज्वलन्तीमिति—प्रज्वलन्तीं दीप्यमानां शक्तिं प्रेक्ष्य दृष्ट्वा अङ्गराजस्य कर्णस्य हस्तात् शरेण सहितं धनुश्चापं विगलितं निपतितं, हृदयात् वीरसुलभो वीरजनोचित उत्साहो विगलितः, नयनाद् नेत्राच्च बाष्पसलिलमश्रुजलमपि विगलितमित्यन्वयः। वृकोदरेण भीमेन च सिंहस्येव नादः यस्मिन् कर्मणि तद् यथा तथा रसितं शब्दायितं, तीव्रनिर्घोषः कृत इत्यर्थः। यद्वा 'सिंहनादम्' इत्यत्र 'सिंह इव नदित्वा' इत्यर्थे णमुल् प्र. (तु. G.)। कुरुबलेन कौरवसेनया च 'दुष्करमतिकठिनं, प्रतिकर्तुमशक्यमित्यर्थः' इत्येवमाक्रन्दितं विलपितं परिदेवनं कृतमित्यर्थः।

(स्वभाव से) भीषणाऽऽकृति शक्ति रथ के अन्दर से उठा कर कुमार पर फैंकी।

दुर्योधन—(विषाद-पूर्वक) आह ! इसके बाद क्या हुआ ?

सुन्दरक—महाराज ! इसके बाद (अपने पुत्र पर छोड़ी हुई) देदीप्यमान उस शक्ति को देखकर अङ्गराज (कर्ण) के हाथ से धनुष-बाण, हृदय से वीरजनोचित उत्साह और नेत्रों से अश्रु-जल ये सब एक साथ छूट गए। (उधर) भीमसेन ने (यह देखकर) सिंह के समान गर्जना की और कौरव-सेना में 'अनर्थ हो गया, वज्रपात हो गया' इस प्रकार करुण-क्रन्दन होने लगा।

---

१. G. 'हसिदं अ धनञ्जएण सिंहणादं विणादिदं अ विओदलेण' इति पा.।

दुर्योधनः—(सविषादम्) ततस्ततः ?

सुन्दरकः—तदो देव ! कुमारविससेणेण [1]आकण्णपूरिदेहिं णिसिद-क्खुरप्पबाणेहिं [2]सुचिरं णिज्झाइअ अद्धपहे एव्व भाईरही विअ आअच्छन्ती भअवदा[3] विसमलोअणेण तिधा[4] किदा सत्ती।

(ततो देव ! कुमारवृषसेनेनाऽऽकर्णपूरितैर्निशितक्षुरप्रबाणैः सुचिरं निर्ध्यायाऽर्धपथ एव भागीरथीवाऽऽगच्छन्ती भगवता विषमलोचनेन त्रिधा कृता शक्तिः।)

दुर्योधनः—साधु वृषसेन ! साधु। ततस्ततः ?

कुमारेति—कुमारेण सुचिरं चिरकालं यावद् निर्ध्याय विचार्य निश्चित्य वा आकर्णं कर्णपर्यन्तं पूरितैः आकृष्टैः निशितास्तीक्ष्णा ये क्षुरप्रा अस्त्र-विशेषास्ते इव ये बाणाः शरास्तैः आगच्छन्ती सा शक्तिः विषमे लोचने नेत्रे यस्य तेन तथाभूतेन भगवता शंकरेण *भागीरथी गंगा* इव अर्धपथे अर्धमार्गे एव त्रिधा कृता विभक्तेत्यन्वयः।

दुर्योधन—(विषाद-पूर्वक) इसके बाद क्या हुआ ?

सुन्दरक —महाराज ! इसके बाद कुमार वृषसेन ने कुछ समय तक निश्चय करके कान तक खींच कर छोड़े हुए तेज़ खुरपे के समान बाणों से उस शक्ति के बीच मार्ग में ही इस प्रकार तीन टुकड़े कर दिए जैसे भगवान् शंकर ने भगवती गंगा को तीन भागों में विभक्त कर दिया था।

दुर्योधन—वाह ! वृषसेन ! वाह। इसके बाद क्या हुआ ?

---

१. G. अस्याऽग्रिमस्य च पदस्य स्थाने 'आकण्णाकिट्ठणिसिदखुरप्पेण' इत्येकमेव समस्तं पदम्। २. G. 'चिरम्' इति पा.। ३. गु. इतः पूर्वं 'जधा' (=यथा) इति पा.। ४. गु. इतः पूर्वं 'तधा' इति पा.।

सुन्दरकः—तदो अ देव ! एदस्सिं अन्तले [1]किदकलकलमुहरेण वीरलोअसाहुवादेण अन्तरिदो समरतूरणिग्घोसो। सिद्धचालणगण-विमुक्ककुसुमप्पअरेण पच्छादिदं समलाङ्गणम्[2]।

(ततश्च देव ! एतस्मिन्नन्तरे कृतकलकलमुखरेण वीरलोकसाधुवादेनाऽन्तरितः समरतूर्यनिर्घोषः। सिद्धचारणगणावमुक्तकुसुमप्रकरेण प्रच्छादितं समराङ्गणम्।)

दुर्योधनः—अहो ! बालस्य पराक्रमः। ततस्ततः ?

एतस्मिन्निति—कृतो यः कलकलस्तेन मुखरः शब्दायमानस्तेन तथाभूतेन वीरलोकानां साधुवादेन साधुकारेण समरतूर्याणां निर्घोषस्तुमुलो ध्वनिरन्तरितः प्रच्छादितस्तिरस्कृत इत्यर्थः। सिद्धानां चारणानां च ये गणाः समूहास्तैरवमुक्तो यः कुसुमानां पुष्पाणां प्रकरः समूहस्तेन समराङ्गणं युद्धस्थलं प्रच्छादितमावृतम्। कुमारवृषसेनस्य आश्चर्यकरीं वीरतां समवलोक्य सिद्धचारणादिभिः पुष्पवृष्टिः कृतेति भावः।

सुन्दरक—महाराज ! इसके बाद इसी बीच मे (युद्ध-भूमि मे) होने वाले वीर सैनिकों के साधुवाद के कोलाहल ने (युद्ध की) तुरही के (तुमुल) शब्द को अभिभूत कर दिया और (कुमार की वीरता को देखकर प्रसन्न हुए) सिद्ध एवं चारण गणों के द्वारा आकाश से बरसाए हुए पुष्प-समूह से समस्त समराङ्गण आच्छादित हो गया।

दुर्योधन—ओह ! छोटे से बालक का इतना पराक्रम ! इसके बाद क्या हुआ ?

१. G. 'कलमुहरेण' इति पा.। २. G. 'समलाङ्गणं भणिअं अ सामिणा अङ्गराएण...' इत्येवं पाठः।

सुन्दरकः—तदो अ देव ! भणिअं सामिणा अङ्गराएण, 'भो वीर विकोदल ! असमत्तो तुह मह वि समलव्वावारो । ता अणुमएण मं मुहुत्तअम् । पेक्खामहे दाव खणमत्तं' मह' वच्छस्स तुह भादुणो अ धणुव्वेदसिक्खाचउरत्तणम् । तुह वि एदं पेक्खणिज्जं' त्ति ।

(ततश्च देव ! भणितं च स्वामिनाऽङ्गराजेन, 'भो वृकोदर ! असमाप्तस्तव ममाऽपि समरव्यापारः । तदनुमन्यस्व मा मुहूर्तम् । प्रेक्षावहे तावत्क्षणमात्रं मम वत्सस्य तव भ्रातुश्च धनुर्वेदशिक्षाचतुरत्वम् । तवाऽप्येतत् प्रेक्षणीयम्' इति ।

दुर्योधनः—ततस्ततः ?

भणितमिति—अङ्गराजेन कर्णेन भणितं कथितम् । समरव्यापारो युद्धव्यापारः । मुहूर्तं क्षणमात्रं यावत् अनुमन्यस्व अनुमतिं कुरु । धनुर्वेदस्य धनुर्विद्याया या शिक्षा ज्ञानं तत्र चतुरत्वं चातुर्यं कौशलं नैपुण्यं वा क्षणमात्रं यावत् प्रेक्षावहे पश्यावः । प्रेक्षणीयं दर्शनीयम् ।

सुन्दरक—महाराज ! इसके बाद स्वामी अङ्गराज ने भीमसेन से कहा, "हे वीर भीमसेन ! तुम्हारा और मेरा युद्ध अभी समाप्त नहीं हुआ है । इस लिये अब तुम मुझे कुछ समय के लिये (इस युद्ध-व्यापार से) अवकाश दो ताकि मैं और तुम दोनों पुत्र (वृषसेन) तथा तुम्हारे भाई अर्जुन के धनुर्वेद-विद्या-नैपुण्य को देख सकें । यह युद्ध तुम्हें भी अवश्य देखना चाहिये ।"

दुर्योधन—फिर क्या हुआ ?

१. G. अयं पा. नास्ति ।

सुन्दरकः—तदो देव ! विस्समिदाओधणव्वावारा मुहुत्तविस्समिदणिअवेराणुबन्धा दुवे वि पेक्खआ जादा भीमसेणाऽङ्गराआ ।

(ततो देव ! विश्रमितायोधनव्यापारौ मुहूर्त्तविश्रमितनिजवैरानुबन्धौ द्वावपि प्रेक्षकौ जातौ भीमसेनाऽङ्गराजौ ।)

दुर्योधनः—(साभिप्रायम्) ततस्ततः ?

सुन्दरकः—तदो अ देव ! 'सत्तिखण्डणामरिसिदेण गण्डीविणा एवं[1] भणिअम्, 'अरे रे दुज्जोहणप्पमुहा......' (इत्यर्धोक्तौ लज्जां नाटयति ।)

(ततश्च देव । शक्तिखण्डनामर्षितेन गाण्डीविना एवं भणितम्, 'अरे रे दुर्योधनप्रमुखाः ! .....' (इत्यर्धोक्तौ लज्जां नाटयति)

विश्रमितेति—विश्रमितः स्थगित आयोधनस्य युद्धस्य व्यापारो याभ्यां तौ, मुहूर्तं विश्रमितः स्थगितो निजवैरस्य अनुबन्धः सम्बन्धो याभ्यां तौ तथाभूतौ कर्णभीमौ द्वावपि क्षणं यावत् प्रेक्षकौ दर्शकौ संजातौ इत्यन्वयः ।

शक्तिखण्डनेति—शक्तिखण्डनेन अमर्षितः कुपितस्तथाभूतेन गाण्डीविना अर्जुनेन भणितं कथितम् । दुर्योधनः प्रमुखो येषु ते । संबुद्धिपदमेतत् । अर्धोक्तौ अर्धमेव वाक्यमुक्त्वा लज्जां नाटयति अभिनयति, लज्जां दर्शयतीत्यर्थः ।

सुन्दरक—महाराज ! इसके बाद युद्ध-व्यापार को स्थगित करके अङ्गराज एवं भीमसेन दोनों कुछ समय के लिए पारस्परिक वैरानुबन्ध को शात करके उन दोनों (=वृषसेन एवं अर्जुन) के युद्ध-कौशल को देखने लगे ।

दुर्योधन—(बड़ी उत्कण्ठा के साथ) इसके बाद क्या हुआ ?

सुन्दरक—महाराज ! इसके बाद, अपनी शक्ति के खण्डित हो जाने के कारण अर्जुन ने प्रकुपित होकर इस प्रकार कहा, "अरे रे ! दुर्योधन-प्रभृति !.... " (इतना ही कहकर कुछ लज्जित-सा हो जाता है)

१. ग. इतः पूर्वे 'एदस्सिं अन्तरे' इत्यधिकः पा. । २. G अयं पा. नास्ति।

दुर्योधनः—सुन्दरक ! कथ्यताम् । परवचनमेतत् ।

सुन्दरकः—सुणादु देवो । 'अरे रे दुज्जोहणप्पमुहा कुरुबलसेणा-पहुणो ! अविणअणोकण्णधार कण्ण ! तुह्मेहिं मह परोक्खं बहुहिं महारहेहिं पडिवारिअ एआई मम पुत्तओ अहिमण्णू व्वावादिदो । अहं उण तुह्माणं पेक्खन्ताणं एव्व कुमालविससेणं सुमरिदव्वसेसं करोमि' त्ति भणिअ सगव्वं आप्फालिदं णेण वज्जणिग्घादघोसभीसण-जीआरवं गण्डीवम । सामिणा विसज्जीकिदं कालपुट्ठम् ।

(शृणोतु देवः । 'अरे रे दुर्योधन-प्रमुखाः कुरुबलसेना-प्रभवः ! अवि-नयनौ-कर्णधार कर्ण ! युष्माभिर्मम परोक्षं बहुभिर्महारथैः परिवृत्यैकाकी मम पुत्रकोऽभिमन्युर्व्यापादितः । अहं पुनर्युष्माकं प्रेक्षमाणानामेवैतं कुमारवृषसेनं स्मर्तव्यशेषं करोमि ।' इति भणित्वा सगर्वमास्फालितमनेन वज्रनिर्घातघोषभीषण-जीवारवं गाण्डीवम् । स्वामिनाऽपि सज्जीकृतं कालपृष्ठम् ।)

दुर्योधनेति—दुर्योधनः प्रमुखो मुख्यः येषु ते तत्सम्बुद्धौ । कुरुबल सेनायाः कौरवसेनायाः प्रभवोऽधिपतयः । सम्बुद्धिपदम् । युष्माभिः मम अदृणोः परं परोक्षं, मम अनुपस्थितौ इत्यर्थः, एकाकी एकल एव मम पुत्रकोऽभिमन्युः परिवृत्य सर्वतः आवृत्य व्यापादितो हतः । अहं पुन-र्युष्माकं सर्वेषां प्रेक्षमाणानां पश्यतामेव समक्षं कुमारं वृषसेनं स्मर्तव्यं स्मरणमेव शेषो यस्य तं तथाभूतं करोमीत्यन्वयः । इत्येवं भणित्वा उक्त्वा अनेन अर्जुनेन गर्वेण सहितं सगर्वं वज्रनिर्घातेन उत्पन्नो यः घोषस्तुमुलो ध्वनिः स इव भीषणो भयङ्करो जीवायाः मौर्व्याः रवः

दुर्योधन—सुन्दरक ! कहो, कहो । यह तो दूसरे के वचनों का अनुवदन-मात्र है ।

सुन्दरक—(अच्छा तो,) महाराज ! सुनिये, (अर्जुन ने कहा), 'अरे दुर्योधन-प्रभृति कौरव-सेना के अधिनायको ! अविनय-रूपी नौका के कर्णधार कर्ण ! तुम बहुत से महारथियों ने मेरी अनुपस्थिति में मेरे एकाकी पुत्र अभिमन्यु

दुर्योधनः—(सावहित्थम्) ततस्ततः ?

सुन्दरकः—तदो अ देव ! पडिसिद्धभीमसेणसमलकम्मलालम्भेण गण्डीविणा विरइदा अङ्गराअविससेणरहकूलंकसाओ दुवे बाणण-दीओ। तेहिं वि दुवेहिं [1]अण्णोण्णदंसिदसिक्खाविसेसेहिं अभिजुत्तो सो दुराआरो मज्झमपण्डवो।

(ततश्च देव ! प्रतिषिद्धभीमसेनसमरकर्मारम्भेण गाण्डीविना विरचिते अङ्ग-राजवृषसेनरथकूलंकषे द्वे अपि बाणनद्यौ। ताभ्यामपि द्वाभ्यामन्योन्यदर्शित-शिक्षाविशेषाभ्यामभियुक्तः स दुराचारो मध्यमपाण्डवः।)

शब्दो यस्य तन् तथाभूतं गाण्डीव स्व धनुः आस्फालितमाकृष्टं टङ्कारि-तमित्यर्थः। स्वामिना अङ्गराजेन कर्णेनाऽपि कालपृष्ठनामकं स्वधनुः सज्जीकृतमिति।

सावहित्थमिति—अवहित्थया हस्तादिना स्वाकारगोपनेन सहितं यथा स्यात्तथा, 'अवहित्थाऽऽकारगुप्तिः' इत्यमरः।

प्रतिषिद्धेति—प्रतिषिद्धः प्रतिवारितो भीमसेनस्य समरकर्मारम्भो युद्धव्यापारो येनासौ तेन, यद्वा प्रतिषिद्धो भीमसेनः समरकर्मा-रम्भाद् येन तेन तथाभूतेन गाण्डीविना अर्जुनेन अङ्गराजवृषसेनरथयोः कूलं प्रान्तभागं कषतः विनाशयतस्ते तथाभूते बाणानां नद्यौ विरचिते

को घेर कर मारा था। और मैं तुम्हारे देखते ही देखते इस कुमार वृषसेन को स्मरणाऽवशेष करता हूँ।' इस प्रकार कहकर उसने बड़े गर्व के साथ वज्र-पात की भीषण गर्जना के समान भयंकर शब्द करने वाली मौर्वी से अलंकृत अपने गाण्डीव धनुष को खींचा। और (उधर) स्वामी अङ्गराज ने भी अपने कालपृष्ठ-नामक धनुष को सुसज्जित किया।

दुर्योधन—(विषाद-पूर्ण आकृति को छिपाते हुए) फिर क्या हुआ ?

सुन्दरक—महाराज ! इसके बाद अर्जुन ने भीमसेन को युद्ध-व्यापार से

१. G. इतोऽग्रे 'सिणेह' (= स्नेह) इत्यधिकः पा.।

दुर्योधनः—ततस्ततः ?

सुन्दरकः—तदो अ देव ! गण्डीविणा ताररसिदजीआणिग्घोसमेत्त-विण्णादबाणवारिसेण तह आअरिदं पत्तिहिं जह ण णहत्तलं, ण सामी, ण रहो, ण धरणी, ण कुमालो, ण केदुवंसो, ण बलाइं, ण सारही, ण तुलंगमा, ण दिसाओ, ण वीरलोओ अ लक्खीअदि ।

(ततश्च देव ! गाण्डीविनाताररसितज्यानिर्घोषमात्रविज्ञातबाणवर्षेण तथाऽऽचरितं पत्रिभिर्यथा न नभस्तलं, न स्वामी, न रथो, न धरणी, न कुमारो, न केतुवंशो, न बलानि, न सारथिः, न तुरङ्गमाः न दिशो, न वीरलोकश्च लक्ष्यते ।)

निर्मिते । कूलकषा-इत्यत्र कूल + √कष् 'सर्वकूलाभ्रकरीषेषु कषः' (पा. ३, २, ४२) इति खच् ताभ्यमपि च कर्णवृषसेनाभ्यामन्योन्यं परस्परं दर्शितः शिक्षाविशेषो युद्धकर्मनैपुण्यं याभ्यां ताभ्यां स दुराचारो दुष्टो मध्यमपाण्डवोऽर्जुनोऽभियुक्तः समाक्रान्तः ।

गाण्डीविनेति—तारं गम्भीरं रसितं ध्वनिर्यस्य स तथाभूतो यः ज्यानिर्घोषो मौर्वीशब्दस्तेनैव विज्ञातोऽवगतो बाणानां वर्षो वृष्टिर्यस्य तेन तथाभूतेन गाण्डीविनाऽर्जुनेन पत्रिभिर्बाणैस्तथा आचरितं तुमुलं युद्धं कृतं यथा तत्र युद्धभूमौ नभस्तलादिकं किमपि नोपलक्षितमभवदित्यर्थः । केवलं मौर्वीटङ्कार एव कर्णगोचरो जात इति भावः ।

अलग करके स्वामी अङ्गराज एवं कुमार वृषसेन दोनों के रथों के पास उनके प्रान्त-भाग को नष्ट करने वाली बाणों की नदियाँ-सी बना दीं। उन दोनों ने भी परस्पर युद्ध-कला का विशेष रूप से प्रदर्शन करते हुए उस दुराचारी अर्जुन पर आक्रमण किया ।

दुर्योधन—इसके बाद क्या हुआ ?

सुन्दरक—महाराज ! इसके बाद अर्जुन ने ऐसी भीषण बाण-वर्षा आरम्भ की कि गम्भीर ध्वनि वाली धनुष की प्रत्यञ्चा की टङ्कार-मात्र से ही बाण-वर्षा का पता लगता था। वहाँ न आकाश, न स्वामी अङ्गराज, न रथ, न पृथ्वी,

दुर्योधनः—(सविस्मयम्) ततस्ततः ?

सुन्दरकः—तदो अ देव ! खणमेत्तं एव्व अदिक्कन्ते सरसम्पादे[1] सहरिससिंहणादे पण्डवबले[2] सविसादविमुक्काक्कन्दे[3] कोरवबले समुत्थिदो[4] महन्तो कलअलो 'हा हदो कुमालविससेणो, हा हदो' त्ति।

(ततश्च देव ! क्षणमात्रमतिक्रान्ते शरसम्पाते सहर्षसिंहनादे पाण्डवबले सविषादविमुक्ताक्रन्दे कौरवबले समुत्थितो महान् कलकलः 'हा हतः कुमारवृषसेनो, हा हतः' इति।)

दुर्योधनः—(सबाष्परोधम्) ततस्ततः।

क्षणमात्रमिति—शराणां सम्पाते प्रवर्षे अतिक्रान्ते स्थगिते शान्ते वा संजाते पाण्डवानां बले सैन्ये सहर्षं सिंहनादो यस्मिन् तथाभूते सति सविषादं सदुःखं विमुक्तः आक्रन्दः चीत्कारः विलापो येन तस्मिन् तथाभूते कौरवाणां बले सैन्ये 'हा हतः, कुमारवृषसेनो, हा हतः' इत्येवं महान् कलकलः कोलाहलः समुत्थितः समुत्पन्न इत्यन्वयः।

न कुमार वृषसेन, न ध्वजा का बाँस, न सेना, न सारथि, न घोड़े, न दिशाएँ और न कोई सैनिक—कुछ भी दिखाई नहीं देता था।

दुर्योधन—(विस्मय-पूर्वक) फिर क्या हुआ ?

सुन्दरक—महाराज ! इसके बाद बाण-वर्षा के शान्त हो जाने पर पाण्डव सेना में वीरों की सहर्ष सिंह-गर्जना होने लगी और दुःख के साथ विलाप करती हुई कौरव-सेना में (चारों ओर) "हाय ! कुमार वृषसेन मारा गया, हाय मारा गया" इस प्रकार का करुण-क्रन्दन होने लगा।

दुर्योधन—([किसी प्रकार आँसुओं को रोककर] फिर क्या हुआ ?

१. G. 'सरवरिसे' (=शरवर्षे) इति पा.। २. G. 'पण्डवसेण्णे' (=पाण्डवसैन्ये) इति पा.। ३ G 'विमुक्काक्कन्दे' (=विमुक्ताक्रन्दे) इति पा.। ४. गु. 'उत्थिदो' (=उत्थितः) इति पा.।

सुन्दरकः—तदो अ देव ! कुमालं हदसारहितुलङ्गं लूणादवत्तचाव-चामरकेदुवसं सग्गप्पब्भट्टं विअ सुलकुमालं एक्केण ज्जेव मम्मभेदिणा[1] सिलीमुहेण भिण्णदेहं रहमज्झे परिट्ठिदं[2] महन्तीए वेलाए पेक्खिअ अहं आअदो ।

(ततश्च देव ! कुमारं हतसारथितुरङ्गं लूनातपत्रचापचामरकेतुवंशं स्वर्ग-प्रभ्रष्टमिव सुरकुमारमेकेनैव मर्मभेदिना शिलीमुखेन भिन्नदेहं रथमध्ये परिस्थितं महत्या वेलया प्रेक्ष्याऽहमागतः ।)

कुमारमिति—हतः सारथिस्तुरङ्गा अश्वाश्च यस्य तं, लूनं छिन्नमातपत्रं छत्रं चापं धनुः चामरं केतुवंशश्च यस्य तं तथाभूतं स्वर्गात्प्रभ्रष्टं पतितं सुरकुमारं देवकुमारमिव सुन्दरं कुमारवृषसेनमेकेनैव मर्मभेदिना मर्म-विदारकेण शिलीमुखेन बाणेन भिन्नो देहः शरीरं यस्य तं तथाभूतं रथमध्ये स्थितं महत्या वेलया महता कालेन बहुकालं यावत् प्रेक्ष्य दृष्ट्वा अहमिदानीमेवाऽत्र आगतोऽस्मीत्यन्वयः ।

सुन्दरक—महाराज ! इसके बाद सारथि और रथ के घोड़ों के मारे जाने पर तथा छत्र, धनुष, चँवर एवं ध्वजा-दण्ड के छिन्न-भिन्न हो जाने पर स्वर्ग से गिरे हुए देव-कुमार के समान सुन्दर कुमार वृषसेन को, जिसका शरीर एक ही मर्मवेधी बाण से छिन्न-भिन्न हुआ रथ मे पड़ा हुआ था, पर्याप्त समय तक देखकर मैं अभी वहाँ से आ रहा हूँ ।

१. G. 'हिअअमम्मभेदिणा' (=हृदयमर्मभेदिना) इति पा. । २. G. रह-मज्झे पल्लत्थं (=रथमध्ये पर्यस्तम्) इति पा. ।

राजा—सुन्दरक[1] ! अलमिदानीं कथितेन। (सास्रम्) हा वत्स वृषसेन ! क्वासि ? देहि मे प्रतिवचनम्।

(इति मोहमुपगतः)

सूतः—समाश्वसिहि, समाश्वसिहि।

राजा—(उत्थाय सकरुणम्) हा वत्स वृषसेन ! हा मदङ्कदुर्ललित ! हा मदाज्ञाकारक[1] ! हा गदायुद्धप्रिय ! हा शौर्यसागर[2] ! हा राधेय-कुलप्ररोह ! हा प्रियदर्शन ! हा दुःशासननिर्विशेष ! हा सर्वगुरुवत्सल ! प्रयच्छ मे प्रतिवचनम्।

हा वत्सेति—मदङ्के दुर्ललितः क्रीडाप्रियस्तत्सम्बुद्धौ। मदाज्ञाकारक ! मदाज्ञापालक !। राधाया अपत्यं राधेयस्तस्य यत् कुलं तस्य प्ररोहः अङ्कुरस्वरूपस्तत्सम्बुद्धौ। दुःशासनाद् निर्गतः विशेषो यस्मिन् तत्सम्बुद्धौ हे दुश्शासननिर्विशेष ! दुश्शासनाऽभिन्न ! सर्वेषां गुरूणां पूज्यानां वत्सलः तत्सम्बुद्धौ मे मह्यं प्रतिवचनं प्रत्युत्तरं प्रयच्छ।

राजा—सुन्दरक ! बस, अब और अधिक कुछ मत कहो। (आँसू बहाते हुए) हाय ! पुत्र वृषसेन ! तुम कहा हो ? मुझे उत्तर दो।

(इस प्रकार कहकर मूर्च्छित हो जाता है)

सूत—(राजन्) धैर्य रखिये, धैर्य रखिये।

राजा—(उठकर करुण स्वर में) हाय पुत्र वृषसेन ! हाय मेरी गोदी मे खेलने वाले ! हाय मेरे आज्ञा-पालक ! हाय गदा-युद्ध-प्रिय ! हाय विक्रम-समुद्र ! हाय कर्ण-कुलाङ्कुर ! हाय मनोहराकृति ! हाय दुःशासन-तुल्य ! हाय सर्व-गुरुजन-प्रिय ! (तुम कहा हो ?) मुझे उत्तर दो।

---

१. G. दुर्योधनः—(सास्रम्) अहह कुमारवृषसेन ! अलमतः परं श्रुत्वा। हा वत्स वृषसेन ! इति पा.। २. अयं पा. G. नास्ति।

पर्यास्तनेत्रमचिरोदितचन्द्रकान्त-
मुद्भिद्यमाननवयौवनरम्यशोभम् ।
प्राणापहारपरिवर्तितदृष्टि दृष्टं,
कर्णेन तत्कथमिवाऽऽननपङ्कजं ते ! ॥१०॥

सूतः—आयुष्मन् ! अलमत्यन्ताऽऽवेगेन ।

दुर्योधनः—सूत ! पुण्यवन्तो हि दुःखभाजो भवन्ति । अस्माकं पुनः—

पर्याप्तेति—(अन्वयः) पर्याप्तनेत्रम् अचिरोदितचन्द्रकान्तम् उद्भिद्यमाननवयौवनरम्यशोभं ते आननपङ्कजं प्राणापहारपरिवर्तितदृष्टि कर्णेन कथमिव दृष्टम् ?

(व्याख्या) पर्याप्ते विशाले नेत्रे लोचने यस्मिन् तत्, अचिरमेव उदितो यश्चन्द्रस्तद्वत् कान्तं कमनीयम्, उद्भिद्यमानं विकसद् यद् यौवनं तेन रम्या मनोहारिणी शोभा यस्य तत् तथाभूतं ते तव आननपङ्कजं मुखकमलं प्राणानामपहारेण परिवर्त्तिते विपर्यस्ते दृष्टी लोचने यस्मिस्त-त्तथाभूतं सत् कर्णेनाऽङ्गराजेन तव पित्रा कथमिव केन प्रकारेण दृष्टम् ? वसन्ततिलका छन्दः, 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति तल्लक्षणात् ॥१०॥

विशाल नेत्रों से अलंकृत तथा नवीन उदित हुए चन्द्रमा के समान मृदुल एवं खिलते हुए नवीन यौवन की मनोरम शोभा से समन्वित तुम्हारे मुख-कमल को प्राणों के निकल जाने से नेत्रों के विकृत हो जाने पर कर्ण ने किस प्रकार देखा होगा ? ॥१०॥

सूत—आयुष्मन् ! अत्यधिक दुःखावेग की आवश्यकता नहीं है ।

दुर्योधन—सूत ! पुण्यात्मा लोग ही दुःखभागी होते हैं । हमें तो—

प्रत्यक्षं हतबन्धूनामेतत्परिभवाग्निना ।
हृदयं दह्यतेऽत्यर्थं कुतो दुःखं कुतो व्यथा ? ॥११॥

(इति मोहमुपगतः)

सूतः—समाश्वसितु समाश्वसितु महाराजः ।

(इति पटान्तेन वीजयति)

प्रत्यक्षमिति—(अन्वयः) एतत् हृदयं प्रत्यक्षं हतबन्धूनां परिभवाग्निना अत्यर्थं दह्यते, (तत्र) कुतः दुःखं कुतः व्यथा ।

(व्याख्या) अस्माकमेतद् हृदयं प्रत्यक्षमक्ष्णोः पुरत एव शत्रुभिः हता ये बन्धवः स्वजनास्तेषां परिभवस्य तिरस्कारस्य अग्निना वह्निना अत्यर्थमतितरां दह्यते भस्मीक्रियते। तत्र परिभवाग्निदग्धहृदये दुःखं व्यथा वा कुतो भवितुं शक्नोति ? सुखदुःखादीनामनुभववेद्यत्वेन भावनानुभवसमर्थहृदये एव तेषां सम्भवतया दुर्योधनहृदयस्य च स्वबन्धुतिरस्कारानलेन भस्मीभूततया तत्र दुःखव्यथयोः कथैव कथं स्यादिति भावः ॥११॥

मोहमिति—दुर्योधन एवमुक्त्वा शोकाधिक्यात् मोहं मूर्च्छामुपगतः प्राप्त इत्यर्थः ।

आखों के सामने मृत बन्धुओं के तिरस्कार से हृदय के अत्यधिक दग्ध हो जाने के कारण (हार्दिक) दुःख या व्यथा कैसे हो सकती है ? ॥११॥

(इस प्रकार कहकर मूर्च्छित हो जाता है)

सूत—महाराज धैर्य रखिये, धैर्य रखिये।

(इस प्रकार कहते हुए अपने वस्त्र के छोर से हवा करता है)

दुर्योधनः—(लब्धसंज्ञः) भद्र सुन्दरक ! ततो वयस्येन किं प्रतिपन्नमङ्गराजेन ।

सुन्दरकः—तदो अ देव ! तथाविधस्स पुत्तस्स दंसणेण संगलिदं अस्सुजादं उज्झिअ अणवेक्खिदपरप्पहरणाभिओएण सामिणा अभिजुत्तो धणंजओ । तं अ सुदवहामरिसुद्दीविदपरक्कमं विमुक्कजीविदासं तह परिक्कमन्तं पेक्खिअ भीमणउलसहदेवपञ्चालप्पमुहेहिं अन्तरिदो धणंजअस्स रहवरो ।

(ततश्च देव ! तथाविधस्य पुत्रस्य दर्शनेन सङ्गलितमश्रुजातमुज्झित्वाऽनवेक्षितपरप्रहरणाऽभियोगेन स्वामिनाऽभियुक्तो धनंजयः । तं च सुतवधामर्षोद्दीपितपराक्रम विमुक्तजीविताशं तथा परिक्रामन्तं प्रेक्ष्य भीमनकुलसहदेवपाञ्चालप्रमुखैरन्तरितो धनञ्जयस्य रथवरः ।)

लब्धसंज्ञ इति—लब्धा प्राप्ता संज्ञा चेतना येन सः । वयस्येन मित्रेण अङ्गराजेन कर्णेन किं प्रतिपन्नं कृतम् ? प्रति√पद् + क्तः प्र. ।

तथाविधस्येति—तथाविधस्य मृत्युमुपगतस्य पुत्रस्य वृषसेनस्य दर्शनेन संगलितं पतितमश्रुजातमश्रुसमूहमुज्झित्वा त्यक्त्वा न अवेक्षितो न दृष्टः परेषां शत्रूणां प्रहरणस्य प्रहारस्य अभियोग आक्रमणं येन तेन तथाभूतेन स्वामिना अङ्गराजेन कर्णेन धनञ्जयोऽर्जुनः अभियुक्त आक्रान्त इत्यन्वयः । सुतस्य पुत्रस्य, वृषसेनस्येत्यर्थः, वधेन उत्पन्नो यः अमर्षः क्रोधस्तेन उद्दीपितः पराक्रमो विक्रमो यस्य तं, विमुक्ता परित्यक्ता जीवितस्य जीवनस्य आशा येन तं तथाभूतं परिक्रामन्तं विक्रमं प्रदर्शयन्तं कर्णं प्रेक्ष्य दृष्ट्वा नकुलश्च सहदेवश्च पाञ्चालश्च प्रमुखा येषां तैस्तथाभूतैर्योधैः धनञ्जयस्याऽर्जुनस्य रथवरः अन्तरितः समन्तादावृत इत्यर्थः ।

दुर्योधन—(सचेत होकर) भद्र सुन्दरक ! इसके बाद मित्र अङ्गराज कर्ण ने क्या किया ?

सुन्दरक—महाराज ! इसके बाद अपने पुत्र को उस दयनीय दशा में पड़े हुए देख कर (दुःख के कारण आखों से) बहती हुई आसुओं को पोंछकर

दुर्योधनः—ततस्ततः ?

मुन्दरकः—तदो देव ! [[1]अज्जुण चावमहाप्पलअपओहरणिस्सरिदसरधारासहस्सेहिं परिदेसु दिसामुहेसु] सल्लेण भणिदो सामी अङ्गराओ जहा—'अङ्गराअ ! हदतुलङ्गमो [2]मथिदचक्कणेमिकूवरो दे रहो। ता ण जुत्तं भीमाज्जुणेहिं अहिजुज्झिदुम्।' त्ति भणिअ पडिवट्टिदो रहो, ओदारिदो सामी सन्दणादो बहुप्पहारं अ समस्सासिदो।

(ततो देव ! अर्जुनचापमहाप्रलयपयोधरनिःसृतशरधारासहस्रपूरितेषु दिङ्मुखेषु शल्येन भणितः स्वाम्यङ्गराजो यथा—'अङ्गराज ! हततुरङ्गमो मथितचक्रनेमिकूबरस्ते रथः। नन्न युक्तं भीमार्जुनाभ्यामभियोक्तुम्। इति भणित्वा परिवर्तितो रथोऽवतारितः स्वामी स्यन्दनाद् बहुप्रकारं च समाश्वासितः।)

अर्जुनेति—अर्जुनस्य चापो धनुरेव महाप्रलयपयोधरः प्रलयकालीनो मेघस्तस्माद् निसृतानि यानि शराणां बाणानां धारासहस्राणि तैः पूरितेषु दिङ्मुखेषु दिशामन्तरालेषु शल्येन कर्णसारथिना स्वामी अङ्गराजः कर्णो भणितः। हताः तुरङ्गमा अश्वा यस्य सः, मथितौ चक्रनेमिकूबरौ यस्य स तथाभूतस्ते तव रथः संजातः। अतस्तव भीमार्जुनाभ्यामभियोक्तुमायोद्धुं न युक्तम्। इत्येवं भणित्वा उक्त्वा तेन

स्वामी अङ्गराज (कर्ण) ने शत्रुओं के प्रहार की प्रतीक्षा किये बिना ही अर्जुन पर आक्रमण कर दिया। परन्तु भीम, नकुल, सहदेव एवं पाञ्चाल आदि ने अङ्गराज को, जिनका पराक्रम पुत्र-वध के कारण क्रोध से बहुत उद्दीप्त हो रहा था, जीवन की आशा छोड़कर इस प्रकार प्रहार करते हुए देखकर अर्जुन के रथ को चारों ओर से छिपा लिया।

दुर्योधन—इसके बाद क्या हुआ ?

सुन्दरक—महाराज ! इसके बाद अर्जुन के धनुष-रूपी महाप्रलय-पयोधर

१ कोष्ठान्तर्गतः पा. G. नास्ति। २. G. 'भग्गकूवेरा' इति पा.।

दुर्योधनः—ततस्ततः ?

सुन्दरकः—तदो अ समिणा सुइरं विलपिअ परिअणोवणीदं अण्णं रहं पेक्खिअ दीहं णिस्ससिअ मइ दिट्ठी विणिक्खिविदा। सुन्दरअ! एहि' त्ति भणिदं अ। तदो अहं उवगदो सामिसमीवम्। तदो अवणीअ सीसट्ठाणादो पट्टिअं सरीरसङ्गलिदेहिं सोणिअबिदुहिं [1]दिद्धवअणं बाणं कदुअ अहिलिहिअ प्पेसिदो देवस्स सन्देसो।

(ततश्च स्वामिना सुचिरं विलप्य परिजनोपनीतमन्यं रथं प्रेक्ष्य दीर्घं निःश्वस्य मयि दृष्टिर्विनिक्षिप्ता,—'सुन्दरक ! एही'ति भणितं च। ततोऽहमुपगतः स्वामि-समीपम्। ततोऽपनीय शीर्षस्थानात् पट्टिका शरीरसंगलितैः शोणित-बिन्दुभिर्दिग्धवदन बाणं कृत्वाभिलिख्य प्रेषितो देवस्य सन्देशः।)

शल्येन रथः परिवर्तितो निवर्तितः, स्यन्दनाद् रथाद् अवतारितः स्वामी अङ्गराजः कर्णश्च बहुप्रकारं बहुविधं समाश्वासितः सान्त्वितः॥

स्वामिनेति—स्वामिना अङ्गराजेन कर्णेन सुचिरं बहुकालं यावद् विलप्य विलापं कृत्वा परिजनेन सेवकेन उपनीतमानीतमन्यं रथं प्रेक्ष्य दृष्ट्वा मयि दृष्टिर्विनिक्षिप्ता दत्ता भणितं कथितं च। शीर्षस्थानात् शिरःस्थानात्, शिरस इत्यर्थः, पट्टिकाम् अपनीय उत्तार्य शरीरात्

से निकली हुई बाणों की हजारों धाराओं से दिशाओं के कोने-कोने के व्याप्त हो जाने पर शल्य ने स्वामी अङ्गराज से कहा कि, "अङ्गराज! आपके रथ के घोड़े मारे जा चुके है, पहियों की नेमि टूट गई है तथा जूआ भी टूट गया है। इस लिये अब आपका भीम और अर्जुन से युद्ध करना उचित नहीं है।" यह कहकर उसने रथ को वापिस लौटा लिया और स्वामी अङ्गराज को रथ से उतार दिया तथा उन्हें अनेक प्रकार से सान्त्वना दी।

दुर्योधन—फिर क्या हुआ ?

सुन्दरक—महाराज ! इसके उपरान्त स्वामी अङ्गराज ने बहुत देर तक

१. G. 'लित्तमुहम्' (=लिप्तमुखम्) इति पा.।

(इति पट्टिकामर्पयति दुर्योधनो गृहीत्वा वाचयति, यथा—)

'स्वस्ति, महाराजदुर्योधनं समराङ्गणात् कर्णं एतद् वृत्तं कण्ठे गाढमालिङ्ग्य विज्ञापयति—

संगलितैः पतितैः, निःसृतैरित्यर्थः, शोणितस्य रक्तस्य बिन्दुभिः लिप्तं वदनं मुखं यस्य तं तथाभूतं बाणं कृत्वा तत्र पट्टिकायां किञ्चिद् अभिलिख्य लिखित्वा देवस्य भवतः पार्श्वेऽयं संदेशः प्रेषितः। रुधिरलिप्तेन बाणेन शिरः पट्टिकायां संदेशं समर्प्य भवत्समीपे प्रेषित इत्यर्थः।

पट्टिकामिति—पट्टिकां सन्देश-युक्तां शिरःपट्टिकामर्पयति ददाति।

स्वस्तीति—महांश्चाऽसौ राजा स चाऽसौ दुर्योधनस्तं कण्ठं गाढमालिङ्ग्य दृढं परिष्वज्य, आलिङ्गनं कृत्वेत्यर्थः, समराङ्गणाद् युद्धभूमेः कर्णं एतद् वृत्तं समाचारमन्तिमसन्देशमितियावद् विज्ञापयति प्रेषयतीत्यर्थः। सन्देशं दर्शयन्नेवाह:—अस्त्रेत्यादि।

विलाप करने के बाद किसी सेवक के द्वारा लाए हुए दूसरे रथ को देखकर लम्बी सास लेकर मेरी तरफ़ देखा और कहा कि, "सुन्दरक! यहाँ आओ।" इसके बाद मैं उनके पास गया। तब उन्होंने अपने सिर से पट्टी खोल कर शरीर से निकलती हुई रुधिर की बून्दों से अपने बाण के अग्रभाग को भिगो उससे उस पट्टिका पर अपना सन्देश लिख कर आपके पास भेजा है।

(यह कह कर पट्टिका दे देता है। दुर्योधन उसे लेकर पढ़ने लगता है कि—)

"स्वस्ति। महाराज दुर्योधन के कण्ठ से प्रेम-पूर्वक गाढ आलिङ्गन करके युद्धस्थल से कर्ण यह सन्देश भेज रहा है—

"अस्त्रग्रामविधौ कृती न समरेष्वस्याऽस्ति तुल्यः पुमान्,
भ्रातृभ्योऽपि ममाऽधिकोऽयममुना जेयाः पृथासूनवः"।
त्वत्संभावित इत्यहं, न च हतो दुःशासनारिर्मया,
त्वं दुःखप्रतिकारमेहि भुजयोर्वीर्येण वाष्पेण वा ॥१२॥

अस्त्रेति—(अन्वयः) समरेषु अस्त्रग्रामविधौ कृती, अस्य तुल्यः पुमान् नास्ति, अयं मम भ्रातृभ्यः अपि अधिकः, अमुना पृथासूनवः जेयाः' इति अहं त्वत्संभावितः। न च दुःशासनारिः मया हतः। त्वं भुजयोः वीर्येण वाष्पेण वा दुःखप्रतिकारम् एहि।

(व्याख्या) "समरेषु युद्धेषु अस्त्राणां ग्रामास्तेषां विधौ अस्त्रग्रामविधौ अस्त्रपरिचालनविधौ कृती निपुणः, अस्य कर्णस्य तुल्यः सदृशः पुमान् पुरुषो नास्ति, अयं कर्णः मम दुर्योधनस्य भ्रातृभ्यो दुःशासनप्रभृतिभ्योऽपि अधिको विशेषप्रियः, अमुना अनेन कर्णेन पृथायाः कुन्त्याः सूनवः पुत्राः युधिष्ठिरादयो जेयाः जेतव्या" इत्येवमहं कर्णः त्वया सम्भावितः सत्कृतः, सम्मानित इत्यर्थः। न च मया कर्णेन दुःशासनस्य अरिः शत्रुर्भीमो हतः। त्वया एवं सम्मानितेनापि मया कर्णेन त्वं निराश एव कृत इत्यर्थः। अतस्त्वं स्वयमेवेदानीं भुजयोः निजबाह्वोर्वीर्येण बलेन, युद्धं कृत्वेत्यर्थः, वाष्पेण अश्रुजलेन वा, अश्रूणि प्रवाह्य रुदित्वेत्यर्थः, दुःखस्य शत्रुकृतापमानजनितदुःखस्य प्रतिकारम् एहि उपेहि, स्वयमेव दुःख-प्रतिकार-परो भवेत्यर्थः। शार्दूलविक्रीडितं छन्दः, 'सूर्याश्वैर्यदि मासजः सततगा शार्दूलविक्रीडितम्' इति तल्लक्षणात् ॥१२॥

'युद्ध मे शस्त्र-परिचालन-कार्य में इसके समान कोई भी पुरुष कुशल नहीं है। यह मुझे अपने भाइयों से भी अधिक प्रिय है। यह पृथा-पुत्र युधिष्ठिरादि को जीतेगा', कहते हुए आपने मेरा सम्मान किया, परन्तु मैं दुःशासन के हत्यारे भीम को नहीं मार सका (और इस प्रकार मैंने आपको निराश ही किया)।

दुर्योधनः—वयस्य कर्ण ! कर्ण ! किमिदं भ्रातृशतवधदुःखितं मामपरेण वाक्शल्येन घट्टयसि ? भद्र सुन्दरक ! अथेदानीं किमारम्भोऽङ्गराजः ?

सुन्दरकः—देव ! अज्ज वि आरम्भो पुच्छीअदि ! अवणीदसरीरावरणो अप्पवहकिदणिच्छओ पुणो वि पत्थेण सह समरं मग्गदि ।

(देव ! अद्याऽप्यारम्भः पृच्छ्यते ! अपनीतशरीरावरण आत्मवधकृतनिश्चयः पुनरपि पार्थेन सह समरं मार्गयते ।)

वयस्येति—भ्रातॄणां दुःशासनादीनां शतं तस्य वधेन दुःखितं पीडितं मां दुर्योधनमपरेण अन्येन वागेव शल्यं तेन 'त्वं दुःखप्रतिकारमेहि भुजयोर्वीर्येण वाष्पेण वा' इत्यादि वाग्रूपेण बाणेन किं कुतो हेतोः घट्टयसि पीडयसि ? क आरम्भो यस्य स तथाभूतः कस्मिन् कर्मणि संलग्न इत्यर्थः । अङ्गराजः कर्णः ।

देवेति—अद्येदानीम् । अपि शब्द एवार्थे । इदानीमारम्भः कर्मैव पृच्छ्यत इत्यर्थः । अपनीतं त्यक्तं दूरीकृतं वा शरीरस्य आवरणं येन सः, आत्मनः स्वस्य यो वधस्तस्य कृतः निश्चयो येन स तथाभूतः सन् पुनरपि पृथायाः कुन्त्याः अपत्यं पुमान् पार्थोऽर्जुनस्तेन सह समरं युद्धं मार्गयते कामयते, युद्धस्याऽवसरं प्रतीक्षते इत्यर्थः ।

इसलिये अब आप स्वयं अपने बाहु-बल से या आँसू बहाकर इस दुःख का प्रतीकार करें" ॥१२॥

दुर्योधन—मित्र कर्ण ! कर्ण ! मैं (पहले ही) अपने सौ भाइयों की मृत्यु से बहुत दुःखित हो रहा हूँ, अब तुम मुझे इस दूसरे वाग-बाण से क्यों छेद रहे हो ? भद्र सुन्दरक ! अब अङ्गराज क्या काम कर रहे हैं ?

सुन्दरक—महाराज ! अभी आप काम ही पूछते हो ? आत्म-वध का निश्चय करके शरीर के आवरण को त्याग कर स्वामी अङ्गराज अब पुनः अर्जुन से युद्ध के अवसर की प्रतीक्षा कर रहे हैं ।

दुर्योधनः—(आवेगादासनादुत्तिष्ठन्) सूत ! रथमुपनय ! सुन्दरक ! त्वमपि मद्वचनात् त्वरिततरं गत्वा वयस्यमङ्गराजं प्रतिबोधय, "अलमतिसाहसेन। अभिन्न एवाऽयमावयोः सङ्कल्पो, न खलु भवानेको जीवितपरित्यागाकाङ्क्षी। किन्तु—

हत्वा पार्थान् सलिलमशिवं बन्धुवर्गाय दत्वा,
मुक्त्वा वाष्पं सह कतिपयैर्मन्त्रिभिश्चाऽरिभिश्च।
कृत्वाऽन्योन्यं सुचिरमपुनर्भावि गाढोपगूढं,
सन्त्यक्ष्यावो हततनुमिमां दुःखितौ निर्वृतौ वा ॥१३॥

आवेगादिति—रथं मदीयं युद्धरथमुपनय आनय। मद्वचनाद् मम वचनं गृहीत्वा, ल्यबलोपे पंचमी, त्वरिततरं शीघ्रतरं गत्वा वयस्यं प्रियमङ्गराजं कर्णं प्रतिबोधय कथय। आवयोस्तव मम चाऽयं मरणार्थनिश्चयरूपः संकल्पो विचारः अभिन्नः समान एव। जीवितस्य जीवनस्य परित्यागमाकाङ्क्षते इति तच्छीलस्तथाभूतो भवानेक एव नाऽस्ति खलु। किन्तु अपितु—

हत्वेति—(अन्वयः) पार्थान् हत्वा बन्धुवर्गाय अशिवं सलिलं दत्वा कतिपयैः अरिभिः मन्त्रिभिश्च सह वाष्पं मुक्त्वा अन्योन्यम् अपुनर्भावि गाढोपगूढं सुचिरं कृत्वा दुःखितौ निर्वृतौ वा इमां हततनुम् सन्त्यक्ष्यावः ॥

(व्याख्या) पृथायाः कुन्त्याः अपत्यानि पुमांसः पार्थास्तान् युधिष्ठिरप्रभृतीन् पाण्डवान् हत्वा संहार्य बन्धूनां मृतसम्बन्धिनां वर्गः

दुर्योधन—(हड़बड़ा कर आसन से उठते हुए) सूत ! जल्दी से मेरा रथ लाओ। सुन्दरक ! तुम भी बहुत शीघ्र जाकर मेरी ओर से मित्र अङ्गराज को समझाओ कि "इतना साहस करने की आवश्यकता नहीं है। हम दोनों का संकल्प अभिन्न है। केवल तुम्हीं मरने के लिये इच्छुक नहीं हो, प्रत्युत—

अथवा शोकं प्रति मया न किंचित् संदेष्टव्यम् ।

वृषसेनो न ते पुत्रो न मे दुःशासनोऽनुजः ।
त्वां बोधयामि किमहं[1] त्वं मां संस्थापयिष्यसि ॥१४॥

समूहस्तस्मै, मृतसम्बन्धिभ्य इत्यर्थः, अशिवं मृतात्मभ्यो दीयमानत्वेन अमङ्गलमयं सलिलं जलं दत्त्वा मृतावशिष्टैः कतिपयैः स्वल्पैः अरिभिः शत्रुभिः मन्त्रिभिश्च सह वाष्पं नयनसलिलं मुक्त्वा त्यक्त्वा, तैः सह रुदित्वेत्यर्थः, अन्योन्यं परस्परम् अपुनर्भावि अन्तिमं गाढमुपगूढमालिङ्गनं सुचिरं बहुकालं कृत्वा दुःखितौ व्यथितौ निर्वृतौ शत्रून् निहत्य शान्तचित्तौ वा सन्तौ आवाम् इमां हततनुं पापं घृण्यं वा इदं शरीरं सहैव संत्यक्ष्यावः परित्यक्ष्यावः । शार्दूलविक्रीडितं छन्दः, 'सूर्याश्वैर्यदि मासजः सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' इति तल्लक्षणात् ॥१३॥

अथवेति—शोकं पुत्रशोकं प्रति मया दुर्योधनेन न किंचित् किमपि सन्देष्टव्यं न कोऽपि सन्देशः प्रेषणीय इत्यर्थः ।

वृषसेन इति—(व्याख्या) वृषसेनस्ते तव पुत्रो नाऽऽसीत्, दुःशासनश्च मे मम अनुजो नाऽऽसीत् । अतोऽस्मिन् दुःखावसरे अहं त्वां किं बोधयामि सान्त्वयामि त्वं वा मां किं संस्थापयिष्यसि प्रतिबोध-

पाण्डवों को मार कर अपने मृत बन्धुवर्ग को तिलोदक देकर बचे हुए दो-चार मन्त्री एवं शत्रु-पक्ष के लोगों के साथ आँसू बहाते हुए अच्छी प्रकार जी भर कर परस्पर अन्तिम प्रगाढ आलिङ्गन करके दुःखी या सुखी होकर हम दोनों एक साथ ही इस पापी शरीर को छोड़ेंगे ॥१३॥

अथवा तुम्हारे इस शोक के विषय में मैं कुछ भी कहना नहीं चाहता, क्योंकि—

पुत्र वृषसेन तुम्हारा पुत्र नहीं था और भाई दुःशासन मेरा भाई नहीं

१. गु. 'त्वदहम्' इति पा. ।

सुन्दरकः—जं देवो आणवेदि (इति निष्क्रान्तः ।)
(यद्देव आज्ञापयति ।) [इति निष्क्रान्तः]
दुर्योधनः[1]—अये ! नेमिध्वनिरिव ?।
सूतः—आयुष्मन् ! एष सद्य एव संवर्धितो नेमिध्वनिः।
दुर्योधनः—नूनं परिजनोपनीतो रथः । गच्छ त्वं सज्जीकुरु ।

यिष्यसि । अत्राऽयं भावः—यथा कस्मिँश्चित् सम्बन्धिनि मृते सति अन्ये सम्बन्धिनो मित्रादयः पार्श्ववर्तिनश्च तस्य स्त्रीपुत्रादीन् संनिकटस्थ-बन्धूँश्च सान्त्वयन्तः "गतात्मा युष्माकमस्माकं वा नासीत्, स यस्य प्रियः आसीत् तस्यैव प्रभोः पार्श्वे गतः । अतस्तस्य कृते शोकः सर्वथा व्यर्थ एव" इत्यादिरूपेण प्रतिबोधयन्ति तथैव अत्रापि दुर्योधनो दुःशासनादीनां मृत्युना निराशो भूत्वा गतपुत्रं निराशं स्ववयस्यमङ्गराजं कर्णं प्रतिबोधयति ।।१४।।

था । (वह जिसके थे उसके पास चले गए) । मैं तुम्हें किस प्रकार सान्त्वना दूँ और तुम भी मुझे (इस विषय में) कैसे आश्वासन दे सकते हो ?" ।।१४।।

सुन्दरक—जैसी महाराज की आज्ञा । (ऐसा कह कर चला जाता है)

दुर्योधन—यह पहिये की आवाज़-सी कहाँ से आ रही है ?

सूत—आयुष्मन् ! यह शब्द तो अभी-अभी इतनी देर में ही और भी बढ़ गया है ।

दुर्योधन—अवश्य ही नौकर लोग मेरे लिये रथ ला रहे होंगे । जाओ तुम भी (जाकर) उसे (युद्ध के लिये) सुसज्जित करो ।

१. अत्र G. सर्वथा. पा. मे., स चाऽधः प्रदर्श्यते :—
दुर्योधनः—सूत ! तूर्णमेव रथमुपस्थापय । सूतः—(कर्णं दत्त्वा) देव ! हेषासंवलितो नेमिध्वनिः श्रूयते । तथा तर्कयामि नूनं परिजनोपनीतो रथः । दुर्योधनः—सूत ! गच्छ त्वं सज्जीकुरु ।

सूत.—यदाज्ञापयति देवः । (इति निष्क्रम्य पुनः प्रविशति ।)

दुर्योधनः—(विलोक्य) किमिति नारूढोऽसि ? ।

सूतः—एष खलु तातोऽम्बा च संजयाधिष्ठितं रथमारुह्य देवस्य समीपमुपगतौ ।

दुर्योधन —किं नाम तातोऽम्बा च सम्प्राप्तौ ? कष्टम् ! अतिबीभत्समाचरितं दैवेन । सूत ! गच्छ त्वं स्यन्दनं तूर्णमुपहर । अहमपि तातदर्शनं परिहरन्नेकान्ते तिष्ठामि ।

सूतः—देव ! त्वदेकशेषबान्धवावेतौ कथमिव न समाश्वासयसि ?

एष इति—तातो धृतराष्ट्रः, अम्बा माता गान्धारी च संजयेन अधिष्ठितं रथमारुह्य देवस्य तव समीपमुपगतौ आगतौ ।

किं नामेति—तातः पिता अम्बा माता च सम्प्राप्तौ आगतौ ! दैवेन विधिना अतीव बीभत्सं भयङ्करमाचरितं कृतम् । तूर्णं शीघ्रं स्यन्दनं रथमुपहर उपनय । तातस्य पितुर्दर्शनम् ।

देवेति—त्वमेव एकः शेषः अवशिष्टः बान्धवो बन्धुर्ययोस्तौ तथाभूतौ एतौ पितरौ कथं न समाश्वासयसि सान्त्वयसि ? ।

सूत—जो महाराज की आज्ञा । (ऐसा कह कर बाहर जाकर पुनः वापिस आता है ।)

दुर्योधन—(देखकर) क्या बात है ? तुम रथ पर सवार क्यों नहीं हुए ?

सूत—महाराज ! माता जी तथा पिता जी संजय के साथ रथ मे बैठकर आपके पास (मिलने के लिये) आए हैं ।

दुर्योधन—हैं, क्या कहा ? माता जी और पिता जी (मिलने) आए हैं ? बड़े दुःख की बात है ! विधाता ने बड़ा भारी अनर्थ किया है ! सूत ! जाओ, तुम जल्दी से मेरा रथ लाओ, मै भी तब तक माता-पिता की दृष्टि बचा कर (कहीं) एकान्त मे खड़ा होता हूँ ।

सूत—राजन् ! अब आप ही इनके एक-मात्र अवशिष्ट बन्धु है । आप इन्हें सान्त्वना क्यो नहीं देते ?

दुर्योधनः—सूत ! कथमिव समाश्वासयामि विमुखभागधेयः ? । पश्य—

अद्यैवाऽऽवां रणमुपगतौ तातमम्बां च दृष्ट्वा,
घ्रातस्ताभ्यां शिरसि विनतोऽहं च दुःशासनश्च ।
तस्मिन् बाले प्रसभमरिणा प्रापिते तामवस्थां,
पार्श्वे पित्रोरपगतघृणः किन्नु वक्ष्यामि गत्वा ? ॥१५॥

सूतेति—विमुखं विरुद्धं भागधेयं भाग्यं यस्य स तथाभूतोऽहमिदानीं पितरौ कथं समाश्वासयामि सान्त्वयामि ।

अद्यैवेति—(अन्वयः) अद्य एव आवां तातम् अम्बां च दृष्ट्वा रणम् उपगतौ, विनतः अहं दुःशासनश्च ताभ्यां शिरसि घ्रातः, तस्मिन् बाले अरिणा प्रसभं ताम् अवस्थां प्रापिते (सति) अपगतघृणः (अहं) पित्रोः पार्श्वे गत्वा किन्नु वक्ष्यामि ? ।

(व्याख्या) अद्य अस्मिन्नेव अहनि आवामहं दुःशासनश्च तातं पितरमम्बां मातरं च दृष्ट्वा अभिवाद्येत्यर्थः रणं युद्धभूमिमुपगतौ गतवन्तौ, विनतः प्रणतोऽहं दुःशासनश्च ताभ्यां पितृभ्यां शिरसि घ्रातः । तस्मिन् बाले दुःशासने अरिणा शत्रुणा, भीमेनेत्यर्थः, प्रसभं हठात् तां दयनीयामवस्थां मरणदशां प्रापिते गमिते सति अपगता घृणा कारुण्यं यस्मात् स तथाभूतोऽतिनिर्दयोऽहमिदानीं पित्रोः पार्श्वे समीपे गत्वा किन्नु वक्ष्यामि वदिष्यामि ? मन्दाक्रान्ता छन्दः, 'मन्दाक्रान्ताम्बुधिरसनगैर्मोभनौ तौ गयुग्मम्' इति तल्लक्षणात् ॥१५॥

दुर्योधन—मैं अभागा अब इन्हें किस प्रकार सान्त्वना दूँ ? । देखो—

आज ही हम दोनों (मैं और दुःशासन) माता जी एवं पिता जी के दर्शन करके युद्ध-भूमि में गए थे और (चलते समय) नत-मस्तक मुझे एवं

सूतः—[1]तथाप्यवश्यं वन्दनीयौ गुरू। (इति निष्क्रान्तौ।)

इति भट्टनारायणकृते वेणीसंहारे चतुर्थोऽङ्कः।

तथापीति—गुरू पितरौ अवश्यमेव वन्दनीयौ पूजनीयौ।

इति भट्टनारायणकृते वेणीसंहारे सरलार्थदीपिकाया
चतुर्थोऽङ्कः

दुःशासन को उन्होंने शिर से सूंघ कर (आशीर्वाद दिया था)। परन्तु अब शत्रु के द्वारा बालक दुःशासन के बुरी तरह मार जाने पर मैं निर्लज्ज माता-पिता के पास जाकर क्या कहूंगा ?॥१५॥

सूत—तथापि माता-पिता की चरण-वन्दना तो अवश्य ही करनी चाहिये। (ऐसा कह कर दोनों चले जाते हैं।)

चतुर्थ अङ्क समाप्त।

---

१. G. इदं वाक्यं दुर्योधनवाक्यत्वेन स्वीकृतम्।

अथ पञ्चमोऽङ्कः

(ततः प्रविशति रथयानेन गान्धारी संजयो धृतराष्ट्रश्च ।)

धृतराष्ट्रः—वत्स संजय ! कथय कस्मिन्नुद्देशे कुरुकुलकाननैकशेष-प्रवालो वत्सो मे दुर्योधनस्तिष्ठति ? कच्चिज्जीवति वा न वा ?

गान्धारी—जाद ! जइ सच्चं जीवति मे वच्छो ता कहेहि[1] कस्सिं देसे वट्टदि ? ।

(जात ! यदि सत्यं जीवति मे वत्सस्तत् कथय कस्मिन् देशे वर्तते ? ।)

अथ वेणीसंहार-दीपिका

वत्सेति—कुरुकुलमेव काननं वनं तस्य एकशेषः प्रवालः पल्लव-स्वरूपो मे वत्सः पुत्रो दुर्योधनः कस्मिन् उद्देशे स्थाने तिष्ठति विद्यते इत्यर्थः ।

पञ्चम अङ्क

(इसके बाद रथ में बैठे हुए गान्धारी, सञ्जय और धृतराष्ट्र प्रवेश करते हैं)

धृतराष्ट्र—वत्स सञ्जय ! कहो, कुरुकुल-रूपी कानन का एकमात्र अवशिष्ट पल्लव मेरा पुत्र दुर्योधन कहाँ है ? वह जीवित (भी) है या नहीं ?

गान्धारी—वत्स ! यदि वास्तव में मेरा पुत्र जीवित है, तो बताओ किस जगह है ? ।

१. G. 'कधेहि' इति पा. ।

संजयः—नन्वेष महाराज एकाक्येव[1] न्यग्रोधच्छायायामुपविष्ट-स्तिष्ठति ।

गान्धारी—(सकरुणम्) जाद ! एआइ त्ति भणासि ! किं णु क्खु संपदं भादुसदं से पास्से णत्थि[2] ।

([सकरुणम्] जात ! एकाकीति भणसि ! कि नु खलु साम्प्रतं भ्रातृ-शतमस्य पार्श्वे णत्थि[2] ?)

संजयः—तात ! अम्ब ! अवतरतं स्वैरं रथात् ।

(उभौ अवतरणं नाटयतः ।)

नन्वेष इति—महांश्चासौ राजा महाराजो दुर्योधन इत्यर्थः । समा-सान्तश्च प्रत्ययः । एक एव एकाकी 'एकादाकिनिचासहाये' (पा. ५, ३, ५२) इति एकशब्दाद् आकिन् प्रत्ययः । न्यग्रोधस्य एतन्नामकस्य पादपस्य छायायामुपविष्टो वर्तते इत्यर्थः ।

सकरुणमिति—करुणया सहितं सकरुणम् । क्रियाविशेषणत्वेन द्वितीया । 'क्रियाविशेषणानां कर्मत्वं द्वितीया च' ति नियमात् । भ्रातृणां शतम् भ्रातृशतम् ।

तातेति—स्वैरं शनैः शनैः, मन्दं मन्दमित्यर्थः ।

उभाविति—उभौ गान्धारीधृतराष्ट्रौ रथादवतरणं नाटयतः अभिनयतः ।

सञ्जय—(माता जी ! वह देखिये) महाराज दुर्योधन अकेले ही (उस) वट-वृक्ष की छाया में बैठे हुए हैं ।

गान्धारी—(करुण स्वर में) पुत्र ! 'अकेला' यह तुमने क्या कहा ? क्या सचमुच इसके सौ भाई इस समय इसके पास नहीं हैं ?

संजय—पिता जी ! माता जी ! धीरे-धीरे रथ से उतरिये ।

(दोनों रथ से उतरते हैं)

१. G. 'एक एव' इति पा. । २. तु. गु. टिप्पणस्थः पा. ।

(ततः प्रविशति [1]सव्रीडमुपविष्टो दुर्योधनः ।)

संजयः—(उपसृत्य) विजयतां महाराजः । नन्वेष तातोऽम्बया सह प्राप्तः, किं न पश्यति महाराजः ।

(दुर्योधनो वैलक्ष्यं नाटयति ।)

धृतराष्ट्रः—

शल्यानि व्यपनीय कङ्कवदनैरुन्मोचिते कङ्कटे,
बद्धेषु व्रणपट्टकेषु शनकैः कर्णे कृतापाश्रयः ।
दूरान्निर्जितशात्रवान्नरपतीनालोकयँल्लीलया,
'सह्या पुत्रक ! वेदने' ति न मया पापेन पृष्टो भवान् ॥१॥

तत इति—व्रीडया सहितं सव्रीडं सलज्जमुपविष्टो महाराजो दुर्योधनः प्रविशति प्रवेशं करोति ।

दुर्योधन इति—दुर्योधनः वैलक्ष्यं लज्जां नाटयति अभिनयति ।

शल्यानीति । (अन्वयः) कङ्कवदनैः शल्यानि व्यपनीय कङ्कटे उन्मोचिते, व्रणपट्टकेषु बद्धेषु शनकैः कर्णे कृतापाश्रयः, निर्जितशात्रवान् नरपतीन् दूरान् लीलया आलोकयन् भवान् मया पापेन 'हे पुत्रक ! वेदना सह्या न वे'ति न पृष्टः ।

(व्याख्या) कङ्कवदनैः एतन्नामकैः शस्त्रविशेषैः शल्यानि बाणकण्टकादीनि व्यपनीय निस्सार्य, वि+अप√नी+क्त्वा>ल्यप्, कङ्कटे कवचे उन्मोचितेऽपनीते, शरीरादवतारिते सतीत्यर्थः, व्रणानामाघातानां

(इसके बाद लज्जित अवस्था में बैठे हुए दुर्योधन का प्रवेश)

संजय—(पास जाकर) महाराज की जय हो । महाराज ! माता जी के साथ पिता जी आए हैं । क्या आप नहीं देख रहे हैं ?

(दुर्योधन लज्जा का अभिनय करता है ।)

१. G. 'सव्रीडोपविष्टः' इति समस्तः पा. । २. 'सान्त्वितान्' इति पा. ।

(धृतराष्ट्रो गान्धारी च स्पर्शेनोपेत्याऽऽलिङ्गतः ।)

गान्धारी—वच्छ ! अदिगाढप्पहारवेअणापज्जाउलस्स अम्हेसु सण्णिहिदेसु वि ण प्पसरदि दे वाणी ।

(वत्स ! अतिगाढप्रहारवेदनापर्याकुलस्याऽस्मासु सन्निहितेष्वपि न प्रसरति ते वाणी ।)

पट्टकेषु च बद्धेषु सत्सु शनैरेव शनकैः, स्वार्थे कः, मन्दं मन्दमित्यर्थः, कर्णोऽङ्गराजे कृतः अपाश्रयः आश्रयो येन सः, शत्रूणां समूहः शात्रवं, निर्जितं वशीकृतं शात्रवं शत्रुसमूहो यैस्तान् तथाभूतान् नरपतीन् नृपान् दूरात् लीलया विलासेन आलोकयन् अवलोकयन् भवान् त्वं, दुर्योधन इत्यर्थः, मया पापेन पापिना धृतराष्ट्रेण 'हे पुत्रक ! वेदना बाणादिशस्त्रपीडा सह्या सोढुं शक्या न वे' त्येव कुशलक्षेमादिकं न पृष्टः । युद्धकार्यासिवृत्त्याऽद्य त्वं मत्सविधे नागतोऽसीति मे महच्चिन्तास्पदमिति भावः । शार्दूलविक्रीडितं छन्दः, 'सूर्याश्वैर्यदि मासजः सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' इति तल्लक्षणात् ॥१॥

धृतराष्ट्र इति—उपेत्य दुर्योधनस्य समीपं गत्वेत्यर्थः । आलिङ्गत आलिङ्गनं कुरुतः ।

वत्सेति—अतिप्रगाढा भीषणा ये प्रहारास्तैर्या वेदना पीडा तया

धृतराष्ट्र—हे पुत्र ! कङ्कवदनों (=अस्त्र विशेष) से शल्य निकाल कर, और व्रणों पर पट्टी बाँध कर शनैः-शनैः अङ्गराज कर्ण का सहारा लेकर शत्रुओं को जीतने वाले राजाओं की ओर दूर से ही विलास-भाव से देखते हुए तुम से मुझ पापी ने यह भी नहीं पूछा कि 'पुत्र ! बाणादि की पीडा सह्य (=साधारण) है या असह्य ? ।' ॥१॥

(धृतराष्ट्र और गान्धारी टटोलते हुए पास जाकर उसका आलिङ्गन करते हैं ।)

गान्धारी—पुत्र ! हम लोगों के तुम्हारे पास आने पर भी अत्यधिक

धृतराष्ट्र— वत्स दुर्योधन ! किमकृतपूर्वः सम्प्रति मय्यप्ययमव्याहारः ?

गान्धारी—(सकरुणम्[1]) वच्छ ! जइ तुमं वि अम्हे णालवसि ता किं दाणीं[2] वच्छो दुस्सासणो दुम्मरिसणो अण्णो वा आलविस्सदि[3] ? (इति रोदिति ।)

[(सकरुणम्) वत्स ! यदि त्वमप्यस्मान्नालपसि तत् किमिदानीं वत्सो दुःशासनो दुर्मर्षणोऽन्यो वा आलपिष्यति ? ।] (इति रोदिति ।)

पर्याकुलस्य व्याकुलस्य, भृशं पीडितस्येत्यर्थः, ते वाणी अस्मासु सन्निहितेषु समीपस्थितेषु अपिसत्सु न प्रसरति निर्गच्छति ।

किमकृतेति—पूर्वं कृतः कृतपूर्वः, भूतपूर्व इतिवत् कृतशब्दस्य पूर्वप्रयोगः, न कृतपूर्वोऽकृतपूर्वः अयमव्याहारोऽनभिभाषणं किं सम्प्रति मयि अपि प्रदर्श्यत इति महद्दुःखाऽऽवहम् ।

सकरुणमिति—सकरुणं सदैन्यमित्यर्थः । आलपसि अभिभाषसे । दुर्मर्षणो नाम दुर्योधनस्य भ्राता ।

गम्भीर प्रहारों की वेदना से व्याकुल होने के करण तुम्हारे मुख से शब्द नहीं निकल रहा है ।

धृतराष्ट्र—पुत्र दुर्योधन ! क्या इस समय मुझ से भी अनभ्भाषण ! ऐसा तो तुमने आज तक पहले कभी नहीं किया !

गान्धारी—(करुणस्वर में) पुत्र ! यदि तुम भी हम से नहीं बोलोगे, तो क्या अब वत्स दुःशासन अथवा दुर्मर्षण या कोई दूसरा बोलेगा ?

(इस प्रकार कह कर रोने लगती है ।)

१. G. अयं पा. नास्ति । २. G. 'संपदम्' (=साम्प्रतम्) इति पा. । ३. G. 'आलवदि (=आलपति)' इति पा. ।

दुर्योधनः[१]—

पापोऽहमप्रतिकृतानुजनाशदर्शी,
तातस्य बाष्पपयसां तव चाम्ब ! हेतुः ।
दुर्जातमत्र विमले भरतान्वये वः,
किं मां सुतक्षयकरं सुत इत्यवैषि ? ॥२॥

पापोऽहमिति—(अन्वयः) हे अम्ब ! अप्रतिकृताऽनुजनाशदर्शी अहं पापः तातस्य तव च बाष्पपयसां हेतुः । विमले भरताऽन्वये दुर्जातं वः सुतक्षयकरं मां सुत इति किम् अवैषि ?

(व्याख्या) हे अम्ब ! हे मातः ! न प्रतिकृतोऽप्रतिकृतः, स चाऽसौ अनुजानां नाशो वधस्तं पश्यतीति तथाभूतोऽहं पापः पापात्मा तातस्य पितुस्तव च बाष्पपयसामश्रूणां हेतुर्जातोऽस्मीति शेषः । विमले निर्मले, कलङ्करहिते इत्यर्थः, भरतस्याऽन्वये वंशे, कुरुकुले इति यावत्, दुष्टं जातमुत्पन्नं वः भवतां सुतानां पुत्राणां क्षयो नाशस्तस्य करं कारकं मां दुर्योधनं 'सुतः' इति किं किमर्थमवैषि जानासि ? । त्वत्पुत्रविनाश-कारकत्वेनाऽति नीचं मां त्वं किमर्थं सम्प्रत्यपि पुत्रत्वेन स्वीकरोषि ? ! बसन्ततिलका छन्दः, 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौगः' इति तल्लक्षणात् ॥२॥

दुर्योधन—हे माता ! अपने छोटे भाइयो के विनाश को (अपनी आँख के सामने होते हुए) देख कर भी उसका (कुछ) प्रतीकार न कर सकने के कारण मैं पापी (ही) आप की एवं पिता जी की इन आसुओं का कारण हूँ। इस निर्मल भरत-वंश में उत्पन्न हुए मुझ दुष्ट को, जो कि आपके सौ पुत्रों की मृत्यु का कारण है, आप पुत्र किस लिये समझती हो ? ॥२॥

१. गु. इतोऽग्रे 'अम्ब !' इति पा. ।

गान्धारी—जाद ! अलमलं परिदेविदेण । तुमं वि दाव एको इमस्स अन्धजुअलस्य मग्गोवदेसको । ता चिरं जीव । किं मे रज्जेण जएण वा ? !

(जात ! अलमलं परिदेवितेन । त्वमपि तावदेकोऽस्याऽन्धयुगलस्य मार्गोपदेशकः । तच्चिरं जीव । किं मे राज्येन जयेन वा ।)

दुर्योधनः—

मातः किमप्यसदृशं कृपणं वचस्ते,
सुक्षत्रिया क्व भवती ? क्व च दीनतैषा ? ।
निर्वत्सले ! सुतशतस्य विपत्तिमेतां,
त्वं नाऽनुचिन्तयसि, रक्षसि मामयोग्यम् ? ॥३॥

जातेति—परिदेवितेन विलापेनाऽलं कृतमित्यर्थः । अपीति एवाऽर्थे । त्वमेवैकस्तावदिदानीमस्याऽन्धयुगलस्य अन्धयोरावयोरित्यर्थः मार्गोपदेशको मार्गदर्शकोऽसीति शेषः ।

मातरिति—(अन्वयः) हे मातः ! ते वचः असदृशं किमपि कृपणं (च अस्ति), सुक्षत्रिया भवती क्व ?, एषा दीनता च क्व ? । हे निर्वत्सले ! त्वं सुतशतस्य एतां विपत्तिं न अनुचिन्तयसि माम् अयोग्यं रक्षसि ।

(व्याख्या) हे मातः ! ते तव वचो वाक्यमसदृशं सादृश्यरहितं, तवाऽयोग्यं विलक्षणं वा कृपणं दैन्यपूर्णं चास्तीति शेषः । सुक्षत्रिया सुयोग्यक्षत्रियकुलोद्भवा भवती क्व, एषा 'त्वमेक एवाऽऽवयोः मार्गोपदेशकः' इत्यादि वाक्यप्रकटिता दीनता दैन्यं च क्व ? एतादृशं वचः

गान्धारी—पुत्र ! विलाप मत करो । (अब) तुम अकेले ही इस अन्धयुगल के मार्ग-दर्शक हो । इस लिये ईश्वर करे तुम चिरजीवी हो । हमें राज्य या विजय से क्या प्रयोजन ? ।

नूनं विचेष्टितमिदं सुतशोकस्य।

संजयः—महाराज ! किं वाऽयं लोकप्रवादो वितथः "न घटस्य कूपपतने रज्जुस्तत्रैव प्रक्षेप्तव्य" इति ?।

दुर्योधनः—अपुष्कलमिदम् । [1]ननूपक्रियमाणाऽभावे किमुपकरणेन ?। (इति रोदिति।)

श्रेष्ठक्षत्रियकुलप्रसूतानां भवद्विधानां राजमहिषीणां सर्वथाऽयोग्यमित्यर्थः। निर्गतं वत्सलं वात्सल्यं यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ हे निर्वत्सले ! त्वं हि सुतानां पुत्राणां शतस्य एतां विपत्तिमापत्तिं न अनुचिन्तयसि न विचारयसि, अयोग्यं नीचं मां च रक्षसि रक्षितुमिच्छसीति भवत्या अनुचितमिति भावः ।।३।।

महाराजेति—लोकप्रवादो लोकप्रसिद्धिः। वितथोऽसत्यः। यथा घटस्य कूपपतने घटे कूपे पतिते सति रज्जुस्तत्रैव कूपे न निक्षेप्तव्यस्तथा पुत्रशते मृते भवांस्तु इदानीं रक्षणीय एवेति भावः।

अपुष्कलमिति—इदं भवतो वचः सर्वथा अपुष्कलमश्रेयस्करम्। उपक्रियमाणस्य रक्षणीयस्य उपभोक्तुर्वा अभावे विनाशे सति उपकरणेन उपभोगसामग्र्या किं प्रयोजनमित्यर्थः ?।

दुर्योधन—हे माता ! ये दीनता-पूर्ण शब्द आपको शोभा नहीं देते। कहाँ आप जैसी योग्यक्षत्रियवीराङ्गना और कहाँ यह दीनता !। हे पुत्र स्नेह-शून्य-हृदये ! आप अपने सौ पुत्रों की मृत्यु की चिन्ता न करके मुझ अयोग्य को बचाने की चेष्टा कर रही हो। (क्या यह उचित है ?।) ।।३।।

वास्तव मे यह पुत्र-शोक का ही दुष्प्रभाव है।

संजय—महाराज ! क्या यह लोक-प्रवाद कि 'घड़े के कुए मे गिर जाने पर रस्सी को भी उसी मे नहीं फैंक देना चाहिये', झूठ है ?

दुर्योधन—यह (युक्ति) अपर्याप्त है। उपभोक्ता के न होने पर सामग्री के होने से क्या लाभ ! (इस प्रकार कह कर रोने लगता है।)

१. G. 'ननु' इति पा. नास्ति।

धृतराष्ट्रः—(दुर्योधनं परिष्वज्य) वत्स ! समाश्वसिहि, समाश्वासय चाऽस्मानिमामतिदीनां मातरं च ।

दुर्योधनः—तात ! दुर्लभः समाश्वास इदानीं युष्माकम् । किन्तु—

कुन्त्या सह युवामद्य मया निहतपुत्रया ।
विराजमानौ शोकेऽपि तनयाननुशोचतम् ॥४॥

दुर्योधनमिति—परिष्वज्य आलिङ्ग्य । समाश्वसिहि धैर्यं कुरु । इमामतिदीनां स्वमातरं च समाश्वासय सान्त्वय ।

कुन्त्येति—(अन्वयः) अद्य मया निहतपुत्रया कुन्त्या सह शोके अपि विराजमानौ युवाम् तनयान् अनुशोचतम् ॥

(व्याख्या) हे पितः ! अद्येदानीं मया दुर्योधनेन निहताः पुत्राः युधिष्ठिरादयो यस्यास्तया तथाभूतया कुन्त्या सह शोके अपि विराजमानौ दुःखमनुभवन्तावपि समानदुःखत्वेन तया सह शोभमानौ युवां तनयान् निजपुत्रान दुःशासनादीन अनुशोचतं चिन्तयतम् । अहं नूनमेवेदानीं युद्धे युधिष्ठिरादीन् पाण्डुपुत्रान् निहनिष्यामीत्यर्थः ॥४॥

धृतराष्ट्र—(दुर्योधन को छाती से लगा कर) पुत्र धैर्य धारण करो तथा मुझे एवं अपनी इस दीन माता को भी सान्त्वना दो ।

दुर्योधन—पिता जी ! अब आपके लिये धैर्य दुर्लभ है । किन्तु—

हाँ ! आज मेरे द्वारा कुन्ती-पुत्रों के मारे जाने पर आप दोनों इस शोकावस्था में भी (समान रूप से) कुन्ती के साथ विराजमान होकर अपने (मृत) पुत्रों की चिन्ता करें ॥४॥

गान्धारी—जाद ! एदं एव्व संपदं प्पभूतं जं तुमं वि दाव एक्को जीवसि[1]। [कं अण्णं अणुसोचिस्सम्[2]]। ता जाद ! [अकालो दे समरस्स]। प्पसीद। एसो दे अञ्जली[3]। णिवट्टेहि समरव्वावारादो। अपच्छिमं करेहि पिदुणो वअणम्।

(जात ! एतदेव साम्प्रतं प्रभूतं यत्त्वमपि तावदेको जीवसि। कमन्य-मनुशोचिष्यामि। तज्जात ! अकालस्ते समरस्य। प्रसीद। एष तेऽञ्जलिः। निवर्तस्व समरव्यापारात्। अपश्चिमं कुरु पितुर्वचनम्।)

धृतराष्ट्रः—वत्स ! शृणु वचनं तवाऽम्बाया मम च निहताऽशेष-बन्धुवर्गस्य। पश्य—

जातेति—साम्प्रतमिदानीमेतदेव प्रभूतं बहु अस्तीति शेषः, यद् एकस्त्वं जीवसि। सम्प्रति समरस्य युद्धस्य ते तव अकालोऽनवसरः। समरव्यापाराद् युद्धव्यवसायाद् इदानीं त्वं निवर्तस्व। अपश्चिममनु-ल्लङ्घनीयं पितुस्तातस्य वचनं कुरु पालय। तदनुसारं कार्यं कुरु इत्यर्थः।

वत्सेति—निहतः अशेषः समस्तो बन्धुवर्गो यस्य तस्य तथाभूतस्य मम निजाऽम्बाया मातुश्च वचनं शृणु।

गान्धारी—पुत्र ! इस समय यही पर्याप्त है कि तुम एक तो जीवित हो। मैं अब और किस की चिन्ता करूँ ? । इस लिये हे पुत्र ! यह तुम्हारे लिये युद्ध का समय नहीं है। मैं तुम्हारे सामने हाथ जोड़ती हूँ। अब तुम युद्ध करना छोड़ दो। अपने पिता की आज्ञा का पालन करो।

धृतराष्ट्र—पुत्र ! तुम अपनी माता का तथा मेरा, जिसके समस्त बन्धु-बान्धव (युद्ध में) मारे जा चुके हैं, कहना मानो। देखो—

---

१. G. 'णाणुसोचइदव्वो=(नानुशोचितव्यः)' इति पा.। २. कोष्ठा-न्तर्गतः पा. G. नास्ति। ३, G. 'सीसञ्जली (=शीर्षाञ्जलिः)' इति पा.।

दायादा न ययोर्बलेन गणितास्तौ द्रोणभीष्मौ हतौ,
कर्णस्याऽऽत्मजमग्रतः शमयतो भीतं जगत्फाल्गुनात् ।
वत्सानां निधनेन मे त्वयि रिपुः शेषप्रतिज्ञोऽधुना,
मानं वैरिषु मुञ्च तात ! पितरावन्धाविमौ पालय ॥५॥

दायादा इति—(अन्वयः) ययोः बलेन दायादाः न गणिताः, तौ द्रोणभीष्मौ हतौ; कर्णस्य आत्मजम् अग्रतः (एव) शमयतः फाल्गुनात् जगत् भीतम्; मे वत्सानां निधनेन अधुना (एव) रिपुः शेषप्रतिज्ञः (अस्ति); हे तात ! वैरिषु मानं मुञ्च, इमौ अन्धौ पितरौ पालय ;

(व्याख्या) ययोः द्रोणभीष्मयोर्बलेन दायमर्दन्ति आददते वा दायादाः पाण्डवाः न गणिताः न विचारिताः, तौ द्रोणभीष्मौ हतौ निधनं गतौ। कर्णस्य अङ्गराजस्य आत्मजं पुत्रं वृषसेनम अग्रतः कर्णस्य समक्षमेव शमयतो विनाशयतः फाल्गुनाद् अर्जुनात् जगत् भीतं त्रस्तं वर्तते। मे वत्सानां दुःशासनादीनां पुत्राणां निधनेन मृत्युना अधुना त्वयि एव त्वद्विषये एव रिपुर्भीमः शेषा अवशिष्टा प्रतिज्ञा यस्य स तथाभूतोऽस्तीति शेषः। हे तात ! वैरिषु शत्रुषु पाण्डवेषु मानं मुञ्च त्यज, इमौ अन्धौ पितरौ च पालय संरक्ष। शार्दूलविक्रीडितं छन्दः।

जिनके बल पर हम लोगों ने अपने हिस्सेदारों (=पाण्डवों) को भी कभी कुछ नहीं गिना वह द्रोण और भीष्म भी मारे गए। अङ्गराज कर्ण के सामने ही उसके पुत्र वृषसेन का वध करने वाले अर्जुन से समस्त जगत् भयभीत हो रहा है। मेरे (अन्य सब) पुत्रों के (युद्ध में) मारे जाने के कारण अब केवल एक तुम्हीं ऐसे बाकी बचे हो जिसके विषय में शत्रु की प्रतिज्ञा अभी पूरी नहीं हुई। इसलिये हे पुत्र ! अब शत्रुओं के विषय में अभिमान को त्याग कर अपने इन अन्धे माता-पिता की रक्षा करो ॥५॥

दुर्योधनः—तात अम्ब ! समरात् प्रतिनिवृत्य किं मया कर्तव्यम् ? ।

गान्धारी—जाद ! जं पिदा दे विउरो वा भणिस्सदि[1] [तं अनुचिट्ठ[2]] ।

(जात ! यत् पिता ते विदुरो वा भणिष्यति तदनुतिष्ठ ।)

सञ्जयः—राजन्[3] ! एवमिदम् ।

दुर्योधनः—सञ्जय ! अद्याऽप्युपदेष्टव्यमस्ति ?

सञ्जयः—राजन ! यावत् प्राणिति तावदुपदेष्टव्यभूमिर्विजिगीषुः प्रज्ञावताम् ।

संजयेति—अद्य सम्प्रत्यपि उपदेष्टव्यमुपदेशस्य विषयः कश्चिद् वशिष्टोऽस्ति किम ? ।

राजन्निति—विजिगीषुर्यावत् प्राणिति जीवति तावदेव स प्रज्ञावतां बुद्धिमतामुपदेष्टव्यस्य उपदेशविषयस्य भूमिरस्तीति शेषः ।

दुर्योधन—हे पिता तथा हे माता ! अब मैं युद्ध से विरत होकर भी क्या करूँगा ?

गान्धारी—पुत्र ! जो तुम्हारे पिता जी या विदुर जी कहें वही करो ।

संजय—राजन् ! यह सर्वथा उचित है ।

दुर्योधन—सञ्जय ! क्या अभी भी कुछ उपदेश देना बाकी है !

सञ्जय—राजन् ! राजा जब तक जीवित रहता है तभी तक वह बुद्धिमान् मनुष्यों के उपदेश का पात्र है ।

---

१. G. 'भणादि' इति पा. । २. कोष्ठान्तर्गतः पा. G. नास्ति। ३. G. 'देव !' इति पा.

दुर्योधनः—(सक्रोधम्) शृणुमस्तावद् भवत एव प्रज्ञावतोऽस्मान् प्रति प्रतिरूपमुपदेशम् ।

धृतराष्ट्रः—वत्स ! युक्तवादिनि सञ्जये किमत्र क्रोधेन ? । यदि प्रकृतिमापद्यसे[1] तदहमेव भवन्तं ब्रवीमि । श्रूयताम्[2]—

दुर्योधनः—कथयतु तातः ।

धृतराष्ट्रः—वत्स ! किं विस्तरेण, संधत्तां भवानिदानीमपि युधिष्ठिरमीप्सितपणबन्धेन ।

सक्रोधमिति—क्रोधेन सहितं सक्रोधम् । भवतस्त्वैव प्रज्ञावतो बुद्धिमतः प्रतिरूपमनुरूपमुपदेशं तावत् शृणुम आकर्णयामः ।

वत्सेति—युक्तमुचितं वदतीति तस्मिन् युक्तवादिनि सञ्जये क्रोधेन किं प्रयोजनमित्यर्थः । यदि त्वं प्रकृतिं शान्तचित्तताम्, शान्तिमित्यर्थः, आपद्यसे प्राप्नोषि तदाऽहमेव भवन्तं त्वां किञ्चिद् ब्रवीमि कथयामि ।

कि विस्तरेणेति—इदानीमपि भवान् ईप्सितपणबन्धेनाऽभीष्टपणेन, पञ्चभिर्ग्रामैरेवेत्यर्थः, युधिष्ठिरं संधत्तां तेन सह सन्धिं करोतु । सम्प्रत्यपि पञ्च ग्रामान् दत्त्वा युधिष्ठिरेण सह सन्धिं करोत्विति भावः ।

दुर्योधन—(क्रोध में भर कर) अच्छा तो हम भी ज़रा सुनें कि तुझ बुद्धिमान् का ही हमारे लिये (पहले) क्या उचित उपदेश है !

धृतराष्ट्र—पुत्र ! उचित बात कहने वाले सञ्जय पर क्रोध करने की क्या आवश्यकता है ? यदि तुम शान्त होकर (सुनो) तो मैं ही तुम्हें कुछ (उचित बात) बताता हूं । सुनो—

दुर्योधन—पिता जी ! कहिये ।

धृतराष्ट्र—पुत्र ! विस्तार से क्या लाभ है, तुम युधिष्ठिर (की पांच गावों) की शर्त मान कर उससे सन्धि कर लो ।

१. G. '०पद्यते' इति पा. । २. G. अयं पा. नास्ति ।

दुर्योधनः—तात ! तनयस्नेहवैक्लव्यादम्बा, बालिशत्वेन सञ्जयश्च काममेवं ब्रवीतु । युष्माकमप्येवं व्यामोहः ! । अथवा प्रभवति पुत्र-नाशजन्मा हृदयज्वरः । अन्यच्च तात ! अस्खलितभ्रातृशतः अहं यदा तदाऽवधीरितवासुदेवसामोपन्यासः । सम्प्रति हि दृष्टपितामहा-ऽऽचार्याऽनुजराजचक्रविपत्तिः स्वशरीरमात्रस्नेहादुदात्तपुरुषव्रीडावह मसुखावसानं च कथमिव करिष्यति दुर्योधनः सह पाण्डवैः सन्धिम् ? ।

तातेति—तनयेषु पुत्रेषु यः स्नेहस्तेन यद् वैक्लव्यं विह्वलत्वं तस्माद् अम्बा माता, बालिशत्वेन बालभावाद् सञ्जयश्च एवं कातरं वचो ब्रवीतु नाम, परं युष्माकं भवतामेवंविधं कातरत्वं न शोभते । व्यामोहो विह्वलत्वं व्याकुलत्वं वा । पुत्रनाशात् जन्म यस्य स तथाभूतो हृदय-ज्वरः प्रभवति मानवं वशीकरोति । अस्खलितमविच्छिन्नं, जीवित-मित्यर्थः, भ्रातृणां शतमस्याऽसौ तथाभूतोऽहं दुर्योधनः अवधीरित-स्तिरस्कृतो वासुदेवस्य कृष्णस्य सामोपन्यासः शान्तिप्रस्तावो येन स तथाभूत आसमिति शेषः । सम्प्रतीदानीं तु दृष्टा पितामहस्य आचार्यस्य अनुजस्य दुश्शासनस्य राजचक्रस्य च विपत्तिर्येन स तथा-भूतो दुर्योधनः निजशरीरमात्रस्य स्नेहान् उदात्तपुरुषाणां महापुरुषाणां व्रीडावहं लज्जाकरम् असुखमवसानं यस्य तमसुखावसानं परिणामे दुःखप्रदं सन्धिं पाण्डवैः युधिष्ठिरादिभिः सह कथमिव करिष्यति, न कदापि करिष्यतीति भावः ।

दुर्योधन—पिता जी ! पुत्र-स्नेह से व्याकुल होने के कारण माता जी तथा मूर्खता के कारण सञ्जय यदि ऐसी बातें कहें (तो कोई बात नहीं ।) परन्तु क्या आपको भी इस प्रकार मोह हो गया है ? । अथवा पुत्र-विनाश से उत्पन्न हार्दिक वेदना मनुष्य को अभिभूत कर ही लेती है । पिता जी ! दूसरी बात यह है कि जब सौ भाई जीवित थे उसी समय दुर्योधन ने कृष्ण के सन्धि-प्रस्ताव को ठुकरा दिया फिर अब वह (अपनी आखों से) पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण, अपने सौ भाई, तथा समस्त सामन्त-समूह की मृत्यु को देखकर

अन्यच्च नयवेदिन् सञ्जय !

हीयमानान् किल रिपून् नृपाः संदधते कथम् ? ।
दुःशासनेन हीनोऽहं सानुजः पाण्डवोऽधुना ? ॥६॥

धृतराष्ट्रः—वत्स ! एवंगतेऽपि मत्प्रार्थनया किन्न करोति युधिष्ठिरः ? । अन्यच्च सर्वमेवाऽपकृतं[1] नानुमन्यते ।

हीयमानानिति—(अन्वयः) हीयमानान् रिपून् नृपाः कथं संदधते किल ? । अधुना अहं दुःशासनेन हीनः, पाण्डवः (च) सानुजः ।

(व्याख्या) हे संजय ! हीयमानान् क्षीणशक्तीन् रिपून् शत्रून् नृपाः शक्तिशालिनो राजानः कथं संदधते सन्धिं कुर्वन्ति ? ! किलेति निश्चयार्थेऽव्ययम् । अर्थात् क्षीणबलैर्निश्चितमेव न कश्चिदपि शक्तिशाली संधिं करोतीत्यर्थः । अधुना इदानीमहं हि दुःशासनेन निजभ्रात्रा हीनः, पाण्डवः पाण्डुपुत्रो युधिष्ठिरश्च अनुजैः सहितः सानुजः । अतो हीनबलेन मया सह स कथं सन्धिं करिष्यति ? न कदापीत्यर्थः ।

वत्सेति—एवं गतेऽपि त्वत्कथनस्य यथार्थत्वेऽपि मत्प्रार्थनया मद्वचनेन युधिष्ठिरः किं न करोति ? अर्थात् सर्वमेव करोति । एवं च मां प्रत्यादरभावात् स मत्कथनेन त्वया सह सन्धिं कर्तुमवश्यमेव उद्युक्तो भविष्य-

भी केवल अपने शरीर के प्रेम के कारण महापुरुषों के लिये लज्जास्पद तथा अन्त में अत्यन्त हानिकारक पाण्डवों के साथ इस सन्धि को कैसे स्वीकार कर सकता है ?

और हे नीतिज्ञ सञ्जय ! (विजयी) राजा (अपने) हारते हुए शत्रुओं से सन्धि कैसे कर सकते हैं ? दुःशासन (की मृत्यु) के कारण मैं इस समय हारा हुआ हूँ और पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर अपने भाइयों से युक्त होने के कारण विजयी है ॥६॥

धृतराष्ट्र—पुत्र ! यह सब कुछ ठीक होने पर भी मेरे प्रार्थना करने पर

१. G. "दैवापकृष्टम्" इति पा. ।

दुर्योधनः—कथमिव ?

धृतराष्ट्रः—वत्स ! श्रूयतां प्रतिज्ञा युधिष्ठिरस्य – 'नाऽहमेकस्यापि भ्रातुविपत्तौ प्राणान् धारयामी' ति। बहुच्छलत्वात् संग्रामस्याऽनुजनाशमाशङ्कमानो यदैव भवते रोचते तदैवासौ सज्जः सन्धातुम् ।

सञ्जयः—एवमिदम् ।

तीति भावः । अन्यच्च अपरं च युधिष्ठिरो मत्प्रेम्णा धार्मि॰ कृत्वाच्च त्वत्कृतं सर्वमेव अपकृतमनिष्टं नाऽनुमन्यते न विचार॰ति । अतोऽवश्यमेव सन्धिप्रस्तावं स्वीकरिष्यतीति भावः ।

श्रूयतामिति—'एक॰ऽपि अनुजस्य विपत्तौ निधने सति अहं प्राणान् न धारयामि, त्यक्ष्यामीत्यर्थः, इत्येवं युधिष्ठिरस्य प्रतिज्ञा वर्तते। संग्रामस्य च कपटमयत्वेन प्रतिपदमनुजनिधनमाशङ्कमानो युधिष्ठिरो यदैव भवते रोचते यदैव त्वमिच्छसि तदैव सन्धातुं त्वया सह सन्धि कर्तुं सज्जः सन्नद्धो भवेदित्यर्थः ।

युधिष्ठिर क्या नहीं करेगा ? ! और दूसरी बात यह है कि युधिष्ठिर तुम्हारे इन समस्त अपकारों को तनिक भी मन में नहीं लाएगा ।

दुर्योधन— वह कैसे ?

धृतराष्ट्र—पुत्र ! सुनिये, युधिष्ठिर की प्रतिज्ञा है कि "एक भी भाई की मृत्यु हो जाने पर मैं जीवित नहीं रहूँगा ।" इसलिये युद्ध-व्यापार के अनेक छल-कपटों से परिपूर्ण होने के करण अपने भाइयों के विनाश की आशङ्का से भय-भीत युधिष्ठिर जब तुम चाहोगे तभी सन्धि करने के लिये तैयार हो जाएगा ।

सञ्जय—यह ठीक है ।

गान्धारी—जाद ! उपपत्तिजुत्त पडिवज्जस्स पिदुणो वअणम् ।
(जात ! उपपत्तियुक्त प्रतिपद्यस्व पितुर्वचनम् ।)
दुर्योधनः—तात ! अम्ब ! सञ्जय !

एकेनाऽपि विनाऽनुजेन मरणं पार्थः प्रतिज्ञातवान्,
भ्रातॄणां निहते शते विषहते दुर्योधनो जीवितुम् ? ।
तं दुःशासनशोणिताशनमरिं भिन्नं गदाकोटिना,
भीमं दिक्षु न विक्षिपामि, कृपणः सन्धिं विदध्यामहम् ? ॥७॥

जातेति—हे जात ! हे पुत्र ! उपपत्त्या सद्युक्त्या युक्तं स्वपितुर्वचनं प्रतिपद्यस्व कुरु, पालयेत्यर्थः ।

एकेनापीति—(अन्वयः) पार्थः एकेनाऽपि अनुजेन विना मर प्रतिज्ञातवान् । दुर्योधनः भ्रातॄणां शते विहते (अपि) जीवितुं विषहते ? । दुःशासनशोणिताशनम् तम् अरिं भीमं गदाकोटिना भिन्नं दिक्षु न विक्षिपामि ? । कृपणः अहं सन्धिं विदध्याम् ? ॥

(व्याख्या) पृथायाः पुत्रः पार्थो युधिष्ठिरः एकेनाऽपि अनुजेन भ्रात्रा विना, एकस्याऽप्यनुजस्य निधने सतीत्यर्थः मरणं प्रतिज्ञातवान् निज-मृत्योः प्रतिज्ञां कृतवानित्यर्थः । दुर्योधनो भ्रातॄणां शते निहते मृत्युं प्रापितेऽपि जीवितुं विषहते शक्नोति ! न कदापीति काक्वा व्यज्यते । दुःशासनस्य शोणितं रुधिरमशनं भोजनं यस्य तं तथाभूतं तमरिं शत्रुं भीमं गदायाः कोटिनाऽग्रभागेन भिन्नं, भित्त्वेत्यर्थः, दिक्षु इतस्ततो न विक्षिपामि किम् ? । अवश्यमेव विक्षिपामीत्यर्थः । कृपणो दीनो भूत्वाऽहं दुर्योधनः निजशत्रुभिः पाण्डवैः किं सन्धिं विदध्यां

गान्धारी—पुत्र ! अपने पिता के इन युक्ति-युक्त वचनों को स्वीकार करो ।

दुर्योधन—पिता जी !, माता जी ! तथा सञ्जय ! युधिष्ठिर ने तो अपने एक भाई की मृत्यु हो जाने पर भी मरने की प्रतिज्ञा की है और दुर्योधन सौ

गान्धारी—हा जाद दुस्सासण ![1] हा दुम्मरिसण ! हा विकण्ण ! हा वीरसदप्पसविणी गान्धारी दुःखसदं प्पसूदा ण[2] सुदसदम् ।

(हा जात दुःशासन ! हा दुर्मर्षण ! हा विकर्ण ! हा वीरशतप्रसविनी गान्धारी दुःखशतं प्रसूता न सुतशतम् ।)

(सर्वे रुदन्ति)

कुर्याम् ? न कदापीति भावः। शार्दूलविक्रीडितं छन्दः, 'सूर्याश्वैर्यदि मासजः सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' इति तल्लक्षणात् ॥७॥

हा जातेति—दुर्मर्षणो विकर्णश्च दुर्योधनस्य भ्रातरौ आस्ताम् । वीराणां शतं प्रसूते, इति वीरशतप्रसविनी वीरशतजननी । उपपद-समासः । दुःखानां शतम् । प्रसूता प्रसूतवती । कर्तरि क्तः प्रत्ययः ।

भाइयों के मर जाने पर भी जीवित रहने का साहस करें ? । क्या मैं उस शत्रु (भीम) को, जिसने दुःशासन के रुधिर का पान किया, (अपनी इस) गदा के अग्रभाग से छिन्न-भिन्न करके भिन्न-भिन्न दिशाओं इधर-उधर नहीं फैकूँगा ? । क्यों मैं दीन बन कर उसके साथ सन्धि करूँगा (कभी नहीं) ॥७॥

गान्धारी—हा पुत्र दुःशासन ! हा दुर्मर्षण ! हा विकर्ण ! हाय ! सौ वीरों को उत्पन्न करने वाली (इस अभागिनी) गान्धारी ने सौ दुःखों को जन्म दिया है, सौ पुत्रों को नहीं ।

(यह विलाप सुनकर सब रोने लगते हैं ।)

१. G. इतोऽग्रे 'हा मदङ्कदुल्ललिद, हा जुअराअ, अस्सुदपुव्वा क्खु कस्स वि लोए ईदिसी विपत्ती (=हा मदङ्कदुर्ललित, हा युवराज, अश्रुतपूर्वा खलु कस्यापि लोके ईदृशी विपत्तिः।)" इत्यधिकः पा. ।　　२. G. इतोऽग्रे 'उण (=पुनः)' इत्यधिकः पा. ।

सञ्जयः—(वाष्पमुत्सृज्य) तात ! अम्ब ! प्रतिबोधयितुं महाराजमिमां भूमिं युवामागतौ । तदात्माऽपि तावत् संस्तभ्यताम् ।

धृतराष्ट्रः—वत्स दुर्योधन ! एवं विमुखेषु भागधेयेषु त्वयि चाऽमुञ्चति सहजं [1]मानबन्धमरिषु त्वदेकशेषजीविताऽऽलम्बनेयं तपस्विनी गान्धारी कमवलम्बतां शरणमहं च ? !

दुर्योधन :—श्रूयताम् यत् प्रतिपत्तुमिदानीं प्राप्तकालम्—

तातेति—महाराजं दुर्योधनं प्रतिबोधयितुं सान्त्वयितुं युवामिहाऽऽगतौ । अतो युवाभ्यां स्वीयात्मा तावत् संस्तभ्यताम् स्थिरीक्रियताम् ।

वत्सेति—त्वयि दुर्योधने अरिषु शत्रुषु विषये सहजं स्वाभाविकं मानबन्धमहंकारममुञ्चति अत्यजति सति त्वमेव एकः शेषः जीवितस्य जीवनस्य अवलम्बनमाश्रयो यस्याः सा तथाभूतेयं तव माता कं शरणं रक्षितारमवलम्बतामाश्रयतु अहं च कमाश्रये इति त्वमेव कथय ।

श्रूयतामिति—प्रतिपत्तुं विधातुं, कर्तुमित्यर्थः । प्रति √ पद् + तुमुन् ।

सञ्जय—(आँसू बहाते हुए) पिता जी ! माता जी ! आप तो महाराज को समझाने के लिये यहाँ आए हैं। इस लिये आप अपनी आत्मा को पहले स्थिर कीजिये ।

धृतराष्ट्र—पुत्र दुर्योधन ! भाग्य के इस प्रकार विपरीत होने पर और शत्रुओं के विषय मे तुम्हारे इस स्वाभाविक अभिमान के त्याग न करने पर मैं तथा यह ग़रीब तुम्हारी माता गान्धारी, जिस के अब तुम्हीं एकमात्र अवलम्ब अवशिष्ट हो, किस की शरण में जाएँ ?

दुर्योधन—(पिता जी !) स्थिति के अनुसार इस समय हमें जो करना चाहिये, वह सुनिये—

---

१. G. 'मानम्' इत्येव पा. ।

कलितभुवना भुक्तैश्वर्यास्तिरस्कृतविद्विषः,
प्रणतशिरसां राज्ञां चूडासहस्रकृताऽर्चनाः ।
अभिमुखमरीन् सङ्ख्ये घ्नन्तो[1] हताः शतमात्मजाः,
वहतु सगरेणोढां तातो धुरं सहितोऽम्बया ॥८॥

कलितभुवनेति—(अन्वयः) कलितभुवनाः भुक्तैश्वर्याः तिरस्कृतविद्विषः प्रणतशिरसां राज्ञां चूडासहस्रकृतार्चनाः संख्ये अरीन् घ्नन्तः शतम् आत्मजाः अभिमुखं हताः । (अतः) अम्बया सहितः तातः सगरेण ऊढां धुरं वहतु ।

(व्याख्या) कलितं स्ववशीकृतं भुवनं जगद् यैस्ते, भुक्तमैश्वर्यं प्रभुत्वं यैस्ते, तिरस्कृता विजिता विद्विषः शत्रवो यैस्ते, प्रणतानि नम्राणि शिरांसि येषां तेषां राज्ञां भूभुजां चूडासहस्रैर्मौलिसहस्रैः कृतं विहितमर्चनं पूजनं येषां ते तथाभूताः, संख्ये युद्धे अरीन् रिपून् घ्नन्तो विनाशयन्तोऽभिमुखं भवतां समक्षमेव शतं शतसंख्याका आत्मजाः पुत्रा हताः । अतोऽम्बया मात्रा सहितस्तातः पिता, भवानित्यर्थः, सगरेण सूर्यवंशोद्भवेन महाराजेन ऊढां प्राप्तां धुरं ख्यातिं वहतु अधिगच्छतु, धारयतु इत्यर्थः । हतषष्टिसहस्रपुत्रसगरवद् भवानपि मृतशतपुत्रतया संसारे ख्यातिं प्राप्नोतु इति भावः । अत्रायं निष्कर्षः—शत्रुणा सह सन्ध्यादिप्रस्तावे कृते लोके तव कीर्तिः सर्वथा धूलिसाद् भविष्यति । अतोऽत्र सन्धिप्रस्तावं त्यक्त्वा युद्धमेव श्रेयः । इत्थं च तव कीर्तिरपि संसारे सगरवद् अमरतां लप्स्यत इति भावः । हरिणीवृत्तं, 'नसमरसलाः गः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता' इति तल्लक्षणात् ॥८॥

आप के सौ पुत्र, जिन्होंने समस्त भूमण्डल को अपने वश में कर रखा था, जिन्हें संसार के समस्त ऐश्वर्य प्राप्त थे तथा हज़ारों राजा मस्तक झुका कर

[1]. 'घ्नतः' इति पा. ।

विपर्यये त्वम्याऽधिपतेरुल्लंघितः क्षात्रधर्मः स्यात् ।

(नेपथ्ये महान् कलकलः ।)

गान्धारी—(आकर्ण्य सभयम्) सञ्जय ! कहि[1] एदं हाहाकारमिस्सं तूररसिदं सुणीअदि ? ।

(सञ्जय ! कुत्रैतद्धाहाकारमिश्रं तूर्यरसितं श्रूयते ? ।)

सञ्जयः—अम्ब ! भूमिरियमेवंविधानां भीरुजनत्रासजननी महानिनादानाम् ।

विपर्यय इति—अस्य-विपर्यये भयाद् युद्धं परित्यज्य शत्रुणा सन्धि-प्रस्तावे तु अधिपतेः राज्ञः क्षात्रधर्मस्य उल्लंघनं स्यादित्यर्थः ।

अम्बेति—महान्तश्च ते निनादाः शब्दास्तेषामियं भूमिः संग्राम-भूमिर्भीरुजनेभ्यः कातरजनेभ्यस्त्रासं भयं जनयतीति सा तथाभूता अस्तीति शेषः ।

जिनकी वन्दना किया करते थे, युद्ध-भूमि में शत्रुओं को मारते हुए (आपके) सम्मुख ही वीरगति को प्राप्त हो गए हैं । अतः अब आप भी माता जी के साथ इस संसार मे महाराजा सगर के द्वारा प्राप्त की गई ख्याति को प्राप्त करें ॥८॥

और इसके विपरीत (=सन्धि-प्रस्ताव) करने पर राजा के क्षात्र-धर्म का उल्लङ्घन होगा ।

(नेपथ्य में महान् कोलाहल होता है)

गान्धारी—(सुनकर भयपूर्वक) सञ्जय ! हाहा-कार-मिश्रित यह तुरही का शब्द कहाँ हो रहा है ?

सञ्जय—माता जी ! भीरु जनों को भयभीत करने वाली इस युद्ध-भूमि में इस प्रकार के भीषण शब्द होते ही रहते हैं ।

१. गु. 'किम्' इति पा. ।

धृतराष्ट्रः—वत्स सुञ्जय ! ज्ञायतामतिभैरवः खलु विस्तारी हाहारवः। कारणेनाऽस्य महता भवितव्यम्।

दुर्योधनः—तात ! प्रसीद। पराङ्मुखं खलु दैवमस्माकम्। यावदपरमपि किञ्चिदत्याहितं न श्रावयति तावदेवाऽऽज्ञापय मां सङ्ग्रामाऽऽवतरणाय।

गान्धारी—जाद ! मुहुत्तअं दाव मं मन्दभाइणीं समस्सासेहि।

(जात ! मुहूर्तकं तावन्मां मन्दभागिनी समाश्वासय।)

वत्सेति—अतिभैरवोऽतिभयंकरो विस्तारी महान् हाहारवो हाहाकारशब्दो ज्ञायताम्। 'कुत आयाति, कथं वा जायते' इति ज्ञायतामित्यर्थः।

तातेति—हे तात ! प्रसीद दयां कुरु। दैवं भाग्यमस्माकं पराङ्मुखं प्रतिकूलम्। अतस्तद् भाग्यं यावदस्मान् अपरमन्यदपि किञ्चिदत्याहितमनिष्टं न श्रावयति कर्णगोचरतां नोपनयति तावदेव कृपया मां संग्रामेऽवतरणाय गमनाय आज्ञापयेत्यन्वयः।

धृतराष्ट्र—पुत्र सञ्जय ! (जाकर) पता लगाओ, यह तो बड़ा भीषण तथा विस्तृत हाहाकार का शब्द हो रहा है। अवश्य इसका कोई विशेष कारण है।

दुर्योधन—पिता जी ! कृपा कीजिये। (आज कल) भाग्य हमारे विपरीत है। जब तक यह (=भाग्य) और कोई अनिष्ट बात नहीं सुनाता तब तक ही (=उससे पहले ही) आप मुझे युद्ध में जाने की आज्ञा दीजिये।

गान्धारी—पुत्र ! क्षणभर के लिये (ठहर कर) मुझ अभागिनी को सान्त्वना दो।

धृतराष्ट्रः—वत्स ! यद्यपि भवान् समराय कृतनिश्चयस्तथापि रहः परप्रतीघातोपायश्चिन्त्यताम् ।

दुर्योधनः—

प्रत्यक्षं हतबान्धवा मम परे हन्तुं न योग्या रहः,
किं वा तेन कृतेन तैरिव[1] कृतं यन्न प्रकाश्यं रणे । ?

गान्धारी—जाद ! एआइ तुमम्, को दे सहाअत्तणं करिस्सदि ?
(जात ! एकाकी त्वम्, कस्ते साहाय्यं करिष्यति ? ।)

दुर्योधनः—

एकोऽहं जगतीत्रयक्षयकरो मातः ! कियन्तोऽरयः,
[2]साह्यं केवलमेतु दैवमधुना निष्पाण्डवा मेदिनी । ९॥

वत्सेति—समराय युद्धाय कृतो निश्चयो येन स तथाभूतः । परेषां शत्रूणां यः प्रतीघातः प्रत्याघातस्तस्योपायः पूर्वं रहः एकान्ते चिन्त्यतां विचार्यताम् ।

प्रत्यक्षमिति—(अन्वयः) प्रत्यक्षं हतबान्धवाः परे मम रहः हन्तुं न योग्याः । यत् तैः इव रणे प्रकाश्यं न कृतम्, तेन कृतेन किम् ? । हे मातः ! अहम् एक एव जगतीत्रयक्षयकरः, अरयः कियन्तः ? । दैवमेव केवलम् अधुना साह्यम् एतु, मेदिनी निष्पाण्डवा (भविष्यति) ।

(व्याख्या) प्रत्यक्षं समक्षमेव हता बान्धवा यैस्ते तथाभूताः परे शत्रवः, पाण्डवा इत्यर्थः, मम, मयेत्यर्थः, 'कृत्यानां कर्तरि वा' इति

धृतराष्ट्र—पुत्र ! यद्यपि तुमने युद्ध के लिये पूर्ण निश्चय कर लिया है तथापि (युद्ध में जाने से पूर्व) गुप्तरूप से शत्रु पर प्रत्याघात करने का कोई उपाय सोचो ।

दुर्योधन—(पिता जी) जिन शत्रुओं ने मेरे बन्धुओं को मेरे सामने मारा

१. गु. 'इह' इति पा. २. गु. 'साम्यम्' इति पा. ।

(नेपथ्ये कलकलानन्तरम्)

भो भो योधाः ! निवेदयन्तु भवन्तः कौरवेश्वराय इदं महत्कदनं प्रवृत्तम्। अलमप्रियश्रवणपराङ्मुखतया। यतः कालानुरूपं प्रतिविधातव्य-मिदानीम्। तथाहि—

कर्तेरि षष्ठी, रह एकान्ते हन्तुं विनाशयितुं न योग्याः, यत् कर्म तैः शत्रुभिः पाण्डवैरिव रणे प्रकाश्यं प्रकाशरूपेण न कृतं विहितं तेन कर्मणा कृतेन किम् प्रयोजनम् ?, न किमपीत्यर्थः। हे मातः ! अहं दुर्योधन एक एकाकी सन्नपि जगतीत्रयस्य भुवनत्रयस्य यः क्षयो विनाशस्तस्य करः कर्ता अस्मीति शेषः। अरयः शत्रवः पाण्डवाः कियन्तः ? स्वल्पा एव सन्तीत्यर्थ। दैवं भाग्यमेव केवलम् अधुनेदानीं मे साह्यं साहाय्यमेतु गच्छतु। तथा स्ति त्वरितमेव मेदिनी निष्पाण्डवा पाण्डवैर्हीना भविष्यतीति शेषः। दैवेऽनुकूलेऽहमेक एव पाण्डवान् विनाशयितुं क्षम इत्यर्थः। शार्दूलविक्रीडितं छन्दः, "सूर्याश्वैर्यदि मासजः सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्" इति तल्लक्षणात्। ६॥

निवेदयन्तु इति—कौरवाणामीश्वरस्तस्मै दुर्योधनाय। कदनमनिष्ट-मनर्थो वा। अप्रियस्य यत् श्रवणं तस्मात् पराङ्मुखस्तस्य भावस्तया अप्रियश्रवणपराङ्मुखतयाऽनिष्टश्रवणविमुखतया अलम्। कालाऽनुरूपं समयानुकूलमिदानीं प्रतिकर्तव्यम्।

है, वे गुप्तरूप से मारने के योग्य नहीं हैं। युद्ध-स्थल में जो कार्य उन्हीं के समान प्रकाशरूप में न किया जाय उसके करने से क्या लाभ है ?

गान्धारी—पुत्र ! तुम अकेले हो, तुम्हारी सहायता कौन करेगा ?

दुर्योधन—माता जी ! मैं अकेला ही त्रिभुवन का विनाश कर सकता हूँ। शत्रु कितने हैं ? ! केवल दैव अनुकूल चाहिये। यह समस्त पृथिवी अब पाण्डव-विहीन हो जाएगी ॥६॥

(नेपथ्य में कोलाहल के उपरान्त)

हे योद्धाओ ! आप सब लोग (जा कर) कौरवेश्वर महाराज दुर्योधन से

त्यक्तप्राजनरश्मिरङ्किततनुः पार्थाङ्कितैर्मार्गणै-
र्वाहैः स्यन्दनवर्त्मनां परिचयादाकृष्यमाणः शनैः ।
वार्तामङ्गपतेर्विलोचनजलैरावेदयन् पृच्छतां,
शून्येनैव रथेन याति शिविरं शल्यः कुरूञ्छल्ययन् ॥१०॥

त्यक्तप्राजनेति—(अन्वयः) त्यक्तप्राजनरश्मिः पार्थाङ्कितैः मार्गणैः अङ्किततनुः स्यन्दनवर्त्मनां परिचयात् वाहैः शनैः आकृष्यमाणः पृच्छतां लोचनजलैः अङ्गपतेः वार्ताम् आवेदयन् शल्यः कुरून् शल्ययन् शून्येनैव रथेन शिविरं याति ॥

(व्याख्या) त्यक्तौ प्राजनं तोदनं रश्मिः प्रग्रहश्च येन सः, पार्थेन पार्थस्य नाम्नेत्यर्थः, अङ्कितैश्चिह्नितैः मार्गणैर्बाणैः अङ्किता तनुर्यस्य सः, स्यन्दनस्य रथस्य वर्त्मनां मार्गाणां परिचयात् ज्ञानाद् वाहैरश्वैः शनैर्मन्दं मन्दं आकृष्यमाणो नीयमानः पृच्छतां, कर्णस्य वृत्तान्तमिति शेषः, लोचनजलैर्नेत्रजलैः, अश्रुभिरित्यर्थः, अङ्गपतेरङ्गराजस्य कर्णस्य वार्तां वृत्तान्तमावेदयन् सूचयन् शल्यः कुरून् कौरवान् शल्ययन् व्यथयन् शून्येनैव रथेन शिविरं याति गच्छति । शार्दूलविक्रीडितं छन्दः, 'सूर्याश्वैर्यदि मासजः सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' इति तल्लक्षणात् ॥१०॥

कह दो कि बड़ा ही अनर्थ हो गया है। इस अनिष्ट बात के सुनने से पराङ्मुख होने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि अब समयानुकूल प्रतीकार करना आवश्यक है। क्योंकि—

कोड़े तथा घोड़ों की रस्सियों को छोड़कर अर्जुन के नाम से अङ्कित बाणों से चिह्नित-शरीर शल्य, जिसे घोड़े रथ के मार्ग का ठीक-ठीक परिचय होने के कारण शनैः-शनैः रथ में खींचे लेजा रहे हैं, (मार्ग में) पूछने वाले लोगों को आँसुओं द्वारा अङ्गराज कर्ण का समाचार बताते हुए कौरवों को शल्य (=कांटा) के समान बींधता हुआ खाली रथ लिए शिविर की ओर जा रहा है ॥१०॥

दुर्योधनः—(श्रुत्वा साशङ्कम्) आः ! सूत ! केनेदमविस्पष्टमशनिपातदारुणमुद्घोषितम् । [ज्ञायताम्] कः कोऽत्र भोः ? ।

(प्रविश्य सम्भ्रान्तः)

सूतः—हा ! हताः स्मः । (इत्यात्मानं पातयति ।)

दुर्योधनः—अयि ! कथय, कथय[1] ? ।

धृतराष्ट्रसञ्जयौ—कथ्यतां कथ्यताम् ।

सूतः—आयुष्मन् ! किमन्यत् ?

शल्येन यथा शल्येन मूर्च्छितः प्रविशता जनौघोऽयम् ।
शून्यं कर्णस्य रथं मनोरथमिवाधिरूढेन ॥११॥

सूतेति—अशनेर्वज्रस्य यः पातस्तद्वद् दारुणं कठिनं यथा स्यात्तथा-ऽविस्पष्टमस्फुटं च, द्वयमेव क्रियाविशेषणम्, केनेदमुद्घोषितम् ? केनेयं घोषणा कृतेत्यर्थः ।

शल्येनेति—(अन्वयः) अयं जनौघः यथा शल्येन प्रविशता मनोरथमिव शून्यं कर्णस्य रथम् अधिरूढेन शल्येन मूर्च्छितः ।

(व्याख्या) अयं जनौघो जनसमूहः कौरवसेनासमूहः यथा शल्येन शल्येनेव, एतन्नामकेनाऽस्त्रविशेषेणेत्यर्थः, प्रविशता एतं जनसमूहं

दुर्योधन—(सुनकर शङ्कित भाव से) आः ! सूत । यह अस्पष्ट एवं वज्रपात के समान दारुण घोषणा किसने की है ? [इसका पता लगाओ ।] अरे ! यहा कौन है ?

[घबराए हुए प्रवेश करके]

सूत—हाय ! मारे गए । (इस प्रकार कह पृथ्वी पर गिर पड़ता है।)

धृतराष्ट्र और सञ्जय—कहो कहो, क्या बात है ? ।

सूत—आयुष्मन् ! और क्या है !

यह समस्त जनसमूह हमारे मनोरथ के समान कर्ण के शून्य रथ में बैठकर

1. G. द्विरावृत्तिर्नास्ति ।

दुर्योधनः—हा वयस्य कर्ण ! (इति मोहमुपगतः ।)

गान्धारी—जाद ! समस्सस, समस्सस ।

(जात ! समाश्वसिहि, समाश्वसिहि ।)

सञ्जयः—समाश्वसितु, समाश्वसितु देवः ।

धृतराष्ट्रः—भोः ! कष्टं कष्टम् ।

भीष्मे द्रोणे च निहते य आसीदवलम्बनम् ।
[1]वत्सस्य च सुहृच्छूरो राधेयः सोऽप्ययं गतः ॥१२॥

प्रविशता प्रवेशं कुर्वता शून्यं कर्णविरहितं कर्णस्याऽङ्गपतेः रथमधिरूढेन अधिष्ठितेन शल्येन मद्रराजेन मूर्च्छितो मूर्च्छामुपनीतः ॥ शल्यस्य शून्यं रथं विलोक्य सर्वेऽपि सैनिका मूर्छितप्रायाः अभवन्नित्यर्थः ॥११॥

भीष्म इति—(व्याख्या) भीष्मे द्रोणे च शत्रुभिः पाण्डवैर्निहते मृत्युं प्रापिते सति वत्सस्य मे पुत्रस्य दुर्योधनस्य यः शूरो वीरः राधाया अपत्यं पुमान् राधेयोऽङ्गराजः कर्णः, 'स्त्रीभ्यो ढक्' इति ढक् (>एय) प्रत्ययः, अवलम्बनमाश्रयः सुहृन् मित्रं चाऽऽसीत्, सोऽप्ययं गतो मृत्युमुपगतः । मम पुत्रस्य आश्रयभूतोऽङ्गराजोऽपि निधनमुपगत इति महानयं शोकाऽवसर इत्यर्थः ॥१२॥

(शिविर भूमि में) प्रवेश करते हुए शल्य को देखकर, मानों शल्य से छिद कर, मूर्छित हो गया है ॥११॥

दुर्योधन—हाय ! मित्र कर्ण ! (इस प्रकार कह कर मूर्च्छित होजाता है।)

गान्धारी—पुत्र ! धैर्य रक्खो, धैर्य रक्खो ।

संजय—देव ! धैर्य रखिये, धैर्य रखिये ।

धृतराष्ट्र—ओह ! बड़ा दुःख है !

यह शूरवीर कर्ण भी, जो भीष्म और द्रोण की मृत्यु के बाद मेरे पुत्र का (एक मात्र) मित्र एवं अवलम्ब था, अब चला गया ॥१२॥

१. G. 'पुत्रस्य मे सुहृत् प्रेयान्' इति पा. ।

वत्स ! समाश्वसिहि समाश्वसिहि । ननु भो हतविधे !

अन्धोऽनुभूतशतपुत्रविपत्तिदुःखः,
शोच्यां दशामुपगतः सह भार्ययाऽहम् ।
अस्मिन्नशेषितसुहृद्गुरुबन्धुवर्गे,
दुर्योधनेऽपि हि कृतो भवता निराशः ॥१३॥

वत्स दुर्योधन ! समाश्वसिहि, समाश्वसिहि । समाश्वासय तपस्विनीं मातरं च ।

अन्ध इति—(अन्वयः) अन्धः अनुभूतशतपुत्रविपत्तिदुःखः भार्यया सह शोच्यां दशाम् उपगतः अहम् अशेषितसुहृद्बन्धुवर्गे अस्मिन् दुर्योधनेऽपि भवता हि निराशः कृतः ।

(व्याख्या) हे विधे ! अन्धो नेत्रविहीनः अनुभूतं शतं पुत्राणां विपत्तिरेव निधनमेव दुःखं येन स भार्यया पत्न्या गान्धार्या सह शोच्यां दयनीयां दशामुपगतः प्राप्तोऽहं धृतराष्ट्रः अशेषितो निहतः सुहृदां मित्राणां बन्धूनां च वर्गो यस्य तस्मिन् तथाभूतेऽस्मिन् दुर्योधनेऽपि भवता निराशो हताश एव कृतः । वसन्ततिलकावृत्तं, 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति तल्लक्षणात् ॥१३॥

पुत्र ! धीरज धरो, धीरज धरो । हा क्रूर विधातः !

सौ पुत्रों के निधन के दुःख से दुःखित अपनी पत्नी के साथ इस दयनीय दशा को प्राप्त हुए मुझ अन्धे को तूने दुर्योधन के विषय में भी, जिसके समस्त मित्र, गुरु एवं बन्धु आदि मारे जा चुके हैं, निराश कर दिया ॥१३॥

पुत्र दुर्योधन ! धीरज धरो, धीरज धरो और अपनी इस दुखिया माता को भी धीरज दो ।

दुर्योधनः—(लब्धसंज्ञः)

अयि कर्ण ! कर्णसुखदां प्रयच्छ मे,
गिरमुद्गिरन्निव मुदं मयि स्थिराम् ।
सतताऽवियुक्तमकृताऽप्रियं कथं[1],
वृषसेनवत्सल ! विहाय यासि माम् ? ॥१४॥

(इति पुनर्मोहमुपागतः । सर्वे समाश्वासयन्ति ।)

अयि कर्णेति—(अन्वयः) अयि कर्ण ! मयि स्थिरां मुदम् उद्गिरन्निव मे कर्णसुखदां गिरं प्रयच्छ । सतताऽवियुक्तम् अकृताऽप्रियं मां विहाय हे वृषसेनवत्सल ! कथं यासि ? ।

(व्याख्या) अयि कर्ण ! अङ्गराज ! मयि दुर्योधने स्थिरां निश्चलां मुदं हर्षमुद्गिरन्निव मे कर्णयोः श्रोत्रयोः सुखदां गिरमुत्तरं प्रयच्छ देहि । सततं निरन्तरमवियुक्तमविरहितं तथा न कृतमप्रियं येन तं तथाभूतं मां दुर्योधनं विहाय परित्यज्य हे वृषसेनवत्सल ! त्वं कथं किमर्थं यासि गच्छसि ? । प्रगाढमपि निजमित्रं मां दुर्योधनं त्यक्त्वा किं स्वपुत्रं वृषसेनमेव द्रष्टुं स्वर्गं गच्छसीति भावः । मञ्जुभाषिणी वृत्तं, 'सजसा जगौ च यदि मंजुभाषिणी' इति तल्लक्षणात् ॥१४॥

दुर्योधन—(होश में आकर)

हे कर्ण ! मेरे हृदय में स्थायी आनन्द उत्पन्न करते हुए कानों को अच्छा लगने वाला उत्तर दो । अयि वृषसेन-वत्सल ! तुम मुझ दुर्योधन को, जो तुम से कभी वियुक्त नहीं हुआ तथा जिसने कभी तुम्हारा कोई अनिष्ट नहीं किया, छोड़ कर क्यों जा रहे हो ? ॥१४॥

(इस प्रकार कह कर पुनः मूर्च्छित हो जाता है । सब लोग आश्वासन देते हैं ।)

१. G. 'प्रियम्' इति ।

दुर्योधनः—

मम प्राणाधिके तस्मिन्नङ्गानामधिपे हते।
उच्छ्वसन्नपि लज्जेऽहमाश्वासे तात! का कथा? ॥१५॥

अपि च—

शोचामि शोच्यमपि शत्रुहतं न वत्सं
दुःशासनं तमधुना न च बन्धुवर्गम्।
येनाऽतिदुःश्रवमसाधु कृतं तु कर्णे
कर्तास्मि तस्य निधनं समरे कुलस्य ॥१६॥

ममेति—(व्याख्या) हे तात! मम प्राणेभ्योऽप्यधिके, प्रियतरे इत्यर्थः, अङ्गानामङ्गदेशीयानामधिपे स्वामिनि तस्मिन् कर्णे हते निधनमुपगते अहं दुर्योधन उच्छ्वसन् श्वासं गृह्णन्नपि लज्जे। आश्वासे धैर्यप्रदाने तु का नाम कथा?। इदानीं मे आश्वासप्रदानं सर्वथा निरर्थकम्। इदं जीवनमपि मे भारभूतं जातमिति भावः।'१५॥

शोचामीति—(अन्वयः) शत्रुहतं शोच्यमपि वत्सं दुशासनम् अधुना न शोचामि, नच बन्धुवर्गं (शोचामि)। येन कर्णे अतिदुःश्रवम् असाधु (कर्म) कृतम् तस्य कुलस्य समरे निधनं कर्तास्मि।

(व्याख्या) शत्रुभिः पाण्डवैर्हतं मृत्युं प्रापितं शोच्यं शोचनीयमपि वत्समनुजं दुःशासनम् अधुना इदानीं न शोचामि न चिन्तयामि, न च बन्धूनां सम्बन्धिनां वर्गं समूहं शोचामीति शेषः। येन तु पाण्डुकुलो-

दुर्योधन—अङ्गराज कर्ण की, जो मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय था, मृत्यु हो जाने पर मुझे श्वास लेते हुए लज्जा आती है, आश्वासन का तो कहना ही क्या? ॥१५॥

और भी—

शत्रु द्वारा मारे गये एवं शोचनीय अपने छोटे भाई दुःशासन तथा

गान्धारी—जाद ! सिढिलेहि[1] दाव क्खणमेत्तं बाप्पमोक्खम् ।

(जात ! शिथिलय तावत् क्षणमात्रं वाष्पमोक्षम्)

धृतराष्ट्रः—वत्स ! क्षणमात्रं परिमार्जयाऽश्रूणि ।

दुर्योधनः—

मामुद्दिश्य त्यजन् प्राणान् केनचिन्न निवारितः ।
तत्कृते त्यजतो वाष्पं किं मे दीनस्य वार्यते ? ॥१७॥

द्रवेन कर्णेऽङ्गराजे अत्यधिकं दुःश्रवं दुःखेन श्रातुं योग्यमसाधु अयोग्यमनार्यमनाचारमयं वा कर्म कृतमाचारितम्, तस्य कुलस्य समरे युद्धे निधनं विनाशं कर्तास्मि विधास्यामि । वसन्ततिलका छन्दः, 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौगः' इति तल्लक्षणात् ॥१६॥

मामुद्दिश्येति—(व्याख्या) मां दुर्योधनमुद्दिश्य लक्ष्यीकृत्य, मत्कृते इत्यर्थः, प्राणान् त्यजन् मुञ्चन् सोऽङ्गराजः केनचिदपि न निवारितो न प्रतिषिद्धः । तत्कृते तदर्थं, तमभिलक्ष्येत्यर्थः, वाष्पमश्रु त्यजतो दीनस्य कृपणस्य मे मम दुर्योनस्य अश्रुप्रवाहः किं किमर्थं वार्यते प्रतिषिध्यते ? ॥१७॥

बन्धु-वर्ग के विषय में मैं इस समय कुछ शोक नहीं करता । परन्तु जिसने अङ्गराज कर्ण के विषय में यह दुःश्रव तथा अनार्य कर्म किया है उसके समस्त कुल का विनाश मैं युद्ध में अवश्य करूगा ॥१६॥

गान्धारी—पुत्र ! क्षणभर के लिये तो इस अश्रुप्रवाह को कम करो ।

धृतराष्ट्र—पुत्र ! कुछ देर के लिये आँसू पोंछो ।

दुर्योधन—मेरे लिये अपने प्राणों को बलि करते हुए अङ्गराज को किसी ने नहीं रोका । अब उसके लिये आँसू बहाते हुए मुझ दीन को क्यों रोकते हो ? ॥१७॥

१. गु '०लहि' इति पा. ।

सूत ! केनैतदसंभावनीयमस्मत्कुलान्तकरं[1] कर्म कृतं स्यात् ? ।

सूतः—आयुष्मन् ! एवं जनः कथयति—

भूमौ निमग्नचक्रश्चक्रायुधसारथेः शरैस्तस्य ।
निहतः किलेन्द्रसूनोरस्मत्सेनाकृतान्तस्य ॥१८॥

दुर्योधनः—कष्टं भोः कष्टम्[2] ।

सूतेति—अस्माकं कुलस्य कुरुवंशस्याऽन्तकरं विनाशकरमसम्भावनीयमसम्भवं कठिनं दुष्करं वा एतत् कर्म केन कृतं स्यादित्यन्वयः ।

भूमाविति—(व्याख्या) भूमौ पृथिव्यां निमग्नं गुरुशापवशाद् अधोगतं चक्रं रथचक्रं यस्य स तथाभूतोऽसौ अङ्गराजः चक्रमायुधं यस्य स चक्रायुधः कृष्णः स सारथिः यस्य तस्य तथाविधस्य अस्माकं सेनायां कृतान्तो यमराज इव अस्मत्सेनाकृतान्तस्तस्य इन्द्रसूनोरर्जुनस्य शरैर्बाणैर्निहतो निधनं प्रापितः किल ।

सूत ! कौरवकुल का विनाश करने वाले इस असम्भाव्य कर्म को किसने किया होगा ?

सूत—आयुष्मन् ! मैंने लोगों को ऐसा कहते सुना है कि—

अङ्गराज कर्ण के रथ के पहिये के पृथ्वी में धस जाने पर हमारी सेना के लिये यमराज-स्वरूप कृष्ण-सारथि उस इन्द्र-पुत्र अर्जुन के बाणों से उनकी मृत्यु हुई है ॥१८॥

दुर्योधन—आः ! बड़े कष्ट की बात है !

---

१. G. '०करणम्' इति पा. । २. G. अयं पा. नास्ति ।

कर्णाननेन्दुस्मरणात् क्षुभितः शोकसागरः ।
वाडवेनेव शिखिना पीयते क्रोधजेन मे ॥१९॥

तात ! अम्ब ! प्रसीदतम् ।

ज्वलनः शोकजन्मा मामयं दहति दुःसहः ।
समानायां विपत्तौ मे वरं संशयितो रणः ॥२०॥

कर्णाननेति—(व्याख्या) कर्णस्य यदाननं मुखं तदेव इन्दुश्चन्द्रस्तस्य स्मरणात् क्षुभितः संक्षुब्धो मे मम दुर्योधनस्य शोकसागर. क्रोधाज्जायत इति क्रोधजः कोपसमुद्भूतस्तेन शिखिनाऽग्निना वाडवेन वडवानलेनेव पीयते। यथा चन्द्रोदयान् प्रवृद्धः समुद्रसंक्षोभो वडवानलेन जल-शोषणात् शम्यते तथैव कर्णमुखस्मरणादुद्भूतो मे शोकोऽपि क्रोधेन कथञ्चिद् वार्यत इति भावः ॥१६॥

ज्वलन इति—(व्याख्या) शोकाज्जन्म यस्य स तथाभूतो दुःसहो दुःखेन सोढुमशक्योऽयं ज्वलनोऽग्निः मां दहति भस्मीकरोति। युद्धस्य करणेऽकरणे वा समानायां विपत्तौ सत्यां संशयितः युद्धे जयपराजययो-रनिश्चितत्वेन संदेहास्पदो रण एव वरं श्रेयस्करः।

कर्ण के मुख-चन्द्र की स्मृति से संक्षुब्ध मेरा (यह मानसिक) शोक-सागर क्रोधोत्पन्न अग्नि से वडवानल के समान शोषित हो रहा है ॥१६॥

पिता जी ! माता जी ! मुझ पर दया कीजिये ।

यह शोकोत्पन्न दुःसह अग्नि मुझे जला रही है। (युद्ध-स्थल एवं घर दोनों जगह) समान दुःख होने पर मैं संदेहास्पद युद्ध को ही अधिक अच्छा समझता हूँ (=घर बैठने की अपेक्षा युद्ध को ही अधिक अच्छा समझता हूँ) ॥२०॥

धृतराष्ट्रः—(दुर्योधनं परिष्वज्य रुदन्)

भवति तनय ! लक्ष्मीः साहसेष्वीदृशेषु[1],
द्रवति हृदयमेतद्[2] भीममुत्प्रेक्ष्य भीमम् ।
अनिकृतिनिपुणं ते चेष्टितं मानशौण्ड !,
छलबहुलमरीणां सङ्गरं हा हतोऽस्मि ॥२१॥

भवतीति—(अन्वयः) हे तनय ! ईदृशेषु साहसेषु लक्ष्मीः भवति । भीमं भीमम् उत्प्रेक्ष्य एतद् हृदयं द्रवति । हे मानशौण्ड ! ते चेष्टितम् अनिकृतिनिपुणम् । अरीणां सङ्गरं बहुच्छलम् । हा ! हतोऽस्मि ।

(व्याख्या) हे तनय ! हे पुत्र ! यद्यपि ईदृशेषु एवंविधेषु एव साहसेषु साहसपूर्णकार्येषु लक्ष्मीः भवति, साहसिनैव राज्यलक्ष्मीः प्राप्यत इत्यर्थः, तथापि भीमं भयङ्करं भीमं पाण्डुपुत्रमुत्प्रेक्ष्य विचिन्त्य एतद् मम हृदयं द्रवति कम्पते । शुण्डायां पानागारे भवः शौण्डः, 'शौण्डो मत्ते च विख्याते' इति विश्वः, (तु. G.) । मानेन शौण्डो विख्यातो मानशौण्ड-स्तत्सम्बुद्धौ हे मानशौण्ड ! हे प्रसिद्धाऽभिमानिन ! ते तव चेष्टितं व्यापारः निकृतौ कपटे निपुणं निकृतिनिपुणं न निकृतिनिपुणमनिकृति-निपुणं निष्कपटम , सरलमित्यर्थः । अरीणां संगरं युद्धं च छलबहुलं भवतीति शेषः । हा ! हतोऽस्मि नष्टोऽस्मि । मालिनी छन्दः 'नन-मयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इति तल्लक्षणात् ॥२१॥

धृतराष्ट्र—(दुर्योधन को छाती से लगाकर रोते हुए)

पुत्र ! यद्यपि इस प्रकार के साहस-पूर्ण कार्यों में ही लक्ष्मी का निवास होता है तथापि उस भयंकर भीम को याद करके मेरा हृदय कांपने लगता है। हे स्वाभि-मानिन् ! तुम्हारा कार्य-व्यवहार बड़ा सरल एवं निष्कपट है परन्तु शत्रुओं का युद्ध-व्यापार बहुत कपट-पूर्ण है । हाय ! मैं सर्वथा नष्ट हो गया हूँ ॥२१॥

१. G. 'भवति तनय ! सत्यं संशयः साहसेषु' इति पा. । २. G. 'एतम्' इति पा. ।

गान्धारी—जाद ! तेण एव सुदसदकदन्तेण विओदलेण समं समलं मग्गसि ?

(जात ! तेनैव सुतशतकृतान्तेन वृकोदरेण समं समरं मार्गयसे ?।)

दुर्योधनः—अम्ब[1] ! तिष्ठतु तावद् वृकोदरः ।

पापेन येन हृदयस्य मनोरथो मे,
सर्वाङ्गचन्दनरसो नयनाऽमलेन्दुः ।
पुत्रस्तवाऽम्ब ! तव तात ! नयैकशिष्यः,
कर्णो हतः सपदि तत्र शराः पतन्तु ।।२२।।

जातेति—सुतानां शतं सुतशतं तस्य कृतान्तेन कृतान्तस्वरूपेण, मृत्युरूपेणेत्यर्थः, वृकोदरेण भीमेन समं संगरं युद्धं मार्गयसे कामयसे इच्छसीत्यर्थः ।

पापेनेति—(अन्वयः) येन पापेन मे हृदयस्य मनोरथः, सर्वाङ्गचन्दनरसः नयनामलेन्दुः, हे अम्ब ! तव पुत्रः, हे तात ! तव नयैकशिष्यः कर्णः हतः, तत्र सपदि (एव) शराः पतन्तु ।

(व्याख्या) येनाऽपि पापेन पापिना मे मम हृदयस्य मनसो मनोरथोऽभिलाषस्वरूपः, सर्वेषु अङ्गेषु चन्दनरस इव शान्तिप्रदः, नयनयोर्नेत्रयोरमलो निर्मल इन्दुश्चन्द्र इव आनन्ददायकः, किञ्च हे अम्ब ! हे मातः ! तव पुत्रः पुत्रस्वरूपः, हे तात ! हे पितः तव नये

गान्धारी—पुत्र ! क्या मेरे सौ पुत्रों के लिये यमराज-स्वरूप उस भीम के साथ ही तुम युद्ध करना चाहते हो ?

दुर्योधन—माता जी ! भीम को (कुछ समय के लिये एक तरफ़) छोड़िये ।

मेरे हृदय के मनोरथ, समस्त अङ्गों के लिये चन्दन-रस एवं नेत्रों के लिये

१. G. अयं पा. नास्ति ।

सूत ! अलमिदानीं कालातिपातेन, सज्जं मे रथमुपहर । भयं चेत् पाण्डवेभ्यस्तिष्ठ । गदामात्रसहाय एव समरभुवमवतरामि ।

सूतः—अलमन्यथा सम्भावितेन । अयमहमागत एव । (इति निष्क्रान्तः ।)

नीतौ एकः प्रधानः शिष्यश्छात्रः कर्णो हतो निधनं प्रापितस्तत्र तस्मिन पापिनि सपदि एव मे शरा बाणाः पतन्तु । त्वरितमेवाऽहं तं दुष्टं युद्धे हनिष्यामीति भावः । वसन्ततिलकावृत्तम्, 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति तल्लक्षणात् ॥२२॥

सूतेति—इदानीं सम्प्रति कालस्य समयस्य अतिपातेन यापनेन अलम् प्रयोजनं नास्तीत्यर्थः । सज्जं सुसज्जितं मे मम रथमुपहर आनय । चेद् यदि ते पाण्डवेभ्यो भयं विद्यते तदा त्वमिहैव तिष्ठ । गदामात्रमेव सहायो यस्य स तथाभूत एवाऽहं समरभुवं युद्धस्थलमवतरामि गच्छामि ।

अलमिति—अन्यथा सम्भावितेन मम विषये पाण्डवेभ्यो भयाऽऽशङ्कयाऽलमित्यर्थः ।

निर्मल चन्द्र-स्वरूप और हे माता जी ! आपके पुत्र, हे पिता जी ! आपके नीति-शास्त्र के प्रधान शिष्य प्रिय कर्ण को जिस पापी ने मारा है उस पर ये बाण शीघ्र ही पड़ेंगे ॥२२॥

सूत ! अब व्यर्थ समय नष्ट करने की आवश्यकता नहीं । मेरे रथ को (शीघ्र) सुसज्जित करके लाओ । यदि तुम्हें पाण्डवों से डर लगता हो तो रहने दो । मैं केवल अपनी गदा लेकर ही संग्राम-भूमि की ओर चलता हूँ ।

सूत—(राजन् !) आप इस प्रकार की सम्भावना न करें । मैं रथ लेकर अभी आता हूँ । (यह कह कर चला जाता है ।)

धृतराष्ट्रः—वत्स दुर्योधन ! यदि स्थिर एवाऽस्मान दग्धुमयं ते व्यवसायस्तत्[1] संनिहितेषु वीरेषु सेनापतिः कश्चिदभिषिच्यताम् ।

दुर्योधनः—नन्वभिषिक्त एव ।

गान्धारी—जाद ! कदरो उण सो, [2]जम्सिं आसं ओलम्बिस्सम् ।

(जात ! कतरः पुनः सः, यस्मिन्नाशामवलम्बिष्ये ? ।)

धृतराष्ट्रः—किं वा शल्य उत वाऽश्वत्थामा ? ।

संजयः— हा कष्टम् ?

वत्सेति—यदि अस्मान दग्धुं शोकाग्नौ प्रक्षेप्तुं ते तवाऽयं व्यवसायो निश्चयः स्थिरो दृढ एवाऽस्ति तत्तदा सन्निहितेषु समीपस्थितेषु अवशिष्टेषु वा वीरेषु कश्चन वीरः सेनापतिपदेऽभिषिच्यतां नियुज्यतामित्यर्थः ।

नन्विति—अभिषिक्तो नियुक्तः । अभि+सिञ्च्+कर्मणि क्तः ।

धृतराष्ट्र—पुत्र दुर्योधन ! यदि हमें शोकाग्नि में दग्ध करने के लिये तुम्हारा यह (=युद्ध का) निश्चय स्थिर है तो (पहले) अवशिष्ट वीरों में से किसी को सेनापति-पद पर अभिषिक्त कर देना चाहिये ।

दुर्योधन—हां, अभिषिक्त कर दिया है ।

गान्धारी—पुत्र ! वह कौन है जो मेरी आशा का अवलम्बन होगा ? ।

धृतराष्ट्र—क्या वह शल्य है या अश्वत्थामा ? ।

सञ्जय—हाय ! बड़े कष्ट की बात है ? ।

---

१. गु. 'तद यथा०' इत्येवं पा० । २. गु. 'जहिं एदं हदासं' (=यत्रेमा हताशाम्) इति पा. ।

गते[1] भीष्मे हते द्रोणे कर्णे च विनिपातिते ।
आशा बलवती राजन् शल्यो जेष्यति पाण्डवान् ॥२३॥

कर्णः—किं वा शल्येनोत वाऽश्वत्थाम्ना ?

कर्णालिङ्गनदायी वा पार्थप्राणहरोऽपि वा ।
अनिवारितसंपातैरयमात्माऽश्रुवारिभिः ॥२४॥

गत इति—(व्याख्या) भीष्मे गते निधनं प्राप्ते, द्रोणे द्रोणाचार्ये च हते मृत्युं प्रापिते, कर्णे चाऽपि विनिपातिते निहते सति शल्यः पाण्डवान् अर्जुनादिप्रमुखान् वीरान युद्धे जेष्यति ? शल्यसदृशः साधारणो वीरो महारथिनः पाण्डवान जेतुं कदापि न शक्ष्यतीत्यर्थः । परन्तु हे राजन् ! आशा बलवती प्रबला । फलप्राप्तौ अनिश्चितायां सत्यामपि बलवती आशा एव मानवमितस्ततो भ्रमयति । एवं च भीष्मप्रमुखेषु सर्वेषु कौरववीरेषु निहतेषु इदानीं शल्यस्तत्सदृशोऽन्यो वा कश्चन साधारणो वीरः कौरवाणामाशाकेन्द्रं भविष्यतीति भावः ॥२३॥

कर्णालिङ्गनेति—कर्णस्य यद् आलिङ्गनं तद् ददातीति कर्णालिङ्गनदायी कर्णालिङ्गनप्रदः, युद्धे मृत्वा तदनुयायीत्यर्थः, पार्थस्याऽर्जुनस्य प्राणहरो निहन्ता अयं स्वीय आत्मा एव अनिवारितोऽनवरुद्धः सन्तापो येषां तैस्तथाभूतैरश्रुवारिभिर्नेत्रजलैरभिषिक्त इति पूर्वेणाऽन्वयः । अन्ये सेनापतयः साधारणकलशजलैरभिषिच्यन्ते मया च नेत्रजलैरात्माऽभिषिक्त इत्युभयत्राऽपि समानम् ।

पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण तथा कर्ण के वीरगति को प्राप्त हो जाने पर अब शल्य पाण्डवों को जीतेगा ?। राजन् ! आशा बड़ी बलवती होती है ॥२३॥

दुर्योधन—(पिता जी !) शल्य अथवा अश्वत्थामा की क्या आवश्यकता है ? ।

मैंने (युद्ध-स्थल में वीर-गति को प्राप्त कर के स्वर्ग में) कर्ण का आलि-

[1] १. गु. 'हते' इति पा. ।

(नेपथ्ये कलकलानन्तरम्[1])

भो भोः कौरवबलप्रधानयोधाः ! अलमस्मानवलोक्य भयादितस्ततो गन्तुम् । कथयन्तु भवन्तः कस्मिन्नुद्देशे सुयोधनस्तिष्ठतीति ? ।

(सर्वे ससम्भ्रममाकर्णयन्ति ।)

(प्रविश्य सम्भ्रान्तः)

सूतः—आयुष्मन् ?

भो भो इति—कौरवाणां यद् बलं सेना तत्र प्रधानयोधाः प्रमुखसैनिकाः अस्मान् अवलोक्य दृष्ट्वा भयादितस्ततो गन्तुं प्रयातुमलम् । उद्देशे स्थाने ।

सर्वे इति—सम्भ्रमेण सहितं ससम्भ्रमं ससाध्वसम् । आकर्णयन्ति शृण्वन्ति ।

ङ्गन करने वाले अथवा पृथा-पुत्र अर्जुन के प्राणों को हरने वाले स्वयं अपने आपको ही निरन्तर प्रवाहित अश्रु-जल से (सेनापति-पद पर) अभिषिक्त कर लिया है ।।२४।।

(नेपथ में कोलाहल के बाद)

हे कौरव-सेना के प्रधान योद्धाओ ! हमें देख कर भय से इधर-उधर मत भागो । आप लोग यह बताइये कि (इस समय) दुर्योधन किस जगह है ?

(सब लोग घबराहट के साथ सुनते हैं ।)

(घबराया हुआ प्रवेश करके)

सूत—आयुष्मन् !

१. गु. '०कलं कृत्वा' इति पा. ।

प्राप्तावेकरथारूढौ पृच्छन्तौ त्वामितस्ततः ।

सर्वे—कश्च कश्च ? ।

सूतः—

स कर्णारिः स च क्रूरो वृककर्मा वृकोदरः ॥२५॥

गान्धारी—(सभयम्) जाद ! किं एत्थ सम्पदं पडिपज्जदव्वम ? ।
([सभयम्] जात ? किमत्र साम्प्रतं प्रतिपत्तव्यम् ? ।)

दुर्योधनः—अम्ब ! ननु संनिहितैवेयं गदा ।

गान्धारी—हा ! हदम्हि अहं[1] मन्दभाइणी ।
(हा ! हताऽस्मि अहं मन्दभागिनी ।)

प्राप्ताविति— एकमेव रथं स्यन्दनमारूढौ अध्यासीनौ त्वां दुर्योधन-मितस्ततः पृच्छन्तौ अन्वेपयन्तौ स प्रसिद्धः कर्णस्याऽङ्गराजस्यारिः शत्रुः, निहन्तेत्यर्थः, स विख्यातः क्रूरो निर्दयः वृकस्य कर्मेव कर्म यस्य स तथाभूतो वृकोदरो भीमश्च द्वावेव प्राप्तावागतौ ॥२५॥

सभयमिति—भयेन सहितं सभयं ससाध्वसम् । साम्प्रतमिदानीं किं प्रतिपत्तव्यं कर्तव्यम् ।

एक रथ में बैठ कर आपको इधर-उधर पूछते हुए दोनों (यहा) आए हैं ।

सब लोग एक साथ—कौन-कौन ?

सूत—वह कर्ण-शत्रु अर्जुन और भेड़िये के समान क्रूर-कर्मा वह निर्दय भीम ॥२५॥

गान्धारी—(भयपूर्वक) पुत्र ! अब इस विषय मे क्या करना चाहिये ?

दुर्योधन—माता जी ! यह गदा मेरे पास में ही रक्खी हुई है ।

गान्धारी—हाय ! मैं अभागिनी बरबाद गई ! ।

१. G. [illegible] नास्ति ।

दुर्योधनः—अम्ब ! अलमिदानीं कार्पण्येन । सञ्जय ! सञ्जय ! रथमारोप्य पितरौ शिविरं प्रतिष्ठस्व । समागतोऽस्माकं शोकाऽपनोदी[1] जनः ।

धृतराष्ट्रः—वत्स ! क्षणमेकं प्रतीक्षस्व यावदनयोर्भावमुपलभे ।

दुर्योधनः—तात ! किमनेनोपलब्धेन ? तद् गम्यताम् ।

(धृतराष्ट्रो गान्धारी च किञ्चिद् गत्वा तिष्ठतः[2])

(ततः प्रविशतो रथाऽऽरूढौ[3] भीमार्जुनौ)

अम्बेति—इदानीं सम्प्रति कार्पण्येन दैन्येन अलम् । पितरौ रथमारोप्य रथे स्थापयित्वा शिविरं सेनानिवेशनभूमिं प्रतिष्ठस्व गच्छ । शोकं दुःखमपनुदतीति शोकापनोदी शोकापहारको जनः समागतः समायातः ।

वत्सेति - क्षणं मुहूर्तमेकं प्रतीक्षस्व प्रतीक्षां कुरु । अनयोर्भीमाऽर्जुनयोर्भावमिच्छामभिप्रायं वा उपलभे जानामीत्यर्थः ।

दुर्योधन—माता जी ! अब इस दीनता की आवश्यकता नहीं । सञ्जय ! सञ्जय ! माता जी तथा पिता जी दोनों को रथ में बैठा कर शिविर में ले जाओ । मेरे शोक को हरने वाले आगए हैं ।

धृतराष्ट्र—पुत्र ! क्षणभर ठहरो । तबतक मैं इनके मनोभाव का पता लगा लूं ।

दुर्योधन—पिता जी ! अब इनके विचार का पता लगाने का क्या लाभ है ? इसलिए अब आप जाएँ ।

(धृतराष्ट्र और गान्धारी कुछ दूर चलकर ठहर जाते हैं)

(इसके बाद रथ में बैठे हुए भीम और अर्जुन प्रवेश करते हैं)

---

१. G. '०नोदप्रणयी' इति पा. । २. G. कोष्ठान्तर्गतः पा. नास्ति । ३. G. अयं पा. नास्ति ।

भीमः—भो भोः सुयोधनाऽनुजीविनः ! किमिति[1] सम्भ्रमादयथातथं सञ्चरन्ति[2] भवन्तः ? [[3]कथयत तावदिदमावयोरागमनं स्वामिनस्तस्य कुरुपतेः ।] अलमावयोः शङ्कया ।

कर्ता द्यूतच्छलानां जतुमयशरणोद्दीपनः सोऽभिमानी,
कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनमरुत् पाण्डवा यस्य दासाः ।
राजा दुःशासनादेर्गुरुरनुजशतस्याऽङ्गराजस्य मित्रं,
क्वाऽऽस्ते दुर्योधनोऽसौ, कथयत न रुषा द्रष्टुमभ्यागतौ स्वः ॥२६॥

भो भो इति—सुयोधनमनुजीवन्तीति ते सुयोधनाऽनुजीविनः सुयोधन-परिचारकाः । सम्बोधनबहुवचनान्तं पदमेतत् । भवन्तः सम्भ्रमाद् भयाद् अयथातथमितस्ततः किमिति कस्माद्धेतोः सञ्चरन्ति ?

कर्तेति—(अन्वयः) द्यूतछलानां कर्ता जतुमयशरणोद्दीपनः अभिमानी कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनमरुत्, यस्य पाण्डवा दासाः, दुःशासनादेः अनुजशतस्य गुरुः, अङ्गराजस्य मित्रम् असौ राजा दुर्योधनः क्व आस्ते ? कथयत, (आवाम्) तं द्रष्टुम् आगतौ स्वः, न रुषा ।

(व्याख्या) द्यूतं च छलानि च तेषां द्यूतच्छलानां द्यूतकपटानां कर्ता, जतुमयं च तच्छरणं जतुमयशरणं जतुनिर्मितं गृहं तस्योद्दीपनो दाहकः, अभिमानी गर्वितः, कृष्णायाः द्रौपद्याः केशानामुत्तरीयस्य च यद् व्यपनयनमपहरणं तत्र मरुद् वायुस्वरूपः, यस्य च युधिष्ठिरप्रमुखाः

भीम—अरे दुर्योधन के सेवको ! तुम लोग डर कर उधर-तिधर क्यों भाग रहे हो ? अपने स्वामी कौरवराज को हम दोनो के आने की सूचना दे दो । हम से डरने की आवश्यकता नहीं है ।

जूए आदि अनेक कपटों का करने वाला लाक्षागृह मे आग लगाने वाला

१. G. 'इतः' इति पा. । २. G 'चरन्ति' इति पा. । ३. G. कोष्ठान्तर्गतः पा. नास्ति ।

धृतराष्ट्रः—सञ्जय ! दारुणः खलूपक्षेपः पापस्य ।

सञ्जयः तात ! कर्मणा कृतनिःशेषविप्रियाः सम्प्रति वाचा व्यवस्यन्ति ।

दुर्योधनः—सूत ! कथय गत्वोभयोः—'अयं तिष्ठती'ति ।

पाण्डवाः दासाः सेवकाः, दुःशासनः आदौ यस्य तस्य तथाविधस्य अनुजानां कनिष्ठभ्रातॄणां शतस्य गुरुर्ज्येष्ठो भ्राता, अङ्गराजस्य कर्णस्य मित्रं सुहृत् असौ जगद्विदितः स राजा कौरवेश्वरो दुर्योधनः क कुत्राऽऽस्ते ? कथयत वदत, आवां, भीमार्जुनौ, तं दुर्योधनं द्रष्टुमिहाऽऽगतौ स्वः, न च कथञ्चिदपि रुषा क्रोधेनाऽऽवामत्राऽऽगतौ इत्यर्थः । स्रग्धरा छन्दः, 'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्' इति तल्लक्षणात् ॥ २६ ॥

सञ्जयेति -पापस्य दुष्टस्य भीमस्येत्यर्थः, उपक्षेप आक्षेपो दारुणः कठोरः खलु ।

तातेति—कर्मणा कार्येण, दुःशासनादिवधरूपेणेत्यर्थः, कृतानि सम्पादितानि निःशेषाणि समस्तानि विप्रियाणि अप्रियाणि यैस्ते तथाभूताः पाण्डवाः सम्प्रत्यधुना वाचा वाण्याऽपि विप्रियं व्यवस्यन्ति विधातुं प्रयतन्ते इत्यर्थः ।

और द्रौपदी के केश एवं वस्त्रो के खींचने मे वायु स्वरूप वह अभिमानी राजा दुर्योधन, जिसके पाण्डव लोग (क्रीत) दास हैं, जो दुःशासनादि सौ भाइयों मे बड़ा है और अङ्गराज कर्ण का (बड़ा घनिष्ठ) मित्र है, इस समय कहां है ? बताओ क्रोध की कोई बात नहीं है । हम उसे देखने आए हैं ॥२६॥

धृतराष्ट्र—सञ्जय ! इस पापी ने तो बड़ा भारी आक्षेप किया है ।

सञ्जय—पिता जी ! कर्म से यथाशक्ति अपकार करके अब वाणी द्वारा अहित करने की चेष्टा कर रहे हैं ।

दुर्योधन—सूत ! जाकर इन से कह दो कि यहां पर बैठे हैं ।

सूतः— यथाऽऽज्ञापयति देवः। (तावुपसृत्य) ननु भो वृकोदरार्जुनौ! एष महाराजस्तातेनाऽम्बया च सह न्यग्रोधच्छायायामुपविष्टस्तिष्ठति।

अर्जुनः—आर्य! प्रसीद। न युक्तं पुत्रशोकोपपीडितौ पितरौ पुनरस्मद्दर्शनेन भृशमुद्वेजयितुम्। तद् गच्छावः।

भीमः—मूढ! अनुल्लङ्घनीयः सदाचारः। न युक्तमनभिवाद्य गुरून् गन्तुम्। (उपसृत्य) सञ्जय! पित्रोर्नमस्कृतिं श्रावय। अथवा तिष्ठ। स्वयं विश्राव्य नामकर्मणी वन्दनीया गुरवः।

(इति रथादवतरतः)

आर्येति—प्रसीद कृपय। पुत्राणां शोकेनापपीडितौ व्यथितौ पितरौ गान्धारीधृतराष्ट्रावित्यर्थः, भृशमत्यधिकमुद्वेजयितुं पीडयितुं न युक्तं नोचितम्।

मूढेति—सदाचारः शिष्टव्यवहारो न लङ्घनीयः। गुरून् पूज्यान् पितृपादान् अनभिवाद्य अप्रणम्य इतो गन्तुं न युक्तम्। उपसृत्य समीपमेत्य। नमस्कृतिं प्रणामं श्रावय कथय।

सूत—जैसी महाराज की आज्ञा। (उनके पास जाकर) हे भीमसेन तथा अर्जुन! महाराज दुर्योधन अपने पिता तथा माता जी के साथ इस न्यग्रोध वृक्ष की छाया में बैठे हुए हैं।

अर्जुन—आर्य कृपा कीजिए। पुत्र-शोक से (पहले ही) अत्यधिक पीडित माता-पिता को इस समय मिलकर और अधिक उद्विग्न करना उचित नहीं। इसलिए, आइये चलें।

भीम—मूर्ख! शिष्टाचार का उल्लङ्घन करना ठीक नहीं। गुरुजनों को अभिवादन किये बिना यहां से जाना अनुचित है। (पास में जाकर) सञ्जय! माता जी तथा पिता जी को हमारा नमस्कार कहो। अथवा ठहरो, अपने नाम एवं साहस-पूर्ण कार्यों को सुना कर हम स्वयं ही गुरुजनों को प्रणाम करते हैं।

(यह कहकर दोनों रथ से उतरते हैं)

अर्जुनः—(उपगम्य) तात ! अम्ब !

सकलरिपुजयाऽऽशा यत्र बद्धा सुतैस्ते,
तृणमिव परिभूतो यस्य गर्वेण लोकः ।
रणशिरसि निहन्ता तस्य राधासुतस्य,
प्रणमति पितरौ वां मध्यमः पाण्डवोऽयम् ॥२७॥

भीमः—

चूर्णिताऽशेषकौरव्यः क्षीबो दुःशासनाऽसृजा ।
भङ्क्ता सुयोधनस्योर्वोर्भीमोऽयं शिरसाऽञ्चति ॥२८॥

सकलेति—(अन्वय) यत्र ते सुतैः सकलरिपुजयाशा बद्धा, यस्य गर्वेण लोकः तृणमिव परिभूतः, तस्य राधासुतस्य रणशिरसि निहन्ता अयं मध्यमः पाण्डवः वां पितरौ प्रणमति ।

(व्याख्या) यत्र यस्मिन् कर्णे ते तव सुतैः पुत्रैः सकलानां समस्तानां रिपूणां जयस्याऽऽशा बद्धा निबद्धा, यस्य च गर्वेण तैः समस्तोऽप्ययं लोकः संसारः तृणमिव तृणवत् परिभूतस्तिरस्कृतः, तस्य राधासुतस्य कर्णस्य रणशिरसि युद्धभूमौ निहन्ता अयं मध्यमः पाण्डवोऽर्जुनः पितरौ पितृतुल्यौ वां युवां प्रणमति नमस्करोति । मालिनी छन्दः, 'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इति तल्लक्षणात् ॥२७॥

चूर्णितेति—(व्याख्या) चूर्णिता विनाशिता अशेषाः समस्ताः कौरव्याः कुरोरपत्यानि, दुःशासनादय इत्यर्थः, येन स तथाभूतः,

अर्जुन—(पास जाकर) पिता जी ! माता जी ! जिस पर आप के पुत्रों ने सब शत्रुओं को जीतने की आशा लगाई हुई थी तथा जिसके गर्व से उन्होंने समस्त संसार का तिनके के समान तिरस्कार किया, उस राधा-सुत कर्ण का मारने वाला यह मध्यम पाण्डव अर्जुन आपको प्रणाम करता है ॥२७॥

भीम—समस्त कौरवों का विनाशक तथा दुःशासन का रुधिर पान करने

धृतराष्ट्रः—दुरात्मन् वृकोदर ! न तावद् विकत्थयाऽऽत्मानम्। न खल्विदं भवतैव केवलं सपत्नानामपकृतम्। यावत् क्षत्रं तावत् समर-विजयिनो जिता हताश्च वीराः। तत् किमेवं विकत्थनाभिरस्मानुद्वेजयसि ?

भीमः—तात ! अलमलं मन्युना।

दुःशासनस्य असृजा रुधिरेण क्षीब उन्मत्तः सुयोधनस्य ऊर्वोर्जङ्घयोर्भङ्क्ता विदारकोऽयं भीमः शिरसा मौलिना, मस्तकेनेत्यर्थः, युवाम् अञ्चति प्रणमति ॥२८॥

दुरात्मन्निति—आत्मानं न विकत्थय मा प्रशंस। न केवलं भवता त्वयैव सपत्नानां शत्रूणामपकृतमपकारः कृत इत्यर्थः। यावदारभ्य क्षत्रं क्षत्रियजातिः वर्तते तावदारभ्यैव समरं युद्धं विजयन्त इति समर-विजयिनो युद्धविजेतारो वीराः जिताः निहताश्च। एवं विकत्थनाभि-रात्मश्लाघाभिरस्मान् किमर्थमुद्वेजयसि व्यथयसि ?

से मत्त यह भीम, जो (शीघ्र ही) दुर्योधन की जङ्घाओं को तोड़ने वाला है, मस्तक झुकाकर आप को प्रणाम करता है ॥२८॥

धृतराष्ट्र—दुरात्मन् भीम ! (इतनी) आत्मश्लाघा न कर। केवल तुम ने ही शत्रुओं को नहीं जीता। जब से क्षत्रिय जाति का आरम्भ हुआ है तभी से समर-विजेता क्षत्रिय हारते और मरते आ रहे हैं। तो फिर इस प्रकार की आत्म-प्रशंसा करके तू हमें (और अधिक) उद्विग्न क्यों कर रहा है ?

भीम—पिता जी ! क्रोध न कीजिये।

कृष्णा केशेषु कृष्टा तव सदसि वधूः पाण्डवानां नृपैर्यैः,
सर्वे ते क्रोधवह्नौ कृशशलभकुलाऽवज्ञया येन दग्धाः ।
एतस्माच्छ्रावयेऽहं न खलु भुजबलश्लाघया नाऽपि दर्पात्,
पुत्रैः पौत्रैश्च कर्मण्यतिगुरुणि कृते तात ! साक्षी त्वमेव ॥२९॥

कृष्णेति—(अन्वयः) येन यैः नृपैः पाण्डवानां वधूः कृष्णा तव सदसि केशेषु कृष्टा, ते सर्वे क्रोधवह्नौ कृशशलभकुलावज्ञया दग्धाः, एतस्मात् अहं श्रावये, न खलु भुजबलश्लाघया, नापि च दर्पात् । हे तात ! पुत्रैः पौत्रैश्च (कृते) अतिगुरुणि कर्मणि त्वमेव साक्षी ।

(व्याख्या) येन यतः यैर्नृपैः राजभिः पाण्डवानां पाण्डुपुत्राणां वधूः पत्नी कृष्णा द्रौपदी केशेषु शिरोरुहेषु गृहीत्वा कृष्टाऽऽकृष्टा, ते सर्वे अपि क्रोधवह्नौ पाण्डवानां क्रोधाग्नौ कृशं यत् शलभानां कुलं तद्वदवज्ञया तिरस्कारेण दग्धा भस्मसात्कृताः, एतस्मादेव कारणादहं भवन्तं श्रावये कथयामि, न खलु भुजयोबलस्य श्लाघया प्रशंसया नापि दर्पाद् गर्वात् । हे तात ! तव पुत्रैः पौत्रैश्च कृते अतिगुरुणि अतिमहति अतिदारुणे वा कर्मणि कार्ये त्वमेव साक्षी साक्षाद् द्रष्टा असीति शेषः । दुर्योधनादिकृतकर्मणामौचित्यानौचित्यविचारणायैव अहमेतत्सर्वं भवन्तं श्रावितवान्, न तु स्वविक्रमप्रदर्शनायेति भावः । स्रग्धरा छन्दः, 'म्रभ्नयानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्' इति तल्लक्षणात् ॥२६॥

क्योंकि जिन राजाओं ने आप की सभा में पाण्डवों की कुलवधू द्रौपदी को उसके बाल पकड़कर खींचा था वे सब के सब (हमारी) क्रोधाग्नि में तुच्छ शलभ के समान तिरस्कार के साथ जलकर भस्म हो गए हैं, इसलिए इस बात की आप को सूचना देने के लिए हा मैं यह सब कुछ कह रहा हूँ, अपने बाहु-बल की प्रशंसा या अहंकार की भावना से नहीं । हे पिता जी ! अपने पुत्र एवं पौत्रों द्वारा किए गए इस अति महान् कार्य के (औचित्य एवं अनौचित्य के) विषय में आप स्वयं साक्षी हैं ॥२६॥

दुर्योधनः—अरे रे मरुत्तनय ! किमेवं वृद्धस्य राज्ञः पुरतो निन्दितव्यमात्मकर्म श्लाघसे ?

अपि च—

कृष्टा केशेषु भार्या तव तव च पशोस्तस्य राज्ञस्तयोर्वा,
प्रत्यक्षं क्ष्मापतीनां मम भुवनपतेराज्ञया द्यूतदासी ।
अस्मिन् वैरानुबन्धे वद किमपकृतं तैर्हता ये नरेन्द्राः,
बाह्वोर्वीर्यातिरेकद्रविणगुरुमदं मामजित्वैव दर्पः ॥३०॥

कृष्टेति—(अन्वयः) तव, तव च, पशोः तस्य राज्ञः, तयोर्वा भार्या क्ष्मापतीनां प्रत्यक्षं भुवनपतेः मम आज्ञया द्यूतदासी केशेषु कृष्टा । अस्मिन् वैरानुबन्धे ये नरेन्द्राः हताः तैः (युष्माकम्) किम् अपकृतम् (इति) वद । बाह्वोः वीर्यातिरेकद्रविणगुरुमदं माम् अजित्वा एव दर्पः (किम् ?)

(व्याख्या) तव भीमस्य, तव अर्जुनस्य च, पशोः पशुतुल्यस्य तस्य जगद्विख्यातस्य राज्ञो युधिष्ठिरस्य, तयोर्नकुलसहदेवयोर्वा भार्या पत्नी द्रौपदी क्ष्मापतीनां राज्ञां प्रत्यक्षं समक्षं भुवनानां पतिस्तस्य भुवनपतेर्लोकाधीश्वरस्य मम दुर्योधनस्य आज्ञया द्यूते जिता अत एव दासी केशेषु गृहीत्वा कृष्टा । अस्मिन् वैरस्य अनुबन्धे प्रसङ्गे ये नरेन्द्राः राजानो हतास्त्वया निधनं प्रापिता तैर्युष्माकं किमपकृतं किमपराद्धमिति वद कथय । बाह्वोर्भुजयोर्वीर्यस्य बलस्य योऽतिरेक आधिक्यं तदेव द्रविणं धनं तेन गुरुरुत्कटो मदो यस्य तं तथाभूतं मां दुर्योधनमजित्वैव अनिर्जित्यैव अयमेवंविधो दर्पोऽहंकारः किमर्थं क्रियते इति शेषः ।

दुर्योधन—अरे वायु-पुत्र भीम ! बूढे राजा के सामने अपने निन्दनीय कर्म की इस प्रकार प्रशंसा क्यों कर रहा है ?

और—

तुम दोनों की, उस पशु युधिष्ठिर की तथा उन नकुल और सहदेव दोनों

आः ! दुरात्मन् ! एष न भवसि ।

(इति सक्रोधमुत्थाय हन्तुमिच्छति । धृतराष्ट्रो धृत्वोपवेशयति ।
भीमः क्रोधं नाटयति ।)

अर्जुनः—(निवारयन्) आर्य ! प्रसीद, प्रसीद । किमत्र कोपेन ? ।

अप्रियाणि करोत्येष वाचा शक्तो न कर्मणा ।
हतभ्रातृशतो दुःखी प्रलापैरस्य का व्यथा ? ॥३१॥

स्रग्धरा छन्दः, 'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्' इति तल्लक्षणात् ॥३०॥

अप्रियाणीति—(व्याख्या)हतं निधनमुपगतं भ्रातॄणां शतमस्य स तथाभूतोऽतएव दुःखी एष कौरवेश्वरो दुर्योधनः कर्मणा युद्धरूपेण कर्मणा किमपि कर्तुं शक्तो नास्ति । अत एवाऽयं केवलं वाचा वाण्यैव अप्रियाणि अहितानि करोति । अस्य प्रलापैर्निरर्थकैर्वचनैः का व्यथा वेदना पीडा वा कर्तव्या, न काऽपीत्यर्थः ।

की स्त्री द्रौपदी को, जो जूए मे जीती हुई हमारी एक दासी थी, मेरी आज्ञा से राजाओं के सामने बाल पकड़कर खींचा गया था । इसलिए इस शत्रुता के विषय में जिन राजाओं को तुम ने मारा है उन्होंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा था ? अपने भुज-बलाधिक्य-रूपी धन से प्रमत्त मुझ दुर्योधन को बिना जीते ही तू इतना अहंकार क्यों कर रहा है ? ॥३०॥

अरे दुष्ट नीच ! तू अब नहीं बच सकता ।

(यह कह कर क्रोध के साथ उठ कर मारना चाहता है । धृतराष्ट्र उसे पकड़ कर बैठा लेते हैं । भीम क्रोध प्रकट करता है ।)

अर्जुन—(रोकते हुए) आर्य ! शान्ति करो, शान्ति करो । यहाँ क्रोध करने की क्या आवश्यकता है ? ।

यह वाणी-मात्र से ही इस प्रकार की अप्रिय बात कह रहा है किसी प्रकार

भीमः—अरे रे भरतकुलेन्दुकलङ्क !

अत्रैव किं न विशसेयमहं भवन्तं,
दुःशासनानुगमनाय कटुप्रलापिन्,
विघ्नं गुरुर्न कुरुते यदि मद्गदाग्र-
निर्भिद्यमानरणिताऽस्थनि ते शरीरे ॥३२॥

अत्रैवेति—(अन्वयः) हे कटुप्रलापिन् ! अत्रैव भवन्तं दुःशासनानुगमनाय अहं किं न विशसेयम् ? । यदि मद्गदाग्रनिर्भिद्यमानरणितास्थनि ते शरीरे गुरुः विघ्नं न कुरुते ।

(व्याख्या) कटु प्रलपतीति तत्सम्बुद्धौ हे कटुप्रलापिन् ! हे कटुभाषिन् ! अत्रैव गुर्वोः, पित्रोरित्यर्थः, अग्र एव दुःशासनानुगमनाय दुःशासनानुसरणाय भवन्तं त्वां दुर्योधनं किं न विशसेयं मृत्युं न प्रापयेयम् ? अवश्यमेव प्रापयेयमित्यर्थः, यदि मद्गदाग्रेण मम गदाया अग्रभागेन निर्भिद्यमानानि संचूर्यमाणानि अत एव रणितानि शब्दायमानानि अस्थीनि यस्मिन् तथाभूते ते तव शरीरे गुरुः पूज्यस्तातो विघ्नं न कुरुते । तातं प्रत्यादरभावादेवाऽहं त्वामिदानीं न हन्मि । अन्यथाऽवश्यमेव कटुप्रलापिनं त्वां मृत्युं प्रापयेयमित्यर्थः । वसन्ततिलका छन्दः, 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति तल्लक्षणात् ॥३२॥

के पराक्रम-पूर्ण कार्य से यह हमारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। यह बिचारा स्वयं अपने सौ भाइयों की मृत्यु से दुःखित है। इसलिये इसके इस प्रलाप से आप क्या दुःख करते हो ? ॥३१॥

भीम—अरे भरत-वंशरूपी चन्द्रमा के लिए कलङ्क स्वरूप !

अरे कटुभाषिन् ! यदि मेरी गदा के अग्रभाग से छिन्न-भिन्न होने के कारण (कड़-कड़) शब्द करती हुई हड्डियों से युक्त तेरे शरीर के सम्बन्ध में पितृतुल्य पूज्य ताऊ जी किसी प्रकार की रुकावट न डालते तो क्या मैं अभी तक तुझे दुःशासन के पास पहुँचने के लिये न मार डालता ? ॥३२॥

अन्वयः—

शोकं स्त्रीवन्नयनसलिलैर्यत्परित्याजितोऽसि,
भ्रातुर्वक्षःस्थलविघटने यच्च साक्षी कृतोऽसि ।
आसीदेतत्तव कुनृपतेः कारणं जीवितस्य
क्रुद्धे युष्मत्कुलकमलिनीकुञ्जरे भीमसेने ॥३३॥

शोकमिति—(अन्वयः) यत् स्त्रीवत् नयनसलिलैः शोकं परित्याजितोऽसि, यच्च भ्रातुः वक्षःस्थलविघटने साक्षीकृतोऽसि, एतत् (द्वयम्) एव युष्मत्कुलकमलिनीकुञ्जरे भीमसेने क्रुद्धे (सति) कुनृपतेः तव जीवितस्य कारणम् आसीत् ।

(व्याख्या) यत् स्त्रीवत् नयनसलिलैर्नेत्रजलैः शोकं दुःखं परित्याजितोऽसि मोचितोऽसि, यथा स्त्री अश्रूणि विमुच्य आत्मीयं दुःखं विमुञ्चति तथा त्वमप्यस्माभिः अश्रुजलेन अनुजशतवधोत्पन्नं दुःखं परिमोचितोऽस्मीत्यर्थः, यच्च भ्रातुर्दुःशासनस्य वक्षःस्थलस्योरःस्थलस्य यद् विघटनं विदारणं तस्मिन् साक्षीकृतोऽसि—एतद् द्वयमेव युष्माकं यत् कुलं तदेव कमलिनी पद्मिनी तस्यै कुञ्जरे कुञ्जरस्वरूपे भीमे क्रुद्धे कुपिते सति कुनृपतेर्दुष्टस्य राज्ञः तव दुर्योधनस्य जीवितस्य जीवनस्य कारणं हेतुरासीदिति शेषः । एवंविधशोकाऽनुभवायैव त्वमेतावन्तं कालं जीवितोऽसीत्यर्थः । मन्दाक्रान्ता छन्दः, 'मन्दाक्रान्ताम्बुधिरसनगैर्मो भनौ तौ गयुग्मम्' इति तल्लक्षणात् ॥

और भी—

जो हमने तुझे (दुःशासनादि भाइयों तथा कर्ण की मृत्यु के) शोक में स्त्रियों के समान आँसुओं के साथ रुलाया और जो तेरे सामने ही तेरे भाई दुःशासन के वक्षःस्थल का विघटन किया गया—ये दोनों बातें ही तुम्हारे कुलरूपी कमलिनी को तोड़ने लिये कुञ्जर-स्वरूप भीमसेन के क्रुद्ध हो जाने पर (भी) तुझ दुष्ट राजा के अभी तक जीवित रहने का कारण थीं ॥३३॥

दुर्योधनः—दुरात्मन् ! भरतकुलापसद ! पाण्डवपशो ! नाऽहं भवानिव विकत्थनाप्रगल्भः । किन्तु—

द्रक्ष्यन्ति नचिरात् सुप्तं बान्धवास्त्वां रणाङ्गणे ।
मद्गदाभिन्नवक्षोऽस्थिवेणिकाभीमभूषणम् ॥३४॥

भीमः—(विहस्य) यद्येवं श्रद्धत्ते[1] भवांस्तदा[2] प्रत्यासन्नमेव कथयामि ।

दुरात्मन्निति—दुष्ट आत्मा यस्य स तत्सम्बुद्धौ । भरतस्य यत् कुलं तत्र अपसदो नीचस्तत्सम्बुद्धौ । पाण्डवः पशुरिव तत्सम्बुद्धिः । विकत्थनयाऽऽत्मप्रशंसया प्रगल्भोऽशिष्ट इति ।

द्रक्ष्यन्तीति—(व्याख्या) मम गदया भिन्नं यद् वक्षः उरःस्थलं तस्य यानि अस्थीनि तेषां या वेणिका समूहः, वेणी एव वेणिका इत्यर्थे स्वार्थे कन्, सा एव भीमं भयंकरं भूषणं यस्य तं तथाभूतं त्वां भीमं रणाङ्गणे युद्धभूमौ सुप्तं मृतं बान्धवास्ते सम्बन्धिनः नचिरात् शीघ्रमेव द्रक्ष्यन्ति अवलोकयिष्यन्तीत्यर्थः । त्वरितमेवाऽहं त्वां यमसदनं प्रापयिष्यामीत्यर्थः ।

दुर्योधन—दुरात्मन् ! भरतकुलकलङ्क ! पाण्डव-पशो ! मैं तेरी तरह (झूठी) आत्म-प्रशंसा करने वाला अभिमानी नहीं हूँ । किन्तु—

तुम्हारे सम्बन्धी अब शीघ्र ही रणभूमि में तुम्हें मेरी गदा से भिन्न वक्षःस्थल की हड्डियों के भीषण आभूषण पहन कर सोते हुए देखेंगे ॥३४॥

भीम—(हँसकर) यदि तुम्हारा यह दृढ विश्वास है, तो मैं तुम्हें वह बात बताता हूँ जो बहुत ही शीघ्र होने वाली है ।

---

१. G. 'नाभद्धेयः' इति पा. । २. G. 'तथापि' इति पा. ।

पीनाभ्यां मद्भुजाभ्यां भ्रमितगुरुगदाघातसंचूर्णितोरोः,
क्रूरस्याऽऽधाय पादं तव शिरसि नृणां पश्यतां श्वः प्रभाते।
त्वन्मुख्यभ्रातृचक्रोद्दलनगलदसृक्चन्दनेनाऽऽनखाग्रं,
स्त्यानेनाऽऽर्द्रेण चाऽऽक्तः स्वयमनुभविता भूषणं भीममस्मि ॥३५॥

पीनाभ्यामिति—(अन्वयः) श्वः प्रभाते नृणां पश्यताम् पीनाभ्यां मद्भुजाभ्यां भ्रमितगुरुगदाघातसंचूर्णितोरोः क्रूरस्य तव शिरसि पादम् आधाय स्त्यानेन आर्द्रेण त्वन्मुख्यभ्रातृचक्रोद्दलनगलदसृक्चन्दनेन आनखाग्रम् आक्तः भीमम् भूषणम् स्वयम् अनुभवितास्मि।

(व्याख्या) श्वः प्रभाते आगामिनि प्रातःकाले नृणां मनुष्याणां पश्यतामेव पीनाभ्यां मांसलाभ्यां, स्थूलाभ्यामित्यर्थः, मम भीमस्य भुजाभ्यां बाहुभ्यां भ्रमिता या गुरुगदा तस्या आघातेन संचूर्णितौ संपिष्टौ ऊरू यस्य तस्य तथाविधस्य क्रूरस्य निर्दयस्य तव दुर्योधनस्य शिरसि पादं चरणम् आधाय स्थापयित्वा स्त्यानेन गाढेन आर्द्रेण च त्वमेव मुख्यः प्रधानो यस्य तथाभूतो यः भ्रातृचक्रस्तस्य भ्रातृसमूहस्य उद्दलनेन गलद् निःसरद् यद् असृग् रुधिरं तदेव चन्दनं तेन आनखाग्रं नखपर्यन्तमाक्तः संलिप्तोऽहं भीमः भीमं भयंकरं भूषणं शोणितलेपरूपं भूषणं स्वयमनुभविताऽस्मि धारयिताऽस्मीत्यर्थः। स्रग्धरा छन्दः, 'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्' इति तल्लक्षणात् ॥३५॥

कल प्रातःकाल सब लोगों के देखते ही देखते मेरी स्थूल भुजाओं के द्वारा घुमाई गई विशाल गदा के आघात से तेरी जङ्घाओं के चूर-चूर हो जाने पर तुझ दुष्ट के सिर पर पैर रखकर तेरे भाइयों के समूह के विदारण करने से निकले हुए रुधिर-रूपी गाढ़े चन्दन से पैरों तक लिप्त हुआ मैं तेरे नव रुधिर-रूपी गीले

(नेपथ्ये)

भो भो भीमसेनाऽर्जुनौ ! एष खलु निहताऽशेषाऽरातिचक्रः[१], आक्रान्तपरशुरामाऽभिरामयशाः, प्रतापतापितदिङ्मण्डलः, स्थापितस्वजनः, श्रीमानजातशत्रुर्देवो युधिष्ठिरः समाज्ञापयति ।

उभौ—किमाज्ञापयत्यार्यः ?

(पुनर्नेपथ्ये)

भीमसेनेति— निहतः अशेषाणां समस्तानामरीणां शत्रूणां चक्रः समूहो येन सः, आक्रान्तं परशुरामस्य अभिरामं मनोहारि यशो येन सः, प्रतापेन तेजसा तापितं दिङ्मण्डलं येनासौ तथाभूतः, स्थापितः स्वजनो येन स तथाविधोऽजातशत्रुरनुत्पन्नरिपुर्युधिष्ठिरः समाज्ञापयतीत्यन्वयः ।

चन्दन से पुनः लिप्त हो कर स्वयं उस भीषण आभूषण का अनुभव करूँगा ॥३५॥

(नेपथ्य में)

हे भीमसेन ! हे अर्जुन ! श्रीमान्, अजातशत्रु महाराज युधिष्ठिर, जिन्होंने समस्त शत्रु-समूह को नष्ट कर दिया है, जिन का यश परशुराम से भी अधिक संसार में फैल रहा है, जिनके प्रताप से दिङ्मण्डल तप रहा है और जिन्होंने अपने बन्धु-बान्धवों को अच्छी प्रकार से स्थापित कर दिया है, आज्ञा देते हैं ।

भीम तथा अर्जुन दोनों—आर्य क्या आज्ञा देते हैं ?

(फिर नेपथ्य में)

१, '०चक्राकान्त०' इति समस्तः पा. ।

कुर्वन्त्वाप्ता हतानां रणशिरसि नृणां वह्निसाद्देहभारा-
नश्रून्मिश्रं कथंचिद्ददतु जलममी बान्धवा बान्धवेभ्यः ।
मार्गन्तां ज्ञातिदेहान् हतनरगहने खण्डितान् गृध्रकङ्कै-
रस्तं भास्वान् प्रयातः सह रिपुभिरयं संह्रियन्तां बलानि ॥३६॥

कुर्वन्त्विति—(अन्वयः) आप्ताः रणशिरसि हतानां नृणां देहभारान् वह्निसान् कुर्वन्तु । अमी बान्धवाः बान्धवेभ्यः अश्रून्मिश्रं जलं कथंचिद् ददतु । गृध्रकङ्कैः खण्डितान् ज्ञातिदेहान् हतनरगहने (रणशिरसि) मार्गन्ताम् । अयं भास्वान् अस्तं प्रयातः, बलानि संह्रियन्ताम् ।

(व्याख्या) आप्ताः विश्वसनीयाः निकटसम्बन्धिनो रणशिरसि युद्धभूमौ हतानां निधनं प्राप्तानां नृणां मनुष्याणां देहभारान् शरीरसमूहान् वह्निसात् अग्न्यधीनानित्यर्थः, कुर्वन्तु 'तदधीनवचने' (पा. ५, ४, ५४) इति साति: प्र., मृतानामग्निसंस्कारं कुर्वन्त्वित्यर्थः । अमी बान्धवाः सम्बन्धिनः बान्धवेभ्यः मृतसम्बन्धिभ्यः अश्रून्मिश्रं नेत्रजलमिलितं जलं कथंचित् कथं कथमपि ददतु प्रयच्छन्तु । गृध्रकङ्कैः खण्डितान् शकलीकृतान् ज्ञातीनां निजबन्धूनां देहाः शरीराणि तान् हता निधनं गता ये नरा योधास्तैर्गहने संकुले युद्धस्थले लोका मार्गन्तामन्विष्यन्तु, यतो हि अयं भास्वान् सूर्योऽस्तं प्रयातो गतः । अत इदानीं बलानि सैन्यानि संह्रियन्ताम् । स्रग्धरा छन्दः, 'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्' इति तल्लक्षणात् ॥३६॥

निकट सम्बन्धी लोग युद्ध में मारे गये अपने बन्धुओं का दाह-संस्कार करें । बन्धु-बान्धव अपने सम्बन्धियों को किसी प्रकार अश्रु मिश्रित जलाञ्जलि अर्पित करें तथा गृध्र एवं कङ्क आदि पक्षियों द्वारा खण्डित शरीरों वाले अपने सम्बन्धियों को मृत मनुष्यों से भरी हुई युद्धभूमि में ढूंढ़ें । क्योंकि शत्रुओं के साथ ही भगवान् सूर्य भी अस्ताचल की ओर जा रहे हैं, इसलिए अब युद्धस्थल से सेनाओं को वापिस बुलाओ ॥३६॥

उभौ—यदाज्ञापयत्यार्यः। (इति निष्क्रान्तौ ।)

(नेपथ्ये)

अरे रे गाण्डीवाऽऽकर्षणबाहुशालिन् ! अर्जुन, अर्जुन ! क्वेदानीं गम्यते ? ।

कर्णक्रोधेन युष्मद्विजयि धनुरिदं त्यक्तमेतान्यहानि,
प्रौढं विक्रान्तमासीद् वन इव भवतां शूरशून्ये रणेऽस्मिन् ।
स्पर्शं स्मृत्वोत्तमाङ्गे पितुरनवजितन्यस्तहेतेरुपेतः,
कल्पाग्निः पाण्डवानां द्रुपदसुतचमूघस्मरो द्रौणिरस्मि ॥३७॥

अरे इति—गाण्डीवस्य धनुष आकर्षणे संलग्नौ यौ बाहू भुजौ ताभ्यां शालते शोभते इति तत्सम्बुद्धौ ।

कर्णेति—(अन्वयः) कर्णक्रोधेन युष्मद्विजयि इदं धनु. एतानि अहानि त्यक्तम् । शूरशून्ये अस्मिन् रणे वन इव भवतां प्रौढं विक्रान्तम् आसीत् । अनवजितन्यस्तहेतेः पितुः उत्तमाङ्गे स्पर्शं स्मृत्वा पाण्डवानां कल्पाग्निः द्रुपदसुतचमूघस्मरः (अहं) द्रौणिः अस्मि ।

(व्याख्या) कर्णाय यः क्रोधस्तेन हेतुना युष्मान् विजेतुं शीलमस्य तत्तथाभूतमिदं धनुश्चापमेतानि अहानि दिनानि, एतावन्तं कालमित्यर्थः, 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' (पा. २, ३, ५) इति द्वितीया, मयाऽश्वत्थाम्ना त्यक्तमासीत् । शूरैर्भीष्मद्रोणादिभिः शून्ये विरहिते अस्मिन्

भीम तथा अर्जुन दोनों—जो आर्य की आज्ञा । (यह कहकर दोनों चले जाते है ।)

(नेपथ्य में)

अरे गाण्डीव को खीचने वाली भुजाओं पर अभिमान करने वाले अर्जुन ! अर्जुन ! अब कहाँ जा रहा है ?

तुम्हें जीतने वाला यह धनुष कर्ण पर क्रोध आ जाने के कारण मैंने

धृतराष्ट्रः—(आकर्ण्य सहर्षम्) वत्स दुर्योधन ! द्रोणवधपरिभवो-द्दीपितक्रोधपावकः, पितुरपि समधिकबलः, शिक्षावानमरोपमश्चाऽयम-श्वत्थामा प्राप्तः । तत्प्रत्युपगमनेन तावदयं संभाव्यतां वीरः ।

रणे युद्धे वने कानन इव भवतां प्रौढं पूर्णं प्रधानं वा विक्रान्तं विक्रम आसीत् । न्यस्ता परित्यक्ता हेतिः शस्त्रं येन स तथाभूतो न्यस्तहेतिः, अनवजितश्च न्यस्तहेतिश्च तस्य तथाविधस्य पितुर्द्रोणाचार्यस्य उत्तमाङ्गे शिरसि स्पर्शं धृष्टद्युम्नकृतं केशस्पर्शं स्मृत्वा पाण्डवानां युधिष्ठिरप्रमुखाणां पाण्डुपुत्राणां कृते कल्पाग्निः प्रलयाग्निस्वरूपो द्रुपदसुतस्य धृष्टद्युम्नस्य या चमूः सेना तस्या घस्मरो विध्वंसकोऽहं द्रोणस्याऽपत्यं द्रौणिर्द्रोणा-चार्यपुत्रोऽश्वत्थामा उपेत आगतोऽस्मि । स्रग्धरा छन्दः, 'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्' इति तल्लक्षणात् ।।३७।।

आकर्ण्येति—द्रोणस्य वधो द्रोणवधः स एव परिभवस्तिरस्कारस्तेन यद्वा द्रोणस्य वधपरिभवाभ्याम् उद्दीपितः प्रज्वलितः क्रोध एव पावको वह्नियेस्य स तथाभूतः, पितुर्द्रोणादपि समधिकं बलं यस्मिन् सः, शिक्षावान् सुशिक्षितः, अमरैर्देवैरुपमा तुलना यस्य स तथाविधो-ऽयमश्वत्थामा प्राप्तः समागतः । प्रत्युपगमनेन प्रत्युत्थानेन तावदयं वीरः संभाव्यतां सत्क्रियताम् ।

इतने दिनों तक त्याग रक्खा । इसलिये धीर-विहीन इस रण-भूमि में तुम्हारा प्रौढ पराक्रम अरण्य-प्रदर्शन-मात्र था । परन्तु अब अपने अपराजित एवं त्यक्त-शस्त्र पूज्य पिता जी के उत्तमांग (= मस्तक) पर उस दुष्ट धृष्टद्युम्न द्वारा किये गए केश-स्पर्श को याद करके पाण्डवों के लिये कल्पाग्नि-स्वरूप तथा द्रुपद-पुत्र (धृष्टद्युम्न) की सेना को विध्वंस करने वाला मैं द्रोणपुत्र अश्वत्थामा आ गया हूँ ।।३७।।

धृतराष्ट्र—(सुनकर हर्षपूर्वक) पुत्र दुर्योधन ! अपने पिता से भी अधिक बलशाली, सुशिक्षित एवं देव-तुल्य यह अश्वत्थामा, जिसकी क्रोधाग्नि

गान्धारी—जाद ! पच्चुग्गच्छ एदं महाभाअम् ।

(जात ! प्रत्युद्गच्छैनं महाभागम् ।)

दुर्योधनः—तात ! अम्ब ! किमनेनाऽङ्गराजवधाऽऽशंसिना वृथा-यौवनशस्त्रबलभरेण ? ।

धृतराष्ट्रः—वत्स ! न खल्वस्मिन् काले पराक्रमवतामेवंविधानां वाङ्मात्रेणाऽपि विरागमुत्पादयितुमर्हसि ।

जातेति—एनं महाभागं प्रत्युद्गच्छ कानिचित् पदानि गत्वा एतमश्वत्थामानं सत्कुरु ।

तातेति—अङ्गराजस्य कर्णस्य वधमाशंसतीति तच्छीलस्तेन, वृथा निरर्थकः यौवनस्य शस्त्राणां च बलस्य भरो भारो यस्य तेन तथाभूतेन ।

वत्सेति—एवंविधानामेतादृशां पराक्रमवतां पराक्रमशालिना-मिदानीं वाङ्मात्रेणाऽपि केवलवाण्याऽपि विरागमौदासीन्यं विरोधं उत्पादयितुं नार्हसि ।

अपने पिता आचार्य द्रोण के वध एवं तिरस्कार से उद्दीप्त हो रही है, आ गया है । (तुम्हें) उठकर उसका स्वागत करना चाहिए ।

गान्धारी—पुत्र ! उठकर इस महानुभाव का स्वागत करो ।

दुर्योधन—पिता जी ! तथा माता जी ! अङ्गराज कर्ण के वध के इच्छुक तथा यौवन, शस्त्र एवं बल के भार को व्यर्थ धारण करने वाले इस (=अश्वत्थामा) से क्या लाभ है ?

धृतराष्ट्र— पुत्र ! इस संकट के समय तुम्हें वाणी-मात्र से भी इस प्रकार के पराक्रमी वीरों में विरोध उत्पन्न करना उचित नहीं ।

(प्रविश्य)

अश्वत्थामा—विजयतां कौरवाऽधिपतिः ।

दुर्योधनः--(उत्थाय) गुरुपुत्र ! इत आस्यताम् (इत्युपवेशयति ।)

अश्वत्थामा —(साऽस्रम्[1]) राजन् दुर्योधन !

कर्णेन कर्णसुभगं बहु यत्तदुक्त्वा,
यत् सङ्गरेषु विहितं विदितं त्वया तत् ।
द्रौणिस्त्वधिज्यधनुरापतितोऽभ्यमित्र-
मेषोऽधुना त्यज नृप ! प्रतिकारचिन्ताम् ॥३८॥

कर्णेनेति—(अन्वयः) कर्णेन कर्णसुभगं बहु यत्तद् उक्त्वा सङ्गरेषु यद् विहितं तत् त्वया विदितम् । एष अधिज्यधनुः द्रौणिस्तु अभ्यमित्रम् आपतितः । हे नृप ! अधुना प्रतिकारचिन्ताम् त्यज ।

(व्याख्या) कर्णेनाऽङ्गराजेन कर्णयोः श्रोत्रमात्रयोः सुभगं सुन्दरं बहु अत्यधिकं यत्तद् यत् किमपि उक्त्वा सङ्गरेषु युद्धस्थलेषु यद् विहितं कृतं तत् सर्वं त्वया दुर्योधनेन विदितं ज्ञातमेव । एषोऽयम् अधिज्यं धनुर्यस्य स तथाविधो द्रोणस्याऽपत्यं पुमान् द्रौणिरश्वत्थामा तु अमित्राणामभि अभ्यमित्रं, अव्ययीभावः समासः, रिपुसंमुखमापतितः समागतोऽस्ति । अतो हे नृप ! हे राजन् ! प्रतिकारस्य प्रतिक्रियायाश्चिन्तां

(प्रवेश करके)

अश्वत्थामा—कौरवेश्वर की जय हो ।

दुर्योधन—(उठ कर) गुरुपुत्र ! इधर बैठिये । (यह कह कर उसे आसन पर बैठाता है ।)

अश्वत्थामा—(आँसू बहाते हुए) राजन् दुर्योधन !

कर्ण ने कानों को अच्छी लगने वाली बहुत सी बातें बना कर भी युद्धस्थल

१. G. अयं पा. नास्ति ।

दुर्योधनः—(साभ्यसूयम्) आचार्यपुत्र !

अवसानेऽङ्गराजस्य योद्धव्यं भवता किल ।
ममाऽप्यन्तं प्रतीक्षस्व कः कर्णः कः सुयोधनः ? ॥३९॥

अश्वत्थामा—(स्वगतम्) कथमद्याऽपि स एव कर्णपक्षपातोऽस्मासु च परिभवः ! । राजन् कौरवेश्वर ! एवं भवतु । (इति निष्क्रान्तः)

त्यज । अहमेव सर्वास्ते रिपून् हनिष्यामि । त्वया तेषां वधस्य चिन्ता न कर्तव्येति भावः । वसन्ततिलका छन्दः, 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति तल्लक्षणात् ॥३८॥

अवसान इति—(व्याख्या) अङ्गराजस्य कर्णस्याऽवसाने निधनं प्राप्ते सति भवता त्वयाऽश्वत्थाम्ना योद्धव्यं युद्धं कर्तव्यं किल । तदा मम दुर्योधनस्याऽपि अस्तं निधनं प्रतीक्षस्व । कः कर्णः कः सुयोधनः ? कर्ण-सुयोधनयोर्न कश्चिद् भेद इत्यर्थः । अतो यः कर्णस्य शत्रुः स मम दुर्योधनस्याऽपि शत्रुरस्तीत्यर्थः । एवं चाहमेव तेन शत्रुणा, अर्जुनेनेत्यर्थः, पूर्वं योत्स्य इति भावः ॥३९॥

कथमिति—कर्णेऽङ्गराजे पक्षपातः, अस्मासु मयि अश्वत्थाम्नि च च परिभवस्तिरस्कारः ।

मैं जो कुछ किया वह सब कुछ आपने अच्छी प्रकार से देख लिया है । परन्तु अब द्रो ए-पुत्र अश्वत्थामा धनुष चढ़ाकर शत्रुओं के संमुख (रणभूमि मे) आगया है । इसलिये हे राजन् ! अब आप प्रतिकार की चिन्ता को बिलकुल छोड़ दीजये ॥३८॥

दुर्योधन—(तिरस्कार के साथ) आचार्य-पुत्र !

अङ्गराज कर्ण की मृत्यु के बाद ही आप युद्ध करेंगे । तो फिर आप मेरी मृत्यु की भी प्रतीक्षा करें क्योंकि दुर्योधन और कर्ण में क्या भेद है ? ॥३९॥

अश्वत्थामा—(अपने मन ही मन में) क्या आज भी कर्ण के प्रति वही पक्षपात और मेरा यह तिरस्कार ! (प्रकाश रूप से) राजन् कौरवेश्वर ! अच्छा, ऐसा ही हो । (यह कह कर चला जाता है ।)

धृतराष्ट्रः—वत्स ! क एष ते व्यामोहो यदस्मिन्नपि काले एवंविधस्य महाभागस्याऽश्वत्थाम्नो वाक्पारुष्येणाऽपरागमुत्पादयसि ? ।

दुर्योधनः—किमस्याप्रियमनृतं च मयोक्तम् ? । किं वा नेदं क्रोधस्थानम् । पश्य—

अकलितमहिमानं क्षत्रियैरात्तचापैः,
समरशिरसि युष्मद्भाग्यदोषाद् विपन्नम् ।
परिवदति समक्षं मित्रमङ्गाधिराजं,
मम खलु कथयाऽस्मिन् को विशेषोऽर्जुने वा ? ॥४०॥

वत्सेति—ते तव, दुर्योधनस्येत्यर्थः, एषोऽयं व्यामोहश्चित्तविक्षेपः कः कुतः प्राप्तो यस्त्वमस्मिन् सङ्कटमयेऽपि काले एवंविधस्य महाभागस्य महातेजस्विनोऽश्वत्थाम्नः वाक्पारुष्येण कटुवाचा अपरागमुत्पादयसि जनयसि । एतादृक्कटुवचनैरस्य तिरस्कारः सर्वथाऽनुचित इत्यर्थः ।

अकलितेति—(अन्वयः) समरशिरसि आत्तचापैः क्षत्रियैः अकलित महिमानम् युष्मद्भाग्यदोषाद् विपन्नम् मित्रम् अङ्गाधिराजम् मम समक्षं परिवदति । अस्मिन् अर्जुने वा कः विशेष इति कथय ।

(व्याख्या) समरशिरसि युद्धस्थले आत्तं गृहीतं चापं धनुर्यैस्तैस्तथा भूतैः क्षत्रियैः अकलितोऽप्राप्तः महिमा माहात्म्यं यस्य तं तथाविधं युष्माकं भाग्यस्य दोषाद् वैपरीत्याद् विपन्नं मृतं मित्रमङ्गाधिराजं कर्णं मम

धृतराष्ट्र—पुत्र ! यह तुम क्या मूर्खता कर रहे हो कि इस संकट के समय भी कटु शब्द कह कर इस प्रकार के महान् वीर अश्वत्थामा के मन में (अपने प्रति) शत्रुता की भावना पैदा कर रहे हो ।

दुर्योधन—इसे मैंने कौनसी कटु एवं असत्य बात कही है ? क्या यह क्रोध की बात नहीं है ? । देखिये—

बड़े-बड़े महाधनुर्धारी क्षत्रिय भी रणभूमि मे जिसकी (वीरता एव युद्ध-कला

धृतराष्ट्रः—अथवा[1] वत्स ! तवाऽपि कोऽत्र दोषः । अवसानमिदानीं भरतकुलस्य । गान्धारि[2] ! किमिदानीं करोमि मन्दभाग्यः ? (विचार्य) भवत्वेवं तावत् । सञ्जय ! मद्वचनाद् ब्रूहि भारद्वाजमश्वत्थामानम् ।

स्मरति न भवान् पीतं स्तन्यं विभज्य सहामुना,
मम च मृदितं क्षौमं बाल्ये त्वदङ्गविवर्तनैः ।
अनुजनिधनस्फीताच्छोकादतिप्रणयाच्च यद्,
विकृतवचने माऽस्मिन् क्रोधश्चिरं क्रियतां त्वया ॥४१॥

दुर्योधनस्य समक्षं संमुखं परिवदति अपवदति, निन्दतीत्यर्थः । अस्मिन् अश्वत्थाम्नि अर्जुने वा को विशेषो भेदोऽस्तीति शेषः । अयमश्वत्थामाऽपि अर्जुनवद् मे शत्रुसदृश एवाऽस्तीति भावः । मालिनी छन्दः, 'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इति तल्लक्षणात् ॥४०॥

स्मरतीति—(अन्वयः) यद् बाल्ये अमुना सह विभज्य स्तन्यं पीतम् (तत् किं) भवान् न स्मरति ! यत् त्वदङ्गविवर्तनैः मम क्षौमं मृदितम् (तत् किं भवान् न स्मरति ?) अनुजनिधनस्फीतात् शोकात् अतिप्रणयाच्च विकृतवचने अस्मिन् चिरं क्रोधः मा क्रियताम् ।

(व्याख्या) यद् बाल्ये शैशवकाले अमुना दुर्योधनेन सह विभज्य

की) महिमा को प्राप्त नहीं कर सके उस मित्र अङ्गराज कर्ण की, जो कि आपके दुर्भाग्य से युद्ध मे मारा गया है, मेरे सामने ही यह निन्दा कर रहा था। (अब) आप ही बताइये कि इसमें और अर्जुन मे क्या अन्तर है ! ॥४०॥

धृतराष्ट्र—अथवा पुत्र ! तुम्हारा भी इसमें क्या दोष है ? अब भरत-कुल का अन्तकाल आ गया है। गान्धारि ! मैं अभागा अब क्या कर सकता हूँ ! (कुछ विचार कर) अच्छा, इस प्रकार करता हूँ। सञ्जय ! मेरी ओर से भरद्वाज-कुल-प्रसूत द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा से जाकर कहो कि—

'क्या तुम्हें याद नहीं है कि इस (दुर्योधन) के साथ तुमने (गान्धारी का)

१ G. अयं पा. नास्ति । २. G. इतोऽग्रे 'सञ्जय !' इति ।

सञ्जयः—यदाज्ञापयति तातः । (इत्युत्तिष्ठति ।)

धृतराष्ट्रः—अपि चेदमन्यस्त्वया वक्तव्यम्—

यन्मोचितस्तव पिता वितथेन शस्त्रं,
यत्तादृशः परिभवः स तथाविधोऽभूत् ।
एतद्विचिन्त्य बलमात्मनि पौरुषं च,
दुर्योधनोक्तमपहाय विधास्यतीति ।४२॥

विभागं कृत्वा त्वया अश्वत्थाम्ना स्तने भव स्तन्यं गान्धार्या दुग्धं पीतं तत् भवान् किं न स्मरति ? यश्च तवाऽङ्कानां विवर्तनैः परिवर्तनैर्मम चौमं पट्टवस्त्रं (रेशमी वस्त्र) मृदितं मलिनीकृतं तदपि किं भवान्न स्मरतीति पूर्वेण सम्बन्धः ? अनुजानां कनिष्ठभ्रातृणां यद् निधनं वधस्तेन स्फीतः प्रवृद्धो यः शोकस्तस्माद्धेतोः अङ्गराजेऽतिप्रणयाद् अत्यधिकप्रेमभावाच्च विकृतं विपरीतं वचनं यस्य तस्मिंस्तथाभूतेऽस्मिन् दुर्योधने त्वयाऽश्वत्थाम्ना चिरं क्रोधः कोपो मा क्रियतां न कर्तव्य इत्यर्थः । हरिणी छन्दः, 'नसमरसलागः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता' इति तल्लक्षणात् ॥४१॥

यन्मोचित इति—(अन्वयः) यत् वितथेन तव पिता शस्त्रं मोचितः, यत् स तादृशः तथाविधः परिभवः अभूत्, एतद् विचिन्त्य आत्मनि बलं पौरुषं च (विचिन्त्य) दुर्योधनोक्तम् अपहाय विधास्यतीति ।

(व्याख्या) यद् यस्मात् वितथेनाऽसत्यसम्भाषणेन तव पिता

स्तन-पान किया है ? (क्या तुम यह बात भूल गए कि) बचपन में (मेरी गोदी में) लेट-लेटकर तुम मेरे रेशमी वस्त्रों को मलिन कर दिया करते थे ? (इसलिए) अपने छोटे भाइयों की मृत्यु से बढ़े हुए शोक तथा (कर्ण के प्रति) अत्यधिक प्रेम-भाव के कारण इस दुर्योधन के कटुवचन कहने पर भी तुम्हें (इस पर) अधिक समय तक क्रोध नहीं करना चाहिये ॥४१॥

सञ्जय—जो पिता की आज्ञा । (यह कहकर उठता है) ।

धृतराष्ट्र—और यह और कहना कि—

जो शत्रुओं द्वारा झूठ बोलकर तुम्हारे पिता जी से शस्त्र-त्याग कराए,

सञ्जयः —यदाज्ञापयति तातः । (इति निष्क्रान्तः ।)

दुर्योधनः—सूत ! साङ्ग्रामिकं मे रथमुपकल्पय ।

सूतः—यदाज्ञापयत्यायुष्मान । (इति निष्क्रान्तः ।)

द्रोणाचार्यः शस्त्रमायुधं मोचितः परित्याजित, √ मुच् + णिच्, ततः क्तः प्रत्ययः, यद् यस्मात्र कारणात् तव पितुः स सर्वविदितस्तादृशो धृष्टद्युम्नेन केशाकर्षणरूपस्तथाविधोऽसह्यः परिभवस्तिरस्कारोऽभूत्, एतत् सर्वं विचिन्त्य मनसि विचार्य आत्मनि बलं शक्तिं पौरुषमुत्साहं च विचार्य दुर्योधनेन उक्तं कटुवचनं चाऽपहाय त्यक्त्वा, विस्मृत्येत्यर्थः, भवान् अवश्यमेवाऽस्य पितुः परिभवस्य प्रतिकारं विधास्यतीति त्वया-ऽश्वत्थाम्ने सन्देष्टव्यम्। वसन्ततिलका छन्दः, 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति तल्लक्षणात् ॥४२॥

सूतेति—सङ्ग्रामस्याऽयं साङ्ग्रामिको युद्धसम्बन्धी तं मे रथं स्यन्दनमुपकल्पय आनय ।

गया और जो उनका (केश-कर्षणादि से) घोर अपमान हुआ—इन सब बातों को तथा अपने (अतुल) बल एवं पौरुष को विचारते हुए दुर्योधन के (कटु) शब्दों को भुलाकर तुम अवश्य ही (अपने पूज्य पिता के वध एवं तिरस्कार का प्रतिकार) करोगे ॥४२॥

सञ्जय—जो पिता जी की आज्ञा । (यह कह कर चला जाता है ।)

दुर्योधन—मेरा युद्ध-रथ शीघ्र तैयार करो ।

सूत—जो महाराज की आज्ञा । (यह कह कर चला जाता है ।)

धृतराष्ट्रः—गान्धारि ! इतो वयं मद्राधिपतेः शल्यस्य शिबिरमेव गच्छावः । वत्स । त्वमप्येवं कुरु ।

(इति परिक्रम्य निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति पञ्चमोऽङ्कः समाप्तः ।

गान्धारीति—मद्राणामधिपतिस्तस्य मद्राधिपतेर्मद्रेश्वरस्य शल्यस्य शिबिरं तं शल्यं सेनापतिपदे नियोजयितुं गच्छावः ।

इति वेणीसंहारे सरलार्थदीपिकायां पञ्चमोऽङ्कः समाप्तः ।

धृतराष्ट्र—गान्धारि ! चलो, हम मद्रराज शल्य के शिविर में चलते हैं । पुत्र ! तुम भी ऐसा ही करो ।

(इस के बाद सब लोग घूमकर चले जाते हैं ।)

पञ्चम अङ्क समाप्त ।

अथ षष्ठोऽङ्कः

(ततः प्रविशत्यासनस्थो युधिष्ठिरो, द्रौपदी, चेटी पुरुषश्च ।)

युधिष्ठिरः—(विचिन्त्य निःश्वस्य च) [1]कष्टं भोः कष्टम् !

तीर्णे भीष्ममहोदधौ कथमपि द्रोणानले निर्वृते,
कर्णाऽऽशीविषभोगिनि प्रशमिते शल्ये च याते दिवम् ।
भीमेन प्रियसाहसेन रभसात् स्वल्पाऽवशेषे जये,
सर्वे जीवितसंशयं वयममी वाचा समारोपिताः । १ ।।

अथ षष्ठोऽङ्कः

तीर्णे इति—(अन्वयः) भीष्ममहोदधौ कथमपि तीर्णे, द्रोणानले च (कथमपि) निर्वृते, कर्णाशीविषभोगिनि प्रशमिते, शल्ये च दिवं याते जये स्वल्पावशेषे प्रियसाहसेन भीमेन रभसाद् वयम् अमी सर्वे वाचा जीवितसंशयं समारोपिताः ।

(व्याख्या) भीष्म एव महान् उदधिः सागरस्तस्मिन् कथमपि केनापि प्रकारेण तीर्णे समुत्तीर्णे, द्रोण एव अनलो वह्निस्तस्मिन्

छठा अङ्क

(इसके बाद आसन पर बैठे हुए युधिष्ठिर, द्रौपदी, दासी तथा पुरुष का प्रवेश ।)

युधिष्ठिर—(सोचकर और लम्बी सांस लेकर) ओह ! बड़े कष्ट की बात है !

भीष्म रूपी महासागर के किसी प्रकार पार कर लेने पर, द्रोणरूपी अग्नि

---

१. G. अयं पा. नास्ति ।

द्रौपदी—(सवाष्पम्) महाराज ! पञ्चालिए त्ति किं ण भणिदम् ? ।
([सवाष्पम्] महाराज ! पाञ्चाल्येति किं न भणितम् ? ।)

कथमपि कथंचिदपि निर्वृते प्रशान्ते, शान्तिमुपगते सतीत्यर्थः, आश्यां दंष्ट्रायां विषं यस्य स आशीविषः, 'आशीरप्यहिदंष्ट्रिका' इत्यमरः, कर्ण एव आशीविषो भोगी सर्पस्तस्मिन् प्रशमिते शान्ते, शल्ये मद्राधिपे च दिवं स्वर्गं याते गते, मृते सतीत्यर्थः, जये शत्रूणां विजये च स्वल्पावशेषे स्वल्पावशिष्टे सति प्रियं साहसं यस्य तेन तथाभूतेन भीमेन वृकोदरेण रभसाद् वेगेन वयममी सर्वेऽपि पाण्डुपुत्रा वाचा 'नूनमेवाऽहं सुयोधनं निहनिष्यामि, आत्मानं वा व्यापादयिष्यामि' इत्येतया प्रतिज्ञारूपया वाण्या जीवितसंशयं जीवनसन्देहं समारोपिताः प्रापिताः। दुर्योधनस्याऽप्राप्तौ भीममरणस्य तस्य प्रतिज्ञाबद्धतया निश्चितत्वेन अस्माकमपि पाण्डुपुत्राणां जीवनं सन्देहास्पदं स्यादिति भावः। शार्दूलविक्रीडितं छन्दः, 'सूर्याश्वैर्यदि मासजः सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' इति तल्लक्षणात् ॥१॥

महाराजेति—'पाञ्चाल्या मया द्रौपद्या एव यूयं सर्वे पाण्डुपुत्राः जीवितसंशयं समारोपिताः' इति भवता किं न भणितं यतोहि मम तिरस्कारमभिलक्ष्यैव वृकोदरेण दुर्योधनवधः प्रतिज्ञातः।

के किसी न किसी तरह बुझ जाने पर, कर्ण-रूपी महाविषैले सर्प के किसी तरह शान्त हो जाने पर और शल्य के भी दिवंगत हो जाने पर इस समय, जब कि हमारी पूर्ण विजय में थोड़ी-सी ही कमी रह गई थी, प्रिय-साहस भीम ने यह प्रतिज्ञा करके कि 'आज ही दुर्योधन को मारूँगा अन्यथा मैं स्वयं भी प्राण याग दूँगा', हम सबके जीवन को भी संशय में डाल दिया है ॥१॥

द्रौपदी—(आँखों में आँसू भरकर) महाराज ! 'द्रौपदी ने सब के जीवन को संशय में डाल दिया है', आप ऐसा क्यों नहीं कहते !

युधिष्ठिरः—कृष्णे ! ननु मया । (पुरुषमवलोक्य) बुधक !

पुरुषः—देव ! आज्ञापय !

युधिष्ठिरः—उच्यतां सहदेवः—'क्रुद्धस्य वृकोदरस्याऽपर्युषितां प्रतिज्ञामुपलभ्य प्रनष्टस्य मानिनः कौरवराजस्य पदवीमन्वेष्टुमतिनिपुणमतयस्तेषु तेषु स्थानेषु यथार्थाऽभिज्ञाश्चराः, सुसचिवाश्च भक्तिमन्तः पटुपटहरवव्यक्तघोषणाः सुयोधनपदसंचारवेदिनः प्रतिश्रुतधनपूजाप्रत्युपक्रियाश्चरन्तु समन्तात् समन्तपञ्चकम् । अपि च—

कृष्णे इति—मया युधिष्ठिरेणैव कौरवैः सह द्यूतं कृत्वा सर्वमिदं विहितमित्यर्थः ।

उच्यतामिति—क्रुद्धस्य क्रोधाभिभूतस्य वृकोदरस्य भीमस्य अपर्युषितामपूर्णां प्रतिज्ञामुपलभ्य प्राप्य, ज्ञात्वेत्यर्थः. प्रनष्टस्याऽदृश्यतां प्राप्तस्य कौरवराजस्य दुर्योधनस्य पदवीं मार्गमन्वेष्टुं मृगयितुमतिनिपुणा मतिः येषां ते तथाभूता यथार्थाभिज्ञास्तत्त्ववेत्तारः, चरा गुप्तचराः, सुसचिवा योग्यमन्त्रिणश्च समन्तपंचकं नाम क्षेत्रं, कुरुक्षेत्रमित्यर्थः, समन्तात् परितश्चरन्तु इत्यन्वयः । पटुः स्पष्टो यः पटहस्य रवो ध्वनिस्तेन व्यक्ता अभिव्यक्ता घोषणा येषां ते तथाभूताः, सुयोधनस्य पदसंचारं विदन्तीति ते तथाविधाः, प्रतिश्रुताः प्रतिज्ञाताः धनं पूजा सत्कारः प्रत्युपक्रिया प्रत्युपकारश्च येभ्यस्ते तथाभूताः । एतानि च विशेषणानि 'चराः', 'सुसचिवाः' इत्युभाभ्यामपि सम्बध्यन्ते । अपि च अपरं च ।

युधिष्ठिर—कृष्णे ! वास्तव में मैंने ही तुम सबके जीवन को संशय में डाला है । (पुरुष को देखकर) बुधक !

पुरुष—देव ! क्या आज्ञा है ?

युधिष्ठिर—सहदेव से जाकर कहो कि क्रुद्ध भीम की (अभी हाल में की हुई) प्रतिज्ञा को, जो अभी तक पूर्ण नहीं हुई, सुनकर छिपे हुए कौरवराज मानी दुर्योधन के मार्ग का पता लगाने के लिये समन्तपञ्चक के चारों ओर

पङ्के वा सैकते वा सुनिभृतपदवीवेदिनो यान्तु दाशाः,
कक्षेषु क्षुण्णवीरुन्निचयपरिचया बल्लवाः सञ्चरन्तु ।
[1]नागव्याघ्राटवीषु श्वपचपुरविदो[2] ये च रन्ध्रेष्वभिज्ञाः,
ये सिद्धव्यञ्जना वा प्रतिमुनिनिलयं ते च चाराश्चरन्तु ॥२॥

पङ्क इति—(अन्वयः) पङ्के वा सैकते वा सुनिभृतपदवीवेदिनः दाशाः यान्तु । कक्षेषु क्षुण्णवीरुन्निचयपरिचयाः बल्लवाः सञ्चरन्तु । नागव्याघ्राटवीषु श्वपचपुरविदः (चरन्तु) ये च रन्ध्रेषु अभिज्ञाः ये वा सिद्धव्यञ्जनास्ते चाराः प्रतिमुनिनिलयं चरन्तु ॥

(व्याख्या) पङ्के कर्दमे वा सिकताया इदं सैकतं तस्मिन् सैकते बालुकामये वा स्थाने सुनिभृतां गूढां पदवीं पन्थानं विदन्तीति ते तथाभूता दाशाः कैवर्ताः, धीवरा इत्यर्थः, 'कैवर्ते दाशधीवरौ' इत्यमरः, यान्तु दुर्योधनमन्वेष्टुं प्रचलन्तु । कक्षेषु शुष्कतृणलतादियुक्तेषु वन्यप्रदेशेषु क्षुण्णानां पादप्रहारैः संचूर्णितानां वीरुधां लतानां ये निचयाः समूहास्तेषु परिचयो ज्ञानं येषां ते तथाभूताः बल्लवाः गोपालकाः संचरन्तु सुयोधनान्वेषणाय प्रयान्तु यतो हि गोपालका एव क्षुण्णासु लतासु पतितेषु पशुमनुष्यादिपादचिह्नेषु सम्यग् विवेकं कर्तुं समर्थाः । नागाश्च

भिन्न-भिन्न स्थानों में उन-उन स्थानों की यथार्थता को (=गुप्त मार्ग आदि को) अच्छी प्रकार से जानने वाले अत्यन्त बुद्धिमान् ऐसे गुप्तचर तथा योग्य विश्वास-पात्र मन्त्री लोग जाएँ जो दुर्योधन के पद-संचार को अच्छी प्रकार से जानते हों और वे लोग ढोल-दमाके के द्वारा यह स्पष्ट घोषणा कराएँ कि दुर्योधन का पता लगाने वाले को धन एवं सत्कार आदि से पुरस्कृत किया जाएगा । और भी—

कीचड़ एवं बालुका-मय प्रदेश में गूढ पद-चिह्नों को जानने वाले धीवर

१. G. 'व्याधाः' इति पा. । २. G. 'स्वपरपदविदः इति पा. ।

पुरुषः—यथाऽऽज्ञापयति देवः ।

युधिष्ठिरः—तिष्ठ । एवं च वक्तव्यः सहदेवः ।

व्याघ्राश्च नागव्याघ्रास्तैर्युक्ता या अटव्यस्तासु नागव्याघ्राटवीषु हस्तिसिंहादिहिंस्रजन्तुमयेषु वनेषु श्वपचा भिल्लादयो जाङ्गलजातीयास्तेषां पुराणि नगराणि विदन्तीति ते तथाभूताश्चाराश्चरन्तु गच्छन्तु । ये च रन्ध्रेषु वन्यरहस्यमयमार्गेषु अभिज्ञास्तत्त्वज्ञाः, ये वा सिद्धानां योगिनां व्यञ्जनानि लक्षणानि येषां ते तथाविधा धृतमुनिवेषाश्चाराः गुप्तचरास्ते मुनिनिलयं मुनिनिलयं प्रतीति प्रतिमुनिनिलयं प्रतिमुन्याश्रमं गच्छन्तु प्रयान्तु । स्रग्धरा छन्दः, 'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्' इति तल्लक्षणात् ।।२।।

मल्लाह लोग जाएँ । सूखी लता, घास एवं तृणादि से युक्त वन्य स्थानों में पैरों के आघात से पिसी हुई लता आदि के समूह को अच्छी प्रकार से पहचानने वाले (= सूखी लता एवं घास आदि पर पड़े हुए पशु और मनुष्यों के पैरों को पृथक्-पृथक् पहचानने वाले) ग्वाले जाएँ । हाथी और व्याघ्र आदि हिंस्र जन्तुओं से व्याप्त वन्य प्रदेशों में भील आदि जंगली जाति के लोगों के गांवों से अच्छी प्रकार से परिचित लोग जाएँ जो वन के रहस्यपूर्ण मार्गों को अच्छी तरह जानने वाले हों । और कुछ गुप्तचर सिद्धों के वेश में (वन में रहने वाले) प्रत्येक मुनि के आश्रम में उस दुष्ट दुर्योधन का पता लगाने के लिये जाएँ ।।२।।

पुरुष—जो महाराज की आज्ञा ।

युधिष्ठिर—ठहरो, सहदेव से यह और कह देना कि—

ज्ञेया रहः शङ्कितमालपन्तः,
सुप्ताः रुगार्ताश्च[1] वने विचेयाः ।
त्रासो मृगाणां वयसां विरावो
नृपाङ्कपादप्रतिमाश्च यत्र ॥३॥

ज्ञेया इति—(अन्वयः) रहः शङ्कितम् आलपन्तः ज्ञेयाः । यत्र वने सुप्ताः, रुगार्ताः मृगाणां त्रासः, वयसां विरावः, नृपाङ्कपादप्रतिमाश्च (सन्ति ते प्रदेशा अपि) विचेयाः ।

(व्याख्या) रह एकान्ते शङ्कितं शङ्कास्पदम्, क्रियाविशेषणम्, आलपन्तः परस्परं सम्भाषमाणा ज्ञेया ज्ञातव्याः । किम् ते जल्पन्तीति सर्वं तत्त्वतो ज्ञातव्यम् । यत्र कुत्रापि च वने सुप्ताः शयनं कुर्वन्तः, रुजा रोगेण आर्ताः पीडिताश्च मानवा दृश्यन्ते, यत्र च मृगाणां हरिणादि-वन्यजन्तूनां त्रासो भयं दृश्यते, वयसां विहगानां च विरावः शब्दः श्रूयते नृपस्य राज्ञः येऽङ्काः रेखाध्वजकुलिशादीनि चिह्नानि तैर्युक्ताः पादानां चरणानां प्रतिमाः प्रकृतयश्च यत्राऽवलोक्यन्ते ते प्रदेशा अपि सम्यक्प्रकारेण विचेया द्रष्टव्या अन्वेष्टव्या इत्यर्थः । अत्र च इन्द्रवज्रो-पेन्द्रावज्रयोः सम्मिश्रणरूपमुपजातिवृत्तं ज्ञेयम् ।

जो लोग कहीं एकान्त स्थान में शङ्कित भाव से वार्तालाप कर रहे हों उनका अच्छी प्रकार पता लगवाओ और वन में जहाँ कहीं कुछ लोग सोए हुए हों, रोग-पीडित हो कर पड़े हों, या कहीं मृग भय-भीत हो रहे हों, पक्षी किसी कारण-वश कोलाहल कर रहे हों, अथवा जहाँ कहीं राजाओं के चिह्नों से अङ्कित पैरों के चिह्न बने हुए हों उन स्थानों की अच्छी प्रकार से छान-बीन कराना ॥३॥

१. G. '०रुगार्ता मदिराविधेयाः' इति पा. ।

पुरुषः—यदाज्ञापयति देवः (इति निष्क्रम्य, पुनः प्रविश्य सहर्षम्) देव ! पाञ्चालकः प्राप्तः ।

युधिष्ठिरः—त्वरितं प्रवेशय ।

पुरुषः—(निष्क्रम्य पाञ्चालकेन सह प्रविश्य) एष देवः । उपसर्पतु पाञ्चालकः ।

पाञ्चालकः—जयतु जयतु देवः । प्रियमावेदयामि महाराजाय देव्यै च ।

युधिष्ठिरः—भद्र[1] पाञ्चालक ! कच्चिदासादिता तस्य दुरात्मनः कौरवाऽधमस्य पदवी ?

पाञ्चालक इति—पाञ्चाले पाञ्चालदेशे भवः पाञ्चालकः प्राप्तः आगतः । एतन्नामकः कश्चिद् राजपुरुषो वा प्राप्तः (तु. गु.) ।

भद्रेति—दुरात्मनो दुष्टस्य कौरवेषु अधमस्य नीचस्य तस्य दुर्योधनस्य पदवी मार्गः कच्चिद् आसादिता प्राप्ता ?

पुरुष—जो महाराज की आज्ञा । (यह कहकर बाहर जाकर और सहर्ष पुनः प्रवेश करके) महाराज पाञ्चालक आया है ।

युधिष्ठिर—उसे जल्दी अन्दर ले आओ ।

पुरुष—(बाहर जाकर और पाञ्चालक के साथ पुनः प्रवेश करके) यह महाराज विराजमान हैं । आप उनके पास जाइए ।

पाञ्चालक—महाराज की जय हो, जय हो । (देव !) आपको एवं महारानी जी को एक शुभ समाचार सुनाता हूँ ।

युधिष्ठिर—भद्र पाञ्चालक ! क्या उस दुरात्मा कौरवाधम दुर्योधन का कुछ पता मिल गया ?

---

१. G. अयं पा. नास्ति ।

पाञ्चालकः—देव[1] ! न केवलं पदवी, स एव दुरात्मा देवीकेश[2]-पाशस्पर्शपातकप्रधानहेतुरुपलब्धः ।

युधिष्ठिरः—(सहर्षं पाञ्चालकं परिष्वज्य) साधु भद्र ! साधु । भवता प्रियमावेदितम् । अथ दर्शनगोचरं गतः ?

पाञ्चालकः –देव ! समरगोचरं पृच्छ ।

द्रौपदी—(सभयम्) कहं समरगोअरो वट्टइ मे णाहो ।

([सभयम्] कथं समरगोचरो वर्तते मे नाथः ?)

युधिष्ठिरः—(साऽऽशङ्कम्) सत्यं समरगोचरो मे वत्सः ?

देवेति—न केवलं पदवी एवाऽऽसादिता अपितु देव्याः पाञ्चाल्याः केशपाशस्य केशसमूहस्य स्पर्श एव पातकं पापं तस्य प्रधानो हेतुः स दुष्टो दुर्योधन एवोपलब्धः प्राप्तः ।

साधु इति—दर्शनस्य दृष्टेर्गोचरं विषयं गतः प्राप्तः ।

पाञ्चालक—महाराज ! न केवल पता ही लग गया है प्रत्युत महारानी के केशपाश-स्पर्श-रूपी महापातक का प्रधान हेतु वह दुरात्मा दुर्योधन स्वयं मिल गया है ।

युधिष्ठिर—(हर्ष के साथ पाञ्चालक को हृदय से लगाकर) ठीक, भद्र पाञ्चालक ! ठीक । तुमने (वास्तव में) बड़ा प्रिय समाचार सुनाया है । अच्छा, तो क्या वह देख लिया है ?

पाञ्चालक - महाराज ! (देखने की पूछते हो ! अब तो) युद्ध करने की बात पूछिए ।

द्रौपदी—(डर कर) क्या मेरे स्वामी इस समय युद्ध कर रहे हैं ?

युधिष्ठिर—(आशङ्का के साथ) क्या वास्तव में प्रिय भीम (इस समय) युद्ध कर रहा है ?

१. G. अयं पा. नास्ति । २. G. '०केशाम्बराकर्षणमहापातक०' इति पा. ।

पाञ्चालकः—सत्यम् । किमन्यथा वक्ष्यते महाराजाय ?

युधिष्ठिरः—

त्रस्तं विनाऽपि विषयादुरुविक्रमस्य,
चेतो विवेकपरिमन्थरतां प्रयाति ।
जानामि [1]चोद्यतगदस्य वृकोदरस्य,
सारं रणेषु भुजयोः[2] परिशङ्कितश्च ॥४॥

त्रस्तमिति – (अन्वयः) उरुविक्रमस्य अपि चेतः विषयाद् विनाऽपि त्रस्तं विवेकपरिमन्थरतां प्रयाति । रणेषु उद्यतगदस्य वृकोदरस्य भुजयोः सारं जानामि, परिशङ्कितश्च (अस्मि ।)

(व्याख्या) उरुमहान् विक्रमः पराक्रमो यस्य तस्य तथाभूतस्य पराक्रमशालिनोऽपि पुरुषस्य चेतश्चित्तं विषयाद् भयकारणाद् विनाऽपि त्रस्तमुद्विग्नं सद् विवेक कर्तव्याऽकर्तव्यज्ञान परिमन्थरो मन्दस्तस्य भावस्तां, कर्तव्यज्ञानमन्दतामित्यर्थः, प्रयाति गच्छति । रणेषु संग्रामेषु उद्यता गदा येन तस्य तथाविधस्य वृकोदरस्य भीमस्य भुजयोर्बाह्वोः सारं तत्त्वं, बलमित्यर्थः, जानामि सम्यग् वेद्मि परन्तु तथापि अहं तस्य विषये परिशङ्कितः शङ्काकुलोऽस्मीति शेषः । वसन्ततिलका छन्दः, 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति तल्लक्षणात् ॥४॥

पाञ्चालक—महाराज ! वास्तव में युद्ध ही कर रहे हैं । नहीं तो क्या मैं महाराज से झूठ कहता ?

युधिष्ठिर—(कभी-कभी) महापराक्रमी वीर पुरुष का मन भी किसी कारण के बिना ही विवेक-शून्य हो जाता है । (आश्चर्य की बात है कि) युद्धभूमि में गदाधारी भीम के बाहु-बल को अच्छी प्रकार से जानते हुए भी मैं (इस समय) उसके विषय में चिन्तित हो रहा हूँ ॥४॥

१. G. 'चोद्धत०' इति पा. । २. G. 'विजय' इति पा.

(द्रौपदीमवलोक्य) अयि सुक्षत्रिये !

गुरूणां बन्धूनां क्षितिपतिसहस्रस्य च पुरः,
पुराऽभूदस्माकं नृपसदसि योऽयं परिभवः ।
प्रिये ! प्रायस्तस्य द्वितयमपि पारं गमयति,
क्षयः प्राणानां नः कुरुपतिपशोर्वाऽद्य निधनम् ॥५॥

गुरूणामिति—(अन्वयः) हे प्रिये ! गुरूणां, बन्धूनां, क्षितिपति-सहस्रस्य च पुरः पुरा नृपसदसि अस्माकं यः अयं परिभवः अभूत्, तस्य पारम् अद्य नः प्राणानां क्षयः तस्य कुरुपतिपशोः निधनं वा (इदं) द्वयमपि गमयति ।

(व्याख्या) हे प्रिये ! हे पाञ्चालि ! गुरूणां भीष्मद्रोणादीनां, बन्धूनां सम्बन्धिनां, क्षितिपतीनां राज्ञां सहस्रस्य च पुरः पुरा प्राचीन-काले, द्यूतकाले इत्यर्थः, नृपस्य कौरवेश्वरस्य दुर्योधनस्य सदसि सभाया-मस्माकं पाण्डुपुत्राणां योऽयं जगद्विदितस्तव केशाकर्षणरूपेण परिभव-स्तिरस्कारोऽभूत् , तस्य परिभवस्य पारमन्तमद्य नोऽस्माकं प्राणानां क्षयो विनाशस्तस्य कुरुपतिर्दुर्योधन एव पशुस्तस्य, पशु-तुल्यस्य दुर्योधन-स्येत्यर्थः, निधनं मृत्युर्वा इदं द्वयमपि द्वयमेवेत्यर्थः, गमयति नेष्यती-त्यर्थः । स्वयं मृत्वा समरे कौरवान् जित्वा वा वयमस्मात्तिरस्काराद् मुच्यामहे इत्यर्थः । शिखरिणी छन्दः, 'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागा शिखरिणी' इति तल्लक्षणात् ॥५॥

(द्रौपदी को देखकर) अयि क्षत्रियवीराङ्गने !

उस समय राजा की सभा में गुरुजन, बन्धु-बान्धव एवं हजारों राजाओं के सामने जो हमारा वह (असह्य) अपमान हुआ था, हे प्रिये ! हमें उस अपमान-महासागर से पार उतारने वाले प्रायः दो ही साधन हैं, या तो हम

अथवा कृतं सन्देहेन ।

नूनं तेनाऽद्य वीरेण प्रतिज्ञाभङ्गभीरुणा ।
बध्यते केशपाशस्ते स चाऽस्याऽऽकर्षणक्षमः ॥६॥

पाञ्चालक ! कथय कथय, कथमुपलब्धः स दुरात्मा कस्मिन्नुद्देशे किं वाऽधुना प्रवृत्तमिति ? ।

द्रौपदी—भद्द ! कहेहि कहेहि ।

(भद्र ! कथय कथय ।)

नूनमिति— व्याख्या) हे पाञ्चालि ! अद्य दुर्योधनवध-रूपायाः प्रतिज्ञाया यो भङ्गस्तस्माद् भीरुस्तेन वीरेण पराक्रमशालिना तेन भीमेन ते तव केशपाशः कचसमूहो नूनमवश्यमेव बध्यते संयम्यते, यतोहि अस्य ते केशसमूहस्य आकर्षणक्षम आकर्षकः स दुर्योधन आसादित इति पूर्वेण सम्बन्धः ॥६॥

सब की मृत्यु हो जाए और या आज उस कौरव-पशु दुरात्मा दुर्योधन का वध हो ॥५॥

अथवा अब इस विषय मे सन्देह की आवश्यकता नहीं ।

प्रतिज्ञा-भङ्ग-भीरु वह वीर भीमसेन आज अवश्य ही तुम्हारे केशपाश को (अपने हाथों से) बांधेगा क्योंकि इस (=केश-पाश) को खींचने वाला वह दुष्ट दुर्योधन (अब) मिल गया है ॥६॥

पाञ्चालक ! कहो, कहो, वह नीच कैसे और कहां मिला और अब क्या हो रहा है ? ।

द्रौपदी—भद्र ! कहो, कहो ।

पाञ्चालकः—शृणोतु देवो देवी च । अस्तीह देवेन हते मद्राऽधिपतौ शल्ये, गान्धारराजकुलशलभे[1] सहदेवशस्त्राऽनलप्रविष्टे,[2] सेनापतिनिधननिराक्रन्दविरलयोधोज्झितासु समरभूमिषु, रिपुबलपराजयोद्धत-[3]वेल्लितविचित्रपराक्रमाऽऽसादितविमुखाऽरातिचक्रासु धृष्टद्युम्नाऽधिष्ठितासु च युष्मत्सेनासु, प्रनष्टेषु कृपकृतवर्माऽश्वत्थामसु, दारुणामपर्युषितां प्रतिज्ञामुपलभ्य कुमारवृकोदरस्य न ज्ञायते क्वाऽपि प्रलीनः स दुरात्मा कौरवाऽधमः ।

शृणोतु इति—देवेन भवता, युधिष्ठिरेणेत्यर्थः, मद्रस्य मद्रदेशस्याऽधिपतौ स्वामिनि शल्ये हते निधनं प्रापिते, गान्धारराजकुलस्य शलभे शलभस्वरूपे शकुनौ सहदेवस्य शस्त्रमेवाऽनलोऽग्निस्तं प्रविष्टे, समरभूमिषु च सेनापतेः शल्यस्य निधनेन मृत्युना निराक्रन्दाः क्रन्दनं कुर्वन्तः विरला अल्पा ये योधाः सैनिकास्तैरुज्झितासु परित्यक्तासु, धृष्टद्युम्नेनाऽधिष्ठितासु संचालितासु युष्माकं सेनासु बलेषु रिपूणां शत्रूणां, कौरवाणामित्यर्थः, बलस्य सेनायाः पराजयेनोत्पन्नं यद् उद्धतं वेल्लितं वक्रतीव्रगमनं तेन विचित्रेणाऽन्वितेन पराक्रमेण आसादितानि प्राप्तानि आक्रान्तानि वा विमुखानां समरभूमेः पलायमानानामरातीनां शत्रूणां चक्राणि समूहा याभिस्तासु तथाभूतासु, कृपश्च कृतवर्मा च अश्वत्थामा च तेषु सर्वेषु प्रनष्टेषु तथा कुमारस्य वृकोदरस्य भीमस्य अपर्युषितामपूर्णां दारुणां भीषणां प्रतिज्ञां निजवधप्रतिज्ञामुपलभ्य ज्ञात्वा, श्रुत्वेत्यर्थः, स दुरात्मा दुष्टः कौरवेषु अधमो नीचो दुर्योधनः क्वापि प्रलीनः प्रच्छन्नोऽस्तीति न ज्ञायते इत्यन्वयः ।

पाञ्चालक—महाराज ! एवं महारानी जी ! ध्यान से सुनिये । मद्रराज शल्य के आपके द्वारा मारे जाने पर, गान्धार-राजकुल के पतङ्ग शकुनि के

१. G. '०राजशलभे' इति पा. । २. G. '०नलं प्रविष्टे' इति पा. ।
३. G. 'वल्गित' इति पा. ।

युधिष्ठिरः—ततस्ततः ?
द्रौपदी—अयि ! परदो कहेहि ।
(अयि ! परतः कथय ।)

पाञ्चालकः—अवधत्तां देवो देवी च । ततश्च भगवता वासुदेवेना-ऽधिष्ठितमेकरथमारूढौ कुमारभीमाऽर्जुनौ समन्तात् समन्तपंचकं पर्य-टितुमारब्धौ, तमनासादितवन्तौ च । अनन्तरं च दैवमनुशोचति मादृशे भृत्यवर्गे, दीर्घमुष्णं च निःश्वसति कुमारे बीभत्सौ जलधरसमय-

अवधत्तामिति—देवो भवान् देवी भवती चाऽवधत्तामवधानेन, सावधानतयेत्यर्थः, शृणोतु । वासुदेवेन भगवता कृष्णेनाऽधिष्ठितं संचालितमेकमेव रथं स्यन्दनमारूढौ अध्यासीनौ कुमारभीमाऽर्जुनौ समन्तपंचकं कुरुक्षेत्रं तत्समीपवर्तिनं च प्रदेशविशेषं समन्तात् सर्वतो दुर्योधनमन्वेष्टुं पर्यटितुं भ्रमितुमारब्धौ तं च दुष्टमनासादितवन्तौ न

कुमार सहदेव के शस्त्रों की अग्नि में भस्म हो जाने पर, (कौरव-) सेनापति की मृत्यु हो जाने के कारण क्रन्दन (=चीख-पुकार) करते हुए बचे हुए कुछ थोड़े-से योद्धाओं के युद्ध-भूमि को छोड़ जाने पर तथा धृष्टद्युम्न द्वारा संचालित आपकी सेना ने जिस समय शत्रु-सेना की पराजय से प्रोत्साहित होकर उधर-तिधर दौड़ते हुए अद्भुत पराक्रम के साथ शत्रु-समूह को पकड़ लिया और जिस समय कृपाचार्य, कृतवर्मा एवं अश्वत्थामा आदि सब लोग अदृश्य हो गए थे तो उस समय वह दुरात्मा कौरवाधम नीच दुर्योधन कुमार भीमसेन की नवीन अपूर्ण प्रतिज्ञा के विषय में सुन कर न जाने कहाँ जाकर छिप गया ।

युधिष्ठिर—फिर क्या हुआ ?
द्रौपदी—अरे ! आगे कहो ।

पाञ्चालक—महाराज ! तथा महारानी जी ! ध्यान से सुनिये । इसके बाद भगवान् वासुदेव से अधिष्ठित एक (ही) रथ पर बैठकर कुमार भीमसेन एवं अर्जुन ने (उसे खोजने के लिए) समन्तपञ्चक के चारों ओर चक्कर

[1]निशासंचारिखद्योतप्रकरपिङ्गलैः कटाक्षैरादीपयति गदां नाथे[2] वृकोदरे यत्किंचनकारितामधिक्षिपति विधेर्भगवति नारायणे कश्चित् संविदितः कुमारस्य मारुतेरुज्झितमांसभारः प्रत्यग्रविशासितमृगलोहितलोहित-

प्राप्तवन्तौ। मादृशे च भृत्यवर्गेऽनुचरसमूहे दैवं भाग्यमनुशोचति सति, कुमारे बीभत्सौ अर्जुने च दीर्घं निःश्वसति सति, बीभत्सुरर्जुनः, महाभारते विराटपर्वणि अर्जुनः स्वयमेवाऽस्य नाम्नो व्याख्यां कृतवान्—

'न कुर्यां कर्म बीभत्सं युध्यमानः कदाचन।
तेन देवमनुष्येषु बीभत्सुरिति मां विदुः॥"

नाथे स्वामिनि वृकोदरे भीमे च जलधरसमये मेघकाले निशायां रात्रौ संचारिणो ये खद्योतास्तेषां यः प्रकरः समूहस्तद्वत् पिङ्गलैः पिङ्गलवर्णैः कटाक्षैर्नेत्रकोणैर्गदामादीपयति द्योतयति सति, नारायणे भगवति वासुदेवे च विधेर्दैवस्य यत्किंचन करोतीति तच्छीलस्तस्य भावस्तां यत्किंचनकारितां स्वेच्छाचारितामधिक्षिपति निन्दति सति कुमारस्य मारुतेर्भीमस्य संविदितः परिचितः, उज्झितः परित्यक्तो मांसस्य भारो येन स तथाभूतः, प्रत्यग्रं सद्य एव विशासितस्य निहतस्य मृगस्य लोहितेन

लगाना आरम्भ किया परन्तु वह उसे प्राप्त नहीं कर सके। इसके बाद जब मेरे जैसे अनुचर भाग्य को कोस रहे थे और कुमार अर्जुन (दुःख से) लम्बी एवं गरम-गरम सांस ले रहे थे तथा कुमार भीमसेन वर्षा-ऋतु में रात्रि के समय उधर-तिधर उड़ते हुए खद्योतों के समूह के समान चमकती हुई अपनी पिङ्गलवर्ण की आंखों से गदा को निहार कर उसे (और भी) चमका रहे थे एवं जिस समय भगवान् कृष्ण विधि की स्वेच्छाचारिता को दोष दे रहे थे, उसी समय किसी एक व्याध ने, जो वायु-पुत्र कुमार भीमसेन का परिचित था तथा जिसके पैर और कपड़े तुरन्त मारे हुए हरिण के रुधिर से लाल हो रहे थे, अपने सिर से मांस का भार उतार कर बड़ी तेजी के साथ भागते हुए पास में आकर

१. G. '०संचारिततडित्०' इति पा.। २. G. अयं पा. नास्ति।

चरणनिवसनस्त्वरमाणोऽन्तिकमुपेत्य पुरुषः, [1]परुषश्वासप्रस्ताऽर्धश्रुतवर्णाऽनुमेयपदया वाचा कथितवान्—'देव कुमार अस्मिन् महतोऽस्य सरसस्तीरे द्वे पदपद्धती समवतीर्णप्रतिबिम्बे। तयोरेका स्थलमुत्तीर्णा, न द्वितीया। परत्र कुमारः प्रमाण'मिति।

ततः ससम्भ्रमं प्रस्थिताः[2] सर्वे वयं तमेव पुरुषं[1] पुरस्कृत्य गत्वा च सरस्तीरं परिज्ञायमानसुयोधनपदलाञ्छनां पदवीमासाद्य भगवता वासुदेवेनोक्तम्—

रुधिरेण लोहितौ रक्तौ चरणौ निवसनं वस्त्रं च यस्य स तथाविधः कश्चित् पुरुषस्त्वरमाणः शीघ्रं शीघ्रं धावन् परुषेण कठोरेण श्वासेन प्रस्ता निगीर्णा अत एव अर्धश्रुता ये वर्णास्तैः अनुमेयानि पदानि यस्यां सा तथाभूतया वाचा वाण्या कथितवान्।

देवेति—अस्य सरसः सरोवरस्य तीरे द्वे समवतीर्णः स्पष्टं दृश्यमानः प्रतिबिम्बः ययोस्ते तथाविधे पदानां चरणानां पद्धती पङ्क्ती दृश्येते इति शेषः। तयोः पद्धत्योरेका पद्धतिः स्थलं स्थलमार्गमुत्तीर्णा आगता अपरा च नागता। परत्र इतोऽग्रे किं विधेयमित्यत्र कुमारः प्रमाणं प्रभुः स्वतन्त्र इत्यर्थः।

तत इति—सम्भ्रमेण सहितं ससम्भ्रमं ससाध्वसं वयं सर्वे तमेव पुरुषं पुरस्कृत्याऽग्रे कृत्वा प्रस्थिताः प्रस्थानं कृतवन्तः, सरस्तीरं च गत्वा

(अस्पष्ट-सी) वाणी से, जिस में उस (व्याध) के श्वास के कठोर (=तीव्र) होने के कारण कुछ न सुने और कुछ अध-सुने वर्णों से ही पदों का अनुमान किया जा सकता था, कहने लगा कि, 'राजकुमार! इस महान् सरोवर के किनारे दो पैरों के चिह्न (जल में) जाते हुए साफ़ दिखाई दे रहे हैं और उन में से एक स्थल की ओर पुनः वापिस आया है दूसरा नहीं। इससे आगे (अब क्या किया जाए, इस विषय में) आप स्वयं प्रभु हैं।'

१. G. अयं पा. नास्ति। २. G. 'स्थिता' इति पा.।

'भो वीर वृकोदर ! जानाति किल सुयोधनः सलिलस्तम्भनीं विद्याम् । तन्नूनं तेन त्वद्भयात् सरसीमेनामधिशयितेन भवितव्यम् ।' एतच्च वचनमुपश्रुत्य रामाऽनुजस्य सकलदिक्प्रपूरिताऽतिरिक्तम्[1] उद्भ्रान्तसकलसलिलचारिचक्रं[2], त्रासोद्धतनक्रग्राहम्, आलोडितं[3] सरःसलिलम् ।

परिज्ञायमानं ज्ञातं, सुयोधनस्य पदयोश्चरणयोर्लाञ्छनं रेखादिचिह्नं यस्यास्तां, तथाभूतां पदवीं मार्गमासाद्य प्राप्य ज्ञात्वेत्यर्थः, वासुदेवेन कृष्णेनोक्तं कथितम् ।

भो वीरेति—सलिलं जलं स्तभ्यते यया तां तथाभूतां विद्यां मन्त्रविद्याम् । तत् तस्मात् कारणात् तेन दुर्योधनेन नूनमवश्यमेव तव भीमस्य भयाद् एनां सरसीं सरोवरमधिशयितेन अध्यासीनेन भवितव्यम् ।

एतच्चेति—रामस्य बलरामस्य अनुजः कृष्णस्तस्य एतद् वचनमुपश्रुत्य आकर्ण्य भीमेन सकलासु दिक्षु प्रपूरितमतिरिक्तं च यथा स्यात्तथा, उद्भ्रान्तं सकलानां सलिलचारिणां चक्रं यस्मिन् कर्मणि तद् यथा तथा, त्रासेन भयेनोद्धता इतस्ततः पलायिता नक्रा ग्राहाश्च यस्मिन् कर्मणि तद् यथा तथा सरसः सलिलमालोडितं विलोडितम् ।

इसके बाद हम सब लोगों ने बड़ी शीघ्रता के साथ उसी पुरुष को आगे करके उस तरफ़ प्रस्थान किया और उस तालाब के किनारे पर पहुंच कर भगवान् कृष्ण ने (कुछ विशेष रेखादि से) उन चिह्नों को दुर्योधन के पदचिह्न समझ कर कहा—

'हे वीर भीमसेन ! दुर्योधन जलस्तम्भनी विद्या जानता है । इसलिये वह अवश्य तुम्हारे भय से इस सरोवर में छिप कर बैठ गया है ।' भगवान् कृष्ण के इन शब्दों को सुन कर कुमार भीमसेन ने उस सरोवर के जल का इतने ज़ोर से आलोडन किया कि उसका जल बाहर निकल कर चारों तरफ़ फैलने

१. G. '०दिङ्निकुञ्जपूरिता०' इति पा. । २. G. '०सलिलचरशकुन्तलम्' इति पा. । ३. G. 'आलोड्य' इति पा. ।

भैरवं च गर्जित्वा कुमारवृकोदरेणाऽभिहितम् 'अरे रे वृथाप्रख्यापिताऽलीकपौरुषाऽभिमानिन् ! पाञ्चालराजतनयाकेशाम्बराऽऽकर्षणमहापातकिन् ! धार्तराष्ट्राऽपसद !

जन्मेन्दोरमले कुले व्यपदिशस्यद्यापि धत्से गदां,
मां दुःशासनकोष्णशोणितसुराक्षीबं रिपुं भाषसे ।
दर्पाऽन्धो मधुकैटभद्विषि हरावप्युद्धतं चेष्टसे,
मत्त्रासान् नृपशो ! विहाय समरं पङ्केऽधुना लीयसे ? ॥७॥

भैरवमिति—कुमारेण वृकोदरेण भैरवं भीषणं यथा स्यात्तथा गर्जित्वा गर्जनं कृत्वाऽभिहितं कथितम् , अरे वृथा व्यर्थमेव प्रख्यापितं यद् अलीकमसत्यं पौरुषं पराक्रमस्तेन अभिमानी तत्सम्बद्धौ, पाञ्चालराजतनयाया द्रौपद्याः केशाम्बराकर्षणमेव महापातकं तदस्याऽस्तीति तत्सम्बुद्धौ, धृतराष्ट्रस्य पुत्राः धार्तराष्ट्रास्तेषु अपसदो नीचस्तत्सम्बुद्धौ ।

जन्मेति—(अन्वयः) अद्यापि इन्दोः अमले कुले जन्म व्यपदिशसि, (अद्यापि) गदां धत्से, दुःशासनकोष्णशोणितसुराक्षीबं मां रिपुं भाषसे, मधुकैटभद्विषि हरौ अपि उद्धतं चेष्टसे, हे नृपशो ? मत्त्रासात् समरं विहाय अधुना पङ्के लीयसे ? ।

(व्याख्या) अद्यापीदानीमपि इन्दोश्चन्द्रस्य नास्ति मलं यस्मिंस्तस्मिन् अमले निर्मले कुले वंशे, कुरुवंशे इत्यर्थः, जन्मोत्पत्तिं व्यपदिशसि वदसि, अद्यापि इदानीमपि गदां धत्से धारयसि, दुःशासनस्य यत् कोष्णं

लगा, समस्त जलचर-समूह उद्भ्रान्त हो उठा तथा नक्र एवं ग्राह आदि जल-जन्तु भय से इधर-उधर भागने लगे। इसके बाद कुमार भीमसेन ने बड़ी भीषण गर्जना करते हुए कहा कि, 'अरे व्यर्थ ही झूठे पौरुष की डींग मारने वाले ! द्रौपदी के केश एवं वस्त्रों के आकर्षण-रूपी महापातक को करने वाले ! दुष्ट धार्तराष्ट्र !

अपि च भो मानाऽन्ध ! [1]कौरवाऽधम !

पाञ्चाल्या मन्युवह्निः स्फुटमुपशमितप्राय एव प्रसह्य,
प्रोन्मुक्तैः केशपाशैर्हतपतिषु मया कौरवाऽन्तःपुरेषु ।
भ्रातुर्दुःशासनस्य स्रवदसृगुरसः पीयमानं निरीक्ष्य,
क्रोधात् किं भीमसेने विहितमसमये यत्त्वयाऽस्तोऽभिमानः ॥८॥

किञ्चिदुष्णं शोणितं रक्तं तदेव सुरा मदिरा तेन क्षीब उन्मत्तस्तं तथा-भूतं मां भीमं रिपुमरिं भाषसे ब्रवीषि, मधुश्च कैटभश्च तौ द्वेष्टीति तस्मिंस्तथाभूते हरौ भगवति वासुदेवेऽपि दर्पेणाऽहंकारेणाऽन्धः सन् उद्धतमुद्धतवत्, उद्दण्डवदित्यर्थः, चेष्टसे चेष्टां करोषि, परन्तु हे नृपशो ! मत्त्रासाद् मद्भयात् समरं युद्धं विहाय त्यक्त्वाऽधुना पङ्के कर्दमे कथं लीयसे निलीनो भवसि ! । त्वादृशस्य स्वाभिमानिन एवमात्मानं पङ्के निलीयाऽवस्थानं सर्वथाऽनुचितमिति भावः । शार्दूलविक्रीडितं छन्दः, 'सूर्याश्वैर्यदि मासजः सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' इति तल्लक्षणात् ।।७।।

पाञ्चाल्येति—(अन्वयः) मया प्रसह्य कौरवान्तःपुरेषु हतपतिषु प्रोन्मुक्तैः केशपाशैः पाञ्चाल्याः मन्युवह्निः स्फुटम् उपशमितप्रायः । भ्रातुः दुःशासनस्य उरसः स्रवत् रुधिरं पीयमानं निरीक्ष्य क्रोधात् भीमसेने किं विहितम् यद् असमये त्वया अभिमानः अस्तः ।

(व्याख्या) मया वृकोदरेण, भीमेनेत्यर्थः, प्रसह्य बलात् कौरवाणा-

(जब) अभी भी तू निर्मल चन्द्रवंश में अपना जन्म बताता है, गदा धारण करता है तथा दुःशासन के उष्णरुधिर-रूपी मदिरा-पान से प्रमत्त मुझ भीम को अपना शत्रु कहता है एवं मदान्ध होकर मधुकैटभ-द्वेषी भगवान् वासुदेव के विषय में उद्दण्डता-पूर्ण चेष्टाएँ भी करता है, तो फिर, हे पुरुषपशो ! मेरे भय से युद्ध को त्याग कर इस समय तू कीचड़ में क्यों छिप गया है ! ।

और भी, हे दर्पान्ध ! कौरवाधम !

१. G. अयं पा. नास्ति ।

द्रौपदी—णाह ! अवणीदो मे मण्णू जइ पुणो वि सुलहं दंसणं भविस्सदि ।

(नाथ ! अपनीतो मे मन्युर्यदि पुनरपि सुलभं दर्शनं भविष्यति ।)

मन्तःपुरेषु नारीजनेषु हता निधनं प्रापिताः पतयः स्वामिनो येषां तेषु तथाभूतेषु सत्सु प्रोन्मुक्तैः निरस्तबन्धनैः केशपाशैः कचसमूहैः, वैधव्यतया कौरवस्त्रीणां केशपाशास्योन्मुक्तबन्धनत्वेनेत्यर्थः, पाञ्चाल्याः मन्युः क्रोधस्तस्य वह्निरग्निः स्फुटं स्पष्टमुपशमितप्राय एव संजातः । भ्रातुर्निजाऽनुजस्य दुःशासनस्य उरसः वक्षःस्थलात् स्रवत् निःसरद् असृक् शोणितं मया पीयमानं निरीक्ष्याऽवलोक्याऽपि क्रोधाद् भीमसेने मयि वृकोदरे त्वयाऽभिमानोऽस्तः परित्यक्तो दूरीकृत इत्यर्थः । यत्त्वमास्माभिमानं परित्यज्य युद्धात् पराङ्मुखीभूय इह सरसि निलीय स्थित इति तत्सर्वथा तेऽनुचितमिति भावः । स्रग्धरा छन्दः, 'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्' इति तल्लक्षणात् ।।८।।

नाथेति—मे मम द्रौपद्याः मन्युः क्रोधोऽपनीतो दूरीकृत एव बोद्धव्यः ।

कौरव-नारियों के पतियों के युद्ध-भूमि में मेरे द्वारा बल-पूर्वक मारे जाने पर उनके खुले हुए केशपाशों से द्रौपदी की क्रोधाग्नि स्पष्ट ही शान्त-प्राय हो चुकी है । परन्तु अपने भाई दुःशासन के वक्षःस्थल से निकलते हुए रक्त को पीते देखकर भी तूने मुझ भीम के विषय में क्रोध करके यह क्या किया कि तू ऐसे कुसमय में भी अभिमान त्याग कर यहाँ छिपकर बैठ गया ?

द्रौपदी—नाथ ! यदि आपके दर्शन पुनः सुलभ हो गए तो मेरा क्रोध स्वयं शान्त हो जाएगा ।

युधिष्ठिरः—कृष्णे ! नाऽमङ्गलानि व्याहर्तुमर्हस्यस्मिन् काले । भद्र ! ततस्ततः ।

पाञ्चालकः—देव ! ततश्चैवं भाषमाणेन वृकोदरेणाऽवतीर्य वीर्य-क्रोधोद्धतं[1] भ्रमित[2]गदापरिघपाणिना सहसैवोल्लङ्घिततीरम्, उत्सन्नमलिनीवनम्, अपविद्धमूर्छितग्राहम्, उद्भ्रान्तमत्स्यशकुन्तम्, अतिभैरवा-ऽऽरवभ्रमितवारिसञ्चयम् आयतमपि तत् सरः समन्तादालोडितम् ।

कृष्णे इति—हे कृष्णे ! हे द्रौपदि ! अस्मिन् युद्धकाले अमङ्गलानि अमङ्गलमयानि वचनानि व्याहर्तुं कथयितुं नाऽर्हसि न योग्यासि ।

देवेति—एवमुक्तप्रकारेण भाषमाणेन भवता वीर्यं च क्रोधश्च वीर्यक्रोधौ ताभ्यामुद्धतं यथा स्यात्तथा भ्रमितौ गदापरिघौ पाणौ हस्ते यस्य तेन तथाभूतेन वृकोदरेण भीमेन सरसि अवतीर्य सहसा वेगेन उल्लङ्घितं तीरं यस्य तत्, उत्सन्नमुन्मूलितं कमलिनीवनं यस्य तत्, अपविद्धाः बहिः प्रक्षिप्ता अत एव मूर्छिता ग्राहा नक्राः यस्य तत्, उद्भ्रान्ताः सन्त्रस्ताः मत्स्याः शकुन्ताश्च यस्य तत्, अतिभैरवो भीषण आरवः शब्दो यस्मिन् कर्मणि यथा तथाऽतिभैरवारवं क्रियाविशेषणम्, अतिभैरवारवं भ्रमितो वारिसंचयो जलसमूहो यस्य तत्, यद्वा अतिभैरवेण भयंकरेण आर-वेण शब्देन भ्रमितो वारिसंचयो यस्य तत् तथाभूतमायतं विशालमपि तत् सरस्तटाकं समन्ताद् आलोडितमवगाहितमिति वाक्यान्वयः ।

युधिष्ठिर—कृष्णे ! इस अवसर पर ऐसे अमङ्गल-मय शब्द न कहो । भद्र ! फिर क्या हुआ ? ।

पाञ्चालक—महाराज ! इसके बाद इस प्रकार कहते हुए कुमार भीमसेन ने बल एवं क्रोध से (बड़े) उद्धत-रूप में अपनी भुजाओं से गदा एवं परिघ को घुमाते हुए सहसा किनारे को उलांघ कर उस विशाल सरोवर में उतर कर उसका

---

१. G. '०धोद्धत' इत्यग्रिमपदेन समस्तम् । २. G. भ्रमितभीषणगदो०' इति पा. ।

युधिष्ठिरः— भद्र ! तथापि किं नोत्थितः ? ।

पाञ्चालकः—देव ! कथं[1] नोत्थितः—

त्यक्त्वोत्थितः सरभसं सरसः स मूल-
मुद्भूतकोपदहनोग्रविषस्फुलिङ्गः ।
आयस्तभीमभुजमन्दरवेल्लनाभिः,
[2]क्षीराऽम्बुधेः सुमथितादिव कालकूटः ॥९॥

त्यक्त्वेति—(अन्वयः) उद्भूतकोपदहनोग्रविषस्फुलिङ्गः स सरभसं सरसः मूलं त्यक्त्वा आयस्तभीमभुजमन्दरवेल्लनाभिः सुमथितात् क्षीराम्बुधेः कालकूट इव उत्थितः ।

(व्याख्या) कोपः क्रोध एव दहनोऽग्निः कोपदहनः, कोपदहनः उग्रविषमिव कोपदहनोग्रविषम्, तस्य स्फुलिङ्गाः, उद्भूताः प्रवृद्धाः कोपदहनोग्रविषस्फुलिङ्गा यस्मात् तथाभूतः स दुर्योधनः सरभसं सवेगं सरसस्तडागस्य मूलं तलप्रदेशं त्यक्त्वा विहाय आयस्ताः विशाला ये भीमा भयंकरा भुजाः देवदानवबाहवः तैर्याः मन्दरस्य वेल्लना भ्रमणानि ताभिः सुमथितादालोडितात् क्षीराम्बुधेः क्षीरसागरात् कालकूटो महाविषमिव उत्थितः । वसन्ततिलका छन्दः, 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति तल्लक्षणात् ॥६॥

चारों ओर से इस प्रकार आलोडन किया कि (उसमें उगे हुए) कमल उखड़ गए, ग्राह आदि जन्तु मूर्छित होने पर बाहर फेंक दिये गए, मछलियाँ तथा पक्षि-समूह भय-भीत होकर उधर-तिधर भागने लगे और अत्यन्त भीषण शब्द के साथ उसका जल-समूह घूमने लगा ।

युधिष्ठिर—भद्र ! तो क्या वह फिर भी नहीं उठा ! ।

पाञ्चालक—महाराज ! उठा क्यों नहीं !

वह दुरात्मा, जिसके शरीर से क्रोधाग्नि के भीषण स्फुलिङ्ग निकल रहे थे,

१. G. अयं पा नास्ति । २. G. 'क्षीरोदधेः सुमथनादिव०' इति पा. ।

युधिष्ठिरः—साधु, सुक्षत्रिय ! साधु ।
द्रौपदी—पडिवण्णो समरो ण वा ।
(प्रतिपन्नः समरो न वा ।)

पाञ्चालकः—उत्थाय च तस्मात् सलिलाशयात् करयुगलोत्तम्भित-तोरणीकृतभीमगदः कथयति स्म—'अरे रे मारुते ! किं भयेन प्रलीनं दुर्योधनं मन्यते भवान् ? । मूढ ! अनिहतपाण्डुपुत्रः प्रकाशं लज्जमानो विश्रमितुमध्यवसितवानस्मि पातालम् ।'

प्रतिपन्न इति—समरः संग्रामः प्रतिपन्नः स्वीकृतो न वा, तेनेति शेषः । प्रति√पद् + क्तः ।

उत्थायेति—करयुगलेन हस्तद्वयेन उत्तम्भिता उपरि स्थापिता अतएव तोरणीकृता भीमा भीषणा गदा येन स तथाभूतो दुर्योधनः सलिला-शयात् सरोवराद् उत्थाय कथयतिस्म उवाच । रे मारुते ! हे वृकोदर ! प्रलीनं प्रच्छन्नम् ।

मूढेति—न निहताः पाण्डुपुत्राः पाण्डवा येन तथाभूतोऽहं प्रकाशं लज्जमानो लज्जामनुभवन् विश्रमितुं विश्रामं कर्तुं पातालमध्यवसित-वान् गतवानस्मि ।

बड़े वेग के साथ उस सरोवर के पृष्ठ-तल को छोड़ कर उसी प्रकार निकला जिस प्रकार (देवताओं एव दानवों की) विशाल एवं भीषण भुजाओं से मन्दराचल के घूमने से सुमथित क्षीरसागर से कालकूट निकला था ॥६॥

युधिष्ठिर—ठीक, वीर क्षत्रिय ! ठीक ।

द्रौपदी—फिर उसने युद्ध करना स्वीकार किया या नहीं ?

पाञ्चालक—(महाराज ! इसके बाद) दुर्योधन सरोवर से उठकर दोनों हाथों से अपनी भीषण गदा को तोरणाकार (=अर्ध गोलाकार) में ऊपर उठाकर कहने लगा, 'अरे वायु-पुत्र भीम ! क्या तू दुर्योधन को भय से छिपा हुआ समझता है ? । 'मूर्ख ! पाण्डु-पुत्रों को न मार सकने के

एवं चोक्तवति[1] [तस्मिन्] वासुदेवकिरीटिभ्यां द्वावप्यन्तःसलिलं निषिद्धसमराऽऽरम्भौ स्थलमुत्तारितौ भीमसुयोधनौ[2]। आसीनश्च कौरवराजः क्षितितले गदां निक्षिप्य विशीर्णरथसहस्रं, निहतकुरुशतगजवाजिनरसहस्रकलेवरसंमर्दसंपतद्गृध्रकङ्कजम्बुकम्, उत्सन्न-

एवमिति—तस्मिन् दुर्योधने एवमुक्तप्रकारेण उक्तवति कथितवति सति वासुदेवश्च किरीटी च ताभ्यां कृष्णार्जुनाभ्यामन्तःसलिलं जलमध्ये निषिद्धः समरस्य युद्धस्याऽऽरम्भो ययोस्तौ तथाभूतौ भीमदुर्योधनौ स्थलं भूप्रदेशमुत्तारितौ समानीतौ। ततश्च गदां निक्षिप्य क्षितितले पृथिवीतले आसीनः स्थितः, √आस् (उपवेशने) + क्तः प्रत्ययः, कौरवराजो दुर्योधनः विशीर्णानि विच्छिन्नानि रथानां स्यन्दनानां सहस्राणि यस्मिंस्तथाभूतं, निहतानां मृत्युं प्राप्तानां कुरूणां शतं गजानां हस्तिनां वाजिनामश्वानां नराणां मनुष्याणां च सहस्राणि तेषां यानि कलेवराणि शरीराणि तैर्यः सम्मर्दः संघट्टस्तत्र सम्पतन्तो गृध्राः कङ्काः बृहद्बकविशेषाः जम्बुकाः शृगालाश्च यस्मिंस्तथाभूतम्, उत्सन्नं

कारण प्रकट रूप में (यहाँ) कुछ लज्जा का अनुभव करते हुए मैं इस समय पाताल लोक में विश्राम कर रहा था।'

दुर्योधन के इस प्रकार कहने पर भगवान् कृष्ण एवं अर्जुन उन दोनों को जल के अन्दर युद्ध करने से रोक कर उस सरोवर से बाहर निकाल लाए। बाहर आकर कौरवराज दुर्योधन ने अपनी गदा को पृथ्वी पर फेंक कर उस रण-स्थान को, जहाँ पर चारों तरफ़ हज़ारों रथ छिन्न-भिन्न अवस्था में बिखरे हुए पड़े थे और (युद्ध में) मारे गए सौ कौरवों तथा हज़ारों हाथी, घोड़े एवं मनुष्यों के मृत शरीरों पर गीध, कङ्क एवं गीदड़ झपट रहे थे, जहाँ से

१. G. 'चोक्ते' इति पा.। २. G. इदं पदं नास्ति।

सुयोधनबलम्¹, अस्मद् वीरमुक्तसिंहनादैःसंवलितसमरतूर्यम्, अबान्धवम्² अमित्रबान्धवमकौरवं रणस्थानमवलोक्याऽऽयतमुष्णं च निःश्वसितवान्। ततश्च वृकोदरेणाऽभिहितम्—'अयि भोः कौरवराज! कृतं बन्धुनाशदर्शनमन्युना। मैवं विषादं कृथाः, 'पर्याप्ताः पाण्डवाः समरायाऽहमसहायः' इति। किञ्च—

विनष्टं सुयोधनस्य बलं सैन्यं यस्मिंस्तत्, अस्माकं वीरैः सैनिकैर्मुक्तो यः सिंहनादस्तेन संवलितं सम्मिलितं समरतूर्यं यस्मिंस्तत्, न सन्ति बान्धवाः यस्मिंस्तत् अमित्राणां शत्रूणां बान्धवाश्च यस्मिंस्तत्, न सन्ति कौरवाः यस्मिंस्तदकौरवं कौरवशून्यं रणस्थानं युद्धस्थलं विलोक्य दृष्ट्वा आयतं दीर्घमुष्णं च निश्वसितवान् निश्वासं गृहीतवान्।

वृकोदरेणेति—वृकोदरेण भीमेनाऽभिहितमुक्तम्। बन्धूनां सम्बन्धिनां यो नाशस्तस्य दर्शनाज्जातो यो मन्युः क्रोधस्तेन कृतमलम्। 'पाण्डवाः पाण्डुपुत्राः पर्याप्ताः बहवः, अहं दुर्योधनश्चाऽसहायो निःसहायः' इत्येवं मनसि विचार्य विषादं दुःखं मा कृथाः न कुर्याः किञ्चाऽपरञ्च।

दुर्योधन की सेना उखड़ चुकी थी और जहाँ हमारे वीरों की सिंह गर्जना के युद्ध का बाजा बज रहा था तथा जहाँ उसे अपना कोई भी बन्धु दृष्टि-गोचर नहीं होता था प्रत्युत चारों ओर शत्रुओं के बन्धु-बान्धव ही दिखाई दे रहे थे और कोई भी कौरव नज़र नहीं पड़ता था, देख कर बड़ी गहरी एवं गरम-गरम सांस लीं। इसके बाद कुमार भीमसेन ने उससे कहा, 'कौरवराज! सम्बन्धियों के विनाश को देख कर क्रोध करने की आवश्यकता नहीं है। 'पाण्डव बहुत हैं और मैं अब अकेला हूँ'—इस बात से भी दुःख न करो। क्योंकि—

१. G. इदं पदं नास्ति। २. G. '०नादम्' इति पृथक् पा.।

पञ्चानां मन्यसेऽस्माकं यं सुयोधं सुयोधन ! ।
दंशितस्याऽऽत्तशस्त्रस्य तेन तेऽस्तु रणोत्सवः ॥१०॥
इत्थं श्रुत्वाऽसूयाऽन्वितां दृष्टिं कुमारयोर्निक्षिप्योक्तवान् धार्तराष्ट्रः ।
कर्णदुःशासनवधात्तुल्यावेव युवां मम ।
अप्रियोऽपि प्रियो योद्धुं त्वमेव प्रियसाहसः ॥११॥

पञ्चानामिति—(व्याख्या) हे सुयोधन ! अस्माकं पञ्चानामपि पाण्डुपुत्राणां मध्ये यं कमपि त्वं सुयोधं सुखेन युद्धयोग्यं मन्यसे तेनैव पाण्डुपुत्रेण सह दंशः कवचोऽस्ति अस्येति दंशितस्तस्य कवच-धारिणः आत्तं गृहीतं शस्त्रमायुधं येन तथाभूतस्य ते तव दुर्योधनस्य रणोत्सवो युद्धोत्सवोऽस्तु ॥१०॥

इत्थमिति—इत्थमेवं भीमस्य वचनं श्रुत्वा धार्तराष्ट्रो दुर्योधनः असूयया ईर्ष्ययाऽन्वितां दृष्टिं कुमारयोर्भीमार्जुनयोर्निक्षिप्य पातयित्वा उक्तवान् निम्नप्रकारेणाऽवोचत् ।

कर्णेति—(व्याख्या) हे भीम ! कर्णश्च दुःशासनश्च तयोर्वधात् युवां द्वावपि, कर्णवधादर्जुनो दुःशासनवधाद् भीमश्चेत्यर्थः, तुल्यौ समानौ। परन्तु अप्रियः शत्रुः सन्नपि प्रियं साहसं यस्य स तथाभूतस्त्वमेव योद्धुं युद्धं कर्तुं मम दुर्योधनस्य प्रिय इष्टः। प्रियसाहसत्वेन त्वया साकमेवाऽहं योत्स्य इत्यर्थः ।

हे सुयोधन ! हम पाँचों मे से जिसके साथ तुम युद्ध करना सरल समझते हो उसीके साथ कवच एवं शस्त्र धारण करके युद्ध करो ॥१०॥

यह सुन कर धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधन ने कुमार भीमसेन एवं अर्जुन पर बड़ी रोष-पूर्ण दृष्टि डालते हुए कहा कि—

कर्ण और दुःशासन का वध करने के कारण मेरे लिए तुम दोनों समान हो। परन्तु तुम बड़े साहस-प्रिय हो। इस लिये शत्रु होते हुए भी युद्ध के लिए मैं तुम्हें पसन्द करता हू ॥११॥

इत्युत्थाय च परस्परक्रोधाऽधिक्षेपपरुषवाक्कलहप्रस्तावितघोरसंग्रामौ, विचित्रविभ्रमभ्रमितगदापरिभासुरभुजदण्डौ मण्डलैर्विचरितु मारब्धौ भीमदुर्योधनौ। अहं च देवेन चक्रपाणिना देवसकाशमनुप्रेषितः। आह च देवो देवकीनन्दनः—'अपर्युषितप्रतिज्ञे च मारुतौ प्रनष्टे च कौरवराजे, महानासीन्नो विषादः। सम्प्रति पुनर्भीमसेनेनाऽऽसादिते सुयोधने निष्कण्टकीभूतं भुवनतलं परिकलयतु भवान्। अभ्युदयोचिताश्च प्रवर्त्यन्तामनवरतं[1] [2]मङ्गलसमारम्भाः। कृतं सन्देहेन।

इत्युत्थायेति—इत्युक्तप्रकारेण उक्त्वा उत्थाय च परस्परं क्रोधेन कोपेन यः अधिक्षेप आक्षेपस्तेनोत्पन्नो यः परुषः कठोरो वाक्कलहस्तेन प्रस्तावित आरब्धो घोरः संग्रामो युद्धं याभ्यां तौ, विचित्रेण विभिन्नप्रकारकेण विभ्रमेण विलासेन भ्रमिता या गदा तया परिभासुरौ भुजदण्डौ ययोस्तौ तथाभूतौ भीमदुर्योधनौ मण्डलैर्मण्डलाकारेण विचरितुमारब्धौ इत्यन्वयः।

अहमिति—चक्रं पाणौ हस्ते यस्य तेन तथाभूतेन देवेन कृष्णेनाऽहं देवस्य भवतः सकाशं समीपमनुप्रेषितः सम्प्रेषितः देवक्या नन्दनः पुत्रश्च देवो भगवान् वासुदेव इत्थमाह अब्रवीत्। मारुतौ भीमे अपर्युषिताऽपूर्णा प्रतिज्ञा यस्य तस्मिन् तथाभूते सति, कौरवाणां राजा तस्मिन् कौरवराजे दुर्योधने च प्रनष्टे विलुप्ते सति नोऽस्माकं महान् विषादो

और उठकर कुमार भीमसेन एवं दुर्योधन दोनों, जिनके भुजदण्ड विचित्र घुमाव के साथ घुमाई हुई गदाओं से चमक रहे थे, परस्पर क्रोध आक्षेप, कठोर शब्द एवं कलह के साथ युद्ध में व्यस्त होकर मण्डलाकार में चारों तरफ़ चक्कर लगाने लगे और मुझे चक्र-पाणि भगवान् वासुदेव ने महाराज के पास भेजा है और देवकीनन्दन भगवान् कृष्ण ने कहा है कि, 'कौरवराज दुर्योधन के (कहीं जाकर) छिप जाने पर वायु-पुत्र भीम की प्रतिज्ञा के अपूर्ण रह जाने के कारण

१. G. इदं पदं नास्ति। २. G. 'समारम्भाः' इत्येव पा.।

पूर्यन्तां सलिलेन रत्नकलशा राज्याऽभिषेकाय ते,
कृष्णाऽत्यन्तचिरोज्झिते च कबरीबन्धे करोतु क्षणम् ।
रामे [1]घोरकुठारभासुरकरे क्षत्रद्रुमोच्छेदिनि,
क्रोधाऽन्धे च वृकोदरे परिपतत्याजौ कुतः संशयः ? ॥१२॥

दुःखमासीत् । सम्प्रत्यधुना च भीमसेनेन वृकोदरेण सुयोधने कौरवराजे पुनः आसादिते प्राप्ते सति भवान् इदं समस्तं भुवनतलं भूमण्डलं निष्कण्टकीभूतं शत्रुरहितं परिकलयतु अवगच्छतु । अतः सम्प्रति अभ्युदयो विजयावसरस्तदुचिताः योग्याः मङ्गलसमारम्भाः मङ्गलकर्माणि अनवरतं निरन्तरं प्रवर्त्यन्तामारभ्यन्ताम् । अस्माकं विजये सन्देहेन संशयेन कृतमलमित्यर्थः ।

पूर्यन्तामिति—(अन्वयः) ते राज्याऽभिषेकाय रत्नकलशाः सलिलेन पूर्यन्ताम् । कृष्णा च अत्यन्तचिरोज्झिते कबरीबन्धे क्षणम् करोतु । घोरकुठारभासुरकरे क्षत्रद्रुमोच्छेदिनि रामे क्रोधान्धे वृकोदरे च आजौ परिपतति (सति) संशयः कुतः ? ॥

(व्याख्या) ते तव, युधिष्ठिरस्येत्यर्थः, राज्येऽभिषेकाय, अभिषेकं कर्तुमित्यर्थः, रत्नैर्जटिताः कलशाः घटाः सलिलेन जलेन पूर्यन्तां भ्रियन्ताम् । कृष्णा द्रौपदी च अत्यन्तचिरेण बहुना कालेन उज्झिते अबद्धे कबरीबन्धे वेणीबन्धे उन्मुक्तवेणीबन्धविषये इत्यर्थः, क्षणमुत्सवं

हम लोगों को बड़ा दुःख हो रहा था । परन्तु अब कुमार भीम के दुर्योधन को पुनः प्राप्त कर लेने पर आप समस्त भूमण्डल को निष्कण्टक हुआ समझिये इस लिये अब इस विजयअवसर के अनुरूप सतत मङ्गलमहोत्सव आरम्भ कराइये । (अब इस विषय में) सन्देह करने की आवश्यकता नहीं है ।

आप अपने राज्याभिषेक के लिये रत्न-जटित कलश जल से परिपूर्ण

१. G. 'शात०' इति पा. ।

द्रौपदी—(सवाष्पम्) जं देवो तिहुअणणाहो भणादि तं कहं अण्णहा हुविस्सदि ? ।

([सवाष्पम्] यद्देवस्त्रिभुवननाथो भणति तत् कथमन्यथा भविष्यति ? ।)

पाञ्चालकः—न केवलमियमाशीः, असुरनिषूदनस्याऽऽदेशोऽपि ।

करोतु वेणीबन्धोत्सवं विदधातु इत्यर्थः । घोरो भयंकरो यः कुठारः परशुस्तेन भासुरो देदीप्यमानः करो यस्य तस्मिन् , क्षत्राः क्षत्रिया एव द्रुमा वृक्षास्तानुच्छेत्तुं शीलमस्य तस्मिन् तथाभूते रामे परशुरामे क्रोधेन कोपेनाऽन्धेऽन्धीभूते वृकोदरे भीमे च आजौ संग्रामे परिपतति प्रवृत्ते सति संशयः विजये सन्देहः कुतः कुत्र ? इदानीं भीमस्य विजये कथमपि सन्देहो न कर्तव्य इति भावः । शार्दूलविक्रीडितं छन्दः, 'सूर्याश्वैर्यदि मासजः सततगाः शार्दूलविक्रीडितम् ' इति तल्लक्षणात् ॥१२॥

सवाष्पमिति—वाष्पैः सहितं सवाष्पं सास्रम् । त्रयाणां भुवनानां समाहारस्त्रिभुवनं तस्य नाथः त्रिभुवननाथः त्रिलोकेशो भगवान् वासुदेवो यद् भणति कथयति तत्कथमन्यथा असत्यं भविष्यति, न कथमपीत्यर्थः ।

न केवलमिति—आशीराशीर्वादः । असुरान् राक्षसान् निषूदते इति तच्छीलस्तस्यासुरनिषूदनस्य असुरारेर्भगवतः कृष्णस्य आदेशः आज्ञा ।

कराइये और द्रौपदी चिरकाल से उन्मुक्त अपने केशपाश के बन्धन का उत्सव मनाए, क्योंकि भीषण कुठार हाथ में लेकर क्षत्रिय वंश-रूपी वृक्ष का उच्छेद करने वाले महाराज परशुराम क्रोधान्ध भीम के युद्ध में अवतीर्ण होने पर विजय मे सन्देह कैसे हो सकता है ? ॥१२॥

द्रौपदी—(आँखों में आँसू भर कर) त्रिलोकी के स्वामी भगवान् वासुदेव जो कहते हैं वह अन्यथा कैसे हो सकता है ?

पाञ्चालक—महाराज असुरारि भगवान् कृष्ण का यह केवल आशीर्वाद ही नहीं है, प्रस्तुत आज्ञा भी है ।

युधिष्ठिरः—को हि नाम भगवता संदिष्टं विकल्पयति ?। कः कोऽत्र भो ?

(प्रविश्य)

कञ्चुकी—आज्ञापयतु देवः।

युधिष्ठिरः—कञ्चुकिन्[1] ! देवस्य देवकीनन्दनस्य बहुमानाद् वत्सस्य मे विजयमङ्गलाय प्रवर्त्यन्तां तदुचिताः समारम्भाः।

कोहि नामेति—भगवता कृष्णेन सन्दिष्टमादिष्टमुक्तं को हि नाम विकल्पयति संशयति।

कञ्चुकिन्निति—देवकीनन्दनस्य देवस्य भगवतः कृष्णस्य बहुमानाद् अत्यादरभावाद् मे मम वत्सस्य भीमस्य विजयमंगलाय विजयसूचक-मंगलोत्सवाय तदुचिताः मङ्गलावसरोचिताः समारम्भाः कर्माणि प्रवर्त्यन्तां समारभ्यन्ताम्।

युधिष्ठिर—भगवान् के सन्देश में कौन तर्क-वितर्क कर सकता है ?। अरे ! यहाँ कोई है ?।

(प्रवेश कर के)

कञ्चुकी—महाराज ! आज्ञा कीजिये।

युधिष्ठिर—कञ्चुकिन् ! भगवान् वासुदेव के (आदेश के) प्रति विशेष आदर भाव से प्रिय भीमसेन की विजय के उपलक्ष्य में तदनुरूप मङ्गल महोत्सव प्रारम्भ कराइये।

---

१. G. इदं सम्बोधनपदं नास्ति।

कञ्चुकी—[1]यथाऽऽज्ञापयति देवः। (सोत्साहं परिक्रम्य) भो भोः संविधातॄणां पुरस्सराः! यथाप्रधानमन्तर्वेश्मिकाः, दौवारिकाश्च! एष खलु भुजबलपरिक्षेपोत्तीर्णकौरवपरिभवसागरस्य, निर्व्यूढदुर्वह-प्रतिज्ञाभारस्य, सुयोधनाऽनुजशतोन्मूलनप्रभञ्जनस्य, दुःशासनोरः-स्थलविदलननरसिंहस्य, दुर्योधनोरुस्तम्भभङ्गविनिश्चितविजयस्य बलिनः प्राभञ्जनेर्वृकोदरस्य [2]सहोदरस्नेहपक्षपातिना मनसा मङ्गलानि

भो भो इति—अयि कार्यकर्तॄणां पुरस्सरा अग्रगण्याः!, प्रधानमन-तिक्रम्य यथाप्रधानं, प्रधानेन सहिता इत्यर्थः अन्तर्वेश्मिका अन्तः-पुरप्रबन्धकाः, दौवारिका द्वारपालाश्च! भुजयोर्बाह्वोर्बलस्य सारस्य परि-क्षेपेण प्रदर्शनेन उत्तीर्णः कौरवैः कृतस्य परिभवस्य तिरस्कारस्य सागरो येन तस्य, निर्व्यूढः प्रपूरितो दुर्वहायाः प्रतिज्ञायाः भारो येन तस्य, सुयोधनस्याऽनुजानां कनिष्ठभ्रातॄणां यत् शतं तस्योन्मूलने प्रभञ्जनस्य वायुस्वरूपस्य, दुःशासनस्य यद् उरःस्थलं वक्षःस्थलं तस्य विदलने विदारणे नरसिंहस्य नृसिंहस्वरूपस्य, दुर्योधनस्य ऊरुरेव स्तम्भस्तस्य भङ्गेन विनिश्चितो विजयो यस्य तस्य तथाभूतस्य बलिनो वीरस्य प्रभञ्जनस्य वायोरपत्यं पुमान् प्राभञ्जनिस्तस्य वृकोदरस्य भीमस्य विजयाय सहोदरे भ्रातरि यः स्नेहस्तस्य पक्षपातिना मनसा हृदयेन एष देवो युधिष्ठिरो मङ्गलानि मङ्गलकर्माणि कर्तुमाज्ञापयति आदिशति।

कञ्चुकी—जो महाराज की आज्ञा। (उत्साह के साथ मुड़कर) हे (उत्सव के) कार्यकर्ताओं के मुखियाओ! स्थानानुकूल महल के सेवाहियो! तथा द्वारपालो! अपने भुजबल के प्रयोग से कौरवों द्वारा किये गये अपमान के महासागर को पार करने वाले, (दुर्योधन-वध की) कठिन प्रतिज्ञा को पूरा करने वाले तथा दुर्योधन के सौ भाइयों के उन्मूलन के लिये तीक्ष्ण

१. G. 'यदा०' इति पा.। २. G. 'सहोदर' इति पा. नास्ति।

कर्तुमाज्ञापयति देवो युधिष्ठिरः। (आकाशे) किं ब्रूथ—'सर्वतोऽधिकतरमपि प्रवृत्तं किं नावलोकयसि ?' इति। साधु, पुत्रकाः! साधु। अनुक्तहितकारिता हि प्रकाशयति मनोगतां स्वामिभक्तिम्।

युधिष्ठिरः—आर्य जयन्धर !

कञ्चुकी—आज्ञापयतु देवः।

आकाशे इति—आकाशे आकाशं प्रत्यवलोक्य स्वयमेव च स्वकृतस्य प्रश्नस्योत्तरं कल्पयित्वेत्यर्थः। सर्वतः सर्वत्र अधिकतरं विशेषरूपेण प्रवृत्त समारब्धं गीतादिरूपं मङ्गलकर्म किं नाऽवलोकयसि न पश्यसि ? अनुक्तमेव हितं कर्तुं शीलमस्य स अनुक्तहितकारी तस्य भावस्तां मनोगतां हार्दिकीं स्वामिनो भक्तिं प्रकाशयति व्यञ्जयति।

वायुस्वरूप एवं दुःशासन के वक्षःस्थल का विदारण करने के लिये नृसिंह के समान (शक्तिशाली) अपने भाई वायु-पुत्र भीम की विजय-कामना से, जिस की जीत दुर्योधन के ऊरु-रूपी स्तम्भ के भङ्ग हो जाने पर निश्चित है. महाराज युधिष्ठिर भ्रातृ-प्रेम से परिपूर्ण हृदय से आप लोगो को मङ्गल-महोत्सव प्रारम्भ करने की आज्ञा देते हैं।

(आकाश की ओर देखकर) क्या कहा, 'सब जगह विशेषरूप से मङ्गल महोत्सव हो रहे हैं। क्या आप नहीं देखते ?' ठीक, पुत्रो ! ठीक। बिना कहे ही हित करना सच्ची हार्दिक स्वामि-भक्ति प्रकट करता है।

युधिष्ठिर—आर्य जयन्धर !

कञ्चुकी—महाराज ! आज्ञा कीजिये।

युधिष्ठिरः—गच्छ, प्रियख्यापकं पाञ्चालकं पारितोषिकेण परितोषय।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः। (इति पाञ्चालकेन सह निष्क्रान्तः।)

द्रौपदी—महाराअ ! किं णिमित्तं उण णाहभीमसेणेण सो दुराआरो भणिदो—'पञ्चाणं वि अम्हाणं मज्झे जेण दे रोअदि तेण सह दे संगामो होदु' त्ति। जइ मद्दीसुदाणं एक्कदरेण सह संगामो तेण पत्थिदो भवे तदो अच्चाहिदं भवे।

(महाराज ! किं निमित्तं पुनर्नाथभीमसेनेन स दुराचारो भणितः—'पञ्चानामप्यस्माकं मध्ये येन ते रोचते तेन सह ते संग्रामो भवतु' इति ? यदि माद्रीसुतयोरेकतरेण सह संग्रामस्तेन प्रार्थितो भवेत् ततोऽत्याहितं भवेत्'।)

गच्छेति—प्रियं हितं ख्यापयतीति तं प्रियख्यापकं मङ्गलमयहित-सूचकं पाञ्चालकं पारितोषिकेण पारितोषिकप्रदानेन परितोषय सन्तोषय।

महाराजेति—नाथेन भीमसेनेन दुराचारो दुष्टः स दुर्योधनः किं निमित्तं किमर्थं पुनरेवं भणितः कथितः। अस्माकं पाण्डुपुत्राणां मध्ये येन केनापि सह ते तुभ्यं संग्रामो युद्धं रोचते तेनैव सह ते तव युद्धं भवतु नाम। माद्रीसुतयोर्नकुलसहदेवयोरेकतरेण एकेन केनचिद् यदि तेन दुर्योधनेन संग्रामः प्रार्थितो याचितो भवेत्तदाऽत्याहितं महदनिष्टं स्यात्।

युधिष्ठिर—जाओ, प्रिय समाचार सुनाने वाले इस पाञ्चालक को पारितोषिक से सन्तुष्ट करो।

कञ्चुकी—जो महाराज की आज्ञा। (यह कहकर पाञ्चालक के साथ बाहर चला जाता है।)

द्रौपदी—महाराज ! स्वामी भीमसेन ने उस दुराचारी से यह किस लिए कहा, कि 'हम पाँचों के बीच में जिस के साथ भी तुम्हें युद्ध पसन्द हो, उसी के साथ तुम लड़ सकते हो' ! यदि वह माद्री-सुत नकुल और सहदेव, इन दोनों में से किसी एक के साथ युद्ध करने के लिए कहता तो बड़ा अनर्थ हो जाता।

युधिष्ठिरः—कृष्णे ! एवं मन्यते जरासन्धघाती हतसकलसुहृद्बन्धुवीराऽनुजराजन्यासु, कृपकृतवर्माऽश्वत्थामशेषास्वेकादशस्वक्षौहिणीष्व-बान्धवः शरीरमात्रविभवः कदाचिदुत्सृष्टनिजाऽभिमानो धार्तराष्ट्रः परित्यजेदायुधं तपोवनं वा व्रजेत् सन्धिं वा पितृमुखेन याचेत। एवं सति सुदूरमतिक्रान्तः प्रतिज्ञाभारो भवेत् सकलजयस्येति। समरं प्रतिपत्तुं पञ्चानामपि पाण्डवानामेकस्याऽपि नैव क्षमः सुयोधनः। शङ्के चाऽहं गदायुद्धं वृकोदरस्यैवाऽनेन। अयि सुक्षत्रिये ! पश्य—

कृष्णेति—हे कृष्णे ! हे द्रौपदि ! जरासन्धं हन्तीति जरासन्धघाती भीम एवमित्थं मन्यते यत् हता निधनं प्राप्ताः सकलाः समस्ताः सुहृदो बन्धवो वीराः अनुजाः कनिष्ठभ्रातरो राजन्याः क्षत्रियाश्च यासु तासु, कृपः कृपाचार्यः कृतवर्मा अश्वत्थामा एव शेषा अवशिष्टाः यासु तासु तथाभूतासु एकादशसु एकादशसंख्यकासु अक्षौहिणीषु शरीरमात्रमेव विभवः सम्पत्तिर्यस्य सः, उत्सृष्टः परित्यक्तो निजोऽभिमानो येन स तथाभूतो धार्तराष्ट्रो धृतराष्ट्रपुत्रो दुर्योधनः कदाचिद् आयुधमस्त्रं परित्यजेदुत्सृजेत, तपोवनं वा व्रजेद् गच्छेत्, पितुर्धृतराष्ट्रस्य मुखेन सन्धिं वा याचेत् प्रार्थयेत्। एवं च सति तथा सति सकलानां सर्वेषां रिपूणां शत्रूणां जयस्य विजयस्य प्रतिज्ञायाः भारः पूर्तिः सुदूरमतिदूरमतिक्रान्तो गतः स्यात्। प्रतिज्ञापूर्तिरसम्भवा भवेदित्यर्थः। सुयोधनश्चाऽस्माकं पञ्चानां मध्ये एकस्य कस्याऽपि समरं युद्धं प्रतिपत्तुं जेतुं न क्षमः समर्थः। वृकोदरस्य भीमस्यैवाऽनेन दुर्योधनेन गदायुद्धं भविष्यतीत्यहं शङ्के सम्भावये।

युधिष्ठिर—हे द्रौपदी ! सम्भव है भीम का यह विचार होगा कि (कौरवों की) ग्यारह अक्षौहिणी सेना में कृपाचार्य, कृतवर्मा और अश्वत्थामा को छोड़ कर समस्त मित्र एवं बन्धु-वर्ग तथा वीर अनुजों के मारे जाने पर दुर्योधन, जिसका अब कोई भी बन्धु अवशिष्ट नहीं है और एक मात्र शरीर ही शेष है,

क्रोधोद्गूर्णगदस्य नाऽस्ति सदृशः सत्यं रणे मारुतेः,
कौरव्ये कृतहस्तता पुनरियं देवे यथा सीरिणि।
स्वस्त्यस्तूद्धतधार्तराष्ट्रनलिनीनागाय वत्साय मे,
शङ्के तस्य सुयोधनेन समरं नैवेतरेषामहम् ॥१३॥

क्रोधोद्गूर्णेति—(अन्वयः) क्रोधोद्गूर्णगदस्य मारुतेः सदृशः रणे सत्यं नास्ति, पुनः कौरव्ये इयं कृतहस्तता देवे सीरिणि यथा। उद्धतधार्तराष्ट्रनलिनीनागाय मे वत्साय स्वस्ति अस्तु। अहं तस्य सुयोधनेन समरं शङ्के, इतरेण नैव।

(व्याख्या) क्रोधेन कोपेन उद्गूर्णा उत्थापिता गदा येन तस्य तथाभूतस्य मारुतेर्भीमस्य सदृशः समानः रणे सत्यमेव यद्यपि कश्चिद् वीरो नास्ति, पुनश्च कौरव्ये सुयोधने इयं कृतः सिद्धः हस्तो यस्य सः कृतहस्तस्तस्य भावस्तत्ता कृतहस्तता सिद्धहस्तता, शस्त्रविद्यायां हस्तकौशलमित्यर्थः, देवे भगवति सीरो हलमस्याऽस्तीति सीरी तस्मिन् सीरिणि यथा बलरामे इव, अर्थात् बलरामे यथाऽस्त्रविद्यायां हस्तचातुर्यं वर्तते तथैव सुयोधनेऽप्यस्तीत्यर्थः। अत उद्धतो धार्तराष्ट्रो दुर्योधन एव नलिनी कमलिनी तस्या नाग इव हस्तीव तस्मै तथाभूताय मे वत्साय भीमाय स्वस्ति कल्याणमस्तु। अहं युधिष्ठिरस्तस्य भीमस्य

अभिमान छोड़कर कभी शस्त्र त्याग दे अथवा तपोवन में चला जाए या अपने पिता के द्वारा सन्धि की प्रार्थना कर बैठे। ऐसा होने पर समस्त शत्रुओं के जीतने की प्रतिज्ञा-पूर्ति असम्भव हो जायगी और वह दुर्योधन इस समय हम पांचों में से किसी एक से भी युद्ध करने में समर्थ नहीं है। मेरे विचार से उस का भीम के साथ ही गदा-युद्ध होगा। हे क्षत्रियवीराङ्गने! देखो—

यद्यपि क्रोध से गदा उठा कर रणभूमि में अवतीर्ण हुए वायु-पुत्र भीम के समान दूसरा कोई वीर नहीं है परन्तु कुरुराज दुर्योधन भी (अस्त्रविद्याओं

(नेपथ्ये)

तृषितोऽस्मि भोस्तृषितोऽस्मि, सम्भावयतु कश्चित् सलिलच्छाया-सम्प्रदानेन माम् ।

युधिष्ठिरः—(आकर्ण्य) कः कोऽत्र भोः ? ।

(प्रविश्य सत्वरम्[1])

कञ्चुकी—आज्ञापयतु देवः ।

युधिष्ठिरः—ज्ञायतां किमेतत् ?

सुयोधनेन समरं युद्धं शङ्के सम्भावये, इतरेषामर्जुनादीनां पाण्डवानां युद्धं तेन न सम्भावये इत्यर्थः । शार्दूलविक्रीडितं छन्दः, 'सूर्याश्वैर्यदि मासजः सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' इति तल्लक्षणात् ॥१३॥

तृषित इति तृषितः पिपासितः द्विरुक्तिस्तृषाऽऽधिक्यद्योतनार्थम् । तृषा संजाता अस्येत्यर्थे तृषाशब्दात् तारकादित्वाद् इतच् प्रत्ययः । सलिलस्य जलस्य छायायाश्च सम्प्रदानेन मां सम्भावयतु अनुगृह्णातु ।

में) भगवान् बलराम के समान सिद्धहस्त है । (इसलिये) धृतराष्ट्र के उद्धत पुत्र-रूपी कमलों को उखाड़कर फेंकने में हाथी के समान वत्स भीमसेन का(ईश्वर) कल्याण करे । मुझे दुर्योधन के साथ उसीका युद्ध होने की आशङ्का है और का नहीं ॥१३॥

(नेपथ्य में)

अरे मैं प्यासा हूँ, बहुत प्यासा हूँ । कोई जल एवं छाया प्रदान करके मुझे अनुगृहीत करे !

युधिष्ठिर—(सुन कर) अरे यहाँ कौन है ? ।

(शीघ्रता से प्रवेश करके)

कञ्चुकी—आज्ञा कीजिये ।

युधिष्ठिर—जा कर पता लगाओ यह क्या है ?

---

१. G. इदं पदं नास्ति ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः (इति निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य) देव ! क्षुत्स्मानतिथिरुपस्थितः ।

युधिष्ठिरः—शीघ्रं प्रवेशय ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः । (इति निष्क्रान्तः ।)

(ततः प्रविशति मुनिवेषधारी चार्वाको नाम राक्षसः ।)

राक्षसः—(आत्मगतम्) एषोऽस्मि चार्वाको नाम राक्षसः सुयोधनस्य मित्रं पाण्डवान् वञ्चयितुं भ्रमामि ।

(प्रकाशम्) तृषितोऽस्मि, तृषितोऽस्मि । सम्भावयतु मां कश्चिज्जलच्छायाप्रदानेन । (इति राज्ञः समीपमुपसर्पति ।)

(सर्वे उत्तिष्ठन्ति ।)

देवेति—क्षुद् बुभुक्षाऽस्यास्तीति क्षुत्स्मान्. 'क्षुध्' शब्दात् मतुप् प्रत्ययः, क्षुधापीडितः कश्चिदतिथिरभ्यागत उपस्थित आगतः ।

कञ्चुकी—जो महाराज की आज्ञा । (बाहर जाकर और पुनः अन्दर आकर) महाराज ! [द्वार पर] एक भूखा अतिथि खड़ा हुआ है ।

युधिष्ठिर—उसे शीघ्र अन्दर ले आओ ।

कञ्चुकी—जो महाराज की आज्ञा । (यह कह कर बाहर चला जाता है ।)

(इसके बाद मुनिवेषधारी चार्वाक नामक राक्षस प्रवेश करता है ।)

राक्षस—(मन-मन में) मैं दुर्योधन का मित्र चार्वाक नामक राक्षस हूँ और पाण्डवों को धोखा देने के लिये घूम रहा हूँ ।

(प्रकट रूप में) मैं प्यासा हूँ, बहुत प्यासा हूँ । कोई जल और छाया देकर मुझे अनुगृहीत करे ।

(यह कहकर महाराज युधिष्ठिर के पास जाता है ।)

(सब लोग खड़े हो जाते हैं ।)

युधिष्ठिरः—([1]सहसोत्थाय) मुने ! अभिवादये ।

राक्षसः—अकालोऽयं समुदाचारस्य, जलप्रदानेन सम्भावयतु मां भवान्[1] ।

युधिष्ठिरः—मुने[2] ! इदमासनम् । उपविश्यताम ।

राक्षसः—(उपविश्य) ननु भवताऽपि क्रियतामासनपरिग्रहः ।

युधिष्ठिरः—(उपविश्य) कः कोऽत्र भोः ! सलिलमुपनय[3] ।

(प्रविश्य गृहीतभृङ्गारः)

अकाल इति—समुदाचारस्य अभिवादनादिरूपस्य शिष्टाचारस्याऽयमकालोऽनवसरः यतो हि अहमत्यन्तं तृषासम्पीडितः, अतो भवान् मां जलस्य सलिलस्य प्रदानेन सम्प्रदानेन सम्भावयतु अनुगृह्णातु ।

प्रविश्येति—गृहीतो भृङ्गारो जलपात्रविशेषो येन स तथाभूतः ।

युधिष्ठिर—(एक दम उठकर) मुने ! मैं अभिवादन करता हूँ ।

राक्षस—यह शिष्टाचार का समय नहीं है । आप मुझे जल प्रदान करके अनुगृहीत करें ।

युधिष्ठिर—मुने ! यह आसन है । इस पर बैठिये ।

राक्षस—(बैठकर) आप भी आसन ग्रहण कीजिये ।

युधिष्ठिर—(बैठकर) अरे ! यहाँ कौन है ? जल लाओ ।

(जल की झारी लिये हुए प्रवेश करके)

१. G इदं पदं नास्ति । २. G. इतः पूर्वे 'जयन्धर, जयन्धर, सलिलमुपनय' इत्यधिकः पा. । ३. G. अयं पा. नास्ति ।

कञ्चुकी—महाराज[1] ! शिशिरसुरभिसलिलसम्पूर्णोऽयं भृङ्गारः, पानभाजनं चेदम् ।

युधिष्ठिरः—मुने ! निर्वर्त्यतामुदन्याप्रतीकारः ।

राक्षसः—(पादौ प्रक्षाल्योपस्पृशन् विचिन्त्य) भोः भोः ! क्षत्रियस्त्वमिति मन्ये ।

युधिष्ठिरः—सम्यग्वेदो भवान् । क्षत्रिय[2] एवाऽस्मि ।

महाराजेति— शिशिरं शीतलं सुरभि सुगन्धितं च यत् सलिलं तेन सम्पूर्णः परिपूर्णोऽयं भृङ्गारो जलपात्रविशेषो वर्तते इति शेषः । इदं च पीयतेऽनेनेति पानं तथाभूतं भाजनं पात्रमस्तीति शेषः ।

मुने इति—उदन्यायाः पिपासायाः प्रतीकारः शान्तिः निर्वर्त्यतां विधीयतां, क्रियतामित्यर्थः ।

पादाविति—उपस्पृशन् आचामन् आचमनं कुर्वन्नित्यर्थः । विचिन्त्य किञ्चिद् विचार्य ।

कञ्चुकी—(पास में जाकर) महाराज ! लीजिये, शीतल एवं सुगन्धित जल से परिपूर्ण यह झारी तथा पीने का पात्र उपस्थित है ।

युधिष्ठिर—मुने ! अपनी पिपासा शान्त कीजिये ।

राक्षस—(पैर धोकर जल का आचमन करते हुए कुछ सोचकर) अरे ! मैं समझता हूँ कि सम्भवतः आप क्षत्रिय हैं ?

युधिष्ठिर—आप ठीक समझते हैं । मैं क्षत्रिय ही हूँ ।

१, G. इतः पूर्वम् 'उपविश्य' इति पा. । २, G इदं वाक्यं नास्ति ।

राक्षसः—यद्येवं' प्रतिदिनसुलभस्वजनविनाशनेषु संग्रामेषु युष्मत्तो नाऽऽदेयं सलिलादिकम्। भवतु, छाययैवाऽनया सरस्वतीशिशिरतरङ्ग-स्पृशा मरुता चाऽनेन विगतक्लमो भविष्यामि।

द्रौपदी—बुद्धिमदिए! वीअहि महसिं इमिणा तालविन्तेण।

(बुद्धिमतिके! वीजय महर्षिमनेन तालवृन्तेन।)

(चेटी तथा करोति।)

राक्षसः—भवति! अनुचितोऽयमस्मासु समुदाचारः।

यद्येवमिति– यदि एवमस्ति अर्थाद् यदि त्वं क्षत्रियोऽसि तदा प्रति-दिनं प्रत्यहं सुलभं स्वजनानां स्वबन्धूनां विनाशनं विध्वंसो येषु तेषु तथाभूतेषु संग्रामेषु युद्धेषु युष्मत्तो भवतः सलिलादिकं जलादिकं भवतां युद्धकालेऽशौचग्रस्तत्वेन नाऽदेयं न ग्रहीतव्यम्। भवतु अस्तु, अनया पुरतो दृश्यमानया छाययाऽनातपेन सरस्वत्याः शिशिरान् तरङ्गान् स्पृशतीति तथाभूतेनाऽनेन मरुता वायुनैव चाऽहं विगतोऽपगतः क्लमः परिश्रमो यस्य स तथाभूतो भविष्यामि।

राक्षस—यदि ऐसी बात है तो युद्ध के समय, जब कि प्रतिदिन (आप लोगों के अनेक) सम्बन्धी मारे जा रहे हैं, (अशौच होने के कारण) आप से जल ग्रहण नहीं करना चाहिए। अच्छा, इस छाया से तथा सरस्वती की शीतल तरङ्गों के स्पर्श से ठण्डी हुई इस वायु से ही अपनी थकावट को दूर करूँगा।

द्रौपदी—बुद्धिमतिके! इस पंखे से महर्षि को हवा करो।

(चेटी हवा करने लगती है।)

राक्षस—श्रीमती जी! हम लोगों के प्रति इस प्रकार का शिष्टाचार उचित नहीं है।

४. G. 'सुलभश्च स्वजनविनाशः संग्रामेषु प्रतिदिनमतो नादेयं भवद्भ्यो जलादिकम्' इति पा.।

युधिष्ठिरः—मुने ! कथय कथमेवं भवान् परिश्रान्तः ।

राक्षसः—मुनिजनसुलभेन कौतूहलेन तत्रभवतां महाक्षत्रियाणां द्वन्द्वयुद्धमवलोकयितुं पर्यटामि समन्तपञ्चकम् । अद्य तु बलवत्तया शारदाऽऽतपस्याऽपर्याप्तमेवाऽवलोक्य गदायुद्धमर्जुनसुयोधनयोरागतोऽस्मि ।

(सर्वे विषादं नाटयन्ति ।)

कञ्चुकी—मुने ! न खल्वेवम् । भीमसुयोधनयोरिति कथय ।

मुनिजनेति—मुनिजनेषु अस्मादृशेषु तपस्विषु सुलभेन कौतूहलेन जिज्ञासया महाक्षत्रियाणां शूरवीराणां द्वन्द्वयुद्धं पारस्परिकं युद्धमवलोकयितुं द्रष्टुं समन्तपञ्चकं कुरुक्षेत्रं तत्समीपवर्ति एतन्नामकं स्थानविशेषं वा पर्यटामि परिभ्रमामि । अद्य तु शरदि भवः शारदः स चाऽसौ आतपो घर्मस्तस्य बलवत्तया प्रबलतया अर्जुनश्च सुयोधनश्च तयोरपर्याप्तमसमाप्तमेव गदायुद्धमवलोक्य दृष्ट्वा आगतः समागतोऽस्मि ।

युधिष्ठिर—मुने ! कहिये, आप ऐसे कैसे थके हुए हैं ?

राक्षस—राजन् ! मुनि-जन-सुलभ कौतूहल के साथ मैं आप जैसे महान् क्षत्रिय वीरों का द्वन्द्व-युद्ध देखने के लिए कुरुक्षेत्र (एवं उसके आस-पास के प्रदेश) में घूम रहा हूं । परन्तु आज शरद् ऋतु की धूप के तेज़ होने के कारण अर्जुन और दुर्योधन के गदा-युद्ध को पूरा न देखकर (=होते हुए बीच में छोड़कर इधर) चला आया हूँ ।

(सब लोग दुःखित हो जाते हैं ।)

कञ्चुकी—मुने ! ऐसा नहीं, 'भीम और दुर्योधन का युद्ध' यह कहिये ।

राक्षसः—आः ! अविदितवृत्तान्त एव कथं मामाक्षिपसि ?

युधिष्ठिरः—महर्षे ! कथय कथय ।

राक्षसः—क्षणमात्रं विश्रम्य सर्वं कथयामि भवतः, न पुनरस्य वृद्धस्य ।

युधिष्ठिरः—[भगवन्[1] ! एतावदेव] कथय —किम्पुनरर्जुनसुयोधनयोरिति ?

राक्षसः—पूर्वमेव कथितं मया—प्रवृत्तं गदायुद्धमर्जुनसुयोधनयोरिति ।

युधिष्ठिरः - न भीमसुयोधनयोरिति ।

अविदितेति—न विदितो न ज्ञातः वृत्तान्तो यस्य येन वा स तथाभूतस्त्वं युद्धस्थलीयं वृत्तमज्ञात्वैवेत्यर्थः, मां तपस्विनं कथमेवमाक्षिपसि अधिक्षिपसि, निन्दसीत्यर्थः ।

भगवन्निति—एतावदेव एतन्मात्रमेव कथय ब्रूहि यत् किमर्जुनसुयोधनयोः गदायुद्धं प्रवृत्तमिति—

राक्षस—आह ! तुम सब बात के समझे बिना ही मुझ पर आक्षेप कैसे कर रहे हो ?

युधिष्ठिर—महर्षे ! कहिये, कहिये ।

राक्षस—क्षण भर विश्राम लेकर अभी कहता हूं, परन्तु इस बूढे से नहीं (कहूँगा) ।

युधिष्ठिर—भगवन् ! (पहले) इतना ही बताइये कि क्या अर्जुन और दुर्योधन का (गदा-युद्ध हुआ) ? ।

राक्षस—मैं पहले ही कह चुका हूं कि अर्जुन एवं दुर्योधन का गदा-युद्ध आरम्भ हुआ ।

युधिष्ठिर—तो क्या भीम और दुर्योधन का नहीं हुआ ?

---

१. G कोष्ठान्तर्गतः पा. नास्ति ।

राक्षसः—वृत्तं तत् ।

(युधिष्ठिरो द्रौपदी च मोहमुपगतौ ।)

कञ्चुकी—(सलिलेनाऽभिषिच्य[1]) समाश्वसितु देवो देवी च ।

चेटी—(देवीं प्रति[2]) समस्ससदु समस्ससदु देवी ।

([देवीं प्रति] समाश्वसितु समाश्वसितु देवी ।)

(उभौ संज्ञां लभेते ।)

युधिष्ठिरः—किं कथयसि मुने ! वृत्तं भीमसुयोधनयोर्गदायुद्धमिति ?

द्रौपदी—भअवं ! कहेहि कहेहि किं वृत्तं त्ति ?

(भगवन् ! कथय कथय किं वृत्तमिति ?)

राक्षसः—कञ्चुकिन् ! कौ पुनरेतौ ?

वृत्तमिति – तद् भीमसुयोधनयोर्गदायुद्धं वृत्तं सम्पन्नं समाप्तमित्यर्थः । मोहं मूर्च्छामुपगतौ प्राप्तौ ।

देवीमिति—समाश्वसितु धैर्यं करोतु । उभौ द्रौपदीयुधिष्ठिरौ संज्ञां चेतनां, चेतनत्वमित्यर्थः, लभेते प्राप्नुतः ।

राक्षस—वह तो हो चुका ।

(युधिष्ठिर एवं द्रौपदी दोनों मूर्च्छित हो जाते हैं ।)

कञ्चुकी—(उन पर जल छिड़क कर) महाराज ! धैर्य रखिये, महारानी जी ! धैर्य धारण करो ।

चेटी—(द्रौपदी से) महारानी जी ! धैर्य धारण करो, धैर्य धारण करो ।

(दोनों होश में आते हैं ।)

युधिष्ठिर—मुने ! क्या कहा 'भीम और दुर्योधन का गदा-युद्ध हो चुका ?'

द्रौपदी—भगवन् ! कहिये, कहिये क्या हुआ ?

राक्षस—कञ्चुकिन् ! ये दोनों कौन हैं ?

---

१. G. 'आसिच्य' इति पा. । २. G. अयं पा. नास्ति ।

कञ्चुकी—एष देवो युधिष्ठिरः इयमयि पाञ्चालतनया।
राक्षसः—आः ! दारुणमुपक्रान्तं मया नृशंसेन।
द्रौपदी—हा णाह भीमसेण ! (इति मोहमुपगता)।
(हा नाथ भीमसेन ! [इति मोहमुपगता] ।)
कञ्चुकी—किं नाम कथितम् ?
चेटी—समस्ससदु समस्ससदु देवी।
(समाश्वसितु समाश्वसितु देवी।)
युधिष्ठिरः—(सास्रम्) ब्रह्मन् !

पदे सन्दिग्ध एवास्मिन् दुःखमास्ते युधिष्ठिरः।
वत्सस्य निश्चिते तत्त्वे प्राणत्यागादयं सुखी ॥१४॥

दारुणमिति—नृशंसेन क्रूरेण मया दारुणमति निर्दयं, कठोरमनुचितं चेत्यर्थः, कर्म उपक्रान्तं समारब्धम्।

पदे इति—(व्याख्या) हे ब्रह्मन् ! हे तपस्विन् ! सन्दिग्धे सन्देहयुक्ते एव अस्मिन् पदे 'वृत्तं तद्' इति पदे, सन्देहास्पदमिदं पदं श्रुत्वेत्यर्थः, युधिष्ठिरो दुःखमतिदुःखेन, क्रियाविशेषणत्वेन प्रयोगः, आस्ते स्थातुं शक्नोति, कथं कथमपि प्राणान् धारयतीत्यर्थः। मे वत्सस्य

कञ्चुकी—यह महाराज युधिष्ठिर हैं और यह महारानी द्रौपदी हैं।

राक्षस—ओह ! मुझ निर्दय ने (इन्हें यह दुःखद समाचार सुना कर) बड़ा कठोर कर्म किया है।

द्रौपदी—नाथ भीमसेन ! (यह कह कर मूर्च्छित हो जाती है।)

कञ्चुकी—आप ने क्या कहा ?

चेटी—महारानी जी ! धैर्य धारण कीजिये, धैर्य धारण कीजिये।

युधिष्ठिर—(आँखों में आँसू भरकर) ब्रह्मन् !

आप के इस सन्दिग्ध पद के सुनने मात्र से युधिष्ठिर बड़ी कठिनता से

राक्षसः—(सानन्दमात्मगतम्) अयमेव मे यत्नः। (प्रकाशम्) यदि त्ववश्यं[1] कथनीयं, तदा संक्षेपतः कथयामि, न युक्तं बन्धुव्यसनं विस्तरेणाऽऽवेदयितुम्।

युधिष्ठिरः—(अश्रूणि मुञ्चन्)

सर्वथा कथय ब्रह्मन् संक्षेपाद् विस्तरेण वा।
वत्सस्य किमपि श्रोतुमेष दत्तः क्षणो मया ॥१५॥

भीमस्य तत्त्वे मरणे निश्चिते तु अयं युधिष्ठिरः प्राणानां त्यागादेव सुखी भविष्यतीति शेषः ॥१४॥

प्रकाशमिति—यदि तु युद्धस्थलीयमिदं वृत्तमवश्यमेव कथनीयं वक्तव्यं तदा संक्षेपतः संक्षेपेणैव कथयामि ब्रवीमि यतो हि बन्धूनां व्यसनं दुःखं विस्तरेण आवेदयितुं कथयितुं न युक्तं नोचितम्।

सर्वथेति—(व्याख्या) हे ब्रह्मन् ! हे महर्षे ! संक्षेपाद् विस्तरेण वा येन केनाऽपि प्रकारेण सर्वथाऽवश्यमेव युद्धस्थलीयं वृत्तं कथय निवेदय। मे वत्सस्य भीमसेनस्य किमपि किम्प्रकारकमपि, शुभमशुभं वेत्यर्थः, वृत्तं श्रोतुमाकर्णयितुं मया युधिष्ठिरेण क्षणोऽवसरो दत्तः। तद् वृत्तं श्रोतुमतीव पर्याकुलोऽस्मीति भावः ॥१५॥

अपने प्राणों को संभाल रहा है। वत्स भीम की मृत्यु का निश्चय हो जाने पर तो वह प्राण त्याग कर ही सुखी हो सकेगा ॥१४॥

राक्षस—(मन ही मन प्रसन्न होकर) यही तो मेरा भी प्रयत्न है। (प्रकट रूप में) यदि कहना ही है तो संक्षेप से कहता हूँ क्योंकि (किसी के) सम्बन्धियों के दुःख का विस्तार से वर्णन करना उचित नहीं।

युधिष्ठिर—(आंसू बहाते हुए)

हे ब्रह्मन् ! संक्षेप से या विस्तार से, जैसे भी हो कहिये। यह समय मैं ने वत्स भीम का समाचार सुनने के लिये दिया हुआ है ॥१५॥

१. G. 'यद्येवमव०' इति पा.।

राक्षसः—श्रूयताम्—

तस्मिन् कौरवभीमयोर्गुरुगदाघोरध्वनौ संयुगे,

द्रौपदी—(सहसोत्थाय) तदो तदो।

(सहसोत्थाय) ततस्ततः।

राक्षसः—(स्वगतम्) कथं पुनरनयोर्लब्धसंज्ञतामपनयामि।

(प्रकाशम्)

सीरी सत्वरमागतश्चिरमभूत्तस्याऽग्रतः सङ्गरः।
आलम्ब्य प्रियशिष्यतां तु हलिना संज्ञा रहस्याहिता,
यामासाद्य कुरूत्तमः प्रतिकृतिं दुःशासनारौ गतः॥१६॥

कथमिति—अनयोर्द्रौपदीयुधिष्ठिरयोर्लब्धसंज्ञतां चेतनां कथं केन प्रकारेणाऽपनयामि दूरीकरोमीत्यर्थः।

तस्मिन्निति—(अन्वयः) कौरवभीमयोः गुरुगदाघोरध्वनौ तस्मिन् संयुगे सीरी सत्वरम् आगतः, तस्य अग्रतः चिरं सङ्गरः अभूत्। प्रियशिष्यताम् आलम्ब्य हलिना तु रहसि संज्ञा आहिता, याम् आसाद्य कुरूत्तमः दुःशासनारौ प्रतिकृतिं गतः।

(व्याख्या) कौरवश्च भीमश्च तयोः कौरवभीमयोर्दुर्योधनभीमसेनयोः गुरुगदयोर्घोरः भीषणः ध्वनिर्यस्मिन् तथाभूते तस्मिन् संयुगे संग्रामे सीरी बलरामः सत्वरं शीघ्रमकस्मादागत आयातः, तस्य चाऽग्रतोऽग्रे

राक्षस—सुनिये—

दुर्योधन एवं भीम की विशाल गदा की भीषण ध्वनि से गूंजते हुए उस युद्धस्थल में,

द्रौपदी—(वेग से उठकर) फिर क्या हुआ ? फिर क्या हुआ ?

राक्षस—(मन ही मन) इनकी चेतना को अब पुनः कैसे दूर करूँ।

(प्रकट रूप में)

अचानक बलराम आ गए और उनके सामने हो उन दोनों का बहुत

युधिष्ठिरः—हा वत्स वृकोदर ! (इति मोहमुपगतः ।)

द्रौपदी—हा णाह भीमसेण ! हा मह परिभवपडीआरपरिचत्त-जीविअ ! जडासुर-बअ-हिडिम्ब-किम्मीर-कीचअ-जरासन्ध-णिसूदण ! सोअन्धिआहरणचाडुआर ! देहि मे पडिवअणम् । (इति मोहमुपगता) ।

(हा नाथ भीमसेन ! हा मम परिभवप्रतीकारपरित्यक्तजीवित ! जटासुर-बक-हिडिम्ब-किर्मीर-कीचक-जरासन्ध निषूदन ! सौगन्धिकाऽऽहरणचाटुकार ! देहि मे प्रतिवचनम् । [इति मोहमुपगता ।])

तयोः सङ्गरो युद्धं चिरं बहुकालमभूदभवत् । प्रियः शिष्यो यस्य स प्रियशिष्यस्तस्य भावः प्रियशिष्यता, भावे तल् , तामालम्ब्य अङ्गीकृत्य दुर्योधनस्य स्वशिष्यत्वेन तत्पक्षपातं मनसि कृत्वेत्यर्थः, हलिना बलरामेण तु रहसि एकान्ते, संज्ञा संकेत आहिता कृता यां संज्ञा-मासाद्य लब्ध्वा कुरुषु कौरवेषु उत्तमः श्रेष्ठो दुर्योधनो दुःशासनस्य निजकनिष्ठभ्रातुः अरिः शत्रुर्भीमस्तस्मिन् प्रतिकृतिं प्रतिक्रियां गतः प्राप्तः, निजकनिष्ठभ्रातृवधप्रतीकारपरायणोऽभूदित्यर्थः । शार्दूलवि-क्रीडितं छन्दः, 'सूर्याश्वैर्यदि मासजः सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' इति तल्लक्षणात् ॥१६॥

हा नाथेति—परिभवस्य तिरस्कारस्य प्रतीकाराय परित्यक्तं जीवितं येन स तत्सम्बुद्धौ । जटासुरश्च बकश्च हिडिम्बश्च किर्मीरश्च कीचकश्च जरासन्धश्चेति तेषां राक्षसानां निषूदनो हन्ता तत्सम्बुद्धौ । सौगन्धिकस्य

देर तक युद्ध हुआ । इसके बाद बलराम ने अपने प्रिय शिष्य दुर्योधन के प्रति पक्षपात करके उसे एकान्त में कुछ गुप्त संकेत किया जिसे पाकर कौरवराज दुर्योधन ने भीम से बदला लिया ॥१६॥

युधिष्ठिर—हा वत्स भीम ! (यह कहकर मूर्च्छित हो जाता है ।)

द्रौपदी—हा नाथ भीमसेन ! हा मेरे तिरस्कार का बदला लेने के लिये अपने प्राणों को त्यागने वाले ! हा जटासुर-बक-हिडिम्ब-किर्मीर-कीचक तथा

कञ्चुकी—(सास्रम्) हा कुमार भीमसेन ! धार्तराष्ट्रकुलकमलिनी-प्रालेयवर्ष ! (ससम्भ्रमम्) समाश्वसितु महाराजः । भद्रे ! समाश्वासय स्वामिनीम् । महर्षे त्वमपि तावदाश्वासय राजानम् ।

राक्षसः—(स्वगतम्) आश्वासयामि प्राणान् परित्याजयितुम् । (प्रकाशम्) अपि भो भीमाग्रज ! क्षणमेकं चीयतां[1] समाश्वासः । कथा-शेषोऽप्यस्ति ।

कुबेरोद्यानोत्पन्नस्य कमलविशेषस्य यद् आहरणं तदेव चाटु प्रियं तन् करोतीति तत्सम्बुद्धौ । द्रौपदीं प्रसादयितुं भीमः कुबेरोद्यानात् सौगन्धिकं नाम कमलभेदविशेषमानीतवानिति महाभारतवनपर्वकथाऽत्र संकेतिता द्रष्टव्या ।

सास्रमिति—अस्रैः सहितं मास्रमश्रूणि विमुञ्चन्नित्यर्थः । क्रियाविशेष-णत्वेन प्रयोगः । धार्तराष्ट्राणां कुलमेव कमलिनी तस्याः प्रालेयस्य तुषारस्य वर्ष इव सम्पात इव धार्तराष्ट्रकुलकमलिनीप्रालेयवर्षस्तत्सम्बुद्धौ । ससम्भ्रमं ससाध्वसम् । महाराजो देवः समाश्वसितु धैर्यं करोतु । स्वामिनीं देवीं द्रौपदीं समाश्वासय सान्त्वनां देहि । समाश्वासः चीयतां धैर्यमा-धीयतां, क्रियतामित्यर्थः ।

जरासन्ध आदि के मारने वाले ! हा मुझे प्रसन्न करने के लिए (कुबेर के बगीचे से) सौगन्धिक पुष्प लाने वाले ! मुझे उत्तर दो । (यह कहकर मूर्च्छित हो जाती है) ।

कञ्चुकी—(आंखों में आंसू भरकर) हा कुमार भीमसेन ! हा धृतराष्ट्र के कुल-रूपी कमलिनी (को नष्ट करने) के लिये हिम-वर्षा-स्वरूप ! (घबराहट के साथ) महाराज ! धैर्य रखिये । भद्रे ! तुम भी महारानी जी को धीरज बंधाओ । महर्षे ! आप भी महाराज को सान्त्वना दीजिये ।

राक्षस—(मन ही मन) प्राण त्यागने के लिये सान्त्वना दे रहा हूं ।

---

१. G. 'आधीयताम्' इति पा. ।

युधिष्ठिरः—(समाश्वस्य) महर्षे ! किमस्ति कथाशेषः ?
द्रौपदी—(प्रतिबुद्ध्य[1]) भअवं ! कहेहि कीदिसो कहासेसो त्ति ?
([प्रतिबुद्ध्य[1]] भगवन् ! कथय कीदृशः कथाशेष इति ?)
कञ्चुकी—कथय कथय ।
चेटी—कहेहि कहेहि[2] ।
(कथय कथय[2] ।)

राक्षसः—ततश्च हते तस्मिन् सुक्षत्रिये वीरसुलभां गतिमुपगते समग्र-संगलितं भ्रातृवधशोकजं वाष्पं प्रमृज्य भ्रातृवधशोकादपहाय गाण्डीवं प्रत्यग्रक्षतजच्छटाचर्चितां तामेव गदां भ्रातृहस्ताद् यत्नादाकृष्य निवार्य-

ततश्चेति—तस्मिन् सुक्षत्रिये भीमे हते निधनं गते वीराणां सुलभामुचितां गतिं चोपगते प्राप्ते सति समग्रं यथा स्यात्तथा संगलितं पतितं भ्रातुर्भीमस्य वधादुत्पन्नो यः शोकस्तस्माज्जातं वाष्पमश्रु प्रमृज्य प्रोञ्छ्य भ्रातृवधादुत्पन्नात् शोकाद् दुःखाद् गाण्डीवं स्वधनुरपहाय परित्यज्य प्रत्यग्रस्य सद्यो विनि सृतस्य क्षतजस्य रुधिरस्य छटया समूहेन चर्चितां

(प्रकट रूप में) हे युधिष्ठिर ! क्षणभर के लिये धैर्य रखिये, थोड़ी-सी कथा और बाकी है ।

युधिष्ठिर—(धैर्य धारण करके) महर्षे ! क्या अभी कुछ और भी कथा बाकी है ?

द्रौपदी—(सचेत होकर) भगवन् ! कहिये, क्या कथा शेष है ?

कञ्चुकी—कहिये, कहिये ।

चेटी—कहिये, कहिये ।

राक्षस—इसके बाद उस योग्य क्षत्रिय वीर भीमसेन के वीरगति को प्राप्त हो जाने पर भाई के वध के कारण शोक से उत्पन्न बहते हुए अश्रुप्रवाह को पोछकर अपने भाई की मृत्यु के शोकसे गाण्डीव को त्याग कर तुरन्त निकले

१. गु. '०बुद्धा' इति पा. ।　२. G. अयं पा. नास्ति ।

माणोऽपि सन्धित्सुना भगवता वासुदेवेन 'आगच्छाऽऽगच्छे'ति सोपहासं भ्रमितगदाझङ्कारमूर्च्छितगम्भीरवचनध्वनिनाऽऽहूयमानः कौरवराजेन तृतीयोऽनुजस्ते किरीटी योद्धुमारब्धः । [1]तथाऽकृतिनस्तस्य गदाऽऽघाताग्निधनमुत्प्रेक्षमाणेन कामपालेनाऽर्जुनपक्षपाती देवकीसूनुरिति प्रयत्नात् स्वरथमारोप्य द्वारकां नीतः ।

लिप्तां तामेव गदां, भीमगदामित्यर्थः, भ्रातुः भीमसेनस्य हस्ताद् महता प्रयत्नेनाऽऽकृष्य गृहीत्वा ते तव युधिष्ठिरस्य तृतीयोऽनुजः किरीटी अर्जुनः सन्धित्सुना सन्धिं कर्तुमिच्छता भगवता वासुदेवेन कृष्णेन निवार्यमाणो निषिध्यमानः सन्नपि भ्रमिता या गदा तस्या भंकारेण मूर्च्छितः परिपूर्णो, मिलित इत्यर्थः, गम्भीरवचनानां ध्वनिर्यस्य स तेन तथाभूतेन कौरवराजेन दुर्योधनेन 'आगच्छाऽऽगच्छ' इत्येवं प्रकारेण सोपहासमुपहासपूर्वकमाहूयमानः सन् योद्धुं युद्धं कर्तुमारब्धः इत्यन्वयः ।

तथेति—तथा च अकृतिनो गदायुद्धेऽकुशलस्य तस्याऽर्जुनस्य दुर्योधनगदया य आघातः प्रहारस्तस्माद् निधनं मृत्युमुत्प्रेक्षमाणेन सम्भावयता कामपालेन हलायुधेन, बलरामेणेत्यर्थः, देवकीसूनुः कृष्णः स्वरथं निजस्यन्दनमारोप्य द्वारिकां नीतः प्रापितः ।

हुए (भीम के) रुधिर से लथ-पथ हुई उसी गदा को उसके हाथ से लेकर सन्धि के इच्छुक भगवान् कृष्ण के बार-बार रोकने पर भी कौरवराज दुर्योधन के घूमती हुई गदा की झङ्कार से मिश्रित गम्भीर वाणी में 'आओ-आओ' इस प्रकार उपहास-पूर्वक कहने पर तुम्हारा तीसरा भाई अर्जुन (उस से) युद्ध करने लगा । और गदा-युद्ध में अकुशल उस अर्जुन की (दुर्योधन की) गदा के प्रहार से मृत्यु की सम्भावना करते हुए बलराम अर्जुन-पक्षपाती भगवान् कृष्ण को अपने रथ में बैठा कर द्वारिका ले गए ।

१. G. अयं पा. नास्ति ।

युधिष्ठिरः—साधु, भो अर्जुन ! तदैव प्रतिपन्ना वृकोदरपदवी गाण्डीवं परित्यजता। अहं पुनः केनोपायेन [1]प्राणाऽपगमनमहोत्सवमुत्सहिष्ये ?

द्रौपदी—हा णाह भीमसेण ! ण जुत्तं दाणीं दे कणीअसं भादरं असिक्खिदं गदाये, दारुणस्स सत्तुणो अहिमुहं गच्छन्तं उवक्खिदुम्। (इति मोहमुपगता।)

(हा नाथ भीमसेन ! न युक्तमिदानीं ते कनीयासं भ्रातरमशिक्षितं गदायां, दारुणस्य शत्रोरभिमुखं गच्छन्तमुपेक्षितुम्। [इति मोहमुपगता।])

साध्विति—तदैव भीमवधकाल एव त्वयाऽर्जुनेनाऽपि गाण्डीवं स्वधनुः परित्यज्यता मुञ्चता वृकोदरस्य भीमस्य पदवी परलोकमार्गः प्रतिपन्ना अंगीकृता, प्राप्तेत्यर्थः। भीमवधसमकालानन्तरमेव त्वयाऽपि मृत्युः स्वीकृतोऽतस्त्वं धन्य इति भावः। अहं युधिष्ठिरः पुनः केन उपायेन प्रयत्नेन प्राणानामपगमनं निधनमेव महोत्सवस्तमुत्साहिष्ये करिष्ये। प्राणान् परित्यज्य कथं परलोकयात्रां करोमीति भावः।

हा नाथेति—गदायां गदायुद्धेऽशिक्षितमकुशलम्, अनभिज्ञमित्यर्थः, दारुणस्य निर्दयस्य शत्रोरभिमुखं गच्छन्तं कनीयांसं कनिष्ठं भ्रातरम्, अर्जुनमित्यर्थः, उपेक्षितुं तस्योपेक्षां कर्तुं ते तव न युक्तं नोचितमित्यन्वयः। मोहं मूर्च्छामुपगता प्राप्ता।

युधिष्ठिर—ठीक, अर्जुन ! ठीक। गाण्डीव को त्याग कर तुमने तुरन्त भीम का अनुसरण करना स्वीकार किया। परन्तु मैं अब किस प्रकार से प्राण-त्याग का महोत्सव मनाऊँ ?

द्रौपदी—हा नाथ ! भीमसेन ! गदा-युद्ध में अनभिज्ञ अपने छोटे भाई की, जो उस भीषण शत्रु के विरुद्ध युद्ध करने जा रहा है, उपेक्षा करना आपके लिये उचित नहीं है। (यह कहकर मूर्च्छित हो जाती है।)

१. G. 'प्राणपरित्यागाद् हृदयमुत्साहयिष्ये' इति पा.।

राक्षसः—ततश्चाऽहम्—

युधिष्ठिरः—भवतु मुने ! किमतः परं श्रुतेन। हा तात कान्तारव्यसन-बान्धव ! हा मच्छरीरस्थितिविच्छेदकातर ! जतुगृहविपत्समुद्रतरण-यानपात्र ! हा किर्मीरहिडिम्बाऽसुरजरासन्धविजयमल्ल ! हा कीचकसुयो-धनाऽनुजशतकमलिनीकुञ्जर ! हा [1]द्यूतपणप्रणयिन ! [1]हा [1]मदाज्ञा-सम्पादक ! [1]हा [1]कौरववनदावानल !

भवत्विति—अतः परमग्रे श्रुतेन श्रवणेन किं प्रयोजनमित्यर्थः। कान्तारे दुर्गमे वने यद् व्यसनं दुःखं तत्र बान्धवः सहायभूतस्तत्सम्बुद्धौ। मम शरीरस्य या स्थितिस्तस्या विच्छेदे विलोपे कातरो भीरुस्तत्सम्बुद्धौ। जतुगृहमेव विपत्समुद्रस्तस्य तरणाय यानपात्रं तत्सम्बुद्धौ। किर्मीरश्च हिडिम्बासुरश्च जरासन्धश्च तेषां विजये मल्लस्तत्सम्बुद्धौ। कीचकश्च सुयोधनस्याऽनुजशतं च त एव कमलिनी तस्या विनाशने कुञ्जरस्तत्सम्बुद्धौ। द्यूते पणः पणीकृतः स चाऽसौ प्रणयी तत्सम्बुद्धौ। मम आज्ञां सम्पादयतीति मदाज्ञासम्पादकस्तत्सम्बुद्धौ। कौरवा एव वनं तत्र दावानलो वनवह्निस्तत्सम्बुद्धौ।

राक्षस—और इसके बाद मैं—

युधिष्ठिर—अच्छा, मुने ! अब रहने दीजिये। इससे आगे और अधिक सुनने से अब क्या लाभ है ? हा वन के दुःखों में (एक-मात्र) प्रिय बन्धु ! हा मेरी शारीरिक विपत्ति के विषय में भीरु ! हा लाक्षागृह-रूपी विपत्ति-सागर से (हम सब को) पार उतारने के लिये यान-स्वरूप।

हा किर्मीर हिडिम्बासुर तथा जरासन्ध को जीतने वाले मल्ल ! हा कीचक एवं सुयोधन के सौ भाई-रूपी कमलिनी को उखाड़ कर फेंकने मे कुञ्जर-स्वरूप ! हा जूए में बाज़ी लगाने पर भी मुझ से प्रेम करने वाले ! हा मेरे आज्ञाकारी ! हा कौरव-रूपी वन को विध्वस्त करने के लिये दावानल स्वरूप (प्रिय) भीमसेन !

१. G. अयं पा. नास्ति।

निर्लज्जस्य दुरोदरव्यसनिनो वत्स ! त्वया सा तदा,
भक्त्या मे समदद्विपाऽयुतबलेनाऽङ्गीकृता दासता ।
किं नामाऽपकृतं मया तदधिकं त्वय्यद्य यद् गम्यते,
त्यक्त्वाऽनाथमबान्धवं सपदि मां प्रीतिः क्व ते साऽधुना ॥१७॥

निर्लज्जस्येति—(अन्वयः) हे वत्स ! दुरोदरव्यसनिनः निर्लज्जस्य मे भक्त्या समदद्विपायुतबलेन त्वया तदा सा दासता अङ्गीकृता । अद्य मया त्वयि तदधिकं किं नाम अपकृतम् यत् अनाथम् अबान्धवं मां सपदि त्यक्त्वा गम्यते । सा ते प्रीतिः अधुना क ?

(व्याख्या) हे वत्स ! हे तात भीम ! दुष्टमुदरं यस्य तद् दुरोदरं निन्द्यं दुरोदरं च तद् व्यसनं दुरोदरव्यसनं, तदस्याऽस्तीति तस्य दुरोदरव्यसनिनः द्यूतव्यसनाऽऽसक्तस्य निर्लज्जस्य लज्जारहितस्य मे मम युधिष्ठिरस्य भक्त्या श्रद्धया प्रेम्णा वा समदाः ये द्विपाः हस्तिनस्तेषां यद् अयुतं दश सहस्राणि तेषां बलमिव बलं यस्य तेन तथाभूतेन सताऽपि त्वया भीमेन तदा तस्मिन् समये वनवासकाल इत्यर्थः, सा सर्वविदिता दासताऽङ्गीकृता स्वीकृता । अद्येदानीं मया युधिष्ठिरेण त्वयि भीमे तस्माद् वनवासदुःखादधिकं किं नामाऽपकृतं कोऽपकारः कृतो यद् येन कारणेन अनाथं निःसहायमबान्धवं बन्धुरहितं मां युधिष्ठिरं सपदि त्वरितमेव, सहसैवेत्यर्थः, त्यक्त्वा विहाय त्वया गम्यते । सा जगत्प्रसिद्धा ते तव प्रीतिः स्नेहः कास्ते ? अनाथं मां परित्यज्य ते स्वर्गमनं सर्वथाऽनुचितमिति भावः । शार्दूलविक्रीडितं छन्दः, 'सूर्याश्वैर्यदि मासजः सततगाः शार्दूलविक्रीडितम् ' इति तल्लक्षणात् ॥१७॥

प्रिय वत्स ! दस हज़ार मद-मस्त हाथियों का बल रखते हुए भी तुमने द्यूत-व्यसनी मुझ निर्लज्ज की उस समय (जूए के समय) पूर्ण भक्ति के साथ दासता स्वीकार की थी । आज मैंने उससे भी अधिक तुम्हारा क्या अपकार किया

द्रौपदी—(संज्ञामुपलभ्योत्थाय) महाराअ ! किं एदं वट्टइ ।
([संज्ञामुपलभ्योत्थाय च] महाराज ! किमेतद् वर्तते ।
युधिष्ठिरः—कृष्णे किमन्यत् ?

स कीचकनिषूदनो बकहिडिम्बकिर्मीरहा,
मदाऽन्धमगधाऽधिपद्विरदसन्धिभेदाशनिः ।
गदापरिघशोभिना भुजयुगेन तेनान्वितः;
प्रियस्तव ममाऽनुजोऽर्जुनगुरुर्गतोऽस्तं किल ॥१८॥

स कीचकेति—(अन्वयः) कीचकनिषूदनः बकहिडिम्बकिर्मीरहा मदान्धमगधाधिपद्विरदसन्धिभेदाशनिः गदापरिघशोभिना तेन भुजयुगेन अन्वितः तव प्रियः, मम अनुजः, अर्जुनगुरुः अस्तं गतः किल ।

(व्याख्या) कीचकस्य विराटश्यालकस्य निषूदनो निहन्ता बकश्च हिडिम्बश्च किर्मीरश्चेति बकहिडिम्बकिर्मीरास्तान् हन्तीति तथाभूतः मदेन अन्धो यो मगधाधिपो मगधेश्वरो जरासन्धः स एव द्विरदस्तस्य सन्धिभेदे अशनिरिव वज्रमिव, जरासन्ध-निहन्तेत्यर्थः, गदा एव परिघोऽर्गलस्तेन शोभते तच्छीलस्तेन तथाभूतेन, गदायुक्तेनेत्यर्थः, तेन प्रसिद्धेन भुजयुगेन बाहुद्वयेनाऽन्वितः सुशोभितस्तव द्रौपद्याः प्रियः पतिः, मम युधिष्ठिरस्याऽनुजः कनिष्ठो भ्राता, अर्जुनस्य च गुरुर्ज्येष्ठो भ्राता भीमोऽस्तं विनाशं, निधनमित्यर्थः, गतः प्राप्तः । किलेति निश्चये-

है कि तुम मुझे बन्धु-रहित एवं अनाथ छोड़कर (इस प्रकार) एक दम जा रहे हो ? आज तुम्हारा (मेरे प्रति) वह जगद्विख्यात प्रेम कहाँ गया ॥१७॥

द्रौपदी—(सचेत होकर उठकर) महाराज ! यह क्या है ?
युधिष्ठिर—कृष्णे ! और क्या है ?

कीचक का वध करने वाला, बक हिडिम्ब और किर्मीर का निहन्ता तथा मदान्ध मगधेश्वर जरासन्ध के शरीर की सन्धि का विभेदन करने में वज्र-स्वरूप

द्रौपदी—(आकाशे दत्तदृष्टिः) णाह भीमसेण ! तुए किल मे केसा संजमिदव्वा । ण जुत्तं वीरस्स खत्तिअस्स पडिण्णादं सिढिलेदुम् । ता पडिवालेहि मं जाव उवसप्पामि । (इति मोहमुपगता) ।

([आकाशे दत्तदृष्टिः] नाथ भीमसेन ! त्वया किल मे केशाः संयमयितव्याः । न युक्तं वीरस्य क्षत्रियस्य प्रतिज्ञातं शिथिलयितुम् । तत् प्रतिपालय मा यावदुपसर्पामि) । [इति मोहमुपगता]

ऽव्ययम् । पृथ्वी छन्दः, 'जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः' । इति तल्लक्षणात् ॥१८॥

नाथेति—हे नाथ ! हे स्वामिन् ! त्वया भीमेन मे द्रौपद्याः केशाः कचाः संयमयितव्याः बन्धनीयाः । त्वादृशस्य वीरस्य बलिनः क्षत्रियस्य प्रतिज्ञातं प्रतिज्ञारूपेण कथितं वचनं शिथिलयितुमुपेक्षितुं न युक्तं नोचितम् । तत्तस्मात् कारणाद् मां द्रौपदीं प्रतिपालय प्रतीक्षस्व; यावदहं त्वामुपसर्पामि आगच्छामि ।

एवं गदा-रूपी परिघ से सुशोभित जगद्विख्यात भुजयुगल से सुमजित तुम्हारा प्रिय, मेरा अनुज तथा अर्जुन का बड़ा भाई भीम दिवंगत हो गया है ॥१८॥

द्रौपदी—(आकाश की ओर देखकर) नाथ भीमसेन ! तुम्हें तो मेरे केश बांधने थे । तुम्हारे जैसे वीर क्षत्रिय के लिये अपनी प्रतिज्ञा की उपेक्षा करना उचित नहीं । इसलिये क्षण भर ठहरिए, मैं अभी आ रही हूँ । (यह कह कर मूर्च्छित हो जाती है ।)

युधिष्ठिरः—(आकाशे दत्तदृष्टिः) अम्ब पृथे ! श्रुतोऽयं तव पुत्रस्य समुदाचारः ? मामेकमनाथं विलपन्तमुत्सृज्य क्वाऽपि गतः ! तात जरासन्धशत्रो ! किं नाम वैपरीत्यमेतावता कालेनाऽल्पाऽऽयुषि त्वयि समालोकितं जनेन ? अथवा मयैव बहूपलब्धम् ।

अम्बेति—हे अम्ब पृथे ! हे मातः कुन्ति ! किं श्रुतस्त्वया स्वपुत्रस्य भीमस्याऽयं समुदाचारः शिष्टाचारः ? स हि अनाथं निःसहायं विलपन्तं विलापं कुर्वन्तं मां युधिष्ठिरमुत्सृज्य परित्यज्य क्वापि, परलोकमित्यर्थः, गतः प्रयातः । हे तात जरासन्धशत्रो ! हे प्रिय भीम ! एतावता कालेन एषु दिवसेषु इत्यर्थः, जनेन लोकेन अल्पमायुर्यस्य तस्मिन् तथाभूते त्वयि किं वैपरीत्यमल्पायुष्ट्वसूचकं त्वत्साधारणस्वभावविरुद्धं परिवर्तनं समालोकितं दृष्टम् ? अथवा मया युधिष्ठिरेणैव बहु अत्यधिकं वैपरीत्यं, स्वभावपरिवर्तनमित्यर्थः, उपलब्धं दृष्टम् । मरणासन्नकाले मानवस्वभावे प्रायः किञ्चित् परिवर्तनं दृश्यते, इत्येतां लोकपरम्परामाश्रित्यैव युधिष्ठिरस्याऽयं करुणप्रलापो द्रष्टव्य इति भावः ।

युधिष्ठिर—(आकाश की ओर देखकर) हे माता कुन्ती ! आप ने अपने पुत्र का शिष्टाचार सुन लिया ? वह मुझ अनाथ को विलाप करते हुए छोड़कर, पता नहीं, कहां चला गया ? हे जरासन्ध-शत्रु प्रिय भीम ! तुम्हारी अल्पायु को बताने वाली कौनसी (स्वभाव) विरुद्ध बात अभी तक लोगों ने देखी थी ? अथवा मैंने ही बहुत कुछ देखा था ।

दत्त्वा मे करदीकृताऽखिलनृपां यन्मेदिनीं लज्जसे,
द्यूते यच्च पणीकृतोऽपि हि मया न क्रुध्यसि, प्रीयसे ।
स्थित्यर्थं मम मत्स्यराजभवने प्राप्तोऽसि यत्सूदतां,
वत्सैतानि विनश्वरस्य सहसा दृष्टानि चिह्नानि ते ॥१९॥

भीमसेनस्य प्रकृतौ वैपरीत्यमेवाऽभिलक्ष्याऽऽह—

दत्त्वेति—(अन्वयः) हे वत्स ! यत् करदीकृताऽखिलनृपां मेदिनीं मे दत्त्वा (अपि , लज्जसे, यच्च द्यूते मया पणीकृतः अपि न हि क्रुध्यसि, प्रीयसे, यत् मत्स्यराजभवने मम स्थित्यर्थं सूदतां प्राप्तः असि, एतानि सहसा विनश्वरस्य ते चिह्नानि दृष्टानि ।

(व्याख्या) हे वत्स ! हे प्रिय भीम ! यत् करं ददतीति करदाः न करदाः अकरदाः, अकरदाः करदाः सम्पद्यमानाः कृताः वशीकृता अखिलाः समग्राः नृपा यस्याः सा तां तथाभूतां मेदिनीं पृथ्वीं मे मह्यं दत्त्वा प्रदायाऽपि लज्जसे, नाऽहं किमपि स्वभ्रात्रे दत्तवानित्येवं विचिन्त्य लज्जामनुभूतवानित्यर्थः, यच्च द्यूते पणीकृतः पणत्वेन स्थापितोऽपि न क्रुध्यसि क्रोधं न कृतवान् , प्रत्युत प्रीयसे स्नेहमेव प्रदर्शितवान् , यच्च मत्स्यराजस्य राज्ञो विराटस्य भवने मम स्थित्यर्थमज्ञातरूपेणाऽवस्थानाय सूदतां पाचकवृत्तिं प्राप्तोऽसि अङ्गीकृतवानसि, एतानि पूर्वनिर्दिष्टानि सहसाऽकस्मादेव विनश्वरस्य विनाशिनस्ते तव चिह्नानि लक्षणानि दृष्टानि । अल्पीयस्येव आयुषि त्वयि समुपलब्धानि एतानि पूर्वोक्तानि लक्षणानि नूनमेव तव अल्पायुष्ट्वद्योतकानि आसन् । तथा चोक्तमपि— 'विद्याबुद्धियंशो बलम् । अल्पे वयसि यस्य स्युर्न स जीवेच्चिरं नरः' इति । शार्दूलविक्रीडितं छन्दः, 'सूर्याश्वैर्यदि मासजः सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' इति तल्लक्षणात् ॥१९॥

जो तुम समस्त पृथ्वी को कर देने वाले राजाओं से युक्त करके मुझे देकर भी (मेरे प्रति अपनी अकिञ्चित्करता पर) लज्जित होते थे तथा जो मेरे द्वारा

मुने ! किं कथयसि—'तस्मिन कौरवभीमयोः' (६, १९) इत्यादि पठति ।]

राक्षसः—एवमेतत् ।

युधिष्ठिरः—धिगस्मद्भागधेयानि । (आकाशमवलोकयन्) भगवन् कामपाल ! कृष्णाऽग्रज ! सुभद्राभ्रातः !

ज्ञातिप्रीतिर्मनसि न कृता क्षत्रियाणां न धर्मो,
रूढं सख्यं तदपि गणितं नाऽनुजस्याऽर्जुनेन ।
तुल्यः कामं भवतु भवतः शिष्ययोः स्नेहबन्धः,
कोऽयं पन्था यदसि विमुखो मन्दभाग्ये मयीत्थम् ॥२०॥

भगवन्निति—हे कामपाल ! हे बलराम ! कृष्णस्याऽग्रज ! ज्येष्ठभ्रातः ! सुभद्रायाः भ्राता तत्सम्बुद्धौ ।

ज्ञातिप्रीतिरिति—(अन्वयः) ज्ञातिप्रीतिः मनसि न कृता, क्षत्रियाणां धर्मः (मनसि न कृतः) अनुजस्य अर्जुनेन (यद्) रूढं सख्यं तदपि न गणितम् । भवतः शिष्ययोः कामं तुल्यः स्नेहबन्धः भवतु, (परन्तु) मन्दभाग्ये मयि यद् इत्थं विमुखः असि, अयं कः पन्थाः (परिगृहीतः ?) ।

(व्याख्या) ज्ञातीनां बन्धूनां प्रीतिः प्रेम मनसि हृदये न कृता न

जूए में बाज़ी पर लगाए जाने पर भी क्रुद्ध न हो कर तुम प्रसन्न ही हुए एवं मत्स्यराज विराट के महल में मेरे (अज्ञात) वास के लिये जो तुमने रसोइया बनना स्वीकार किया, हे वत्स ! तुम्हारे अन्दर सहसा दिखाई देने वाले ये सब परिवर्तन तुम्हारी अल्पायु के ही चिह्न थे ॥१९॥

मुने ! क्या कहा "जब भीम और दुर्योधन का युद्ध हो रहा था तो बलराम ने दुर्योधन को गुप्त संकेत किया ?"

राक्षस—हाँ, ऐसा ही हुआ ।

युधिष्ठिर—मेरे भाग्य को धिक्कार है । (आकाश की ओर देखकर) भगवन् बलराम ! कृष्णाग्रज ! सुभद्रा के भाई !

(द्रौपदीमुपगम्य) अयि पाञ्चालि ! उत्तिष्ठोत्तिष्ठ । समानदुःखावेवाऽऽवां भवावः । मूर्च्छया किं मामेवमतिसन्धत्से ? ।

गणिता, क्षत्रियाणां धर्मः पक्षपातराहित्यादिरूपो धर्मोऽपि त्वया मनसि न कृतो नादृतः, प्रत्युत दुर्योधनं प्रति पक्षपातः प्रदर्शित एव । अनुजस्य तव कनिष्ठभ्रातुः कृष्णस्य अर्जुनेन सह यद् रूढं सुदृढं सख्यं मित्रता (अस्ति) तदपि त्वया न गणितं मनसि न विचारितम् । भवतस्तव शिष्ययोः भीम-दुर्योधनयोः कामं यद्यपि तुल्यः समानः स्नेहबन्धः प्रेमसम्बन्धो भवतु नाम परन्तु मन्दं भाग्यं यस्य तस्मिन् तथाभूते मयि युधिष्ठिरे यत्त्वमित्थमेवंप्रकारेण विमुखो विरुद्धोऽसि कोऽयमनुचितो मार्गः पन्थास्त्वया परिगृहीतः ? वस्तुतस्तु त्वया अस्माकं बन्धुभावं संस्मृत्य भीमे स्नेहः प्रदर्शितव्य आसीत् परन्त्वया सुयोधनाय संकेतं ददता सर्वथाऽस्मद्विरुद्धमाचरितमित्येतदनुचितमिति भावः । मन्दाक्रान्ता छन्दः, 'मन्दाक्रान्ताम्बुधिरसनगैर्मो भनौ तौ गयुग्मम्' इति तल्लक्षणात् ॥२०॥

द्रौपदीमिति—समानं दुःखं ययोस्तौ तथाभूतौ । अतिसन्धत्से व्यथयसि अतिक्राम्यसि वा ।

सम्बन्धियों का प्रेम, क्षत्रियों का धर्म तथा अपने छोटे भाई कृष्ण की अर्जुन के साथ घनिष्ठ मित्रता—इनमें से किसी का भी आपने मन में विचार नहीं किया ? । यद्यपि अपने शिष्यों के लिये समान प्रेम-भाव रखना आपके लिये सर्वथा उचित है, तथापि मुझ मन्द-भाग्य के विषय में आपने यह क्या उलट मार्ग स्वीकार किया कि आप मुझ से (एकदम) इतने विमुख हो गए ॥२०॥

(द्रौपदी के पास जाकर) हे द्रौपदी ! उठो, उठो । (आओ) हम दोनों ही समान रूप से इस दुःख को बाँटे । इस प्रकार मूर्च्छित होकर तुम मुझे व्यथित क्यों कर रही हो ? ।

द्रौपदी—(लब्धसंज्ञा) बन्धेदु णाहो दुज्जोहणरुधिलाद्देण हत्थेण दुस्सासणविमुक्कं मे केसहत्थम्। हञ्जे बुद्धिमदिए! तव पच्चक्खं एव्व णाहेण पडिण्णादम्। (कञ्चुकिनमुपेत्य) अज्ज! किं संदिट्ठं दाव मे देवेण देवकीणन्दणेण—'पुणो वि केसबन्धनं आरम्भीअदु' त्ति ?। (चेटीं प्रति[1]) ता उवणेहि मे पुप्फदामाइं। विरएहि दाव कबरीम्।

([लब्धसंज्ञा] बध्नातु नाथो दुर्योधनरुधिरार्द्रेण हस्तेन दुःशासनविमुक्तं मे केशहस्तम्। हञ्जे बुद्धिमतिके! तव प्रत्यक्षमेव नाथेन प्रतिज्ञातम्। [कञ्चुकिनमुपेत्य] आर्य! किं संदिष्टं तावन्मे देवेन देवकीनन्दनेन—'पुनरपि केशबन्धनमारभ्यताम्' इति। (चेटीं प्रति[1]) तदुपनय मे पुष्पदामानि। विरचय तावत् कबरीम्।

लब्धसंज्ञेति—लब्धा पुनः प्राप्ता संज्ञा चेतनता यया सा तथाभूता। दुर्योधनस्य रुधिरेण शोणितेन आर्द्रेण लिप्तेन हस्तेन दुःशासनेन विमुक्तं विश्रृङ्खलीकृतं मे मम, द्रौपद्या इत्यर्थः, केशहस्तं केशपाशं बध्नातु। तव प्रत्यक्षं समक्षं, पुरतोऽग्रे वा, नाथेन भीमसेनेन प्रतिज्ञातं प्रतिज्ञा कृता। उपेत्य समीपं गत्वा। देवकीनन्दनेन कृष्णेन। सन्दिष्टं कथितम्। पुष्पाणां दामानि माला उपनय आनय।

द्रौपदी—(सचेत होकर) नाथ! दुर्योधन के रुधिर से भीगे हुए अपने हाथ से दुःशासन द्वारा खोले गए मेरे इस केशपाश को बाधिये। हे बुद्धिमतिके! तुम्हारे सामने ही प्राणनाथ ने (मेरा केशपाश बाधने की) प्रतिज्ञा की थी। (कञ्चुकी के पास जाकर) आर्य! भगवान् देवकीनन्दन ने मेरे लिये क्या सन्देश दिया है कि 'केशपाश बाधना पुनः आरम्भ कर दो ?।' (चेटी से) इसलिये मेरे लिये फूलों की मालाएँ ला और मेरी केश-रचना

१. उपलब्धपुस्तकेषु अयं पा. नास्ति। प्रकरणानुरोधादस्माभिरेव संवर्धितः।

करेहि भअवदो पुरिसोत्तमस्स वअणम् । ण क्खु सो अलीअं संदिसदि । अहवा किं मए अदिसंतत्ताए भणिदम् । अचिरगदं अज्जउत्तं अणुगमिस्सम् । (युधिष्ठिरमुपगम्य) महाराअ । आदीवअ चिदाम् । तुमं वि खत्तधम्मं अणुवट्टन्तो एव्व णाहस्स जीविदहरस्स अहिमुहो होहि । अथवा जं दे रोअदि ।

कुरु भगवतः पुरुषोत्तमस्य वचनम् । न खलु सोऽलीकं संदिशति । अथवा किं मयाऽतिसन्तप्तया भणितम् । अचिरगतमार्यपुत्रमनुगमिष्यामि । (युधिष्ठिर-मुपगम्य) महाराज ! आदीपय चिताम् । त्वमपि क्षत्रधर्ममनुवर्तमान एव नाथस्य जीवितहरस्याऽभिमुखो भव । अथवा यत्ते रोचते ।

कबरीं केशरचनां विरचय कुरु । पुरुषोत्तमस्य भगवतः कृष्णस्य वचनं कुरु पालय । अलीकमसत्यम् । संदिशति कथयति । अतिसंतप्तया शोकाभिभूतया कि भणितं कथितम् । अचिरं सद्य एव गतं मृतमार्य-पुत्रं स्वस्वामिनं भीमसेनमनुगमिष्यामि अनुसरिष्यामि । चितामादीपय संदीपय । क्षत्रधर्मं क्षत्रियत्वमनुवर्तमानोऽनुपालयन् त्वमपि युद्धाय नाथस्य भीमसेनस्य जीवितहरस्य प्राणापहारकस्य दुर्योधनस्याऽभिमुखो भव समरभूमिमवतरेत्यर्थः ।

करके भगवान् पुरुषोत्तम के वचनों को पूरा कर । वह कभी भी झूठा सन्देश नहीं देते । अथवा अत्यधिक सन्तप्त होने के कारण मैं क्या कह गई ! । मैं तो अभी-अभी दिवंगत हुए अपने प्राणनाथ का अनुसरण करूँगी । महाराज ! (मेरे लिये) चिता प्रदीप्त कराइये और आप भी क्षात्रधर्म का पालन करते हुए प्राणनाथ के जीवन का हरण वाले के विरुद्ध युद्ध के लिये जाइये । अथवा जो आपको अच्छा लगे (वही कीजिये) ।

युधिष्ठिरः—युक्तमाह पाञ्चाली। कञ्चुकिन्! क्रियतामियं तपस्विनी चितासंविभागेन सह्यवेदना। ममाऽपि सज्जं धनुरुपनय। अलमथवा धनुषा—

तस्यैव देहरुधिरोक्षितपाटलाऽङ्गी-
मादाय सम्प्रति गदामपविद्धचापम्।
भ्रातृप्रियेण कृतमद्य यदर्जुनेन
श्रेयो ममाऽपि हि तदेव, कृतं जयेन ॥२१॥

युक्तमाहेति—इयं तपस्विनी दुःखिनी द्रौपदी चितायाः संविभागेन रचनया सह्या वेदना व्यथा यस्याः सा तथाभूता क्रियताम्। चितारचनां कृत्वा अस्याः वेदनां कथञ्चिदुपशमय। मम च सज्जं सुसज्जितं धनुश्चाप-मुपनय आनय। धनुषा चापेनाऽलं प्रयोजनं नास्तीत्यर्थः।

तस्यैवेति—(अन्वयः) सम्प्रति तस्यैव देहरुधिरोक्षितपाटलाङ्गीं गदाम् आदाय भ्रातृप्रियेण अर्जुनेन अद्य अपविद्धचापं यत् कर्म कृतं तदेव हि ममापि श्रेयः। जयेन कृतम्।

(व्याख्या) सम्प्रत्यधुना तस्य भीमसेनस्यैव देहस्य-शरीरस्य रुधिरेण रक्तेन उक्षितानि लिप्तानि अतएव पाटलानि पाटलवर्णानि, ईषद्रक्तानी-त्यर्थः, अङ्गानि यस्याः सा तां तथाभूतां गदामादाय गृहीत्वा भ्राता भीमसेनः प्रियो यस्य स तेन तथाभूतेनाऽर्जुनेनाऽद्य अपविद्धं परित्यक्तं चापं धनुयस्मिन् तद्यथा तथा यत् कर्म भीममनुरणरूपं कर्म कृतं

युधिष्ठिर—द्रौपदी ठीक कहती है। कञ्चुकी! चिता बना कर इस बेचारी की वेदना को कुछ कम करो और मेरा सुसज्जित धनुष ले आओ। अथवा धनुष की कोई आवश्यकता नहीं है।

धनुष का परित्याग कर भीम के शरीर से निकलने वाले रुधिर से रंगी जाने

राक्षसः—राजन्[1] ! रिपुजयविमुखं ते यदि चेतस्तदा यत्र तत्र वा प्राणत्यागं कुरु। वृथा तत्र गमनम्।

कञ्चुकी—(सरोषम्) धिङ् मुनिजनाऽसदृशं राक्षससदृशं भवता व्याहृतम्।

तदेव मम युधिष्ठिरस्यापि श्रेयः श्रेयस्करं भविष्यतीति शेषः। सम्प्रति जयेन शत्रुविजयप्रयासेन कृतमलं प्रयोजनं नास्तीत्यर्थः। वसन्ततिलका छन्दः, 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति तल्लक्षणात्॥२१॥

राजन्निति—यदि ते तव चेतो हृदयं रिपोः शत्रोः, दुर्योधनस्येत्यर्थः, जयाद् विमुखं पराङ्मुखं वर्तते तदा इहैव यत्रकुत्रचिन् प्राणानां त्यागं कुरु। तत्र युद्धक्षेत्रे गमनं सर्वथा व्यर्थमेव स्यादित्यर्थः।

धिगिति—मुनिजनस्य तपस्विजनस्याऽसदृशमनुचितं राक्षसस्य सदृशं योग्यं च भवता त्वया व्याहृतमुक्तम्।

के कारण लाल वर्ण की उस गदा को लेकर भ्रातृ-प्रिय अर्जुन ने जो कुछ किया है वही अब मेरे लिये भी श्रेयस्कर होगा। अब विजय होने से भी क्या लाभ है ? ॥२१॥

राक्षस—राजन् ! यदि आपका चित्त इस समय शत्रु-विजय के विरुद्ध है तो यहीं-कहीं इधर-उधर अपने प्राण त्याग दीजिये, वहाँ जाना व्यर्थ है।

कञ्चुकी—(रोष के साथ) धिक्कार है। तुमने यह बात मुनिजनो के सर्वथा अयोग्य और राक्षसों के योग्य कही है।

---

१. इतः पूर्वं "(सविषादमात्मगतम्) कथं गच्छति ?। भवत्वेवं तावत्" इत्यधिकः पा.। २. "धिङ् मुने ? राक्षससदृशं हृदयं भवतः।" इति पा.।

राक्षसः—(सभयं स्वगतम्) किं ज्ञातोऽहमनेन ?। (प्रकाशम्, भो कञ्चुकिन्! एतद् ब्रवीमि—तयोर्गदया खलु युद्धं प्रवृत्तमर्जुनदुर्योधनयोः। जानामि च तयोर्गदायां भुजसारम्। दुःखितस्य पुनरस्य राजर्षेरपरमनिष्टश्रवणं परिहरन्नेवं ब्रवीमि।

युधिष्ठिरः—(बाष्पं विसृजन्) साधु, महर्षे! साधु। सुस्निग्धमभिहितम्।

किं ज्ञात इति—तयोरर्जुनदुर्योधनयोः गदायुद्धं प्रवृत्तमारब्धम्। गदायां गदायुद्धे तयोर्द्वयोरपि भुजसारं भुजबलं चाऽहं सम्यग् जानामि, अर्थाद् गदायुद्धेऽर्जुनो दुर्योधनापेक्षयाऽकुशल इत्यहं साधु वेद्मि अनुमिनोमि च यद् अर्जुनोऽप्रवीणत्वादवश्यमेव निधनं गतः। इदमपरं द्वितीयमनिष्टश्रवणं परिहरन् अर्जुनमृत्युसमाचारं श्रावयितुमनिच्छन् अहमेवं 'वृथा तत्र गमनम्' इत्येवंरूपेण ब्रवीमीत्यर्थः।

बाष्पमिति—बाष्पमश्रु विसृजन् विमुञ्चन्। हे महर्षे! हे तपस्विन्! त्वया सुस्निग्धं प्रियमभिहितमुक्तम्।

राक्षस—(भय-पूर्वक मन ही मन) क्या मुझे इसने पहचान लिया है ?। (प्रकट रूप से) हे कञ्चुकिन्! मैं यह कह रहा हूँ कि अर्जुन और दुर्योधन का गदायुद्ध प्रारम्भ हो गया था और गदायुद्ध मे उन दोनो के बाहु-बल को मैं (अच्छी प्रकार) जानता हूँ। इसलिये इस व्यथित राजर्षि (=युधिष्ठिर) को और अधिक अनिष्ट न सुनाने की इच्छा से मैंने ऐसे शब्द कहे हैं।

युधिष्ठिर—ठीक, महर्षे! ठीक। आप ने बहुत प्रिय बात कही है।

कञ्चुकी—महाराज ! किं नाम शोकान्धतया देवकल्पेनाऽपि देवेन प्राकृतेनेव त्यज्यते क्षात्रधर्मः ।

युधिष्ठिरः—आर्य जयन्धर !

शक्ष्यामि नो परिघपीवरबाहुदण्डौ,
विंत्तेशशक्रपुरदर्शितवीर्यसारौ ।
भीमार्जुनौ क्षितितले प्रविचेष्टमानौ,
द्रष्टुं, तयोश्च निधने न रिपुं कृतार्थम् ॥२२॥

महाराजेति—शोकेन अन्धः शोकान्धस्तस्य भावस्तया शोकान्धतया शोकाभिभूततया देवकल्पेन देवतुल्येनाऽपि देवेन भवता प्राकृतेनेव साधारणमनुष्येणेव क्षात्रधर्मः क्षत्रियाणां धर्मः त्यज्यते परिह्रीयते ।

शक्ष्यामीति—(अन्वयः) परिघपीवरबाहुदण्डौ वित्तेशशक्रपुरदर्शितवीर्यसारौ क्षितितले प्रविचेष्टमानौ भीमाऽर्जुनौ तयोः निधनेन कृतार्थं रिपुं च द्रष्टुं नो शक्ष्यामि ।

(व्याख्या) परिघ इव अर्गल इव पीवरौ स्थूलौ बाहुदण्डौ ययोस्तौ, वित्तेशः कुवेरः शक्र इन्द्रस्तयोः पुरे दर्शितो वीर्यस्य पराक्रमस्य सारो याभ्यां तौ तथाभूतौ क्षितितले भूतले प्रविचेष्टमानौ पतन्तौ स्फुरन्तौ वा भीमार्जुनौ तयोर्भीमार्जुनयोर्निधनेन मृत्युना कृतः सिद्धः अर्थः प्रयोजनं यस्य तं तथाभूतं रिपुं शत्रुं दुर्योधनं च द्रष्टुमवलोकयितुं न शक्ष्यामि पारयिष्यामि, समर्थो भविष्यामीत्यर्थः । अतो नाहं युद्धस्थलं गन्तुं कामये इति भावः । वसन्ततिलका छन्दः, 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति तल्लक्षणात् ॥२२॥

कञ्चुकी—महाराज ! शोक से अन्धे होने के कारण क्या देवतुल्य आप भी साधारण मनुष्य की तरह क्षात्र धर्म का परित्याग कर रहे हैं ।

युधिष्ठिर—आर्य जयन्धर !

मैं परिघ (मुद्गर) के समान विशाल दण्डों वाले तथा कुबेर एवं इन्द्र

अयि पाञ्चालराजतनये ! मद्दुर्नयप्राप्तशोच्यदशे ! यथा संदीप्यते पावकस्तथा सहितावेव बन्धुजनं सम्भावयावः ।

द्रौपदी— अज्ज ! करेहि दारुसंचअम् । पज्जलीअदु चिदा । तुवरदि मे हिअअं णाधं पेक्खिदुम् (सर्वतोऽवलोक्य) कहं ण को वि णाधेण विणा महाराअस्स वअणं करोदि ? हा णाह भीमसेण ! तं एव्व एदं राअउलं तुए विरहिदं पडिअणो वि संपदं परिहरदि !

(आर्य ! कुरु दारुसंचयम् । प्रज्वाल्यता चिता । त्वरते मे हृदयं नाथं प्रेक्षितुम् । (सर्वतोऽवलोक्य) कथं न कोऽपि नाथेन विना महाराजस्य वचनं करोति ? हा नाथ भीमसेन ! तदेवेदं राजकुलं त्वया विरहितं परिजनोऽपि साम्प्रतं परिहरति ।

अयीति—मम युधिष्ठिरस्य दुर्नयेन दुर्नीत्या, द्यूतरूपापराधेनेत्यर्थः, प्राप्ता शोच्या शोचनीया दशा यया सा तत्सम्बुद्धौ, अयि पाञ्चालराजस्य द्रुपदस्य तनये पुत्रि ! हे द्रौपदि ! यथाऽयं पावकोऽग्निः संदीप्यते प्रदीप्तो भवति तथैव आवामपि सहितावेव सहैवाऽग्निं प्रविश्य बन्धुजनं, भीमार्जुनावित्यर्थः, सम्भावयावो द्रक्ष्यावः । वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवत् प्रयोगो द्रष्टव्यः ।

आर्येति—दारुसंचयं काष्ठसंचयम् । नाथं भीमं प्रेक्षितुं द्रष्टुं मे मम द्रौपद्याः हृदयं मनस्त्वरते त्वरां कुरुते । सर्वतः परितः । अवलोक्य

के नगरों में अपने पराक्रम का प्रदर्शन करने वाले भीम और अर्जुन को पृथ्वी पर छठ-पटाते हुए तथा उनके निधन से शत्रु दुर्योधन को कृतार्थ होते हुए देख नहीं सकूंगा ॥२२॥

हे पाञ्चालराजपुत्रि ! हे मेरी दुर्नीति के कारण इस दयनीय दशा को प्राप्त हुई द्रौपदि ! अग्नि के प्रदीप्त होते ही हम दोनों एक साथ इसमें प्रविष्ट कर अपने बन्धु-जनों का दर्शन करेंगे ।

द्रौपदी—आर्य ! लकड़ी इकट्ठी करके (शीघ्र) चिता प्रज्वलित कीजिये । मेरा हृदय अपने प्राणनाथ को देखने के लिए उतावला हो रहा है । (चारों

राक्षसः—सदृशमिदं भरतकुलवधूनां यत् पत्युरनुमरणम् ।

युधिष्ठिरः—महर्षे ! न कश्चिच्छृणोति तावदावयोर्वचनम् । तदिन्धन-प्रदानेन प्रसादः क्रियताम् ।

राक्षसः—मुनिजनविरुद्धमिदम् (स्वगतम्) पूर्णो मे मनोरथः । यावदनुपलक्षितः समीपेऽहं समिन्धयामि वह्निम् । (प्रकाशम्) राजन् ! न शक्नुमो वयमवस्थातुम् । (इति निष्क्रान्तः) ।

दृष्ट्वा । त्वया भीमेन विरहितमिदं राजकुलं परिजनः सेवकजनोऽपि परिहरति त्यजति ।

सदृशमिति—भरतकुलस्य भरतकुलोत्पन्नपाण्डववंशस्य या वध्व-स्तासामिदं सदृशमुचितमेव । अनुमरणं पत्या सह मरणम् ।

महर्षे इति – इन्धनस्य चितार्थं काष्ठस्य प्रदानेन दानेन । प्रसादः कृपा ।

मुनिजनेति—मुनिजनस्य तपस्विजनस्य विरुद्धमुचितम् । मे मम मनोरथोऽभीष्टः पूर्णः सम्पन्नः । अनुपलक्षितोऽनवलोकितोऽहं समीप एव वह्निमग्निं समन्धियामि प्रज्वालयामि ।

तरफ़ देखकर) हैं, क्या आज प्राणनाथ (भीम) की अनुपस्थिति में कोई भी नौकर महाराज की आज्ञा पालन नहीं कर रहा है ! हा नाथ भीमसेन ! आप के न रहने पर उसी राजकुल को आज नौकर भी छोड़ रहे हैं।

राक्षस—भरत-कुल की वधुओं के लिए अपने पति का अनुसरण करना उचित ही है ।

युधिष्ठिर—महर्षे कोई भी नौकर हम दोनों की बात नहीं सुनता । इस लिए कृपया आप ही (चिता के लिए) ईन्धन प्रदान करने का अनुग्रह करें ।

राक्षस—यह कार्य मुनिजनों के विरुद्ध है । (मन ही मन) मेरा मनोरथ पूरा हो गया है । इसलिए अब मैं पास में ही कहीं छिपकर अग्नि प्रज्वलित करता हूं । (प्रकट रूप से) राजन् ! अब हम (यहां अधिक देर) नहीं ठहर सकते । (यह कह कर चला जाता है) ।

युधिष्ठिरः—कृष्णे ! न कश्चिद्स्मद्वचनं करोति । भवतु, स्वयमेवाऽहं दारुसंचयं कृत्वा चितामादीपयामि ।

द्रौपदी—तुवरदु, तुवरदु महाराओ ।

(त्वरता, त्वरता महाराजः ।)

(नेपथ्ये कलकलः ।)

द्रौपदी—(सभयमाकर्ण्य) महाराश्र ! कस्स वि एसो [1]बलद्दप्पिदस्स विसमो संखणिग्घोसो सुणीअदि । अवरं वि अप्पिअं सुणिदुं अत्थि णिब्बन्धो ? तदो विलम्बीअदु ! ।

([सभयमाकर्ण्य] महाराज ! कस्याऽप्येष [1]बलदर्पितस्य विषमः शङ्ख-निर्घोषः श्रूयते । अपरमप्यप्रियं श्रोतुमस्ति निर्बन्धः, ततो विलम्ब्यताम्[2] ।)

कृष्णेति—हे कृष्णे हे द्रौपदि ! स्वयमेवाऽहं युधिष्ठिरो दारुसंचयं काष्ठसंचयं कृत्वा चितामादीपयामि प्रज्वालयामि ।

सभयमिति—महांश्चाऽसौ राजा महाराजस्तत्सम्बुद्धौ हे महाराज ! बलेन दर्पितस्य कस्याऽपि वीरस्य एष विषयो भयङ्करः शंखस्य निर्घोष-स्तुमुलो ध्वनिः श्रूयते । यदि अपरं द्वितीयमपि अप्रियमनिष्टं श्रोतुं ते निर्बन्धोऽभिलाषो वर्तते ततस्तदा विलम्ब्यतां विलम्बः क्रियताम् ।

युधिष्ठिर—कृष्णे ! कोई भी हम लोगों की बात नहीं सुनता । इसलिए मैं स्वयं ही लकड़िया इकट्ठी करके चिता प्रदीप्त करता हूं ।

द्रौपदी—महाराज ! जल्दी करिये, जल्दी करिये ।

(नेपथ्य में कोलाहल होता है)

द्रौपदी—(भयपूर्वक सुनकर) महाराज ! बल के अहकार में चूर हुए किसी वीर की भीषण शंख-ध्वनि सुनाई दे रही है ! यदि अभी और भी कुछ अनिष्ट समाचार सुनने की इच्छा है तो (यथेष्ट) विलम्ब कीजिये ।

१. गु. 'तेजो०' इति पा. । २. गु. '०ते' इति पा. ।

युधिष्ठिरः—न खलु विलम्ब्यते । उत्तिष्ठ ।

(इति सर्वे परिक्रामन्ति ।)

युधिष्ठिरः—अयि पाञ्चालि ! अम्बायाः सपत्नीजनस्य च किंचित् संदिश्य निवर्तय परिजनम् ।

द्रौपदी—महाराज ! अम्बाए एव्वं संदिसिस्सम्—"जो सो बअ-हिडिम्बकिम्मीरजडासुरजरासन्धविजअमल्लो वि दे मज्झमपुत्तो मम हदासाए पक्खवादेण परलोअं गदो त्ति।"

(महाराज ! अम्बायै एवं सन्देक्ष्यामि—"यः स बकहिडिम्बकिर्मीरजटासुरजरासन्धविजयमल्लोऽपि ते मध्यमपुत्रः स मम[1] हताशायाः पक्षपातेन परलोकं गतः" इति ।)

महाराजेति—अम्बायै कुन्त्यै अहमेवमित्थं सन्देक्ष्यामि सन्देशं दास्यामि । यः स जगद्विदितो बकश्च हिडिम्बश्च किर्मीरश्च जटासुरश्च जरासन्धश्चेति तेषां विजये मल्लो वीरोऽपि ते मध्यमपुत्रो भीमसेन आसीत् स हता नैष्फल्यं गता आशा यस्यास्तथाभूताया अभागिन्या मम द्रौपद्याः पक्षपातेनाऽनुरागेण परलोकं दिवं गतः प्राप्तः, निधनं गत इत्यर्थः । मम स्नेहानुरोधेन शत्रुकृतपरिभवं प्रतिकुर्वाणो युद्धे वीरगतिं प्राप्त इति भावः । अत्र वाक्ये पूर्वं प्रयुक्तं 'सः' इति पदं प्रसिद्ध्यर्थं द्वितीयं च यच्छब्देनाऽऽरब्धस्य वाक्याऽऽकांक्षापूर्त्यर्थं बोध्यम् ।

युधिष्ठिर—नहीं, अब विलम्ब नहीं । उठो ।

(इसके बाद सब चले जाते हैं ।)

युधिष्ठिर—हे द्रौपदी ! माता कुन्ती एवं सपत्नियों के लिये कुछ सन्देश देकर परिजनों को वापस लौटा दो ।

द्रौपदी—महाराज ! मैं माता जी को यह सन्देश दूंगी कि जो आपका

१. गु. अयं पा. नास्ति ।

युधिष्ठिरः—अयि बुद्धिमतिके ! उच्यतामस्मद्वचनाद् अम्बा—

येनाऽसि तत्र जतुवेश्मनि दीप्यमाने,
उत्तारिता सह सुतैर्भुजयोर्बलेन ।
तस्य प्रियस्य बलिनस्तनयस्य पा।——
माख्यामि तेऽम्ब ! कथयेत् कथमीदृगन्यः ?॥२३॥

अयीति—मम द्रौपद्या वचनात् कथनानुसारमम्बा माता कुन्ती उच्यतां कथ्यताम् ।

येनेति—(अन्वयः) हे अम्ब ! तत्र जतुवेश्मनि दीप्यमाने येन भुजयोः बलेन सुतैः सह उत्तारिता, तस्य बलिनः प्रियस्य तनयस्य पापं ते आख्यामि । अन्यः ईदृक् कथं कथयेत् ? !

(व्याख्या) हे अम्ब ! हे मातः ! तत्र तस्मिन् जतुना लाक्षया निर्मितं यद् वेश्म गृहं तस्मिन् दीप्यमानेऽग्निना दह्यमाने सति येन तव मध्यमपुत्रेण भीमेन भुजयोर्बाह्वोर्बलेन त्वं सुतैर्युधिष्ठिरादिभिर्निजपुत्रैः सह उत्तारिता तस्माद् गृहाद् बहिर्नीता तस्य बलिनो विक्रमशालिनः प्रियस्य तनयस्य पुत्रस्य पापं मृत्युरूपमनिष्टं सन्देशं ते तव, सम्बन्धसामान्ये षष्ठी, आख्यामि कथयामि । अन्यो मदतिरिक्तः ईदृगेवंविधमनिष्टं कथं कथयेत्, न कथमपि कथयेदित्यर्थः । ईदृगनिष्टनिवेदनं वक्तुर्दौर्भाग्यसूचकमेवास्तीत्यतो नान्यः कश्चिदेतद् महत् पापं कर्तुमुत्सहेत ।

बक, हिडिम्ब, किर्मीर, जटासुर एवं जरासन्ध आदि को जीतने मे मल्ल जगद्विख्यात वीर मध्यमपुत्र था वह मुझ अभागिनी के पक्षपात के कारण दिवंगत हो गया है ।

युधिष्ठिर—अयि बुद्धिमतिके ! मेरी ओर से माता जी को यह सन्देश दे देना कि—

हे अम्ब ! लाक्षागृह में आग लग जाने पर अपने भुज-बल से पुत्रों सहित आप को जिसने सुरक्षित बाहर निकाला था उस तुम्हारे पराक्रमशील पुत्र के

आर्ये जयन्धर ! [1]त्वमपि सहदेवसकाशं गच्छ[2]। वक्तव्यश्च तत्रभवान् माद्रेयः कनीयान् पाण्डुकुलबृहस्पतिः[3]—"सकलकुरुकुलकमलाऽऽकरदावाऽनलो[4] युधिष्ठिरः परलोकमभिप्रस्थितः [5]प्रियाऽनुजमप्रतिकूलं सततमाशंसनीयमसंमूढं व्यसनेऽभ्युदये च धृतिमन्तं[6] भवन्तमविरलमालिङ्ग्य शिरसि चाऽऽघ्रायेदं प्रार्थयते—

तदहमेवाऽभागी इदं क्रूरं कर्म विधास्ये। वसन्ततिलका छन्दः, 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति तल्लक्षणात् ॥२३॥

आर्येति—सहदेवस्य सकाशं समीपं गच्छ। तत्रभवान् श्रीमान् माद्र्या अपत्यं पुमान् माद्रेयो माद्रीपुत्रः सहदेवः, 'स्त्रीभ्यो ढक्' (पा ४, १, १२०) इति ढक्>एय प्रत्ययः, पाण्डुकुले बृहस्पतिरिव बुद्धिमान् कनीयान् कनिष्ठो वक्तव्यः कथनीयः। सकलं समस्तं कुरुकुलमेव कमलाकरः कमलवनं तस्मिन् दावानल इव वनवह्निरिव दाहकः परलोकं दिवमभिप्रस्थितो गतो युधिष्ठिरः प्रियं स्निग्धमनुजं कनीयांसं भ्रातरमप्रतिकूलमाज्ञाकारिणं सततं निरन्तरमाशंसनीयं प्रतिबोधनीयं व्यसने दुःखकालेऽभ्युदये सम्पन्नावस्थायां चाऽसम्मूढमविभ्रान्तं, स्थिरबुद्धिमित्यर्थः, भवन्तं त्वां, सहदेवमित्यर्थः, अविरलं प्रगाढमालिङ्ग्याऽऽश्लिष्य शिरसि मस्तके चाऽऽघ्रायेदं निम्नोक्तप्रकारेण प्रार्थयते निवेदयते।

विषय में मैं आपको अमङ्गल-मय समाचार सुना रहा हूँ। दूसरा कोई इस प्रकार की अनिष्ट बात कैसे कह सकता है? ॥२३॥

आर्य जयन्धर ! तुम भी सहदेव के पास जाकर पाण्डु-कुल में बृहस्पति के

१. G. 'त्वया' इति पा.। २. 'गन्तव्यम्' इति पा.। ३. गु. अयं पा. नास्ति। ४. गु समस्तमपीदं पदं माद्रेय-विशेषणत्वेन G. च युधिष्ठिर-विशेषणत्वेन स्वीकृतम्। ५. G. 'प्रियमनु०' इति व्यस्तः पा.। ६. गु. अयं पा. नास्ति।

मम हि वयसा दूरेणाऽल्पः, श्रुतेन समो भवान्,
सहजकृपया बुद्ध्या ज्येष्ठो, मनीषितया गुरुः।
शिरसि मुकुलौ पाणी कृत्वा भवन्तमतोऽर्थये,
'मयि विरलतां नेयः स्नेहः, पितुर्भव वारिदः' ॥२४॥

ममेति—(अन्वयः) मम हि दूरेण वयसा भवान् अल्पः, श्रुतेन समः, सहजकृपया बुद्ध्या ज्येष्ठः, मनीषितया (च) गुरुः। अतः शिरसि मुकुलौ पाणी कृत्वा भवन्तम् अर्थये, 'मयि स्नेहः विरलतां नेयः, पितुः वारिदश्च भव।'

(व्याख्या) मम युधिष्ठिरस्य हि दूरेणाऽधिकेन वयसा आयुषा भवान् अल्पः कनीयान् परन्तु श्रुतेन शास्त्रश्रवणजन्येन ज्ञानेन समः समानः, सह जायते इति सहजा स्वभाविकी कृपा दया यस्यां सा तया तथाभूतया बुद्ध्या मत्या ज्येष्ठो मदपेक्षया ज्यायान्, मनीषा बुद्धिः प्रतिभा वाऽस्याऽस्तीति मनीषी तस्य भावस्तत्ता तया मनीषितया विद्वत्तया च गुरुर्गुरुवत् संमाननीयः। अतः शिरसि मस्तके मुकुलौ मुकुलवद् अञ्जलिबद्धौ पाणी हस्तौ कृत्वा, शिरसि हस्ताञ्जलिं बद्ध्वेत्यर्थः, भवन्तं त्वां सहदेवमर्थयेऽभ्यर्थये यत् त्वया मयि युधिष्ठिरे स्नेहः प्रेम विरलतां न्यूनताम्, अल्पतामित्यर्थः, नेयः प्रापयितव्यः,

---

समान बुद्धिमान् उस कनिष्ठ माद्री-पुत्र से यह कहना कि समस्त कुरुकुलरूपी वन के लिये दावाग्नि-स्वरूप युधिष्ठिर परलोक जाते हुए अपने बुद्धिमान्, सुख-दुःख में धैर्य रखने वाले तथा सदा आज्ञाकारी प्रिय कनिष्ठ भ्राता तुमको, जिससे कुछ आशा की जा सकती है, प्रगाढ आलिङ्गन करके तथा सिर पर सूंघ कर यह प्रार्थना करते हैं कि—

हे वत्स ! यद्यपि तुम मुझ से आयु मे बहुत छोटे हो परन्तु शास्त्रीय ज्ञान में मुझ से बड़े हो। स्वभावतः दयापूर्ण विचारों से तुम महान् हो तथा विद्वत्ता

अपि च बालिशचरितस्य नित्याऽभिमानिनोऽश्मसदृशहृदयसारस्या-ऽपि नकुलस्य ममाऽऽज्ञया वचने स्थातव्यम्। नाऽनुगन्तव्याऽस्मन् पदवी। त्वया हि वत्स !

त्वं स्वयं च पितुः पाण्डोः वारि जलं ददातीति वारिदस्तर्पणादिद्वारा जलाञ्जलिप्रदायको भव। मयि स्नेहाधिक्येन त्वया मदनुसरणं न कर्तव्यम्, अपि तु पितृभ्यो जलाञ्जलिप्रदानाय तव प्राणधारणमेव श्रेयस्करमिति भावः। हरिणी छन्दः, 'नसमरसला गः षड्वेदैर्हयै-र्हरिणी मता' इति तल्लक्षणात् ॥२४॥

अपि चेति—बालिशं चाञ्चल्यमयं चरितं यस्य तस्य, नित्यमेवाभि-मानोऽस्ति अस्येति नित्याऽभिमानी तस्य सततगर्वितस्य, अश्मना पाषाणेन सदृशं तुल्यं हृदयस्य सारं बलं यस्य तस्य तथाभूतस्य नकुलस्याऽपि मम युधिष्ठिरस्याऽऽज्ञया वचने स्थातव्यं मम वचनानु-सारमेव वर्तितव्यमिति भावः। 'नकुलस्य' इत्यत्र 'कृत्यानां कर्तरि वा' (पा. २, ३, ७१) इति षष्ठी द्रष्टव्या। अस्माकं पदवी मार्गो नाऽनु-गन्तव्या नाऽनुसर्तव्या। अस्माकमनुगमनं न विधेयमित्यर्थः।

के कारण गुरु-तुल्य हो। मैं मस्तक पर हाथ जोड़ कर तुम से प्रार्थना करता हूं कि 'अब तुम मुझ में प्रेम कम कर दो और पिता को जल देने के लिए (अवश्य) जीवित रहना।।२४।।

और भी मूर्ख, सदा अभिमानी तथा पत्थर के समान कठोर हृदय वाले नकुल का भी, मेरी आज्ञा के अनुसार, कहना मानना तथा हमारे मार्ग का अनुसरण करके आत्महत्या न करना। हे वत्स ! तुम—

विस्मृत्याऽस्मान् [1]श्रुतिविशदया प्रज्ञया साऽनुजांश्च,
पिण्डान् पाण्डोरुदकपृषतानश्रुगर्भान् प्रदातुम् ।
दायादानामपि तु भवने, यादवानां कुले वा,
कान्तारे वा कृतवसतिना रक्षणीयं शरीरम् ॥२५॥

विस्मृत्येति—(अन्वयः) सानुजांश्च अस्मान् श्रुतिविशदया प्रज्ञया विस्मृत्य पाण्डोः पिण्डान् अश्रुगर्भान् उदकपृषतान् प्रदातुं दायादानाम् अपि तु भवने, यादवानां कुले वा, कान्तारे वा कृतवसतिना शरीरं रक्षणीयम् ।

(व्याख्या) अनुजैः कनिष्ठभ्रातृभिर्भीमादिभिः सहितान् अस्मान् मां युधिष्ठिरम्, आदरार्थे बहुवचनम्, श्रुत्या शास्त्रज्ञानेन विशदया उज्ज्वलया प्रज्ञया बुद्धया विस्मृत्य पाण्डोर्निजपित्रे, छन्दोदृष्ट्या चतुर्थी-स्थाने षष्ठी, पिण्डान् श्राद्धपिण्डान् अश्रूणि गर्भे येषां तान् तथाभूतान् नेत्रजलमिश्रितान् उदकस्य जलस्य पृषतान् बिन्दून् प्रदातुमर्पयितुं दायादानां सम्बन्धिनां कौरवाणां भवने गृहे यादवानां कुले वा कान्तारे वने वा कृता वसतिर्निवासो येन तेन तथाभूतेन त्वया शरीरं रक्षणीयं रक्षितव्यम् । पितृभ्यो जलाञ्जलिप्रदानाय त्वयाऽस्मदनुगमनं विहाय स्वशरीरमवश्यं रक्षणीयमित्यर्थः । मन्दाक्रान्ता छन्दः, 'मन्दाक्रान्ता-ऽम्बुधिरसनगैर्मो भनौ तौ गयुग्मम्' इति तल्लक्षणात् ॥२५॥

शास्त्र-ज्ञान से निर्मल बुद्धि की सहायता से भाइयों सहित मुझे भुलाकर पिता पाण्डु को अश्रु-मिश्रित जलाञ्जलि देने के लिये अपने दायादों के घर में या यादव-कुल में अथवा कहीं वन में रहकर अपने शरीर की रक्षा करना ॥२५॥

१. G. 'श्रतविशदया स्वाग्रजौ चात्मबुद्धया' इति पा.

गच्छ जयन्धर ! अस्मच्छरीरस्पृष्टिकया शापितोऽसि—त्वयाऽकाल-हीनमिदवश्यमावेदनीयम् ।"

द्रौपदी—हला बुद्धिमदिए ! भणाहि मह वअणेन पिअसहीं सुभद्दाम्—अज्ज वच्छाए उत्तराए चउत्थो मासो पडिवण्णस्स गब्भस्स । तुमं एव्व कुलपडिट्ठाअवं सावहाणं रक्खत्ति । सव्वथा णाभिउले तं णिक्खिवसि । कदा वि इदो लोआदो गदस्स ससुरउलस्स अम्हाणं व सलिलबिन्दुदो भविस्सदि त्ति ।'

(हला बुद्धिमतिके ! भण मम वचनेन प्रियसखीं सुभद्राम्—अद्य[1] वत्साया उत्तरायाश्चतुर्थो मासः प्रतिपन्नस्य गर्भस्य । त्वमेव कुलप्रतिष्ठापकं सावधानं रक्षेति । सर्वथा[2] नाभिकुले ता निक्षिपसि । कदाऽपीतो लोकाद्[3] गतस्य श्वसुर-कुलस्याऽस्माकं च सलिलबिन्दुदो भविष्यतीति ।)

गच्छेति—अस्माकं मम युधिष्ठिरस्य शरीरस्य स्पृष्टिकया स्पर्शेन शापितोऽसि शपथं कारितोऽसि यत्त्वया न कालः हीनः यस्मिन् कर्मणि तद् यथा तथा त्वरितमेवेत्यर्थः, इदमवश्यमेव आवेदनीयं कथनीयम् ।

हला इति—मम द्रौपद्याः वचनेनाऽऽज्ञया सुभद्रां भण कथय । वत्सायाः पुत्र्या उत्तरायाः प्रतिपन्नस्य स्थितिमापन्नस्य गर्भस्य चतुर्थो मासो-ऽयं वर्तते । कुलस्य वंशस्य प्रतिष्ठापकं प्रतिष्ठापयितारमिमं सावधानं सावधानतया रक्ष पालय । तामुत्तरां गर्भरक्षणाय नाभिकुले पितृकुले, स्वपितृकुले द्वारिकायां यद्वा उत्तरायाः पितृकुले विराटनगरे, निक्षिपसि

जयन्धर ! जाओ । तुम्हें हमारे शरीर की सौगन्ध है, तुम अविलम्ब जाकर यह समाचार कहो ।

द्रौपदी—हे बुद्धिमतिके ! मेरी तरफ़ से प्रिय सखी सुभद्रा से जाकर कहना कि उत्तरा को गर्भ धारण किए यह चौथा महीना है । पाण्डुकुल के प्रतिष्ठापक

१. G. इदं पदं नास्ति । २. इदं समस्त वाक्यं G. नास्ति । ३. G. 'परलोकगतस्य' इति पा. ।

युधिष्ठिरः—(सास्रम्) भो कष्टम् !

शाखारोधस्थगितवसुधामण्डले मण्डिताशे,
पीनस्कन्धे सुसदृशमहामूलपर्यन्तबन्धे ।
दग्धे दैवात् सुमहति तरौ तस्य सूक्ष्माऽङ्कुरेऽस्मि-
न्नाशावन्धं कमपि कुरुते छायायाऽर्थी जनोऽयम् ! ॥२६॥

स्थापय। लोऽर्थे लट्। कदापि कदाचिदयमितोऽस्माल्लोकाद् गतस्य परलोकं प्राप्तस्य श्वसुरकुलस्य पाण्डुकुलस्याऽस्माकं च सलिलविन्दुदो जलाञ्जलिप्रदो भविष्यति।

शाखारोधेति—(अन्वयः) शाखारोधस्थगितवसुधामण्डले मण्डिताशे पीनस्कन्धे सुसदृशमहामूलपर्यन्तबन्धे सुमहति तरौ दैवात् दग्धे तस्य अस्मिन् सूक्ष्माऽङ्कुरे छायया अर्थी अयं जनः कमपि आशाबन्धं कुरुते।

(व्याख्या) शाखानां रोधेन विस्तारेण स्थगितमाच्छादितं वसुधामण्डलं भूतलं येन तस्मिन्, मण्डिताऽलंकृता आशा दिशो येन तस्मिन्, पीनस्कन्धे पीवरस्कन्धप्रदेशे, सुसदृशः समुचितो महामूलस्य पर्यन्तबन्धो यस्य तस्मिन् यद्वा सुसदृशानि यानि महामूलानि तेषां पर्यन्ते आलवालप्रदेशे, बन्धो यस्य तस्मिन् तथाभूते सुमहति विशाले तरौ पाण्डववंशस्वरूपे वृक्षे दैवाद् दुर्भाग्याद् दग्धे भस्मीभूते विनष्टे सति तस्य पाण्डववंशरूपस्य वृक्षस्य अस्मिन् सूक्ष्मे अङ्कुरे

इस गर्भ की तुम सावधानी से रक्षा करना। उत्तरा को (अपने या उसके) पितृकुल में अच्छी प्रकार रखना। कदाचित् यह गर्भस्थ बालक ही दिवंगत श्वशुर-कुल एवं हम लोगों के लिये जलाञ्जलि देने वाला हो सके।

युधिष्ठिर—(आँखों में आँसू भर कर) ओह बड़े दुःख की बात है !

जिसने अपनी शाखाओं के विस्तार से समस्त भूमण्डल को व्याप्त कर रक्खा था, समस्त दिशाएँ जिससे अलंकृत थीं, उस पीवर-स्कन्ध एवं अपने

साधु[1] इदानीमध्यवसितं करणीयम्। (कंचुकिनमवलोक्य) आर्य जयन्धर! स्वशरीरेण[2] शापितोऽसि, तथाऽपि न गम्यते?।

कञ्चुकी—(साक्रन्दम्) हा देव पाण्डो! तव सुतानामजातशत्रुभीमार्जुननकुलसहदेवानामयं दारुणः परिणामः!।

हा देवि कुन्ति! भोजराजभवनपताके!

उत्तराया गर्भरूपेऽङ्कुरे छायया अर्थी छायेच्छुकोऽयं जनः, द्रौपदीत्यर्थः कमपि विशेषम् आशाबन्धं कामपि विशेषामाशां कुरुते। दुर्भाग्याद् भीमादिवधेन उच्छिन्नेऽस्मिन् पाण्डववंशे अनिश्चितान्तेन उत्तरागर्भाङ्कुरेणैव इयं द्रौपदी अस्मत्कुलसन्तानस्य पितृभ्यो जलाञ्जलिप्रदानस्य च महतीमाशां कुरुते इति भावः। मन्दाक्रान्ता छन्दः, 'मन्दाक्रान्ताम्बुधिरसनगैर्मो भनौ तौ गयुग्मम्' इति तल्लक्षणात् ॥२६॥

साक्रन्दमिति—अजातो नोत्पन्नः शत्रुर्यस्य सोऽजातशत्रुर्युधिष्ठिरः, अजातशत्रुश्च भीमश्च अर्जुनश्च नकुलश्च सहदेवश्चेति नेषां तव पाण्डोः सुनानां पुत्राणामयं दारुणो भयंकरः परिणामोऽन्तः।

हा देवीति—भोजराजस्य कुन्तीपितुर्यद् भवनं प्रासादस्तस्य पताका इवेति तत्सम्बुद्धौ। भोजदेशश्चाऽधुना 'भोपालः' इति नाम्ना प्रसिद्धः कथ्यते (तु गु.)।

अनुरूप (विशाल) आल-बाल प्रदेश (=परिवार-प्रसार) से सुशोभित पाण्डु-कुल-रूपी महान् वृक्ष के दग्ध हो जाने पर छाया की इच्छुक यह द्रौपदी उसके (गर्भस्थबालक-रूपी) अङ्कुर से ही कितनी आशा लगा रही है ॥२६॥

अच्छा, अब हमें अपना निश्चित कार्य करना चाहिये। (कञ्चुकी की तरफ़ देखकर) आर्य जयंधर! अपने शरीर की सौगन्ध देने पर भी तुम नहीं जा रहे हो?।

कञ्चुकी—(विलाप करते हुए) हाय महाराज पाण्डु! आपके पुत्र

१. G. 'द्रौपदी साधयेदानीमध्यवसितम्' इति पा। २. G. 'अस्मच्छरीरेण' इति पा.।

भ्रातुस्ते तनयेन शौरिगुरुणा श्यालेन गाण्डीविन-
स्तस्यैवाऽखिलधार्तराष्ट्रनलिनीव्यालोलने दन्तिनः ।
आचार्येण वृकोदरस्य हलिनोन्मत्तेन मत्तेन वा,
दग्धं त्वत्सुतकाननं, ननु मही यस्याऽऽश्रयाच्छीतला ॥२७॥

(इति रुदन्निष्क्रान्तः)

भ्रातुरिति—(अन्वयः) ते भ्रातुः तनयेन शौरिगुरुणा गाण्डीविनः श्यालेन अखिलधार्तराष्ट्रनलिनीव्यालोलने दन्तिनः तस्य वृकोदरस्य आचार्येण हलिना एव उन्मत्तेन मत्तेन वा, त्वत्सुतकाननं दग्धम् । यस्य आश्रयात् मही ननु शीतला (आसीत्) ।

(व्याख्या) ते तव, कुन्त्या इत्यर्थः, भ्रातुर्वसुदेवस्य तनयेन पुत्रेण, शौरेर्भगवतः कृष्णस्य गुरुणा ज्येष्ठभ्रात्रा, गाण्डीवमस्यास्तीति तस्य गाण्डीविनोऽर्जुनस्य श्यालेन, अखिलाः समस्ताः धार्तराष्ट्राः धृतराष्ट्र-पुत्रा एव नलिनी कमलिनी तस्याः व्यालोलने दलने दन्तिनो हस्तिन इव तस्य वृकोदरस्य भीमस्य आचार्येण गुरुणा हलिना बलरामेणैव, मदिरया उन्मत्तेन अन्येन वा केनचित् कारणेन मत्तेन प्रमत्तभूतेन, तव सुताः पुत्रा एव काननं वनं दग्धं भस्मीकृतम् । यस्य त्वत्सुतस्वरूपस्य काननस्य आश्रयात् संश्रयणाद् मही पृथ्वी ननु निश्चयेन शीतला शीतल-छायावृता, सुरक्षितेत्यर्थः, आसीत् । शार्दूलविक्रीडितं छन्दः, 'सूर्याश्वै-र्यदि मासजः सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' इति तल्लक्षणात् ॥२७॥

युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल एवं सहदेव की यह दारुण दशा ! । हाय महाराज भोजराज के भवन की पताका महारानी कुन्ती !

तुम्हारे भाई के पुत्र, भगवान् कृष्ण के बड़े भाई तथा अर्जुन के साले एवं समस्त धार्तराष्ट्र-रूपी कमलिनी का विदलन करने में कुञ्जर-स्वरूप भीम के आचार्य बलराम ने (मदिरा से) उन्मत्त या विक्षिप्त होकर तुम्हारे पुत्रों के

युधिष्ठिरः—जयन्धर, जयन्धर !

(प्रविश्य)

कञ्चुकी—आज्ञापयतु देवः ।

युधिष्ठिरः—वक्तव्यमिति ब्रवीमि, न पुनरेतावन्ति भागधेयानि नः, यदि कदाचिद् विजयी स्याद् वत्सोऽर्जुनस्तद्वक्तव्योऽस्मद्वचनाद् भवता ।

वक्तव्यमिति—वक्तव्यं मम मनसि वक्तव्यत्वेन हितकारितया कथनीयत्वेन समायातमित्यस्माद्धेतोरेवाऽहं ब्रवीमि कथयामि यद् यद्यपि नोऽस्माकमेतावन्ति इयन्ति भागधेयानि भाग्यानि न सन्ति तथापि यदि कदाचिद् मे वत्सोऽर्जुनो विजयी स्यात् तदा स मम युधिष्ठिरस्य वचनाद् भवता एवं वक्तव्यः कथनीयः । अधुना वक्तव्यमेव दर्शयति—

उस सुन्दर वन को, जिसके आश्रय से यह समस्त पृथिवी शीतल रहती थी, दग्ध कर दिया है ॥२७॥

(यह कह कर रोता हुआ चला जाता है ।)

युधिष्ठिर—जयन्धर !, जयन्धर !

(प्रवेश करके)

कञ्चुकी—महाराज ! आज्ञा कीजिये ।

युधिष्ठिर—कहने योग्य (समझ कर ही) यह शब्द कह रहा हूँ कि यद्यपि हमारे इतने भाग्य तो नहीं हैं परन्तु तथापि यदि वत्स अर्जुन किसी प्रकार युद्ध में विजयी हो जाए तो मेरी तरफ़ से तुम उसे यह कह देना कि-

हली हेतुः सत्यं भवति मम वत्सस्य निधने,
तथाप्येष भ्राता सहजसुहृदस्ते मधुरिपोः ।
अतः क्रोधः कार्यो न खलु मयि चेत् प्रेम भवतो,
वनं गच्छेर्मा गाः पुनरकरुणां क्षात्रपदवीम् ॥२८॥

हलीति—(अन्वयः) सत्यं मम वत्सस्य निधने हली हेतुः भवति, तथापि एष ते सहजसुहृदः मधुरिपोः भ्राता, अतः चेद् भवतः मयि प्रेम (अस्ति तर्हि) क्रोधः न कार्यः खलु । वनं गच्छेः, अकरुणां क्षात्र-पदवीं पुनः मा गाः ।

(व्याख्या) यद्यपि एतत् सत्यं यद् मम वत्सस्य भीमस्य निधने मृत्यौ हलमस्याऽस्तीति हली बलराम एव हेतुः कारणं भवति अस्ति, तथापि एषोऽयं बलरामस्ते तव, अर्जुनस्येत्यर्थः, सहजसुहृदः स्वाभाविक-मित्रस्य मधुरिपोः कृष्णस्य भ्राता ज्येष्ठो भ्राता अस्तीति शेषः, अतो-ऽस्माद्धेतोश्चेद् यदि भवतस्तव अर्जुनस्य मयि युधिष्ठिरे प्रेम स्नेहो-ऽस्ति तर्हि बलरामाय क्रोधो न कार्यः खलु । वनं गच्छेः । परन्तु अकरुणां क्रूरां क्षात्रपदवीं क्षत्रियोचितप्रतीकारमार्गं, युद्धमार्गमित्यर्थः, पुनर्मा गाः न गच्छेः । बलरामेण युद्धमकृत्वा त्वया वनं गन्तव्यमन्यत्र वा कुत्रचिदुषित्वा जीवनं यापयितव्यं, परं हलिना प्रतीकारभावना कदापि न कर्तव्येति भावः । शिखरिणी छन्दः, 'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनस-भलागा शिखरिणी' इति तल्लक्षणात् ॥२८॥

यद्यपि बलराम ही वत्स भीम की मृत्यु में निश्चित हेतु हैं परन्तु तथापि क्योंकि वह तुम्हारे स्वाभाविक मित्र भगवान् कृष्ण के (बड़े) भाई हैं, इस लिये यदि तुम्हारा मुझ पर प्रेम है, तो तुम उन पर क्रोध न करना । कहीं वन में जाकर (अपनी शेष आयु बिता देना), परन्तु निर्दय क्षात्र-मार्ग (= युद्ध) का अनुसरण न करना ॥२८॥

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः। (इति निष्क्रान्तः)

युधिष्ठिरः—(अग्निं दृष्ट्वा, सहर्षम्) कृष्णे ! ननूद्धतशिखाहस्ताऽऽहूताऽस्मद्विधव्यसनिजनः समिद्धो भगवान् हुताशनः। तत्रेन्धनीकरोम्यात्मानम्।

द्रौपदी—प्पसीददु प्पसीसदु महाराओ इमिणा अपच्छिमेण पणएण। अहं दाव अग्गदो प्पविसामि।

(प्रसीदतु प्रसीदतु महाराजोऽनेनाऽपश्चिमेन प्रणयेन। अहं तावदग्रतः प्रविशामि।)

युधिष्ठिरः—यद्येवं सहितावेवाभ्युदयमुपभोक्ष्यावहे।

अग्निमिति—समोप एव सुगुप्तरूपेण राक्षसेन प्रज्वलितमग्निं दृष्ट्वाऽवलोक्य। हे कृष्णे ! हे द्रौपदि ! उद्धता उद्गताः शिखाः एव हस्तास्तैः आहूता अस्मद्विधा व्यसनिनो जना येन स तथाभूतो भगवान् हुताशनोऽग्निः समिद्धः प्रज्वलितो वर्तते। तत्राऽऽत्मानमिन्धनीकरोमि भस्मसात् करोमि।

प्रसीदतु इति—प्रसीदतु दयां करोतु। अपश्चिमेन अन्तिमेन। प्रणयेन प्रार्थनया।

कञ्चुकी—जो महाराज की आज्ञा। (यह कहकर चला जाता है।)

युधिष्ठिर—(अग्नि को देखकर हर्ष पूर्वक) द्रौपदि ! भगवान् हुताशन (=अग्नि) अपनी ऊँची उठती हुई शिखा-रूपी हाथों से हमारे जैसे विपत्ति-ग्रस्त पुरुषों का आह्वान करते हुए प्रज्वलित हो रहे हैं। मैं अपने आपको उसमें जलाता हूँ।

द्रौपदी—महाराज ! कृपा कीजिये, कृपा कीजिये, मेरी आप से यह अन्तिम प्रार्थना है। आप से पहले मैं प्रवेश करूंगी।

युधिष्ठिर—यदि ऐसी बात है तो फिर हम दोनों एक साथ ही इस अभ्युदय-सुख का उपभोग करेंगे।

चेटी—हा भअवन्तो लोअवाला ! परित्ताअह, परित्ताअह। एसो क्खु सोमवंसराएसी राअसूअसंतप्पिदहव्ववाहो खंडवसंतप्पिदहुदवहस्स किरीडिणो जेट्ठो भादा सुग्गहीदणामहेओ महाराअजुहिट्ठिरो। एसा वि पाञ्चालराअनणआ देवी वेदिमज्झसम्भवा जण्णसेणी। दुवे वि सरीरेण णिक्करुणजलणस्स प्पवेसेण इन्धणीहोन्ति। ता परित्ताअह अज्जा ! परित्ताअह। कधं ण को वि परित्ताअदि ? (तयोरग्रतः पतित्वा) किं ववसिदं देवीए देवेण अ ?

(हा भगवन्तो लोकपालाः ! परित्रायध्वं परित्रायध्वम्। एष खलु सोमवंशराजर्षी राजसूयसंतर्पितहव्यवाहः खाण्डवसंतर्पितहुतवहस्य किरीटिनो ज्येष्ठो भ्राता सुगृहीतनामधेयो महाराजयुधिष्ठिरः। एषाऽपि पाञ्चालराजतनया देवी वेदिमध्यसंभवा याज्ञसेनी। द्वावपि शरीरेण निष्करुणज्वलनस्य प्रवेशेनेन्धनीभवतः। तत् परित्रायध्वमार्याः ! परित्रायध्वम्। कथं न कोऽपि परित्रायते ? [तयोरग्रतः पतित्वा] किं व्यवसितं देव्या देवेन च ?)

हा भगवन्त इति—लोकपालाः ! लोकसंरक्षकाः देवाः ! सोमवंशे चन्द्रवंशे उत्पन्नो राजर्षिः, राजसूयेन एतन्नामकेन यज्ञविशेषेण सन्तर्पितः प्रसादितो हव्यवाहोऽग्निः येन स तथाभूतः, खांडवेन खांडववनेन सन्तर्पितो हुतवहो वह्निः येन तस्य तथाविधस्य किरीटिनोऽर्जुनस्य ज्येष्ठो भ्राता सहोदरः सुगृहीतं नामधेयं यस्य स तथाभूतो महाराजो युधिष्ठिरः। एषा च पांचालराजस्य द्रुपदस्य तनया पुत्री वेदिमध्याद् यज्ञवेदिमध्यात् सम्भव उत्पत्तिर्यस्य सा याज्ञसेनी द्रौपदी। निष्करुणस्य क्रूरस्य ज्वलनस्याऽग्नेः। इन्धनीभवतो भस्मसाद् भवतः। व्यवसितं निश्चितम्।

चेटी—हे भगवन् लोकपालो ! रक्षा करो, रक्षा करो। यह चन्द्रवंश में उत्पन्न राजर्षि, जिन्होंने राजसूय यज्ञ करके अग्नि को सन्तृप्त किया है तथा जो अर्जुन के, जिसने खांडव वन से अग्नि को प्रसन्न किया था, बड़े भाई सुगृहीत नामधेय महाराज युधिष्ठिर हैं और यह यज्ञवेदि से उत्पन्न होने वाली पाञ्चालराज-

युधिष्ठिरः—अयि बुद्धिमतिके ! यन्नाथेन प्रियाऽनुजेन विना सदृशं तत्। उत्तिष्ठोत्तिष्ठ, भद्रे ! उदकमुपानय[1]।

चेटी—जं देवो आणवेदि। (इति निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य च) जेदु जेदु महाराओ।

(यद् देव आज्ञापयति। [इति निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य च] जयतु जयतु महाराजः)।

युधिष्ठिरः—पाञ्चालि ! त्वमपि तावत् स्वपक्षपातिनो वृकोदरस्य प्रियस्याऽऽर्जुनस्योदकक्रियां कुरु।

अयि इति—नाथेन स्वभर्त्रा विना स्त्रियो यत् कर्तुमुचितं तद् द्रौपद्या निर्णीतं, प्रियेणाऽनुजेन च विना यत् पुरुषस्य कर्तुं सदृशमुचितं तद् मया युधिष्ठिरेण विनिश्चितम्।

पाञ्चालीति—हे पाञ्चालि ! हे द्रौपदि ! स्वपक्षपातिनः स्वविशेषस्नेहिनो वृकोदरस्य भीमसेनस्योदकक्रियां सलिलाञ्जलिप्रदानादिकां क्रियां कर्म कुरु विधेहि।

पुत्री महारानी द्रौपदी हैं। दोनों निर्दय अग्नि में प्रवेश करके अपने शरीर को भस्म कर रहे हैं। इसलिये हे आर्यो ! रक्षा करो, रक्षा करो। हैं, क्या बात है कोई भी रक्षा नहीं करता ? (उनके आगे गिरकर) महाराज तथा महारानी ने यह क्या सोचा है ?

युधिष्ठिर—हे बुद्धिमतिके ! प्राणनाथ के विना (स्त्री को) तथा प्रिय अनुज के विना (मनुष्य को) जो उचित है, वही हमने भी निश्चय किया है। भद्रे ! तुम जल लाओ।

चेटी—जो महाराज की आज्ञा। (बाहर जाकर पुनः आकर) महाराज की जय हो, जय हो।

युधिष्ठिर—हे द्रौपदि ! तुम भी अपने (विशेष) पक्षपाती भीम तथा अर्जुन की उदक-क्रिया करो।

१. इतोऽग्रे (चेटी तथा करोति) इत्यतः पूर्वं समस्तोऽपि पाठः G. नास्ति।

द्रौपदी—महाराओ एव्व करेदु। अहं उण जलणं पविसिस्सम्।
(महाराज एव करोतु। अहं पुनर्ज्वलनं प्रवेक्ष्यामि।)
युधिष्ठिरः—अनतिक्रमणीयं लोकवृत्तम्। भद्रे! उदकमुपानय।
(चेटी तथा करोति।)

युधिष्ठिरः—(पादौ प्रक्षाल्योपस्पृश्य च) एष तावत् सलिलाञ्जलिर्गाङ्गेयाय भीष्माय गुरवे। अयं[1] प्रपितामहाय शान्तनवे। अयमपि पितामहाय विचित्रवीर्याय। (सास्रम्) तातस्याऽधुनाऽवसरः। अयं तावत् स्वर्गस्थिताय सुगृहीतनाम्ने पित्रे पाण्डवे।

अद्य प्रभृति वारीदमस्मत्तो दुर्लभं पुनः।
तात! माद्र्याऽम्बया सार्धं मया दत्तं निपीयताम् ॥२९॥

अद्य प्रभृतीति— (व्याख्या) अद्यप्रभृति अद्याऽऽरभ्य इदं वारि तिलोदकमस्मत्तः पुनर्दुर्लभमलभ्यं स्यात्। अतः हे तात! हे पितः! मया युधिष्ठिरेण दत्तमर्पितमिदं तिलोदकमम्बया मात्रा माद्र्या सार्धं साकं निपीयतां पीयताम्, गृह्यतामित्यर्थः ॥२६॥

द्रौपदी—महाराज ही करें। मैं तो अग्नि में प्रवेश करती हूँ।
युधिष्ठिर—लोक-परम्परा का उल्लङ्घन करना उचित नहीं है। भद्रे! जल लाओ।

(चेटी जल लाती है।)

युधिष्ठिर—(पैर धोकर आचमन करके) यह सलिलाञ्जलि गाङ्गेय गुरु भीष्म के लिए है, यह प्रपितामह शान्तनु के लिए और यह बाबा विचित्रवीर्य के लिए है। (आंखों में आँसू भरकर) अब पिता की बारी है। यह सलिलाञ्जलि स्वर्गस्थित सुगृहीतनामा पिता पाण्डु के लिए है।

हे पिता! आज से लेकर हमारे द्वारा दिया हुआ यह तर्पण-जल आपको

१. अयं पा. पु. नास्ति।

एतज्जलं जलजनीलविलोचनाय,
भीमाय भोस्तव ममाऽप्यविभक्तमस्तु ।
एकं क्षणं विरम वत्स ! पिपासितोऽपि,
पातुं त्वया सह जवादयमागतोऽस्मि ॥३०॥

एतज्जलमिति—(अन्वयः) एतत् जलं जलजनीलविलोचनाय भीमाय। भोः ! (एतत्) तव ममाऽपि अविभक्तम् अस्तु । वत्स ! पिपासितः अपि (त्वम्) एकं क्षणं विरम । त्वया सह (जलं) पातुम् अयमहं जवात् आगतः अस्मि ।

(व्याख्या) एतदिदं जलं जलजवत् कमलवद् विलोचने नेत्रे यस्य तस्मै तथाभूताय भीमाय प्रदीयते । भो भीमसेन ! एतज्जलं तव ममाऽपि च अविभक्तं सम्मिलितमस्तु । हे वत्स ! यद्यपि त्वं पिपासितः पिपासाकुलोऽसि तथापि एकं क्षणं विरम मां प्रतीक्षस्वेत्यर्थः । त्वया भीमेन सहैवेदं तिलोदकं पातुमयमहं युधिष्ठिरो जवाद् वेगात्, त्वरितमेवेत्यर्थः, आगतोऽस्मि आगच्छामि । त्वया विना प्राणान् धारयितुमसमर्थः सन्नहमग्निप्रवेशेन आत्मानं व्यापाद्य त्वत्समीपमागत्य त्वया सहैव सलिलाञ्जलिं पास्यामीति भावः । वसन्ततिलका छन्दः, 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति तल्लक्षणात् ॥३०॥

मिलना दुर्लभ है। इसलिए माता माद्री के साथ मेरे द्वारा दिया हुआ यह जल पीजिए ॥२६॥

यह जल (नील) कमल के समान नेत्रों वाले भीम तथा मेरे लिए सम्मिलित रहे । हे वत्स भीम ! यद्यपि तुम प्यासे होगे तथापि एक क्षण ठहरो । तुम्हारे साथ जल पीने के लिए मैं अभी बहुत शीघ्र आ रहा हूँ ॥३०॥

अथवा सुक्षत्रियाणां गतिमुपगतं वत्समहमुपगतोऽप्यकृती द्रष्टुम्। वत्स भीमसेन !

मया पीतं पीतं तदनु भवताऽम्बास्तनयुगं,
मदुच्छिष्टैर्वृत्तिं जनयसि रसैर्वत्सलतया।
वितानेष्वप्येवं तव मम च सोमे विधिरभू-
न्निवापाऽम्भः पूर्वं पिबसि कथमेवं त्वमधुना ॥३१॥

अथवेति—सुक्षत्रियाणां सौभाग्यशालिनां क्षत्रियाणां गतिं स्वर्गमुपगतं प्राप्तं वत्सं भीममुपगतः प्राप्तोऽप्यहं तं द्रष्टुमकृती असमर्थः।

मयेति—(अन्वयः) मया पीतम् अम्बास्तनयुगं तदनुभवता पीतम्। वत्सलतया (त्वम्) मदुच्छिष्टैः रसैः वृत्तिं जनयसि। वितानेषु सोमे अपि तव मम च एवं विधिः अभूत्। अधुना त्वं निवापाऽम्भः पूर्वमेव कथं पिबसि ?

(व्याख्या) पूर्वं मया युधिष्ठिरेण अम्बाया मातुः, कुन्त्या इत्यर्थः, स्तनयुगं स्तनद्वयं पीतम् तदनु तत्पश्चाच्च भवता त्वया भीमेन पीतम्। वत्सलतया मयि स्नेहाधिक्येन त्वं मम उच्छिष्टैः रसैः दुग्धैः वृत्तिं जीवनं जनयसि करोषि। वितानेषु यज्ञेषु सोमे सोमरसपानेऽपि तव भीमस्य मम युधिष्ठिरस्य च एवमुक्तप्रकारेणैव विधिः क्रमोऽभूदासीत्। परमधुनेदानीं त्वं निवापाम्भस्तिलोदकं मत्तः पूर्वमेव मया विनैव कथं पिबसि ? मामसहायमिहैव विहाय त्वमेकाकी एव कथं स्वर्गं गतवानिति भावः। शिखरिणी छन्दः, 'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागा शिखरिणी' इति तल्लक्षणात् ॥३१॥

अथवा योग्य क्षत्रियों के समान वीर गति को प्राप्त हुए वत्स भीम के पास पहुँचकर भी मैं उसे देखने में समर्थ नहीं हो सकूंगा। वत्स भीमसेन !

मेरे माता का स्तन-द्वय-पान कर लेने पर तुम उसे पिया करते थे, प्रेम के कारण मेरे उच्छिष्ट भोजन से तुम निर्वाह करते थे और यज्ञ में भी तुम्हारा

कृष्णे ! त्वमपि देहि सलिलाऽञ्जलिम् ।
द्रौपदी—हञ्जे बुद्धिमदिए ! उवणेहि मे सलिलम् ।
(हञ्जे बुद्धिमतिके ! उपनय मे सलिलम् ।)
(चेटी तथा करोति ।)
द्रौपदी—(उपसृत्य जलाऽञ्जलिं पूरयित्वा) महाराअ ! कस्स सलिलं देह्मि ।
([उपसृत्य जलाऽञ्जलिं पूरयित्वा] महाराज ! कस्य सलिलं ददामि ?)
युधिष्ठिरः—

तस्मै देहि जलं कृष्णे ! सहसा गच्छते दिवम् ।
अम्बाऽपि येन गान्धारीरुदितेन[1] सखीकृता ॥३२॥

तस्मै इति—(व्याख्या) हे कृष्णे ! हे द्रौपदि ! सहसाऽकस्माद् दिवं स्वर्गं गच्छते प्राप्नुवते तस्मै जलं सलिलं देहि प्रयच्छ येन वृकोदरेण अम्बा माता कुन्ती अपि गान्धार्याः दुर्योधनजनन्याः रुदितेन दुःशासनादिमृत्युजनितेन रोदनेन सखीकृता तद्वदेव रोदनवती विहितेत्यर्थः । दुःशासनादिवधे गान्धारीवत् कुन्ती अपीदानीं यस्य भीमस्य निधने रोदिष्यति, तस्मै भीमाय जलाञ्जलिं देहीत्यर्थः ॥३२॥

और मेरा यही क्रम रहता था । परन्तु इस समय यह जलाञ्जलि तुम मुझ से पहले कैसे पी रहे हो ॥३१॥

कृष्णे ! तुम भी जलाञ्जलि दो ।

द्रौपदी—हे बुद्धिमतिके ! मेरे लिए भी जल ले आओ ।

(चेटी जल ले आती है ।)

द्रौपदी—(पास में जाकर और जल से अञ्जलि भर कर) महाराज ! किस को जल दूं ?

युधिष्ठिर—कृष्णे ! जिसने अचानक स्वर्ग जाते हुए रोने में माता कुन्ती को भी गान्धारी की सहयोगिनी बना दिया, उस (भीम) को जल दो ॥३२॥

१. G. 'गान्धार्या रुदितेषु' इति पा. ।

द्रौपदी—णाह भीमसेण ! परिअणोवणीदं उदअं सग्गगदस्स दे पादोदअं भोदु ।

(नाथ भीमसेन ! परिजनोपनीतमुदकं स्वर्गगतस्य ते पादोदकं भवतु ।)

युधिष्ठिरः—फाल्गुनाऽग्रज !

असमाप्तप्रतिज्ञेऽपि याते त्वयि महाभुजे ।
मुक्तकेश्यैव दत्तस्ते प्रियया सलिलाञ्जलिः ॥३३॥

नाथेति—परिजनेन सेवकेन उपनीतमानीतमिदमुदकं जलं स्वर्गं गतस्य प्राप्तस्य ते तव भीमस्य पादाभ्यामुदकं पाद्यं भवतु ।

फाल्गुनेति—फाल्गुनस्य अर्जुनस्य अग्रजो ज्येष्ठो भ्राता तत्सम्बुद्धौ हे फाल्गुनाऽग्रज ! हे भीम ! । सम्भवतः फल्गुनीनक्षत्रे उत्पन्नत्वेन अर्जुनः फाल्गुन उच्यते ।

असमाप्तेति—(व्याख्या) महान्तौ भुजौ यस्य तस्मिन् तथाभूते त्वयि भीमे असमाप्ताऽसम्पूर्णा प्रतिज्ञा द्रौपदी-वेणी-संयमन-रूपा प्रतिज्ञा यस्य तस्मिन् तथाभूते एव, अपिशब्दोऽत्र एवार्थे, याते स्वर्गं प्राप्ते सति ते तव भीमस्य प्रियया प्रेयस्या द्रौपद्या मुक्ताः केशाः कचाः यस्याः सा तया तथाभूतयैव सत्या ते तुभ्यं सलिलाञ्जलिः जलाञ्जलिर्दत्तः समर्पितः । यतस्त्वं दुर्भाग्यात् तस्याः वेणीबन्धनमसम्पाद्यैव दिवं प्रयातः, अतस्तयाऽपि त्वत्प्रतिज्ञाभंगभयात् स्वीयां वेणीमबद्ध्वैव तुभ्यं जलाञ्जलिर्दीयते—इतीह 'मुक्तकेश्यैव' इति पदेन व्यज्यते ॥३२॥

द्रौपदी—नाथ भीमसेन ! परिजनों के द्वारा लाया हुआ यह जल दिवंगत आपके लिये पादोदक हो ।

युधिष्ठिर—हे भीमसेन ! (अपने हाथ से वेणी बाधने की) प्रतिज्ञा पूरी किये बिना ही तुम्हारे स्वर्ग चले जाने पर तुम्हारी प्रिया द्रौपदी उन्मुक्त केशपाश के साथ ही तुम्हें जल दे रही है ॥३३॥

द्रौपदी—उट्ठेहि महाराअ ! दूरं गच्छदि दे भादा ।

(उत्तिष्ठ महाराज ! दूरं गच्छति ते भ्राता ।)

युधिष्ठिरः—(दक्षिणाक्षिस्पन्दनं सूचयित्वा) पाञ्चालि ! निमित्तानि मे कथयन्ति—सम्भावयिष्यसि वृकोदरमिति । ['भवतु, शीघ्रं दहन-मुपसर्पावः ।]

द्रौपदी—महाराअ ! सुणिमित्तं भोदु ।

(महाराज ! सुनिमित्तं भवतु ।)

(नेपथ्ये कलकलः)

(प्रविश्य सम्भ्रान्तः—)

पाञ्चालीति—निमित्तानि दक्षिणाक्षिस्पन्दनादीनि शुभशकुनानि कथयन्ति सूचयन्ति । वृकोदरं भीमं सम्भावयिष्यसि द्रक्ष्यसि । दहनमग्निम् ।

द्रौपदी—महाराज ! उठिये । आपका भाई बहुत दूर जा चुका है ।

युधिष्ठिर—(दाहिनी आंख के फड़कने की सूचना देकर) हे द्रौपदी ! शकुन कहते हैं कि तुम वृकोदर का स्वागत करोगी । अच्छा, शीघ्र अग्नि के पास चलते हैं ।

द्रौपदी—महाराज ! ईश्वर करे कि यह शुभ शकुन सत्य हो ।

(नेपथ्य में कोलाहल होता है)

(प्रविष्ट होकर घबराया हुआ—)

---

१. अयं कोष्ठान्तर्गतः पा. G. नास्ति ।

कञ्चुकी—परित्रायतां परित्रायतां महाराजः। एष खलु दुरात्मा कौरवाऽपसदः क्षतजाऽभिषेकपाटलिताऽम्बरशरीरः समुच्छ्रितदिग्ध-भीषणगदाऽशनिरुद्यतकालदण्ड इव कृतान्तोऽत्रभवतीं पाञ्चालराज-तनयामितस्ततः परिमार्गमाण इत एवाऽभिवर्तते।

युधिष्ठिरः—हा दैव! तेन निर्णयो जातः। हा गाण्डीवधन्वन्! (इति मुह्यति।)

परित्रायतामिति—परित्रायतां संरक्षतु। कौरवेषु अपसदो नीचः, क्षतजेन रुधिरेण योऽभिषेकः स्नानं तेन पाटलितानि रक्तीकृतानि अम्बराणि वस्त्राणि शरीरं च यस्य सः, समुच्छ्रिता उद्यता दिग्धा रुधिरेण लिप्ता गदा एवाऽशनिर्यस्य स तथाभूत एष दुष्टः उद्यतः कालदण्डो येन स तथाभूतः कृतान्तो यमराज इव पाञ्चालराजतनयां द्रुपद-पुत्रीं परिमार्गमाणोऽन्विष्यन्नित एवाऽत्रैव अभिवर्तते आगच्छ-तीत्यन्वयः।

कञ्चुकी—महाराज! रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये। यह दुरात्मा नीच कौरवराज दुर्योधन, जिसका शरीर एवं वस्त्र रुधिर से लाल हो रहे हैं तथा जो रक्त से रंगी हुई भीषण गदा-रूपी वज्र को धारण किए हुए है, काल-दण्ड धारण किये हुए यमराज के समान भयकर (रूप में) महारानी द्रौपदी को ढूँढ़ते हुए इधर ही आ रहा है।

युधिष्ठिर—हा दैव! इससे निश्चय हो गया है (कि अर्जुन भी मारा गया) हा गाण्डीवधारिन्! (यह कहकर मूर्च्छित हो जाता है।)

द्रौपदी—हा अज्जउत्त ! हा मम सअम्वरसअग्गाहदुल्ललिद ! धणंजअ ! पिअं भादुअं अणुगदोसि, ण उण महाराअं, इमं दासजणं च । (इति मोहमुपगता ।)

(हा आर्यपुत्र ! हा मम स्वयंवरस्वयंग्राहदुर्ललित ! धनञ्जय[1] ! प्रियं [2]भ्रातरमनुगतोऽसि, न पुनर्महाराजमिमं दासजनं च ।) [इति मोहमुपगता] ।

युधिष्ठिरः—हा वत्स सव्यसाचिन् ! हा त्रिलोचनाऽङ्गनिष्पेषमल्ल ! हा निवातकवचोद्धरणनिष्कण्टकीकृताऽमरलोक ! हा बदर्याश्रममुनि-

---

हा आर्यपुत्रेति—स्वयंवरे स्वयंग्राहेण मत्कर्तृकेन पतित्वेन स्वयं-ग्रहणेनेत्यर्थः दुर्ललितः दुराग्रही तत्सम्बुद्धौ (तु. G.) । प्रियं भ्रातरं भीममित्यर्थः ।

हा वत्सेति—सव्येन वामेन हस्तेन सचते बाण सन्दधातीति सव्यसाची तत्सम्बुद्धौ । त्रिलोचनस्य भगवतः शंकरस्य अङ्गानां निष्पेषे मर्दने मल्लो वीरस्तत्सम्बुद्धौ । निवातकवचानां स्वर्गे उपद्रवकारिणां दैत्यविशेषाणामुद्धरणेन निष्कण्टकीकृतः शत्रुरहितः कृतः अमरलोको देवलोकः, स्वर्ग इत्यर्थः, येन स तत्सम्बुद्धौ (तु. गु.) बदर्याश्रमे मुन्यो-र्द्वितीयस्तापसस्तपस्वी तत्सम्बुद्धौ । बदरिकाश्रमे द्वावेव मुनी तपस्तपतः, एको नारायणो विष्णुरपरश्च नरः । तत्र नररूपेणाऽर्जुन एव द्वितीयस्तपस्वी

द्रौपदी—हा आर्यपुत्र ! स्वयम्वर के समय मेरे द्वारा स्वय पति के रूप में स्वीकार किये गए धनंजय ! आपने अपने प्रिय भाई का ही अनुगमन किया, महाराज एवं इस दासी के विषय मे कुछ नहीं सोचा । (यह कहकर मूर्च्छित हो जाती है ।)

युधिष्ठिर—हा वत्स सव्यसाचिन् (=बाएँ हाथ से बाण-सन्धान करने वाले) ! हा त्रिलोचन भगवान् शंकर के अङ्गों का मर्दन करने वाले वीर ! हा निवात-कवच आदि दैत्यों का उद्धरण करके स्वर्ग लोक को निष्कण्टक

---

१. G. अयं पा. नास्ति । २. G. 'सम्भावयसि' इति पा. ।

द्वितीयतापस ! हा द्रोणाचार्यप्रियशिष्य ! हा अस्त्रशिक्षाबलपरितोषितगाङ्गेय ! हा राधेयकुलकमलिनीप्रालेयवर्ष ! हा गन्धर्वनिर्वासितदुर्योधन ! हा पाण्डवकुलकमलिनीराजहंस !

तां वत्सलामनभिवाद्य विनीतमम्बां,
गाढं च मामनुपगुह्य मयाऽप्यनुक्तः ।
एतां स्वयंवरवधूं दयितामदृष्ट्वा[1],
दीर्घप्रवासमयि तात ! कथं गतोऽसि ॥३४॥

(इति मोहमुपगतः ।)

वर्तत इति पौराणिकपरम्परा । द्रोणाचार्यस्य प्रियः शिष्यस्तत्सम्बुद्धौ । अस्त्रशिक्षाबलेन परितोषितः गाङ्गेयो भीष्मो येन स तत्सम्बुद्धौ । राधाया अपत्यं पुमान् राधेयः कर्णस्तस्य कुलमेव कमलिनी तस्याः प्रालेयस्य तुषारस्य वर्षः सम्पात इवेति तत्सम्बुद्धौ । गन्धर्वाद् निर्वासित उन्मोचितो दुर्योधनो येन स तत्सम्बुद्धौ । वने कदाचित् परिभ्रमन् दुर्योधनः केनचिद् गन्धर्वराजेन परिगृहीतः । ततश्च युधिष्ठिरस्याऽऽज्ञया सोऽर्जुनेन तस्माद् गन्धर्वाद् उन्मोचित इति पौराणिकी परम्परा । पाण्डवकुलमेव कमलिनी सरसी तत्र राजहंस इवेति तत्सम्बुद्धौ ।

तां वत्सलामिति--(अन्वयः) वत्सलां ताम् अम्बां विनीतम् अनभिवाद्य, मां च गाढम् अनुपगुह्य, मया अनुक्तः अपि, स्वयंवरवधूम् एतां दयिताम् अदृष्ट्वा अयि तात ! दीर्घप्रवासं कथं गतः असि ?

(व्याख्या) वत्सलां पुत्रप्रेमाकुलां तामम्बां मातरं कुन्तीं विनीतं

बनाने वाले ! हा बदरिकाश्रम के द्वितीय तापस ! हा द्रोणाचार्य के प्रिय शिष्य ! हा अस्त्र-शिक्षा के बल से भीष्म को सन्तुष्ट करने वाले ! हा कर्ण-कुल-रूपी कमलिनी के लिये हिम-पात-स्वरूप ! हा गन्धर्व से दुर्योधन को छुड़ाने वाले ! हा पाण्डव-कुलरूपी सरोवर के राजहंस !

१. गु. 'अपृष्ट्वा' इति पा. ।

कञ्चुकी—(चेटीं प्रति[1]) इदानीं[2] भोः कष्टम् । एष कौरवाऽधमो यथेष्टमिहैव[2] प्रवर्तते । सर्वथाऽयं[3] प्रवेशकालः । चितासमीपमुपनयाम्यत्रभवतीं पाञ्चालराजतनयाम् । अहमप्येवमेवाऽनुगच्छामि । भद्रे[4] ! त्वमपि देव्या भ्रातरं धृष्टद्युम्नं नकुलसहदेवौ वाऽवाप्नुहि । [5]एवमवस्थिते महाराजेऽस्तमितयोर्भीमाऽर्जुनयोः कुतोऽत्र परित्राणाऽऽशा ? ।

विनयपूर्वकं, क्रियाविशेषणत्वेन प्रयोगः, अनभिवाद्य अभिवादनमकृत्वा, मां ज्येष्ठं भ्रातरं युधिष्ठिरं च गाढमनुपगुह्य अपरिष्वज्य, अनालिङ्ग्येत्यर्थः, मया युधिष्ठिरेण अनुक्तोऽकथितः, अनाज्ञप्त एवेत्यर्थः, अपि शब्द एवार्थे, स्वयंवरे प्राप्तां वधूमेतां दयितां प्रेयसीं, द्रौपदीमित्यर्थः, अदृष्ट्वाऽमिलित्वा, अनापृच्छ्येत्यर्थः, अयि तात ! अयि प्रिय भ्रातः ! दीर्घं प्रवासं महायात्रां, मृत्युरूपां यात्रामित्यर्थः, कथं कस्मात्कारणाद् गतोऽसि प्रयातोऽसि ? । वसन्ततिलका छन्दः, 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति तल्लक्षणात् ॥३४॥

इदानीमिति—कौरवेषु अधमो नीच एष दुर्योधनो यथेष्टं स्वच्छन्दमिहाऽत्रैव प्रवर्तते आगच्छति प्रवेशकालोऽग्निप्रवेशकालः । अत्रभवतीं

हे तात ! वात्सल्य से परिपूर्ण अपनी माता को विनीतभाव से प्रणाम किये बिना तथा मुझसे गाढ आलिङ्गन किये बिना एवं अपनी इस स्वयवर वधू प्रिया द्रौपदी से बिना मिले मेरे बिना कहे ही तुम इस लम्बे प्रवास में कैसे चले गए ? ॥३४॥

(यह कह कर मूर्च्छित हो जाता है ।)

---

१. G. अयं पा. नास्ति । २. G. 'इतएवाऽभिवर्तते' इति पा. । ३. G. 'सम्प्रत्ययमेव कालोचितः प्रतीकारः' इति पा. । ४. G. इतः पूर्वं 'चेटीं प्रति' इति पा. । ५. G. इतः पूर्वम् 'अथवा इति पा. ।

चेटी—परित्ताअह, परित्ताअह अज्जा ! ।
(परित्रायध्वं, परित्रायध्वमार्याः ! ।)
(नेपथ्ये कलकलानन्तरम्)

मान्यां पाञ्चालराजस्य द्रुपदस्य तनयां पुत्रीं, द्रौपदीमित्यर्थः, चितायाः समीपमुपनयामि प्रापयामि । एवमेव अनेनैव प्रकारेण अनुगच्छामि अनुसरिष्यामि, तयोरग्निप्रवेशानन्तरमहमपि अग्निप्रवेशं करिष्यामीत्यर्थः । अवाप्नुहि प्राप्नुहि, गच्छेत्यर्थः । महाराजे युधिष्ठिरे एवमवस्थिते इत्थं शोकाभिभूते सति भीमाऽर्जुनयोश्च अस्तं निधनमितयोः गतयोः प्राप्तयोरित्यर्थः, परित्राणस्य रक्षाया आशा कुतो वर्तते ? ।

कञ्चुकी—(चेटी के प्रति) ओह ! बड़े कष्ट की बात है । यह कौरवाधम दुष्ट दुर्योधन स्वच्छन्दता से इधर ही चला आ रहा है । अतः अब अग्नि में प्रवेश करने का सर्वथा उचित समय है । मैं अब पाञ्चालराजपुत्री श्रीमती द्रौपदी को चिता के पास ले चलता हूँ । और इनके (=युधिष्ठिर एवं द्रौपदी के) अग्नि प्रवेश के बाद मैं भी इनका अनुसरण करूँगा । भद्रे ! तुम भी धृष्टद्युम्न या नकुल-सहदेव के पास जाओ । भीम एवं अर्जुन के दिवंगत हो जाने पर तथा महाराज के इस प्रकार (शोक से अचेत) अवस्था में होने पर यहाँ कहाँ से परित्राण की आशा हो सकती है ! ।

चेटी—आर्यो ! रक्षा करो, रक्षा करो ।
(नेपथ्य में कोलाहल के बाद)

भो भोः समन्तपंचकसंचारिणः ! क्षतजाऽऽसवमत्तयक्षराक्षस-पिशाचभूतवेतालकङ्कगृध्रजम्बुकोलूकवायसभूयिष्ठा [2]अवशिष्टविरलाश्च योधाः ! कृतमस्मद्दर्शनत्रासेन । कथयत कस्मिन्नुद्देशे याज्ञसेनी सन्निहितेति ? कथयामि लक्षणं[3] तस्याः ।

भो भो इति—समन्तपंचके कुरुक्षेत्रे तत्समीपस्थस्थानविशेषे वा संचरन्तीति तथाभूताः । सम्बोधने प्रथमाबहुवचनम् । क्षतजं रुधिरमेव आसवो मदिरा तेन मत्ता यक्षाश्च राक्षसाश्च पिशाचाश्च भूतानि च वेतालाश्च कङ्काश्च गृध्राश्च जम्बुकाश्च उलूकाश्च वायसाश्चेति ते भूयिष्ठा विपुला येषु ते तथाभूताः, अवशिष्टाः हतावशिष्टाः विरलाः स्वल्पाः येषु ते तथाभूताः योधाः वीराः । अस्माकं यद् दर्शनं तस्मात् त्रासेन भयेन कृतमलम् । याज्ञसेनी द्रौपदी कस्मिन् उद्देशे स्थाने सन्निहिता समीपस्था वर्तते इति शेषः । तस्या द्रौपद्या लक्षणं चिह्नं कथयामि ब्रवीमि ।

हे समन्तपञ्चक के आस-पास घूमने वाले तथा रुधिर के आस्वाद से मत्त यक्ष, राक्षस, पिशाच, भूत, वेताल, कङ्क, गृध्र, गीदड़, उलूक एवं वायस आदि से बहुत ज्यादा (घिरे हुए) गिने-चुने अवशिष्ट योद्धाओ ! हमें देखकर भय करने की आवश्यकता नहीं है । बताओ, द्रौपदी कहाँ है ! । मैं उसके चिह्न बताता हूँ ।

---

१. गु. 'आस्वाद' इति पा. । २. G. 'विरलयोधपुरुषाः' इति पा. । ३. G. "उपलक्षणम्' इति पा. ।

उरुं[1] करेण परिघट्टयतः सलीलं,
दुर्योधनस्य पुरतोऽपहृताऽम्बरा या।
दुःशासनेन कचकर्षणभिन्नमौलिः,
सा द्रौपदी कथयत क्व पुनः प्रदेशे ? ॥३५॥

ऊरुम् इति—(अन्वयः) करेण सलीलम् उरुं परिघट्टयतः दुर्योधनस्य पुरतः या दुःशासनेन अपहृताऽम्बरा कचकर्षणभिन्नमौलिः (च कृता) सा द्रौपदी पुनः क्व प्रदेशे वर्तते, इति यूयं कथयत।

(व्याख्या) करेण हस्तेन सलीलं लीलापूर्वकं, सविलासं संकेत-पूर्वकं वेत्यर्थः, ऊरुं जङ्घां परिघट्टयतः परिताडयतः, द्रौपदीमभिलक्ष्य कामिजनवत् स्वीयां जङ्घां सन्ताड्य तत्रोपवेशनाय तस्यै संकेतं ददतः दुर्योधनस्य पुरतः समक्षं या दुःशासनेन अपहृतानि अम्बराणि वस्त्राणि यस्याः सा तथाविधा, कचानां केशानां कर्षणेन भिन्नो मौलिर्मुकुटं यस्याः सा तथाभूता च कृता आसीत्, सा द्रौपदी पुनः क्व कस्मिन् प्रदेशे स्थाने वर्तते, इति यूयं कथयत ब्रूत। वसन्ततिलका छन्दः, 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति तल्लक्षणात् ॥३५॥

विलास-पूर्वक हाथ से अपनी जङ्घा पर खम ठोकते हुए (=जङ्घा को थपथपाते हुए) दुर्योधन के सामने दुःशासन ने जिस के वस्त्र खींचे थे तथा बालों के खींचने के कारण जिसकी वेणी खुल गई थी, वह द्रौपदी (इस समय) बताओ किस जगह है ? ॥३५॥

१. गु. 'ऊरू' इति पा.।

कञ्चुकी—हा देवि यज्ञवेदिसम्भवे ! परिभूयसे सम्प्रत्यनाथा कुरुकुलकलङ्केन ।

युधिष्ठिरः—(सहसोत्थाय) पाञ्चालि न भेतव्यं न भेतव्यम् । (ससम्भ्रमम्) कः कोऽत्र भोः ! सनिषङ्गं मे धनुरुपनय । दुरात्मन् दुर्योधनहतक ! आगच्छ, आगच्छ । अपनयामि ते गदाकौशलसंभृतं भुजदर्पं शिलीमुखाऽऽसारेण । अन्यच्च रे कुरुकुलाङ्गार !

हा देवीति—यज्ञवेदेः सम्भव उत्पत्तिर्यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ । नास्ति नाथः स्वामी यस्याः सा तथाभूता त्वं सम्प्रत्यधुना कुरुकुलस्य कलङ्केन कलङ्कभूतेन, दुर्योधनेन परिभूयसे तिरस्क्रियसे ।

सहसेति—सहसा वेगेन । निषङ्गेण तूणीरेण सहितं सनिषङ्गं मे मम युधिष्ठिरस्य धनुश्चापमुपनय आनय । शिलीमुखानां बाणानामासारेण वर्षेण गदायां गदायुद्धे यत् कौशलं तेन सम्भृतं प्रवृद्धं ते तव भुजदर्पं भुजबलाऽहंकारमपनयामि दूरीकरोमि ।

कञ्चुकी—हा यज्ञवेदि से उत्पन्न हुई देवी द्रौपदि ! अब इस अनाथावस्था में कुरुकुल-कलंक इस दुरात्मा दुर्योधन के द्वारा तुम्हारा अपमान होगा ! ।

युधिष्ठिर—(एकदम उठकर) द्रौपदि ! डरो मत, डरो मत । (घबराहट के साथ) अरे ! यहाँ कौन है ? । तरकस के साथ मेरा धनुष लाओ । दुरात्मा नीच दुर्योधन ! आजा, आजा, मैं अभी बाणों की वर्षा से गदा-कौशल से बढ़े हुए, तेरे इस भुज-दर्प को दूर किये देता हूँ । और हे कुरुकुलाङ्गार !

प्रियमनुजमपश्यंस्तं जरासन्धशत्रुं,
कुपितहरकिरातद्वेषिणं तं च वत्सम् ।
त्वमिव कठिनचेताः प्राणितुं नास्मि शक्तो,
न च पुनरपहर्तुं बाणवर्षैस्तवाऽसून् ? ॥३६॥

प्रियमिति—(अन्वयः) जरासन्धशत्रुं तं प्रियम् अनुजम् कुपितहर-किरातद्वेषिणं तं वत्सं च अपश्यन् (अहम्) कठिनचेताः त्वमिव (यद्यपि) प्राणितुम् शक्तः नास्मि (तथापि) बाणवर्षैः तव असून् च पुनः अपहर्तुम् (अपि अहं शक्तः) न किम् ?

(व्याख्या) जरासन्धस्य शत्रुं तं प्रसिद्धं प्रियमनुजं कनिष्ठभ्रातरं भीमं, कुपितो हरः शङ्कर एव किरातस्तं द्वेष्टीति तं तथाभूतं, किरातरूप-धारिणा भगवता शङ्करेण सह कृतयुद्धमित्यर्थः, तं जगद्विदितं वीरं वत्स-मर्जुनं चापश्यन् अहं युधिष्ठिरः कठिनं कठोरं चेतो हृदयं यस्य स तथाभूतस्त्वं दुर्योधन इव प्राणितुं जीवितुं यद्यपि शक्तः समर्थो नास्मि, अर्थाद् यथा त्वं निजभ्रातृशतवधेऽपि प्राणान् धारयसि अहं तथा कर्तुं यद्यपि समर्थो नास्मीत्यर्थः, तथापि बाणानां वर्षैः तव दुर्योधनस्य असून् प्राणान् च पुनरपहर्तुमपनेतुमपि अहं युधिष्ठिरः शक्तो नास्मि किम् ? अपि तु अस्म्येवेत्यर्थः । मालिनी छन्दः, 'ननमयययुतेयं मालिनी भोगि-लोकैः' इति तल्लक्षणात् ॥३६॥

जरासन्ध-शत्रु अपने उस प्रिय अनुज भीम एवं किरात-वेष-धारी क्रुद्ध भगवान् शंकर से युद्ध करने वाले प्रिय वत्स अर्जुन को देखे बिना यद्यपि मैं कठोर-हृदय तुझ दुर्योधन के समान प्राण धारण तो नहीं कर सकता, परन्तु क्या बाण-वर्षा करके मैं तेरे प्राणों का विनाश भी नहीं कर सकता ? ॥३६॥

(ततः प्रविशति गदापाणिः क्षतजसिक्तसर्वाङ्गो भीमसेनः ।)

भीमसेनः—(उद्धतं परिक्रामन्) भो भोः समन्तपञ्चकसंचारिणः सैनिकाः ! कोऽयमावेगः ?

नाऽहं रक्षो न भूतं रिपुरुधिरजलप्लाविताऽङ्गः प्रकामं,
निस्तीर्णोरुप्रतिज्ञाजलनिधिगहनः क्रोधनः क्षत्रियोऽस्मि ।
भो भो राजन्यवीराः ! समरशिखिशिखादग्धशेषाः ! कृतं व-
स्त्रासेनाऽनेन लीनैर्हतकरितुरगान्तर्हितैरास्यते [1]किम् ? ॥३७॥

तत इति—गदापाणौ हस्ते यस्य सः । क्षतजेन रुधिरेण सिक्तानि सर्वाणि अङ्गानि यस्य स तथाभूतः ।

उद्धतमिति—उद्धतमुन्मत्तं यथा स्यात्तथा, क्रिया-विशेषणम् । समन्तपञ्चके कुरुक्षेत्रे तत्समीपस्थस्थानविशेषे वा संचरन्तीति ते तथाभूताः सैनिकाः योधाः । आवेगस्त्रासो, भयमित्यर्थः ।

नाऽहमिति—(अन्वयः) अहं न रक्षः, न भूतं, (अपि तु) प्रकामं रिपुरुधिरजलप्लाविताङ्गः निस्तीर्णोरुप्रतिज्ञाजलनिधिगहनः क्रोधनः क्षत्रियः अस्मि । भो भोः समरशिखिशिखादग्धशेषाः राजन्यवीराः ! वः अनेन त्रासेन कृतम् । हतकरितुरगान्तर्हितैः लीनैः किम् आस्यते ?

(व्याख्या) अहं भीमो न रक्षो राक्षसः, न च भूतं प्रेतः, अपि प्रकामं यथेच्छं रिपूणां शत्रूणां यद् रुधिरं रक्तं तदेव जलमुदकं तेन आप्लावितानि संलिप्तानि अङ्गानि यस्य सः, निस्तीर्णः समुल्लङ्घितः उर्वी

(इसके बाद हाथ में गदा लिए हुए रुधिर से लथ-पथ भीमसेन प्रवेश करता है ।)

भीमसेन—(उन्मत्त की तरह इधर-उधर घूमते हुए) हे समन्तपञ्चक के आस-पास घूमने वाले सैनिको ! यह क्या हल-चल हो रही है ?

१. गु. 'यत्' इति ।

कथयन्तु भवन्तः—कस्मिन्नुद्देशे पाञ्चाली तिष्ठति ?

द्रौपदी—(लब्धसंज्ञा) परित्ताश्रदु, परित्ताश्रदु महाराश्रो ।

([लब्धसंज्ञा] परित्रायतां परित्रायता महाराजः ।)

कञ्चुकी – देवि पाण्डुस्नुषे ! उत्तिष्ठोत्तिष्ठ । सम्प्रति झटिति चिता-प्रवेश एव श्रेयान् ।

महती प्रतिज्ञा दुर्योधनोरुभङ्गरूपा प्रतिज्ञा एव जलनिधिगहनो गम्भीर-सागरो येन स तथाभूतः, अत्र गहनश्चासौ जलनिधिरित्येवं कर्मधारये कृते कडारादित्वात् जलनिधि शब्दस्य वैकल्पिकः पूर्वप्रयोगः (तु. G.) क्रोधनः क्रोधी क्षत्रियोऽस्मि । समरं युद्धमेव शिखी अग्निस्तस्य शिखाभि-र्ज्वालाभिर्दग्धेभ्यो भस्मीकृतेभ्यः शेषाः अवशिष्टाः राजन्यवीराः क्षत्रिय-वीराः ! वो युष्माकमनेन त्रासेन भयेन कृतमलम्, मत्तो भयं न कर्तव्य-मित्यर्थः । हताः ये करिणो गजास्तुरगाः अश्वास्तैरन्तर्हितैस्तिरोहितैः लीनैः प्रच्छन्नैर्युष्माभिः किं किमर्थमास्यते स्थीयते ? भयाकुलैर्युष्माभिः किमर्थं तत्र तिरोभूय स्थीयते इत्यर्थः । स्रग्धरा छन्दः, 'अम्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्' इति तल्लक्षणात् ।।३७।।

देवीति— पाण्डोः स्नुषा पुत्रवधूस्तत्सम्बुद्धौ । सम्प्रत्यधुना । झटिति शीघ्रम् । चितायां प्रवेश एव श्रेयान् कल्याणकरः ।

न मैं राक्षस हूं और न भूत हूं, प्रत्युत शत्रु के रुधिर-रूपी जल से यथेच्छ स्नान करके बड़ी भारी प्रतिज्ञा के गहन समुद्र को पार करने वाला एक क्रोधोन्मत्त क्षत्रिय हूँ । हे युद्ध-रूपी अग्नि की शिखाओं से दग्धाऽवशिष्ट क्षत्रिय वीरो ! (मुझ से) भय करने की आवश्यकता नहीं है । तुम लोग मरे हुए हाथी और घोड़ों के पीछे छिपे हुए क्यों खड़े हो ? ।।३७।।

आप लोग यह बताइये कि द्रौपदी (इस समय) कहाँ पर है ?

द्रौपदी—(होश में आकर) महाराज ! बचाइये, बचाइये ।

कञ्चुकी—हे देवि ! पाण्डु-पुत्र-वधु ! उठो, उठो, इस समय शीघ्र चिता में प्रवेश करना ही श्रेयस्कर है ।

द्रौपदी—(सहसोत्थाय) कहं ण सम्भावेमि अज्ज विचिदासमीवम् ?
([सहसोत्थाय] कथं न सम्भावयाम्यद्यापि चितासमीपम् ?)

युधिष्ठिरः—कः कोऽत्र भोः ? सनिषङ्गं धनुरुपनय। (परिवृत्याऽवलोक्य च) कथं न कश्चित् परिजनः। भवतु, बाहुयुद्धेनैव [1]दुरात्मानमेनं गाढमालिङ्ग्य ज्वलनमभिपातयामि।

(इति परिकरं बध्नाति।)

कञ्चुकी—देवि पाण्डुस्नुषे ! संयम्यन्तामिदानीं नयनपथाऽवरोधिनो दुःशासनाऽपकृष्टा मूर्धजाः। अस्तमिता सम्प्रति प्रतीकाराऽऽशा। द्रुतं चितासमीपं सम्भावय।

सहसेति—अद्यापि इदानीमपि अहं चितायाः समीपं न सम्भावयामि नाऽऽगच्छामि, नागताऽस्मीत्यर्थः।

कः क इति—सनिषङ्गं सतूणीरं धनुश्चापमुपनय आनय। दुरात्मानं दुष्टमेनं बाहुयुद्धेन गाढमालिङ्ग्य परिष्वज्य ज्वलनमग्निमभिपातयामि। परिकरं कटिबन्धं बध्नाति दृढयति।

देवीति—हे पाण्डुस्नुषे ! हे पाण्डववधु ! इदानीं सम्प्रति नयनपथं नेत्रमार्गमवरुन्धतीति तथाभूताः, दुःशासनेन अपकृष्टा आकृष्टाः मूर्धजाः केशाः संयम्यन्तां संह्रियन्ताम्। प्रतीकारस्य दुष्टदुर्योधनकृताऽपमान-

---

द्रौपदी—(एक दम उठकर) क्या अब भी चिता के पास नहीं जाऊँगी ?

युधिष्ठिर—अरे ! यहां कौन है ? तरकस के साथ मेरा धनुष ले आओ। (मुड़कर देखकर) क्या यहां कोई नौकर नहीं है ? अच्छा, बाहु-युद्ध से ही इस दुरात्मा को जोर से दबोच कर अग्नि में फैंक देता हूँ। (यह कह कर कमर कसता है।)

कञ्चुकी—हे देवि ! पाण्डववधु ! दुःशासन के द्वारा खींचे गए इन

---

१. गु. 'सम्भावनविहस्तम्' इति पा.।

युधिष्ठिरः—कृष्णे ! न खल्वनिहते तस्मिन् दुरात्मनि दुर्योधने संहर्तव्याः केशाः ।

भीमसेनः—पाञ्चालि ! न खलु मयि जीवति संहर्तव्या दुःशासन-विलुलिता वेणिरात्मपाणिना । तिष्ठ, तिष्ठ । अहमेव संहरामि ।

(द्रौपदी भयादपसर्पति ।)

भीमसेनः—तिष्ठ, तिष्ठ, भीरु ! क्वाऽधुना गम्यते ?

(इति केशेषु ग्रहीतुमिच्छति ।)

प्रतीकारस्य आशा सम्प्रत्यधुना अस्तमिता तिरोहिता । द्रुतं शीघ्रं चितायाः समीपं सम्भावय आगच्छ ।

पाञ्चालीति—मयि भीमसेने जीवति प्राणान् धारयति सति आत्मनः स्वस्य पाणिना हस्तेन दुःशासनेन विलुलिता विकीर्णा वेणिः न संहर्तव्या न संयमनीया । तिष्ठ प्रतीक्षस्व । अहमेव संहरामि बध्नामि ।

केशों को, जो तुम्हारे नेत्रों के आस-पास बिखर रहे हैं, अब बान्ध लो । (इनके) प्रतीकार की आशा अब विलुप्त हो चुकी । शीघ्र चिता के पास चलो।

युधिष्ठिर—कृष्णे ! उस दुरात्मा दुर्योधन का वध हुए विना केश न बाधना ।

भीमसेन—हे द्रौपदि ! मेरे जीवित रहते हुए दुःशासन के द्वारा खोली गई इस वेणी को अपने हाथ से न बाधना । ठहरो, ठहरो, मैं स्वयं ही बांधता हूँ ।

(द्रौपदी भय के कारण दूर भागती है ।)

भीममेन—ठहर, ठहर । हे भीरु ! अब कहां जा रही है ?

(यह कहकर द्रौपदी के बाल पकड़ना चाहता है)

युधिष्ठिरः—(बलाद् भीममालिङ्ग्य) दुरात्मन् भीमार्जुनशत्रो ! दुर्योधन-हतक ! क्वेदानीं यास्यसि ?

आशैशवादनुदिनं जनितापराधो,
मत्तो बलेन भुजयोर्हतराजपुत्र !
आसाद्य मेऽन्तरमिदं भुजपञ्जरस्य,
जीवन् प्रयासि न पदात् पदमद्य पाप ॥३८॥

आशैशवादिति—(अन्वयः) हे हतराजपुत्र ! पाप ! आशैशवात् अनुदिनं जनितापराधः भुजयोः बलेन मत्तः मे भुजपञ्जरस्य इदम् अन्तरम् आसाद्य अद्य जीवन् (सन्) पदात् पदम् (अपि) न प्रयासि ।

(व्याख्या) हतौ राजपुत्रौ भीमार्जुनौ येन स तत्सम्बुद्धौ हे हत-राजपुत्र ! हे पाप ! हे पापिन् ! आशैशवात् शैशवादारभ्य अनुदिनं प्रतिदिनं जनितः कृतः अपराधो येन स तथाभूतः, भुजयोः बाह्वोः बलेन मत्तः प्रमत्तस्त्वं मे मम युधिष्ठिरस्येत्यर्थः, भुजयोः पञ्जरस्य इदमन्तरं मध्यमासाद्य आगत्य अद्य जीवन् सन् पदात् पदमेकमपि पदं न प्रयासि गन्तुं न प्रभवसि । वसन्ततिलका छन्दः, 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति तल्लक्षणात् ॥३८॥

युधिष्ठिर—(जोर से भीम को खींच कर) दुरात्मन् ! भीम और अर्जुन के शत्रु ! नीच दुर्योधन ! अब कहां जायगा ?

हे राजपुत्र भीम और अर्जुन का वध करने वाले पापी दुर्योधन ! तू बचपन से लेकर (अब तक) अपराध करता चला आ रहा है । अपनी भुजाओं के बल से उन्मत्त हो रहा है । अब मुझ युधिष्ठिर की भुजाओं के पिंजरे में पड़कर तू यहाँ से एक कदम भी नहीं जा सकता ॥३८॥

भीमसेनः—अये कथमार्यः सुयोधनाऽऽशङ्कया क्रोधान्निर्दयं मामालिङ्गति ! आर्य ! प्रसीद, प्रसीद ।

कञ्चुकी—(निरूप्य सहर्षम्) कथं कुमारो भीमसेन. ! महाराज ! दिष्ट्या वर्धसे । अयं खल्वायुष्मान् भीमसेनः सुयोधनक्षतजाऽरुणीकृतसकलशरीरो दुर्लक्ष्यव्यक्तिः । अलमधुना सन्देहेन ।

चेटी—(द्रौपदीमालिङ्ग्य) देवि ! णिवट्टीअदु, णिवट्टीअदु । एसो क्खु पूरिदपडिण्णाभारो णाहो ते वेणीसंहारं कादुं तुमं एव्व अण्णेसेदि ।

([द्रौपदीमालिङ्ग्य] देवि निवर्त्यताम् , निवर्त्यताम् । एष खलु पूरितप्रतिज्ञाभारो नाथस्ते वेणीसंहारं कर्तुं त्वामेवाऽन्विष्यति ।)

निरूप्येति—निरूप्य दृष्ट्वा । सुयोधनस्य क्षतजेन रुधिरेण अरुणीकृतं रक्तीकृतं सकलं समस्तं शरीरं यस्य स तथाभूतः, अत एव दुर्लक्ष्या व्यक्तिः मूर्तिर्यस्य स तथाविधः ।

द्रौपदीमिति—आलिङ्ग्य परिष्वज्य । पूरितः प्रतिज्ञायाः दुर्योधनोरुभंगरूपायाः प्रतिज्ञायाः भारो येन स तथाभूत एष नाथः स्वामी भीमसेनस्ते तव वेणीसंहारं वेणीबन्धनं कर्तुं त्वां द्रौपदीमेव अन्विष्यति मार्गयते ।

भीमसेन—ओह ! आर्य युधिष्ठिर मुझे दुर्योधन समझ कर क्रोध से बड़ी निर्दयता के साथ भींच रहे हैं । आर्य दया कीजिये, दया कीजिये ।

कञ्चुकी—(ध्यान से देखकर हर्षपूर्वक) हैं ! क्या कुमार भीमसेन हैं ? महाराज ! सौभाग्य से आप को बधाई है । यह तो आयुष्मान् कुमार भीमसेन हैं जो दुर्योधन के रुधिर से रँगे होने के कारण पहचाने नहीं जाते । अब इस विषय में सन्देह करने की आवश्यकता नहीं है ।

चेटी—(द्रौपदी का आलिङ्गन करके) हे देवि ! वापिस लौट आओ, लौट आओ । यह तो कुमार भीमसेन हैं जो (दुर्योधन की जंघा तोड़ने की) अपनी प्रतिज्ञा को पूरी करके आपकी वेणी बांधने के लिये आपको ढूंढ़ रहे हैं ।

द्रौपदी—हञ्जे ! किं मं अलीअवअणेहिं आसासेसि ?
(हञ्जे ! किं मामलीकवचनैराश्वासयसि ?)

युधिष्ठिरः—जयन्धर ! किं कथयसि—नाऽयमनुजद्वेषी दुर्योधनहतकः ?

भीमसेनः—देव अजातशत्रो ! भीमार्जुनगुरो ! कुतोऽद्यापि दुर्योधन-हतकः ? मया हि तस्य दुरात्मनः पाण्डुकुलपरिभाविणः—

भूमौ क्षिप्तं शरीरं, निहितमिदमसृक्चन्दनाभं निजाङ्गे,
लक्ष्मीरार्ये निषण्णा चतुरुदधिपयः सीमया सार्धमुर्व्या ।
भृत्या मित्राणि योधाः कुरुकुलमखिलं दग्धमेतद् रणाग्नौ,
नामैकं यद् ब्रवीषि क्षितिप ! तदधुना धार्तराष्ट्रस्य शेषम् ॥३९॥

हञ्जे इति—मां द्रौपदीमलीकवचनैर्मिथ्यावचनैः किमाश्वासयसि सान्त्वयसि ?

देवेति—न जातः शत्रुर्यस्य स तत्सम्बुद्धौ । भीमार्जुनयोः गुरुर्ज्येष्ठो भ्राता तत्सम्बुद्धौ । अद्याऽपि सम्प्रत्यपि । पाण्डोः कुलं परिभवितुं तिरस्कर्तुं शीलमस्य तस्य तथाभूतस्य दुरात्मनो दुष्टस्य तस्य दुर्योधनस्य ।

भूमाविति—(अन्वयः) शरीरं भूमौ क्षिप्तं, चन्दनाभं असृक् निजाङ्गे निहितम् , लक्ष्मीः चतुरुदधिपयः सीमया उर्व्या सार्धम् आर्ये निषण्णा । हे क्षितिप ! धार्तराष्ट्रस्य भृत्याः मित्राणि योधाः एतद् अखिलं कुरुकुलं च रणाग्नौ दग्धम् । अधुना (तस्य) यत् (त्वं) नाम ब्रवीषि, तद् (एव) एकम् शेषम् (अस्ति) ।

(व्याख्या) [दुरात्मनस्तस्य दुर्योधनस्य] शरीरं भूमौ पृथिव्यां

द्रौपदी—हे चेटी ! (इस प्रकार के) झूठे शब्दों से मुझे क्यों आश्वासन दे रही है ?

युधिष्ठिर—जयन्धर ! क्या कहा ? क्या यह मेरे भाइयों का शत्रु दुष्ट दुर्योधन नहीं है ?

भीमसेन—देव अजातशत्रो ! भीम एवं अर्जुन के बड़े भाई ! अब नीच

(युधिष्ठिरः स्वैरं मुक्त्वा भीममवलोयन्नश्रूणि प्रमार्जयति ।)

भीमसेनः—(पादयोः पतित्वा) जयत्वार्यः ।

क्षिप्तं प्रक्षिप्तम्, चन्दनवद् आभा कान्तिः यस्य तत् तथाभूतमसृग् रुधिरं निजाङ्गे निहितं मर्दितम्, लक्ष्मीः राज्यलक्ष्मीश्च चतुर्णामुदधीनां समुद्राणां पयो जलमेव सीमा यस्याः सा तया उर्व्या पृथिव्या सार्धं सह आर्ये भवति, युधिष्ठिरे इत्यर्थः, निषण्णा संस्थिता, तस्य राज्यलक्ष्मीस्त्वां समाश्रितेत्यर्थः। हे क्षितिप ! हे राजन् ! धार्तराष्ट्रस्य दुर्योधनस्य ये भृत्या अनुचराः, मित्राणि सुहृदः, योधाः सैनिकाः, एतदखिलं समस्तं कुरुकुलं च रणे युद्धमेव अग्निर्वह्निस्तस्मिन् दग्धं भस्मीकृतम्। अधुना सम्प्रति तस्य दुर्योधनस्य यत् त्वं नाम ब्रवीषि तदेव एकं शेषमवशिष्टं वर्तते। स्रग्धरा छन्दः, 'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्' इति तल्लक्षणात् ॥३६॥

युधिष्ठिर इति—स्वैरं शनैः। मुक्त्वा त्यक्त्वा। अश्रूणि स्वनेत्रजलं प्रमार्जयति प्रोञ्छति।

दुर्योधन कहाँ है ? मैं ने पाण्डु-कुल का तिरस्कार करने वाले उस दुष्ट के—

शरीर को पृथ्वी पर फैंक दिया है, चन्दन के समान लाल-लाल उसके रुधिर को अपने शरीर पर पोत लिया है, उसको राज्य-लक्ष्मी चतुःसमुद्र-पर्यन्त सीमा से युक्त पृथ्वी के साथ आप के अधीन हो गई है और उसके भृत्य, मित्र, सैनिक तथा यह समस्त कौरव-कुल युद्ध की अग्नि में भस्म हो गया है। हे महाराज ! अब तो आप उसका 'दुर्योधन' जो यह नाम उच्चारण कर रहे हैं, यही केवल अवशिष्ट है ॥३६॥

(युधिष्ठिर भीम को धीरे से छोड़कर उसे देखते हुए आँसू पोंछता है।)

भीमसेन—(पैरों में गिरकर) आर्य ! आपकी जय हो।

युधिष्ठिरः—वत्स ! बाष्पजलान्तरितनयनत्वान्न पश्यामि ते मुख-चन्द्रम् । कथय कच्चिज्जीवति भवान् समं किरीटिना ?

भीमसेनः—निहतसकलरिपुपक्षे त्वयि नराऽधिपे, जीवति भीमोऽर्जुनश्च ।

युधिष्ठिरः—(सस्नेहं[1] पुनर्गाढमालिङ्ग्य) तात भीम !

वत्सेति—बाष्पजलेन अश्रुजलेन अन्तरिते अवरुद्धे नयने नेत्रे यस्य स बाष्पजलान्तरितनयनस्तस्य भावस्तत्त्वात् । किरीटिना अर्जुनेन समं सह ।

निहतेति—निहतः सकलो रिपुपक्षः शत्रुपक्षो येन तस्मिन् तथाभूते त्वयि युधिष्ठिरे नराधिपे राजनि सति पृथ्वीं शासति सति । दुर्योधनस्य निधनं गतत्वाद् भवानेव सम्प्रति नराधिप इत्याशयः ।

युधिष्ठिर—वत्स ! आँखों के आसुओं से डबडबाये होने के कारण मैं तुम्हारे मुख-चन्द्र को अच्छी प्रकार देख नहीं सकता । कहो, अर्जुन के साथ तुम (सकुशल) जीवित तो हो ?

भीमसेन—समस्त शत्रु-पक्ष के विनाश के उपरान्त आप के राजा हो जाने पर भीम और अर्जुन दोनों जीवित हैं ।

युधिष्ठिर—(पुनः स्नेह-पूर्वक गाढालिङ्गन करके) प्रिय भीम !

---

१. G. अयं पा नास्ति ।

रिपोरास्तां तावन्निधनमिदमाख्याहि शतशः,
प्रियो भ्राता सत्यं त्वमसि मम योऽसौ बकरिपुः !

भीमसेनः—आर्य सोऽहम्।

युधिष्ठिरः—

जरासन्धस्योरःसरसि रुधिरासारसलिले,
तटाघातक्रीडाललितमकरः संयति भवान् ? ॥४०॥

रिपोरिति—(अन्वयः) रिपोः निधनं तावत् आस्ताम्। इदं शतशः आख्याहि यः असौ बकरिपुः मम प्रियः भ्राता (सः) सत्यं त्वम् (एव) असि ? संयति रुधिरासारसलिले जरासन्धस्य उरःसरसि तटाघात-क्रीडाललितमकरः भवान् (एव किम् ?)

(व्याख्या) रिपोः शत्रोः दुर्योधनस्येत्यर्थः, निधनं मरणं तावदेकतः आस्ताम्, अलं तत्कथाप्रसङ्गेनेत्यर्थः। किन्तु इदं शतशो मुहुर्मुहुः आख्याहि कथय यद् योऽसौ बकस्य बकनाम्नोऽसुरस्य रिपुः शत्रुः, हन्तेत्यर्थः, प्रियो भ्राता अनुजः भीमोऽस्ति स सत्यं वस्तुतः त्वमेवाऽसि किम् ? संयति युद्धे रुधिरस्य रक्तस्य आसारो धारा एव सलिलं जलं यस्मिन् तथाभूते जरासन्धस्य उरो वक्षःस्थलमेव सरस्तस्मिन् तटस्य आघातस्ताडनमेव क्रीडा विलासस्तया ललितो मनोहरो मकरः, भीम इत्यर्थः, भवानेव किम् ? शिखरिणी छन्दः, 'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागा शिखरिणी' इति तल्लक्षणात् ॥४०॥

शत्रु, दुष्ट दुर्योधन, के निधन की बात (एक तरफ) छोड़ो। तुम मुझे बार-बार यह बताओ कि बकासुर का शत्रु जो मेरा भाई है, क्या वह तुम्हीं हो ?

भीमसेन—आर्य ! मैं वही हूँ।

युधिष्ठिर—युद्ध में रुधिर की धारा के जल से भरे हुए जरासन्ध के हृदय-सरोवर में तटाघात आदि क्रीडा करने वाले क्या मनोहर मकर तुम्हीं हो ! ॥४०॥

भीमसेनः—आर्य ! स एवाऽहम् । मुञ्चतु, मुञ्चतु मामार्यः क्षणमेकम् ।

युधिष्ठिरः—किमपरमवशिष्टम् ?

भीमसेनः—आर्य ! सुमहदवशिष्टम् । संयमयामि तावदनेन सुयोधन-शोणितोक्षितेन पाणिना पाञ्चाल्या दुःशासनाऽवकृष्टं केशहस्तम् ।

युधिष्ठिरः—सत्वरं गच्छतु भवान् । अनुभवतु तपस्विनी वेणीसंहार-महोत्सवम् ।

भीमसेनः—(द्रौपदीमुपसृत्य) देवि ! पाञ्चालराजतनये ! दिष्ट्या वर्धसे रिपुकुलक्षयेण ।

संयमयामीति—सुयोधनस्य शोणितेन रुधिरेण उक्षितेन संसिक्तेन, लिप्तेनेत्यर्थः, अनेन पाणिना हस्तेन दुःशासनेन अपकृष्टमाकृष्टं पाञ्चाल्या द्रौपद्याः केशहस्तं केशपाशं संयमयामि बध्नामि ।

सत्वरमिति—सत्वरं शीघ्रम् । सा तपस्विनी वराकी द्रौपदी स्ववेणी-संहारो वेणीबन्धनमेव महोत्सवस्तमनुभवतु ।

भीमसेन—आर्य ! मै वही हूँ । क्षण भर के लिये आप मुझे छोड़ दीजिए ।

युधिष्ठिर—अब और क्या करना बाकी है ?

भीमसेन—आर्य ! अभी बहुत कुछ बाकी है । दुर्योधन के रुधिर से रंगे हुए हाथ से दुःशासन द्वारा खींचे हुए द्रौपदी के केश-पाश को बांधता हूं ।

युधिष्ठिर—शीघ्र जाओ । अब बेचारी द्रौपदी को भी वेणी-बन्धन-महोत्सव का अनुभव करने दो ।

भीमसेन—(द्रौपदी के पास जाकर) हे देवि ? पाञ्चालराजपुत्रि ! सौभाग्य से शत्रु-कुल का विनाश हो जाने से तुम्हें बधाई है ।

द्रौपदी—(उपसृत्य) जेदु जेदु णाहो (इति भयादपसर्पति ।)
([उपसृत्य] जयतु, जयतु नाथः [इति भयादपसर्पति] ।)
भीमसेनः—राजपुत्रि ! अलमलमेवं विधं मामाः लोक्य त्रासेन ।

कृष्टा येनाऽसि राज्ञां सदसि नृपशुना तेन दुःशासनेन,
स्त्यानान्येतानि तस्य स्पृश मम करयोः पीतशेषाण्यसृञ्जि ।
कान्ते ? राज्ञः कुरूणामतिसरसमिदं मद्गदाचूर्णितोरो-
रङ्गेऽङ्गेऽसृङ् निषक्तं तव रिपुजनितस्याऽनलस्योपशान्त्यै ॥४१॥

कृष्टेति—(अन्वयः) ·येन नृपशुना तेन दुःशासनेन राज्ञां सदसि कृष्टा असि तस्य मम करयोः (लग्नानि) एतानि पीतशेषाणि स्त्यानानि असृञ्जि स्पृश । हे कान्ते ! मद्गदाचूर्णितोरोः कुरूणां राज्ञः अतिसरसम् इदम् असृक् तव रिपुजनितस्य अनलस्य उपशान्त्यै अङ्गे अङ्गे निषक्तम् ।

(व्याख्या) येन नृपशुना मनुजपशुना, नीचेनेत्यर्थः, तेन प्रसिद्धेन दुःशासनेन राज्ञां नृपाणां सदसि सभायां कृष्टाऽसि केशैराकृष्टाऽसि तस्य नराधमस्य मम भीमस्य करयोः हस्तयोः संलग्नानि एतानि पुरतो दृश्यमानानि पीतात् शेषाणि अवशिष्टानि स्त्यानानि गाढानि असृञ्जि रुधिराणि स्पृश । हे कान्ते ! हे प्रिये ! मम गदया चूर्णितौ ऊरू यस्य तस्य तथाभूतस्य कुरूणां कौरवाणां राज्ञोऽधिपस्य दुर्योधनस्य अतिसरसं रसमयमिदमसृग् रुधिरं मया भीमेन तव द्रौपद्याः रिपुणा शत्रुणा जनितस्य अनलस्य तिरस्काराग्नेः उपशान्त्यै प्रशमनाय अङ्गेऽङ्गे प्रत्यङ्ग

द्रौपदी –(पास में जाकर) प्राणनाथ की जय हो, जय हो ।
(यह कहकर भय से पुनः पीछे को हट जाती है ।)

भीमसेन—राजपुत्रि ! मुझे इस प्रकार (रुधिर से लथ-पथ) देखकर भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है ।

जिस मनुज-पशु दुःशासन ने राजाओं की भरी सभा में तुम्हें (केश पकड़

बुद्धिमतिके ! क सम्प्रति सा भानुमती योपहसति पाण्डवदारान् ? भवति यज्ञवेदिसम्भवे ! याज्ञसेनि !

द्रौपदी—आणवेदु णाहो ।

(आज्ञापयतु नाथः ।)

भीमसेनः—स्मरति भवती यत् मयोक्तम्—["चञ्चद्भुजेति (१, १२) पूर्वोक्तमेव पठति ।]

द्रौपदी—णाह ! ण केवलं सुमरामि, अणुहवामि अ णाधस्स प्पसादेण ।

(नाथ ! न केवलं स्मरामि, अनुभवामि च नाथस्य प्रसादेन ।)

निषक्तं संलिप्तम् । स्वाङ्गेषु निषक्तं तदेव रुधिरमिदानीं तवाऽपमानानलस्य उपशान्त्यै तव अङ्गेषु अपि प्रलिप्यते इति भावः । स्रग्धरा छन्दः, 'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्' इति तल्लक्षणात् ॥४१॥

कर) खींचा था, उसी के मेरे हाथों पर जमे हुए गाढ़े-गाढ़े पीत-शेष (=पीने से बचे) रुधिर को तुम भी छू लो । हे कान्ते ! मेरी गदा से चूर-चूर हुई जङ्घाओं वाले कौरवराज दुर्योधन के इस सरस रुधिर को मैं ने शत्रुकृत तुम्हारे तिरस्कार की अग्नि की शान्ति के लिए अपने प्रत्येक अङ्ग पर लगा लिया है ॥४१॥

बुद्धिमतिके ! वह भानुमती, जो पाण्डव-वधू का उपहास करती थी; अब कहाँ है ? हे यज्ञवेदि-सम्भवे ! श्रीमति द्रौपदि !

द्रौपदी—नाथ ! आज्ञा कीजिये ।

भीमसेन—क्या तुम्हें याद है जो मैं ने कहा था ? 'फड़कती भुजाओं से घुमाई गई—' इत्यादि पुनः पढ़ता है ।

द्रौपदी—न केवल याद ही है, प्रत्युत आपकी कृपा से उसका अनुभव कर रही हूँ ।

भीमसेनः—(वेणीमवधूय) भवति ! संयम्यतामिदानीं धार्तराष्ट्रकुलकालरात्रिर्दुःशासनविलुलितेयं वेणी ।

द्रौपदी—णाह ! विसुमरिदम्हि एदं वावारम । णाहस्स प्पसादेण पुणो वि सिक्खिस्सम् ।

(नाथ ! विस्मृताऽस्म्येतं व्यापारम् । नाथस्य प्रसादेन पुनरपि शिक्षिष्ये ।)

(भीमसेनो वेणीं बध्नाति ।)

(नेपथ्ये)

(महासमराऽनलदग्धशेषाय स्वस्ति भवतु राजन्यकुलाय ।)

वेणीमिति—वेणीमवधूय धूल्यादि दूरीकर्तुं वेणीविधूननं कृत्वेत्यर्थः । इदानीं सम्प्रति धार्तराष्ट्राणां कौरवाणां कुलाय कालरात्रिः कालरात्रिस्वरूपा दुःशासनेन विलुलिता विच्छिन्ना, विकीर्णेत्यर्थः, इयं वेणी संयम्यतां बध्यताम् ।

महासमरेति—महत् समरमेव अनलः अग्निस्तेन दग्धात् शेषाय अवशिष्टाय राजन्यानां क्षत्रियाणां कुलाय स्वस्ति कल्याणं भवतु ।

भीमसेन—(वेणी को झाड़ कर) श्रीमति ! कौरवकुल के लिए कालरात्रि के समान दुष्ट दुःशासन के द्वारा खोली गई इस वेणी को अब बाम्धो ।

द्रौपदी—नाथ ! मैं इस (वेणी-बन्धन) व्यापार को भूल गई हूं । आप की कृपा से अब इसे पुनः सीखूंगी ।

(भीमसेन वेणी बांधता है ।)

(नेपथ्य में)

(महायुद्ध की अग्नि में जलने से बचे हुए क्षत्रिय-कुल का कल्याण हो ।)

क्रोधान्धैर्यस्य मोक्षात् क्षतनरपतिभिः पाण्डुपुत्रैः कृतानि,
प्रत्याशं मुक्तकेशान्यतुलभुजबलैः पार्थिवाऽन्तःपुराणि ।
कृष्णायाः केशपाशः कुपितयमसखो धूमकेतुः कुरूणां,
दिष्ट्या बद्धः, प्रजानां विरमतु निधनं, स्वस्ति राज्ञां कुलेभ्यः ॥४२॥

क्रोधान्धैरिति—(अन्वयः) यस्य मोक्षात् क्रोधान्धैः क्षतनरपतिभिः अतुलभुजबलैः पाण्डुपुत्रैः पार्थिवान्तःपुराणि प्रत्याशं मुक्तकेशानि कृतानि, कुपितयमसखः कुरूणां धूमकेतुः कृष्णायाः (सः) केशपाशः दिष्ट्या बद्धः, प्रजानां निधनं विरमतु, राज्ञां कुलेभ्यः स्वस्ति (भवतु)।

(व्याख्या) यस्य द्रौपदीकेशपाशस्य मोक्षाद् मोचनात् क्रोधेन कोपेन अन्धैः, क्षताः निहताः, विनाशिता इत्यर्थः, नरपतयो राजानो यैस्तैः, अतुलं भुजबलं येषां तैः तथाभूतैः पाण्डुपुत्रैः भीमार्जुनादिभिः पार्थिवानां राज्ञामन्तःपुराणि राजप्रासादवासिन्यो राज्यः प्रत्याशं प्रति-दिशं मुक्ता· वैधव्याद् विक्षिप्ताः केशाः येषां तानि तथाविधानि कृतानि विहितानि, कुपितः क्रुद्धो यो यमस्तस्य सखा मित्रम , समासान्तष्टच् , कुरूणां कौरवानां कृते धूमकेतुः मरणोत्पातसूचको धूमकेतुस्वरूपः कृष्णायाः द्रौपद्याः स केशपाशः केशसमूहो दिष्ट्या सौभाग्येन भीमेन बद्धः संहृतः, संयमित इत्यर्थः। अतः इदानीं प्रजानां जनानां निधनं मरणं विरमतु शान्तं भवतु, राज्ञां नृपाणां कुलेभ्यो वंशेभ्यश्च स्वस्ति कल्याणमस्तु। स्रग्धरा छन्दः, 'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्' इति तल्लक्षणात् ॥४२॥

जिसके खुल जाने के कारण राजाओं का विनाश करके अतुल भुजबल-शाली क्रोधान्ध पाण्डु-पुत्रों ने प्रत्येक दिशा में राजाओं के अन्तःपुरों को (=स्त्रियों को उनके पतियों का वध करके) मुक्तकेश कर दिया है, कुपित यमराज के मित्र के समान तथा कौरवों के लिए धूमकेतु वह द्रौपदी का केशपाश

युधिष्ठिरः—देवि ! एष ते वेणीसंहारोऽभिनन्द्यते नभस्तलसंचारिणा सिद्धजनेन ।

(ततः प्रविशतः कृष्णार्जुनौ)

कृष्णः—(युधिष्ठिरमुपगम्य) विजयतां निहतसकलाऽरातिमण्डलः सानुजः पाण्डवकुलचन्द्रो महाराजो युधिष्ठिरः ।

अर्जुनः—जयत्वार्यः ।

युधिष्ठिरः—(विलोक्य) अये ! कथं भगवान् वासुदेवः किरीटी च । भगवन् ! अभिवादये । (किरीटिनं प्रति) एह्येहि वत्स ! परिष्वजस्व माम् । (अर्जुनः प्रणमति) ।

देवीति—हे देवि ! हे द्रौपदि ! नभस्तले आकाशमण्डले संचरति विचरतीति तथाभूतेन सिद्धजनेन सिद्धलोकेन ते तव वेणीसंहारो वेणी-बन्धनमभिनन्द्यते प्रशस्यते ।

विजयतामिति—निहतं सकलानां समस्तानामरातीनां शत्रूणां मण्डलं येन यस्य वा स तथाभूतः, अनुजैः कनिष्ठभ्रातृभिः सहितः, पाण्डवानां कुले चन्द्र इव महाराजो युधिष्ठिरो विजयतामित्यन्वयः ।

सौभाग्य से अब बन्ध गया है। इसलिए अब प्रजा का विनाश बन्द हो और राजाओं के कुलों का कल्याण हो ॥४२॥

युधिष्ठिर—देवि ! आकाश में विचरण करने वाले सिद्ध लोग तुम्हारे वेणी-बन्धन का अभिनन्दन कर रहे हैं।

(इसके बाद कृष्ण और अर्जुन प्रवेश करते हैं)

कृष्ण—(युधिष्ठिर के पास जाकर) सानुज पाण्डव-कुल-चन्द्र महाराज युधिष्ठिर की, जिनका समस्त शत्रु मण्डल विनष्ट हो चुका है, जय हो।

अर्जुन—आर्य की जय हो।

युधिष्ठिर—(देखकर) अरे ! क्या भगवान् वासुदेव और अर्जुन आए हैं ! भगवन् ! मैं आपको अभिवादन करता हूं। (अर्जुन के प्रति) वत्स ! आओ, आओ। मुझ से आलिङ्गन करो। (अर्जुन प्रणाम करता है।)

युधिष्ठिरः—(वासुदेवं प्रति) देव ! कुतस्तस्य विजयादन्यद् यस्य खलु भगवान् पुण्डरीकाक्षः[1] स्वयं मङ्गलमाशास्ते ?

कृतगुरुमहदादिक्षोभसम्भूतमूर्तिं,
गुणिनमुदयनाशस्थानहेतुं प्रजानाम् ।
अजरममरमचिन्त्यं चिन्तयित्वाऽपि न त्वां,
भवति जगति दुःखी, किं पुनर्देव दृष्ट्वा ॥४३॥

देवेति – यस्य पुरुषस्य पुण्डरीकवत् कमलवद् अक्षिणी यस्य स तथाभूतो भगवान् वासुदेवः स्वयमेव मङ्गलमाशास्ते कामयते तस्य विजयाद् अन्यदमङ्गलं कुतः स्यादित्यन्वयः ?

कृतेति—(अन्वयः) हे देव ! कृतगुरुमहदादिक्षोभसंभूतमूर्तिं प्रजानाम् उदयनाशस्थानं गुणिनम् अजरम् अमरम् अचिन्त्यं त्वां चिन्तयित्वा अपि (मानवः) जगति दुःखी न भवति, दृष्ट्वा पुनः किम् ?

(व्याख्या) हे देव ! गुरवश्च ते महदादयः गुरुमहदादयः कृता गुरुमहदादयः यया सा कृतगुरुमहदादिः प्रकृतिः, कृतगुरुमहदादेः क्षोभात् सम्भूता मूर्तिः यस्य तं तथाभूतं प्रजानां लोकानाम् उदयश्च नाशश्च स्थानं च तेषां हेतुं कारणं गुणिनं सत्त्वरजस्तमोमयं, एतानेव त्रीन् गुणानाश्रित्य भगवान् नारायणो विभिन्नरूपेण संसारस्य उत्पत्तिस्थितिप्रलयकारणं भवतीत्यर्थः, अजरं जरारहितम्, अमरमविनाशिनम्, अचिन्त्यम् इन्द्रियाणामगोचरं त्वां भगवन्तं चिन्तयित्वा अपि मानवो जगति संसारे दुःखी न भवति न जायते, दृष्ट्वा साक्षादवलोक्य तु पुनः किं

युधिष्ठिर—(भगवान् कृष्ण के प्रति) देव ! जिसके लिये भगवान् पुण्डरीकाक्ष स्वयं मङ्गल-कामना करें उसका अमङ्गल कैसे हो सकता है !

हे देव ! पृथिवी, जल, तेज आदि स्थूल पदार्थ तथा महत्तत्त्व (=बुद्धि

१. G. 'पुराणपुरुषो नारायणः' इति पा. ।

(अर्जुमालिङ्ग्य) वत्स ! परिष्वजस्व माम् ।

कृष्णः—महाराज युधिष्ठिर !

'व्यासोऽयं भगवानमी च मुनयो वाल्मीकिरामादयो,
धृष्टद्युम्नमुखाश्च सैन्यपतयो माद्रीसुताऽधिष्ठिताः ।
प्राप्ता मागधमत्स्ययादवकुलैराज्ञाविधेयैः समं,
स्कन्धोत्तम्भिततीर्थवारिकलशा राज्याऽभिषेकाय ते ।।४४।।

स्यात्, दुःखस्य सम्भावनैव नास्तीत्यर्थः । मालिनी छन्दः, 'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इति तल्लक्षणात् ।।४३।।

व्यास इति—(अन्वयः) अयं भगवान व्यासः, अमी वाल्मीकिरामादयो मुनयः, माद्रीसुताधिष्ठिताः धृष्टद्युम्नमुखाः सैन्यपतयश्च आज्ञाविधेयैः मागधमत्स्ययादवकुलैः समं स्कन्धोत्तम्भिततीर्थवारिकलशाः ते राज्याभिषेकाय प्राप्ताः ।

(व्याख्या) अयं भगवान् महर्षिः वेदव्यासः, अमी एते वाल्मीकिश्च रामः परशुरामश्च आदौ येषां ते तथाभूताः मुनयः, माद्रीसुताभ्यां नकुलसहदेवाभ्यामधिष्ठिता अधिकृताः धृष्टद्युम्नो मुखः प्रमुखः येषु ते तथाभूता सैन्यपतयः सेनापतयश्च आज्ञाविधेयैः आज्ञापालकैः मागध-मत्स्य-यादव

तत्त्व) आदि को उत्पन्न करने वाली प्रकृति के संक्षोभ से विष्णु एवं शिव आदि विभिन्न रूपों में आविर्भूत होने वाले, गुणी, प्रजा की उत्पत्ति, विनाश एवं स्थिति के प्रधान कारण, अजर, अमर एवं अचिन्त्य आपका चिन्तन-मात्र करने से भी प्राणी कभी दुःख को प्राप्त नहीं होता, साक्षात् दर्शन करके तो बात ही क्या है ? (अर्थात् दुःख की कभी सम्भावना ही नहीं हो सकती) ।।४३।।

(अर्जुन का आलिंगन करके) वत्स ! मुझे आलिङ्गन करो ।

कृष्ण—महाराज युधिष्ठिर !

यह भगवान् वेदव्यास, ये वाल्मीकि एवं परशुराम आदि महर्षि लोग तथा

अहं पुनश्चार्वाकेण रक्षसा व्याकुलीकृतं भवन्तमुपलभ्याऽर्जुनेन सह त्वरिततरमायातः ।

युधिष्ठिरः—कथं चार्वाकेण रक्षसा वयमेवं विप्रलब्धाः ?

भीमसेनः—(सरोषम्) काऽसौ धार्तराष्ट्रसखो राक्षसः पुण्यजनाऽपसदो येनाऽऽर्यस्य महाँश्चित्तविभ्रमः कृतः ।

कुलैः तत्तत्कुलोत्पन्नैः क्षत्रियैः समं साकं स्कन्धैः स्कन्धेषु वा उत्तम्भिताः धृता तीर्थवारीणां कलशाः यैस्ते तथाभूताः सन्तः ते तव युधिष्ठिरस्य राज्ये यः अभिषेकस्तस्मै अत्र प्राप्ताः समागता वर्तन्ते । शार्दूलविक्रीडितं छन्दः, 'सूर्याश्वैर्यदि मासजः सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' इति तल्लक्षणात् ॥४४॥

कथमिति—विप्रलब्धाः वञ्चिताः ।

काऽसौ इति—क कुत्र । धार्तराष्ट्रस्य दुर्योधनस्य सखा मित्रम् । समासान्तष्टच् । पुण्यजनेषु राक्षसेषु अपसदो नीचः ।

माद्री-पुत्र नकुल एवं सहदेव से अधिष्ठित धृष्टद्युम्न प्रभृति सेनापतिगण आज्ञापालक मागध, मत्स्य तथा यादव कुलोत्पन्न क्षत्रियकुमारों के साथ विभिन्न तीर्थों के जल से भरे हुए कलशों को अपने कन्धों पर रक्खे हुए आपके राज्याभिषेक के लिए यहां पर उपस्थित हैं ॥४४॥

मैं चार्वाक राक्षस के द्वारा आपके व्यथित किये जाने का समाचार सुनकर अर्जुन के साथ बहुत शीघ्र ही यहां आया हूँ ।

युधिष्ठिर—हैं, क्या चार्वाक ने हमें इस प्रकार धोखे में डाला था ?

भीमसेन—(रोष के साथ) दुर्योधन का मित्र वह राक्षसाधम चार्वाक कहाँ है जिसने महाराज के चित्त में इस प्रकार का महान् विभ्रम पैदा किया था ।

कृष्णः—निगृहीतः स दुरात्मा नकुलेन। तत् कथय महाराज! किमस्मात् परं समीहितं सम्पादयामि ?

युधिष्ठिरः—पुण्डरीकाक्ष ! न किंचिन्न ददाति भगवान प्रसन्नः। अहं पुरुषसाधारणबुद्धया सन्तुष्यामि। न खल्वतः परमभ्यर्थयितुं क्षमः। पश्यतु देवः—

निगृहीत इति—स दुरात्मा नीचश्चार्वाकः कुमारनकुलेन निगृहीतो बन्दीकृतः। समीहितमभीष्टं सम्पादयामि करोमि।

पुण्डरीकाक्षेति—पुण्डरीकवद् अक्षिणी यस्य स तत्सम्बुद्धौ हे पुण्ड-रीकाक्ष ! हे कमलनयन ! प्रसन्नः प्रसन्नो भूत्वा भगवान् न किञ्चिन्न ददाति सर्वमेव ददातीत्यर्थः। नञ्द्वयस्य प्रकृतार्थदार्ढ्यबोधकत्वम्। पुरुषसाधारणया साधारणपुरुषोचितया। अभ्यर्थयितुं प्रार्थयितुम्। क्षमः समर्थः।

कृष्ण—उस दुरात्मा को कुमार नकुल ने बन्दी बना लिया है। महाराज! कहिये मैं आपका और क्या अभीष्ट-सम्पादन करूँ ?

युधिष्ठिर—भगवान् पुण्डरीकाक्ष ! आप प्रसन्न होकर क्या नहीं देते ? क्या इससे अधिक भी कोई अभीष्ट हो सकता है ? साधारण मनुष्यों की-सी बुद्धि से युक्त होने के कारण मैं तो (इतने मात्र से ही) सन्तुष्ट हूँ। इससे अधिक मैं और कुछ नहीं मांग सकता। भगवन् ! देखिये—

क्रोधान्धैः सकलं हतं रिपुकुलं, पञ्चाक्षतास्ते वयं,
पाञ्चाल्या मम दुर्नयोपजनितस्तीर्णो निकारार्णवः ।
त्वं देवः पुरुषोत्तमः सुकृतिनं मामाद्दतो भाषसे,
किं नामान्यदतः परं भगवतो याचे प्रसन्नादहम् ॥४५॥

क्रोधान्धैरिति—(अन्वयः) क्रोधान्धैः (पाण्डवैः) सकलं रिपुकुलं हतम् । ते वयं पञ्च अक्षताः, मम दुर्नयोपजनितः पाञ्चाल्या निकारार्णवः तीर्णः, पुरुषोत्तमः देवः त्वं सुकृतिनं माम् आद्दतः भाषसे । अतः परं किं नाम अन्यद् (वस्तु अस्ति यद्) अहं प्रसन्नाद् भगवतः याचे ।

(व्याख्या) क्रोधेन कोपेन अन्धैः पाण्डवैः सकलं समस्तं रिपूणां शत्रूणां कुलं हतं विनाशितम् । ते वयं पञ्चापि भ्रातरः अक्षताः सकुशलाः स्मः । मम युधिष्ठिरस्य दुर्नयेन द्यूतादिदुर्व्यवहारेण उपजनितः सञ्जनितः पाञ्चाल्या द्रौपद्याः निकारस्य तिरस्कारस्य अर्णवः समुद्रः तीर्णः उल्लङ्घितः, पुरुषेषु उत्तमः श्रेष्ठो देवः साक्षाद् नारायणस्त्वं सुकृतिनं पुण्यशालिनं मामाद्दतः आदरयुतः सन् भाषसे । अतोऽस्मात् परमधिकं किं नाम अन्यत् द्वितीयं वस्तु अस्ति यदहं प्रसन्नाद् भगवतस्त्वत् कृष्णाद् याचेऽभ्यर्थये । शार्दूलविक्रीडितं छन्दः, 'सूर्याश्वैर्यदि मासजः सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' इति तल्लक्षणात् ।।४५।।

पाण्डवों ने क्रोधान्ध होकर समस्त शत्रु-कुल को विध्वस्त कर दिया और हम पांचों भाई सुरक्षित बच गए तथा मेरी दुर्नीति के कारण होने वाले द्रौपदी के अपमान के समुद्र को भी हमने पार कर लिया। आप स्वयं भगवान् पुरुषोत्तम होते हुए भी मुझ पुण्यात्मा से बड़े आदर के साथ सम्भाषण कर रहे हो। इससे अधिक और कौनसी प्रिय वस्तु अवशिष्ट है जो मैं प्रसन्न हुए आप से माँगू ।।४५।।

तथापि प्रीततरश्चेद् भगवाँस्तदिदमस्तु—

अकृपणमतिः कामं जीव्याज्जनः पुरुषाऽऽयुषम्,
भवतु च भवद्भक्तिर्द्वैधं विना पुरुषोत्तम !
दयितभुवनो विद्वद्बन्धुर्गुणेषु विशेषवित्,
सततसुकृती भूयाद् भूपः प्रसाधितमण्डलः ॥४६॥

अकृपणेति—(अन्वयः) हे पुरुषोत्तम ! अकृपणमतिः (सन्) जनः कामं पुरुषायुषं जीव्यात्, द्वैधं विना भवद्भक्तिः च भवतु। दयितभुवनः विद्वद्बन्धुः, गुणेषु विशेषवित्, सततसुकृती, प्रसादितमण्डलः भूपः भूयात्।

(व्याख्या) पुरुषेषु उत्तमः पुरुषोत्तमस्तत्सम्बुद्धौ हे पुरुषोत्तम ! अकृपणा उदारा मतिर्यस्य स तथाभूतः सन् जनो लोकः कामं यथेच्छं पुरुषायुषं शतसंवत्सरं जीव्यात्। द्वैधं द्वैतभावनां विना 'अयं निजः परो वेति' भावनां परित्यज्येत्यर्थः, भवतस्तव नारायणस्य भक्तिः भवतु। दयितं प्रियं भुवनं यस्य सः तथाभूतः, विदुषां बन्धुः, गुणेषु विशेषं वेत्तीति विशेषविद् विज्ञः. सततं सुकृती पुण्यशीलः, प्रसाधितं मण्डलं राजमण्डलं येन स तथाभूतो भूपः राजा भूयाद् भवतु। हरिणी छन्दः, नसमरसलाः गः षड् वेदैर्हयैर्हरिणी मता' इति तल्लक्षणात् ॥४६॥

तथापि यदि आप बहुत प्रसन्न हैं तो यह (और) हो—

हे पुरुषोत्तम ! मनुष्य उदारचेता हो और यथेष्ट सौ वर्ष की पूर्ण आयु तक जीवित रहे तथा (उसके हृदय में) आप की अद्वैत भक्ति हो। राजा प्रजा पर दया करने वाला, विद्वानों का बन्धु, गुणों का विशेषज्ञ, सतत पुण्य-शील तथा अपने अधीन राज-मण्डल को प्रसन्न रखने वाला हो ॥४६॥

कृष्णः—एवमस्तु ।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति वेणीसंहारे षष्ठोऽङ्कः ।

समाप्तमिदं वेणीसंहारं नाम नाटकम् ॥

इत्याचार्योपाधिधारि-श्रीविजयचन्द्रशास्त्रि-कृतायां वेणीसंहार-सरलार्थदीपिकायां षष्ठोऽङ्कः समाप्तः ।

॥ समाप्तं चेदं नाटकम् ॥

कृष्ण—ऐसा ही हो ।

(इसके बाद सब लोग चले जाते हैं ।)

इति श्रीविजयचन्द्रशास्त्रि-कृतायां वेणीसंहार-हिन्दी-सरलार्थदीपिकायां षष्ठोऽङ्कः समाप्तः ।

परिशिष्ट 'क'

नाटक में प्रयुक्त हुए पारिभाषिक शब्दों की संक्षिप्त व्याख्या

नान्दी

यह नाट्य-शास्त्र का एक पारिभाषिक शब्द है जिसकी व्युत्पत्ति निम्न प्रकार से की गई है :—

नन्द्यन्ते स्तूयन्ते देवता अस्या सा नान्दी, अर्थात् जिसमें देवताओं का अभिनन्दन किया जाए। साहित्यदर्पण में आचार्य विश्वनाथ ने नान्दी की परिभाषा निम्न प्रकार से दी है :—

आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात् प्रयुज्यते ।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ॥

अर्थात् ग्रन्थ की निर्विघ्न परिसमाप्ति के लिये आशीर्वादात्मक वाक्य से युक्त देव-ब्राह्मणादि की नाटक के आरम्भ में की गई माङ्गलिक प्रार्थना को 'नान्दी' कहते हैं।

सूत्रधार

यह नाट्य-शास्त्र का एक पारिभाषिक शब्द है जिसकी व्युत्पत्ति निम्न प्रकार से की गई है :—

सूत्रं धारयतीति सूत्रधारः, अर्थात् नाटक का वह प्रधान नट जो नाटकीय कथावस्तु के भिन्न-भिन्न उपकरणों के सूत्र को सँभालता है 'सूत्रधार' कहलाता है।

नाट्य-शास्त्र के अनुसार 'सूत्रधार' की परिभाषा निम्न प्रकार से की गई है :—

नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते ।
सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो निगद्यते ॥

अर्थात् नाट्य के भिन्न भिन्न उपकरणों को सूत्र कहते हैं और जो नट-विशेष उन्हें सँभालता है उसे 'सूत्रधार' कहते हैं।

सूत्रधार की एक और बड़ी सरल और संक्षिप्त परिभाषा दी गई है। वह इस प्रकार है :—

वर्णनीयकथासूत्रं प्रथमं येन सूच्यते।
रङ्गभूमिं समासाद्य सूत्रधारः स उच्यते॥

अर्थात् वह प्रधान नट-विशेष जो सर्वप्रथम रङ्गमञ्च पर आकर वर्णनीय कथासूत्र की सूचना देता है, 'सूत्रधार' कहलाता है। इसे हम रङ्गमञ्च-व्यवस्थापक (Stage manager) भी कह सकते हैं।

प्रस्तावना या आमुख

यह एक नाटकीय पारिभाषिक शब्द है जिसकी व्युत्पत्ति निम्न प्रकार से की गई है :—

प्रस्तूयते उपस्थाप्यते नाटकस्य कथावस्तु संक्षेपेण यत्र सा प्रस्तावना, अर्थात् जिसमें संक्षेप से नाटक की कथावस्तु को प्रस्तुत किया जाए उसे 'प्रस्तावना' कहते हैं।

नाट्य-शास्त्र के अनुसार 'प्रस्तावना' की परिभाषा निम्न प्रकार से की गई है :—

नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते।
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा॥

अर्थात् नाटक का वह भाग जिसमें नटी, विदूषक या पारिपार्श्विक अपने प्रस्तुत कार्य से सम्बन्धित सुन्दर एवं रोचक शब्दों में सूत्रधार

के साथ वार्तालाप करते हैं उसे 'आमुख' या 'प्रस्तावना' कहते हैं। इसे नाटक की भूमिका (Introduction या Prelude) कह सकते हैं।

नेपथ्य

यह एक नाटकीय पारिभाषिक शब्द है। नाट्य-शास्त्र के अनुसार इसकी परिभाषा निम्न प्रकार से की गई है :—

कुशीलवकुटुम्बस्य स्थलं नेपथ्यमुच्यते ॥

अर्थात् रंग-मञ्च के समीप के उस स्थान को जहां पर नट लोग अपनी वेष-भूषा पहनते हैं 'नेपथ्य' कहते हैं।

विष्कम्भक

यह एक नाटकीय पारिभाषिक शब्द है। नाट्य-शास्त्र के अनुसार इसकी परिभाषा निम्न प्रकार से की गई है :—

वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः।
संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शितः॥
मध्येन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां सम्प्रयोजितः।
शुद्धः स्यात् स तु संकीर्णो नीचमध्यमकल्पितः॥

अर्थात् विष्कम्भक नाटक में किसी भी अङ्क के आदि में आने वाला वह भाग है जिस में मध्यम श्रेणी के किसी एक या दो पात्रों के द्वारा पारस्परिक वार्तालाप में भूत या भविष्यत् की नाटकीय कथावस्तु से सम्बद्ध घटनाओं को सूचित किया जाता है। यह दो प्रकार का होता है:—

१. शुद्ध विष्कम्भक।
२. संकीर्ण या मिश्रविष्कम्भक।

शुद्ध विष्कम्भक वह होता है जिसमें दोनों पात्र मध्यम श्रेणी के पात्र हों। शुद्ध विष्कम्भक में संस्कृत भाषा का ही प्रयोग होता है।

मिश्र या संकीर्ण विष्कम्भक वह होता है जिसमें एक पात्र मध्यम श्रेणी का होता है और दूसरा निम्न श्रेणी का। मिश्रविष्कम्भक में संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं का प्रयोग होता है।

प्रवेशक

यह एक नाटकीय पारिभाषिक शब्द है। नाट्य-शास्त्र के अनुसार इसकी परिभाषा निम्न प्रकार से की गई :—

प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः।
अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा॥

अर्थात् प्रवेशक नाटक में दो अङ्कों के बीच में आने वाला वह भाग है जिसमें निम्नकोटि के पात्र अपनी निम्न प्रकार की उक्तियों से नाटकीय कथावस्तु से सम्बद्ध भूत या भविष्यत् की घटनाओं की सूचना देते हैं। क्योंकि इस में निम्न कोटि के पात्र होते हैं, इसलिये इसकी भाषा प्राकृत होती है और क्योंकि इसका प्रयोग दो अङ्कों के बीच में होता है इसलिये यह प्रथम अङ्क के आरम्भ में कभी नहीं आता।

प्रवेशक और विष्कम्भक में भेद

प्रवेशक नाटक में दो अङ्कों के बीच में आने वाला वह भाग है जिसमें निम्न श्रेणी के पात्र पारस्परिक वार्तालाप द्वारा नाटकीय कथावस्तु से सम्बद्ध भूत या भविष्यत् की घटनाओं की सूचना देते हैं। इसकी भाषा हमेशा प्राकृत होती है और यह प्रथम अङ्क के आदि में कभी नहीं आता।

परन्तु विष्कम्भक में अङ्क के आदि में मध्यम या मध्यम तथा निम्न कोटि के पात्र पारस्परिक वार्तालाप द्वारा नाटकीय कथावस्तु से सम्बद्ध भूत या भविष्यत् की घटनाओं की सूचना देते हैं। इसमें मध्यम श्रेणी

के पात्रों के होने के कारण संस्कृत भाषा का प्रयोग होता है। जहाँ पर मध्यम तथा निम्न दोनों श्रेणी के पात्र होते हैं वहाँ संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं का प्रयोग होता है। क्योंकि इसमें दो अङ्कों के बीच में आने का नियम नहीं है इसलिए यह प्रथम अङ्क के आदि में भी आ सकता है। जहाँ पर मध्यम श्रेणी के ही पात्र होते हैं उसे शुद्ध और जहां पर मध्यम तथा निम्न श्रेणी के मिले हुए होते हैं उसे मिश्र या संकीर्ण विष्कम्भक कहते हैं। प्रवेशक में इस प्रकार का कोई भेद नहीं है।

प्रवेशक और विष्कम्भक के विषय में इतना और जान लेना आवश्यक है कि नाटकीय कथावस्तु के साधारणतया दो भाग किए गए हैं :—१. दृश्य, सूच्य। जो भाग बड़ा सरस और रोचक होता है वही रंगमंच पर प्रदर्शित किया जाता है। उसे दृश्य कहते हैं। और जो भाग कुछ नीरस और अरुचिकर होता है परन्तु नाटकीय कथावस्तु का पौर्वापर्य तथा उसकी शृङ्खला को समझने के लिए जिसका जानना भी आवश्यक है उसका रंगमञ्च पर प्रदर्शन नहीं किया जाता, प्रत्युत विभिन्न प्रकार से उसकी सूचना-मात्र दी जाती है। यह सूचना देने के लिए संस्कृत-नाट्य-शास्त्रकारों ने पांच प्रकार (=१. विष्कम्भक, २. चूलिका, ३. अङ्कास्य, ४. अङ्कावतार, ५. प्रवेशक) माने हैं। इन्हीं पांच प्रकारों में से विष्कम्भक और प्रवेशक ये दो प्रकार हैं।

प्रकाशम्

यह एक नाटकीय पारिभाषिक शब्द है जिसका वास्तविक अर्थ समझने के लिए पहले यह जानना आवश्यक है कि अभिनय की आवश्यकता के अनुसार नाटकीय कथावस्तु को तीन भागों में बाँटा गया है :—

१. सर्वश्राव्य।

२. नियतश्राव्य ।

३. अश्राव्य ।

इनमें प्रथम, अर्थात् सर्वश्राव्य, नाटकीय कथावस्तु का वह भाग है जिस का रंगमञ्च पर सब दर्शकों को सुनाना अभीष्ट होता है। इसी को प्रदर्शित करने के लिए 'प्रकाशम्' यह शब्द प्रयुक्त होता है जिस का अर्थ है 'प्रकट रूप में'।

जनान्तिकम्

यह एक पारिभाषिक शब्द है जो कि रंगमञ्च पर प्रदर्शित किये जाने वाले 'नियतश्राव्य' कथावस्तु के लिये, अर्थात् कथावस्तु के उस भाग के लिये जो रंगमंच पर सब को नहीं प्रत्युत कुछ नियत व्यक्तियों को ही सुनाया जाता है, प्रयुक्त होता है। भाव यह है कि 'जनान्तिकम्' इस नाट्योक्ति का प्रयोग वहाँ होता है जहां पर कोई पात्र रंगमंच पर स्थित अन्य पात्रों से किसी बात को छिपाने के लिए एक तरफ को होकर शनैः-शनैः किसी पात्र से बात करता है। इसकी परिभाषा दशरूपककार ने इस प्रकार की है :—

त्रिपताकाकरेणाऽन्यानपवार्याऽन्तरा कथाम् ।
अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्यात् जनान्ते तज्जनान्तिकम् ।।

अर्थात् रंगमंच पर किसी कथा के चालू रहने पर जब कोई पात्र तीन अंगुली उठाए हुए अपने हाथ से दूसरों की दृष्टि को अपनी ओर से बचा कर किसी पात्र के समीप में होकर सम्भाषण करता है तो उसे 'जनान्तिक' कहते हैं।

स्वगतम्

यह एक नाटकीय पारिभाषिक शब्द है। इसका प्रयोग कथावस्तु के उस भाग के लिए होता है जो किसी को सुनाया नहीं जाता। उसके द्वारा स्थिति विशेष में केवल पात्र-विशेष के मानसिक भावों की

अभिव्यक्ति होती है, नाटकीय क्रिया-कलाप को आगे बढ़ाने में स्वगत-सम्भाषण की कोई उपयोगिता नहीं होती। इससे पात्र विशेष के मानसिक भावों की झलक मिलती है जिससे उस पात्र के चरित्र की पर्याप्त अभिव्यक्ति होती है। कभी-कभी स्वगत-सम्भाषण दर्शकों के लिये नाटकीय कथावस्तु के पौर्वापर्य की शृङ्खला बांधने में भी सहायक सिद्ध होता है।

अपवारितम्

यह एक नाटकीय पारिभाषिक शब्द है जिस की परिभाषा साहित्य-दर्पणकार आचाय विश्वनाथ ने इस प्रकार की है :—

....तद्भवेदपवारितम्।

रहस्यं तु यदन्यस्य परावृत्य प्रकाश्यते ॥

अर्थात् अन्य व्यक्तियों की ओर से मुँह फेर कर किसी पात्र-विशेष के प्रति जो किसी गुप्त रहस्य का प्रकाशन किया जाता है उसे 'अपवारित' कहते हैं।

कञ्चुकी

यह एक नाटकीय पारिभाषिक शब्द है जिस की परिभाषा नाट्य-शास्त्र के प्रणेता भरत मुनि ने निम्न प्रकार से दी है :—

अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः।

सर्वकार्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते ॥

अर्थात् कञ्चुकी उस कार्यकुशल व्यक्ति को कहते हैं जो जाति से सवगुणसम्पन्न ब्राह्मण हो और राजा के अन्तःपुर में भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्यों के प्रबन्ध के लिये नियुक्त हो।

'कञ्चुक' शब्द एक लम्बे चोगे के लिये प्रयुक्त होता है। प्राचीन काल में राजाओं के अन्तःपुर में नियुक्त प्रबन्धक 'कञ्चुक' पहना करता था। इसी लिये उसे 'कञ्चुकी' कहा करते थे।

परिशिष्ट 'ख'

'वेणीसंहार' में आए हुए समस्त श्लोकों की वर्णक्रम से सूची।

क्रमसंख्या	श्लोक का प्रथम पाद	अङ्क	संख्या
१.	अकलितमहिमानम्	५	४०
२.	अकृपणमतिः कामं जीव्यात्	६	४६
३.	अक्षतस्य गदापाणेः	४	४
४.	अत्रैव किं न विशसेयम्	५	३२
५.	अद्यप्रभृति वारीदम्	६	२६
६.	अद्य मिथ्याप्रतिज्ञो-	३	४२
७.	अद्यैवावां रणमुपगतौ	४	१५
८.	अन्धोऽनुभूतशत-	५	१३
९.	अन्योन्यास्फालभिन्न-	१	२७
१०.	अपि नाम भवेन्न मृत्युः	४	९
११.	अप्रियाणि करोत्येषः	५	३१
१२.	अयि कर्ण कर्णसुखदाम्	५	१४
१३.	अयं पापो यावत्	३	४५
१४.	अवसानेऽङ्गराजस्य	५	३६
१५.	अश्वत्थामा हत इति	३	११
१६.	असमाप्तप्रतिज्ञेऽपि	६	३३
१७.	अस्त्रग्रामविधौ कृती	४	१२
१८.	अस्त्रज्वालावलीढ	३	७
१९.	आचार्यस्य त्रिभुवनगुरोः	३	२०
२०.	आजन्मनो न वितथम्	३	१५

क्रमसंख्या	श्लोक का प्रथम पाद	अङ्क	संख्या
४६.	कुरु घनोरु पदानि	२	२१
४७.	कुन्त्या सह युवामद्य	५	४
४८.	कुर्वन्त्वाप्ता हतानां	५	३६
४९.	कुसुमाञ्जलिरपर इव	१	५
५०.	कृतगुरुमहदादि	६	४३
५१.	कृतमनुमतं दृष्टं वा यैः	३	२४
५२.	कृष्टा केशेषु भार्या	५	३०
५३.	कृष्टा येन शिरोरुहे	३	४७
५४.	कृष्टा येनासि राज्ञां	३	४१
५५	कृष्णा केशेषु कृष्टा	५	२९
५६.	कोदण्डज्याकिणाङ्कैः	२	२७
५७.	कौरव्यवंशदावेऽस्मिन्	५	१९
५८.	क्रोधान्धैः सकलं हतम्	६	४५
५९.	क्रोधान्धैर्यस्य मोक्षात्	६	४२
६०.	क्रोधोद्गूर्णगदस्य नास्ति	६	१३
६१.	गते भीष्मे हते द्रोणे	५	२३
६२.	गतो येनाद्य त्वम्	३	१६
६३.	गुप्त्या साक्षान्महानल्पः	२	३
६४.	गुरूणां बन्धूनाम्	६	५
६५.	गृहीतं येनासीः	३	१९
६६.	ग्रहाणां चरितं स्वप्नो	२	१५
६७.	चञ्चद्भुजभ्रमितचण्ड	१	२१
६८	चत्वारो वयमृत्विजः	१	२५
६९.	चूर्णिताशेषकौरव्यः	५	२८
७०	जन्मेन्दोरमले कुले	६	७

क्रमसंख्या	श्लोक का प्रथम पाद	अङ्क	संख्या
१२१.	परित्यक्ते देहे रण-	३	२२
१२२.	पर्याप्तनेत्रमचिरोदित-	४	१०
१२३.	पर्यायेण हि दृश्यन्ते	२	१४
१२४.	पाञ्चाल्या मन्युवह्निः	६	८
१२५.	पापप्रियस्तव कथं	३	४४
१२६.	पापेन येन हृदयस्य	५	२२
१२७.	पितुर्मूर्ध्नि स्पृष्टे	३	२५
१२८.	पीनाभ्यां मद्भुजाभ्याम्	५	३५
१२९.	पूर्यन्तां सलिलेन	६	१२
१३०.	प्रत्यक्षमात्तधनुषां	३	२१
१३१.	प्रत्यक्षं हतबन्धूनां	४	११
१३२.	प्रत्यक्षं हतबान्धवस्य	५	६
१३३.	प्रयत्नपरिबोधितः	३	३४
१३४.	प्रवृद्धं यद्वैरं मम	१	१०
१३५.	प्राप्तावेकरथारूढौ	५	२५
१३६.	प्रालेयमिश्रमकरन्द	२	७
१३७.	प्रियमनुजमपश्यन्	६	३६
१३८.	प्रेमाबद्धस्तिमित	२	१८
१३९.	बालस्य मे प्रकृति	४	५
१४०.	भग्नं भीमेन भवतो	२	२४
१४१.	भवति तनय लक्ष्मीः	५	२१
१४२.	भवेदभीष्मद्रोणं	३	२६
१४३.	भीष्मे द्रोणे च निहते	५	१२
१४४.	भूमौ क्षिप्तं शरीरम्	६	३९
१४५.	भूमौ निमग्नचक्र	५	१८

परिशिष्ट 'ग'

वेणीसंहार' नाटक में आई हुई सूक्तियों की सूची

१. अनुक्तहितकारिता हि प्रकाशयति मनोगतां स्वामिभक्तिम्।

२. अनुल्लङ्घनीयः सदाचारः।

३. अप्रमत्तसंचरणीयानि रिपुबलानि श्रूयन्ते।

४. अवश्यं वन्दनीयौ गुरू।

५. अहो मुग्धत्वमबलानां नाम !

६. आशा बलवती राजन्।

७. उपक्रियमाणाभावे किमुपकरणेन।

८. उपेक्षितानां मन्दानां धीरसत्त्वैरवज्ञया।
अत्रासितानां क्रोधान्धैर्भवत्येषा विकत्थना ॥ ३, ४५ ॥

९. कालानुरूपं प्रतिविधातव्यम्।

१०. गुप्त्या साक्षान्महानल्पः स्वयमन्येन वा कृतः।
करोति महतीं प्रीतिमपकारोऽपकारिणाम् ॥ (२, ३) ॥

११. ग्रहाणां चरितं स्वप्नो निमित्तान्युपयाचितम्।
फलन्ति काकतालीयं तेभ्यः प्राज्ञो न बिभ्यति ॥ (२, १५) ॥

१२. दैवायत्तं कुले जन्म। (३, ३७) ॥

१३. न हि घटस्य कूपपतने रज्जुरपि तत्र प्रक्षेप्तव्या।

१४. न युक्तमनभिवाद्य गुरून् गन्तुम्।

१५. न युक्तं बन्धुव्यसनं विस्तरेणावेदयितुम्।

१६. न युक्तं वीरस्य क्षत्रियस्य प्रतिज्ञातं शिथिलयितुम्।

१७. पुण्यवन्तो हि दुःखभाजो भवन्ति।

१८. प्रकृतिर्दुस्त्यजा।

१९. यदि समरमपास्य नास्ति मृत्योर्भयमिति युक्तमितोऽन्यतः प्रयातुम्।
अथ मरणमवश्यमेव जन्तोः किमिति मुधा मलिनं यशः कुरुध्वे ॥
२०. यावत् चत्रं तावत् समरविजयिनो जिता हताश्च वीराः।
२१. यावत् प्राणिति तावदुपदेष्टव्यभूमिर्विजिगीषुः प्रज्ञावताम्।
२२. यावदयं संसारस्तावत् प्रसिद्धैवेयं लोकयात्रा यत् पुत्रैः पुत्रा लोक-
द्वयेऽप्यनुवर्तनीया इति।
२३. वक्तुं सुकरमिदं दुष्करमध्यवसितुम्।
२४. वन्द्याः खलु गुरवः।
२५. भवति तनय ! सत्यं संशयः साहसेषु। (५, २१)
२६. स इदानीं स्निग्धो जनो यः प्रष्टः परुषमपि हितं भणति।
२७. स्त्रीणां हि साहचर्याद् भवन्ति चेतांसि भर्तृसदृशानि।
२८. मधुरापि हि मूर्च्छयते विषविटपिसमाश्रिता बल्ली।
२९. स्वपन् जनः किं न खलु प्रेक्षते।
३०. हीयमानान् किल रिपून् नृपाः संदधते कथम् ?

परिशिष्ट 'घ'

छन्दों की संक्षिप्त व्याख्या के साथ 'वेणीसंहार' में प्रयुक्त छन्दों की परिभाषा एवं उदाहरण आदि।

प्राक्कथन

संस्कृत-काव्य-क्षेत्र में प्रयुक्त होने वाले छन्दों के सुगम परिज्ञान लिये छन्दःशास्त्र के आचार्यों ने आठ गणों की कल्पना की है प्रत्येक गण में तीन अक्षर (Syllables) होते हैं। ये सब अक्षर दीर्घ भी हो सकते हैं, ह्रस्व भी हो सकते हैं और आदि, मध्य या अन्त में ह्रस्व एवं दीर्घ भी हो सकते हैं। इन गणों की कल्पना से यह लाभ है कि छन्दों की परिभाषा करते समय प्रत्येक छन्द में अलग-अलग यह नहीं कहना पड़ता कि 'अमुक छन्द में पहले दीर्घ फिर ह्रस्व, पुनः दीर्घ पुनः ह्रस्व इत्यादि प्रकार से वर्णों का क्रम होता है।' इस प्रकार परिभाषा करने से परिभाषाएँ बहुत लम्बी हो जातीं। इसलिये इस गौरव से बचने के लिए और संक्षेप से विभिन्न छन्दों की परिभाषा करने के लिये इन गणों की कल्पना अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण है, क्योंकि गणों की कल्पना करने पर किसी छन्द की परिभाषा बताने के लिए संक्षेप से इतना कहना ही पर्याप्त है कि अमुक छन्द में प्रत्येक पाद में ये-ये गण इस-इस क्रम से रखे जाते हैं, जैसे—'वसन्ततिलका छन्द में वर्णों का क्रम तगण भगण जगण और दो गुरु' इस प्रकार होता है। इसी प्रकार से अन्य छन्दों की भी बड़ी सरलता से संक्षिप्त परिभाषाएँ दी जा सकती हैं।

ऊपर निर्दिष्ट आठ गणों के लक्षण निम्नलिखित एक ही श्लोक में बड़ी स्पष्टता से दिये गये हैं।

मस्त्रिगुरुस्त्रिलघुश्च नकारो भादिगुरुः पुनरादिलघुर्यः ।
जो गुरुमध्यगतो रलमध्यः सोऽन्तगुरुः कथितोऽन्तलघुस्तः ॥

अर्थात्—

१. म (=मगण) में तीनों वर्ण (=दीर्घ) होते हैं= – – –
२. न (=नगण) में तीनों वर्ण लघु होते हैं= ˘ ˘ ˘
३. भ (=भगण) में आदि वर्ण गुरु पुनः दो लघु होते हैं – ˘ ˘
४. य (=यगण) में आदिवर्ण लघु पुनः दो गुरु होते हैं ˘ – –
५. ज (=जगण) में मध्य में गुरु और दोनों ओर लघु वर्ण होते हैं= ˘ – ˘
६. र (=रगण) में मध्य में लघु और दोनों ओर दीर्घ वर्ण होते हैं= – ˘ –
७ स (=सगण) में अन्त में गुरु और पहले दो वर्ण लघु होते हैं= ˘ ˘ –
८. त (=तगण) में अन्त में लघु और पहले दो वर्ण गुरु होते हैं= – – ˘

नोट :—ऊपर दी गई भिन्न-भिन्न गणों की परिभाषा के अन्त में प्रदर्शित ˘ – इन दो चिह्नों में प्रथम, अर्थात् ˘ यह चिह्न ह्रस्व मात्रा का तथा द्वितीय अर्थात् – यह चिह्न दीर्घ मात्रा का द्योतक है।

छन्दों को साधारण रूप से दो भागों में विभक्त किया गया है :—

१. वर्णिक छन्द।
२. मात्रिक छन्द।

जैसा कि वर्णिक इस शब्द से ही स्पष्ट है, वर्णिक छन्दों में प्रत्येक पाद में वर्णों की संख्या नियत होती है।

इसी प्रकार मात्रिक छन्दों में प्रत्येक पाद में मात्राएँ नियत होती हैं।

मात्राएँ गिनने की विधि

मात्राओं की गणना करते समय यह ध्यान रखना चाहिये कि ह्रस्व स्वर की एक मात्रा होती है और दीर्घ स्वर की दो मात्राएँ होती हैं। परन्तु यदि किसी ह्रस्व स्वर से आगे संयुक्त व्यञ्जन हों तो उस ह्रस्व स्वर को भी छन्दशास्त्र के अनुसार दीर्घ समझा जाता है और उसकी दो मात्राएँ होती हैं, जैसे—'अङ्क'। इस शब्द में प्रथम 'अ' यद्यपि ह्रस्व है तथापि 'ङ्' तथा 'क्' इन संयुक्त वर्णों के परे होने पर 'अ' को दीर्घ समझ लिया जाता है।

प्रत्येक श्लोक में चार पाद होते हैं जिन में प्रथम तथा तृतीय को विषम एवं द्वितीय चतुर्थ को समपाद कहते हैं।

छन्दों के विषय में ये दो-चार प्रारम्भिक बातें, जिनका निर्देश ऊपर की पंक्तियों में किया जा चुका है, ध्यान में रखकर छन्दों की परिभाषा आदि को पाठक अच्छी प्रकार समझ सकेंगे।

अब नीचे 'वेणी-संहार' में प्रयुक्त भिन्न-भिन्न छन्दों की परिभाषाएँ पृथक्-पृथक् उदाहरण के साथ दी जाती हैं।

१. वसन्ततिलका—

उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः।

अर्थात् वसन्ततिलका छन्द में प्रत्येक पाद में वर्णों का क्रम तगण, भगण, दो जगण और दो गुरु इस प्रकार होता है। जैसे—

प्रालेयमिश्रमकरन्दकरालकोशैः,
पुष्पैः समं निपतिताः रजनी प्रबुद्धैः।

२. अनुष्टुप् या श्लोक छन्द—

श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघुपंचमम्।
द्विचतुः पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः॥

अर्थात्—

अनुष्टुप् या श्लोक छन्द में प्रत्येक पाद में आठ अक्षर होते हैं। और छठा अक्षर गुरु और पांचवां लघु होता है। दूसरे और चौथे पाद में सातवां अक्षर ह्रस्व तथा अन्य दो पदों में, अर्थात् प्रथम तथा तृतीय पाद में सातवां अक्षर दीर्घ होता है, जैसे—

यत्तदूर्जितमत्युग्रं क्षात्रं तेजोऽस्य भूपतेः।
दीव्यताक्षैस्तदानेन नूनं तदपि हारितम्॥

इस श्लोक में प्रत्येक पाद में आठ अक्षर हैं और प्रत्येक पाद का पंचम अक्षर लघु तथा छठा गुरु है जैसा कि उनके नीचे लगाए हुए ह्रस्व तथा दीर्घ के चिह्नों से स्पष्ट कर दिया गया है। दूसरे और चौथे पाद का सप्तम अक्षर ह्रस्व तथा प्रथम और तृतीय पाद का सप्तम अक्षर दीर्घ है जैसा कि उनके नीचे लगाए हुए चिह्नों से प्रदर्शित कर दिया गया है।

३. पथ्यावक्त्र—

यह छन्द अनुष्टुप् छन्द का ही एक भेद है। इसकी परिभाषा नीचे दी जाती है :—

युजोश्चतुर्थतो जेन पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम्॥

अर्थात्—

पथ्यावक्त्र छन्द के प्रत्येक पाद में आठ अक्षर होते हैं और इसमें समपादों में, अर्थात् द्वितीय और चतुर्थ पाद में चतुर्थ अक्षर के बाद जगण होता है, जैसे—

धृतराष्ट्रस्य तनयान् कृतवैरान् पदे पदे।
राजा न चेन्निषेद्धा स्यात्कः क्षमेत तवानुजः॥

इस श्लोक में प्रत्येक पाद में आठ अक्षर हैं तथा समपादों में, अर्थात् द्वितीय और चतुर्थ पाद में चौथे अक्षर के बाद जगण भी है जैसा कि वर्णों के नीचे लगे हुए चिह्नों से स्पष्ट दिखाया गया है।

४. शार्दूलविक्रीडित—

सूर्याश्वैर्यदि मासजः सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्॥

अर्थात्—

शार्दूलविक्रीडित छन्द में वर्णों का क्रम म, स, ज, स, त, त और गुरु इस प्रकार होता है तथा बारहवें और सातवें अक्षर पर यति (=विराम) होता है, जैसे—

कालिन्द्याः पुलिनेषु केलिकुपितामुत्सृज्य रासे रसम्।

ऊपर उद्धृत पंक्ति में अक्षरों के नीचे लगाए हुए लघु-गुरु चिह्नों से स्पष्ट है कि यहां पर शार्दूलविक्रीडित छन्द का लक्षण ठीक-ठीक घटित होता है।

नोटः—ऊपर दी हुई 'सूर्याश्वैर्यदि' इस पंक्ति में 'सूर्याश्वैः' इस पद का 'बारह और सात' यह अर्थ होता है क्योंकि एक वर्ष में १२ महीने होने के कारण महीनों के भेद से सूर्य के भी १२ भेद मान

लिए जाते हैं और 'अश्व' शब्द सात के अर्थ में प्रयुक्त होता है क्योंकि पौराणिक परम्परा के अनुसार सूर्य के ७ घोड़े माने गए हैं।

५. स्रग्धरा छन्दः—

म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्॥

अर्थात्—

स्रग्धरा छन्द में म, र, भ, न, य, य, य इस प्रकार वर्णों का क्रम होता है और हर सातवें अक्षर पर यति होती है। इस छन्द में तीन बार यति होती है, जैसे—

दृष्टः सप्रेम देव्या किमिदमिति भयात् संभ्रमाच्चासुरीभिः।

इस पंक्ति में ऊपर दी गई परिभाषा के अनुसार वर्णों का क्रम है तथा प्रत्येक सातवें वर्ण पर यति है।

नोटः— ऊपर दी गई परिभाषा में 'मुनि' शब्द से सात संख्या का बोध होता है। क्योंकि मुनि (=ऋषि) सात हैं।

६. मन्दाक्रान्ता—

मन्दाक्रान्ताम्बुधिरसनगैर्मो भनौ तौ गयुग्मम्।

अर्थात्—

मन्दाक्रान्ता छन्द में वर्णों का क्रम म, भ, न, दो तगण और अन्त में दो गुरु इस प्रकार होता है तथा चार, छः और सात पर यति होती है, जैसे—

कश्चित् कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात् प्रमत्तः।

ऊपर उद्धत पंक्ति में वर्णों का क्रम ऊपर दी गई परिभाषा के

अनुसार ठीक-ठीक घटता है और यहाँ पर चौथे, उससे आगे छठे तथा उससे आगे सातवें वर्ण पर यति भी है।

नोटः—ऊपर दी गई मन्दाक्रान्ता छन्द की परिभाषा में अम्बुधि शब्द 'चार', रस 'छः' और नग (=पर्वत) 'सात' संख्या का बोधक है क्योंकि अम्बुधि (=समुद्र) चार हैं, रस छः हैं और पौराणिक परम्परा के अनुसार नग (=पर्वत) सात माने गये हैं।

७. शिखरिणी—

रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागा शिखरिणी।

अर्थात्—

शिखरिणी छन्द में वर्णों का क्रम य, म, न, स, भ और इनके बाद में लघु तथा गुरु होते हैं और छठे तथा उससे आगे ग्यारहवें अक्षर पर यति होती है, जैसे—

निषिद्धैरप्येभिर्लुलितमकरन्दो मधुकरैः।

इस पंक्ति में ऊपर दी गई शिखरिणी छन्द की परिभाषा ठीक-ठीक घटती है और छठे तथा उससे आगे ग्यारहवें अक्षर पर यति है।

नोटः—इस परिभाषा में दिये रस और रुद्र शब्द क्रमशः छः और ग्यारह संख्या के बोधक हैं क्योंकि रस छः और रुद्र ग्यारह होते हैं।

८. मालिनी—

ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः।

अर्थात्—

मालिनी छन्द में वर्णों का क्रम न, न, म, य, य, इस प्रकार होता

है और आठवें तथा उससे आगे सातवें अक्षर पर यति होती है, जैसे—

विकिर धवलदीर्घापाङ्गसंसर्पि चक्षुः ।

जैसा कि प्रत्येक अक्षर के नीचे लगाए गए चिह्नों से स्पष्ट है, इस पंक्ति में 'मालिनी' छन्द का लक्षण पूर्णतया घटित होता है और आठवें तथा उससे आगे सातवें अक्षर पर यति है ।

९. हरिणी—

नसमरसला गः षड् वेदैर्हयैर्हरिणी मता ।

अर्थात्—

हरिणी छन्द में वर्णों का क्रम न, स, म, र, स तथा लघु एवं गुरु इस प्रकार होता है और छठे, उससे आगे चौथे तथा उससे आगे सातवें अक्षर पर यति भी मिलती है, जैसे—

कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरु पातकम् ।

इस पंक्ति में 'हरिणी' छन्द का पूर्वोक्त लक्षण ठीक घटित होता है और यहां पर छठे, उससे आगे चौथे तथा उस से आगे सातवें अक्षर पर यति भी मिलती है ।

१०. वियोगिनी—

विषमे ससजा गुरुः समे,
सभरा लोऽथ गुरुर्वियोगिनी ।

अर्थात्—

वियोगिनी छन्द में विषम पाद में, अर्थात् प्रथम और तृतीय पाद में, स, स, ज और अन्त में गुरु तथा समपाद में, अर्थात् द्वितीय एव

चतुर्थ पाद में, स, भ, र और अन्त में लघु तथा गुरु इस प्रकार वर्णों का क्रम होता है, जैसे—

सहभृत्यगणं सबान्धवं सहमित्रं ससुतं सहानुजम् ।
स्वबलेन निहन्ति संयुगे न चिरात् पाण्डुसुतः सुयोधनम् ॥

जैसा कि अक्षरों के नीचे दिए हुए चिह्नों से स्पष्ट है ऊपर उद्धृत श्लोक में वियोगिनी छन्द का लक्षण ठीक-ठीक घटित होता है ।

११. पृथ्वी—

जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः ।

अर्थात्—

पृथ्वी छन्द में प्रत्येक पाद में वर्णों का क्रम ज, स, ज, स, य और अन्त में लघु तथा गुरु, इस प्रकार होता है और आठवें तथा उससे आगे नवें अक्षर पर यति होती है, जैसे—

महाप्रलयमारुतक्षुभितपुष्करावर्तक-
प्रचण्डघनगर्जितप्रतिरवानुकारी मुहुः ।

इस छन्द की परिभाषा में वसु और ग्रह यह दोनों शब्द क्रमशः आठ और नौ संख्या के बोधक हैं क्योंकि पौराणिक परम्परा के अनुसार वसु आठ और ग्रह नौ माने गए हैं ।

१२. पुष्पिताग्रा—

अयुजि न युगरेफतो यकारो
युजि तु नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा ।

अर्थात्—

पुष्पिताग्रा छन्द में विषम (=अयुज्) पाद में, अर्थात् प्रथम तथा

तृतीय पाद में दो नगण, एक रगण तथा एक यगण और सम (=युज्) पाद में अर्थात् द्वितीय एवं चतुर्थ पाद में, न, ज, ज, र और अन्त में गुरु इस प्रकार वर्णों का क्रम होता है, जैसे—

यदि समरमपास्य नास्ति मृत्यो-

र्भयमिति युक्तमितोन्यतः प्रयातुम्।

ऊपर उद्धृत दोनों पादों में, अर्थात् प्रथम तथा द्वितीय पाद में, पूर्वोक्त वर्ण क्रम पूर्णरूप से घटता है। यदि यही क्रम तीसरे और चौथे पाद में हो तो वहां पर पुष्पिताग्रा छन्द होता है।

१३. प्रहर्षिणी—

म्नाशाभिर्मनजरगाः प्रहर्षिणीयम्।

अर्थात्—

प्रहर्षिणी छन्द में प्रत्येक पाद में वर्णों का क्रम म, न, ज, र और अन्त में गुरु, इस प्रकार होता है तथा तीसरे और उससे आगे दसवें अक्षर पर यति होती है, जैसे—

उद्घातक्वणितविलोलहेमघण्टः।

ऊपर दी गई परिभाषा में आशा शब्द दस संख्या का बोधक है क्योंकि आशाएँ (=दिशाएँ) दस मानी गई हैं।

१४. मञ्जुभाषिणी—

सजसा जगौ च यदि मञ्जुभाषिणी।

अर्थात्—

मञ्जुभाषिणी छन्द में प्रत्येक पाद में वर्णों का क्रम स, ज, स, ज और अन्त में गुरु, इस प्रकार होता है, जैसे—

यदि शस्त्रमुज्झितमशस्त्रपाणयः। इत्यादि

ऊपर उद्धृत पंक्तियों के नीचे लगे हुए चिह्नों से यह स्पष्ट है कि प्रत्येक पाद के अन्त में रगण और यगण हैं। शेष वर्ण-क्रम वियोगिनी छन्द के अनुसार है।

नोटः—वियोगिनी छन्द की परिभाषा पहले जा चुकी है। पाठक उसे वहीं पर देख लें।

मात्रिक छन्द

१. आर्या—

यस्याः पादे प्रथमे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश सार्या ॥

अर्थात्—

आर्या छन्द में प्रथम और तृतीय पाद में बारह मात्राएँ, द्वितीय में और चतुर्थ में पन्द्रह मात्राएँ होती हैं, जैसे—

श्रवणाञ्जलिपुटपेयं विरचितवान् भारताख्यममृतं यः ।
तमहमरागमकृष्णं कृष्णद्वैपायनं वन्दे ॥

इस पद्य में प्रत्येक पाद में मात्राएँ गिनने पर ज्ञात होगा कि इसमें प्रथम पाद तथा तृतीय पाद में बारह-बारह मात्राएँ, द्वितीय में अठारह और चतुर्थ पाद में पन्द्रह मात्राएँ हैं।

नोटः—मात्रिक छन्दों में मात्राएँ गिनने की विधि पहले बताई जा चुकी है। पाठक उसे वहीं से देखने का कष्ट करें।

श्री भट्टनारायणकृते श्रीविजयचन्द्रशास्त्रि-सम्पादिते
'वेणीसंहार' नाटके परिशिष्ट-
चतुष्टयं समाप्तम्